सन्मति ज्ञान पीठ
(जैन विद्या का शोध संस्थान)
आगरा-२

उपाध्याय अमर मुनि

चिन्तन की मनोभूमि

संपादक:
डॉ॰ वशिष्ठ नारायण सिन्हा, एम॰ ए॰, पी-एच॰ डी॰
निदेशक
सन्मति ज्ञान पीठ,
(जैन-विद्या का शोध संस्थान)
एवं
कला कुमार,
संपादक· श्री अमर भारती
(श्रमण संस्कृति का प्रतिनिधि मासिक)

****

अनुक्रमणिका

दार्शनिक दृष्टिकोण

धार्मिक एव आध्यात्मिक दृष्टिकोण

विमोचनोपरान्त 'चिन्तन की मनोभूमि' कविश्रीजी के चरणो मे भेंट करती हुई
श्रीमती इंदिरा गांधी, प्रधानमंत्री, भारत गणराज्य ।

दिनांक १३ मार्च १९७०] [अहिंसा भवन, शंकर रोड, नई दिल्ली

"चिन्तन की मनोभूमि"

का

ग्रंथ-विमोचन

श्रद्धेय कविश्रीजी अमरमुनि जी म०

की

नवीनतम महनीय कृति—'चिन्तन की मनोभूमि'

का

ग्रंथ-विमोचन करती हुई श्रीमती इंदिरा गांधी, प्रधान मंत्री, भारत गणराज्य
[साथ में खड़े हैं—(सेठ) श्री अचलसिंहजी, एम० पी०
तथा श्री सुशील मुनिजी म०]

१३ मार्च, १९७०] [अहिंसा भवन, शंकर रोड, नई दिल्ली

सन्मति साहित्य रत्नमाला १९३ वाँ रत्न :

लेखक :

उपाध्याय अमर मुनि

संपादक :

डॉ० बशिष्ठ नारायण सिन्हा, एम० ए०, पी-एच० डी०

निदेशक

सन्मति ज्ञान पीठ,

(जैन-विद्या का शोध संस्थान)

एव

कला कुमार

सपादक · श्री अमर भारती

(श्रमण सस्कृति का प्रतिनिधि मासिक)

सन्मति ज्ञानपीठ, आगरा-२

सन्मति साहित्य रत्नमाला ११३ वाँ रत्न :

पुस्तक :

चिन्तन की मनोभूमि

★

लेखक

उपाध्याय कविरत्न श्री अमरचन्द्रजी महाराज

★

सपादक

डा० वशिष्ठ नारायण सिन्हा, एम० ए० पी-एच० डी०

एव

कलाकुमार

सम्पादक, श्री अमर भारती

[श्रमण सस्कृति का प्रतिनिधि मासिक]

★

सस्करण :

प्रथम, २२ फरवरी १९७०,

कविश्री अमरमुनिजी महाराज

की

दीक्षा स्वर्ण-जयंती की शुभ वेला

★

मूल्य :

~~साधारण सस्करण बारह रुपए पचास पैसे मात्र~~

पुस्तकालय सस्करण पन्द्रह रुपए मात्र

★

मुद्रक .

प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस,

१/११ महात्मागांधी मार्ग

साहित्यकुञ्ज, आगरा–२

★

प्रकाशक

सन्मति ज्ञानपीठ

[जैन विद्या का शोध सस्थान]

लोहामण्डी, आगरा–२

प्रकाशकीय

जीव और जगत्, आत्मा और परमात्मा, व्यक्ति और समाज आदि के शाश्वत तथ्यपरक सत्य का दिग्दर्शन कराना ही दर्शन का सही अर्थ है। सामान्य तौर पर लोग दर्शन का स्थूल अर्थ आत्मा-परमात्मा के रहस्योद्‌घाटन भर मान लेते हैं, किन्तु यह दर्शन का सर्वांगपूर्ण अर्थ नही है। दर्शन का अर्थ है—दृष्टि, और दृष्टि जीवन के बीच से जीवन का दर्शन करती है। यह अन्य बात है कि वह दृष्टि मात्र भौतिक मांसल आयामो मे ही उलझ कर न रह जाए, बल्कि जीवन के वास्तविक उद्देश्य का उद्‌घाटन करे।

'चितन की मनोभूमि' मे श्रद्धेय कविश्रीजी ने दर्शन के विशाल धरातल पर, एक विस्तीर्ण मनोभूमि पर तत्त्व-चिंतन किया है। मनोभूमि मे चिंतन का विषय जीव भी रहा है जगत् भी रहा है, आत्मा भी रहा है, परमात्मा भी रहा है, किन्तु सबसे बडी बात यह कि धर्म एव अध्यात्म की मनोभूमि से जीवन का सर्वांगीन सत्य इसमे उद्‌घाटित हुआ है। सर्वधर्म समन्वय, शिक्षा एव विद्यार्थी जीवन, नारी जीवन का अस्तित्व, वसुधैव कुटुम्बकम्, सस्कृति और सभ्यता तथा विश्वकल्याण का चिरतन पथ सेवा का पथ आदि कतिपय ऐसे जाज्वल्यमान विषय-बिन्दु हैं, जिनपर कविश्रीजी ने निष्पक्ष चिंतन करते हुए बडे ही जीवन-व्यवहार्य प्रणाली से समाधान प्रस्तुत किया है।

'चिन्तन की मनोभूमि' कविश्रीजी के समग्र चिन्तन का प्रतीक है—ऐसा कहें तो कोई अतिशयोक्ति न होगी। यह ग्र थ जैन धर्म-समाज मे ही नही, बल्कि समस्त मत-सम्प्रदायो मे समान रूप से आदरणीय सिद्ध होगा—ऐसा निष्पक्ष चिंतन इसमे प्रस्तुत किया गया है।

मुझे विश्वास है कि श्रद्धेय कविश्रीजी जितना बहुज्ञ-विश्रुत चिंतक हैं, और विद्वन्मण्डली से लेकर जनसामान्य के बीच तक आपका जितना समादर-सम्मान है, यह पुस्तक आपके सम्मान मे चार चांद लगाने वाली सिद्ध होगी। यह सन्मति ज्ञानपीठ के लिए ही नही प्रत्युत समग्र साहित्यवाङ्मय के लिए गौरवशालिनी पुस्तक सिद्ध होगी।

कविश्रीजी की दीक्षा स्वर्ण जयती के शुभ अवसर पर सन्मति ज्ञानपीठ की ओर से इसे कविश्रीजी के चरणो मे सभक्ति भेंट करते हुए हम अतीव प्रसन्नता एव गौरव की अनुभूति कर रहे है।

आशा है, श्रद्धालु मनीषी एव विचारक इस पुस्तक का अवलोकन कर हमे अपना बहुमूल्य विचार प्रदान करेंगे तथा इस दिशा मे समुचित सुझाव एव निदेश देकर हमे बल प्रदान करेंगे।

मन्त्री,
सन्मति ज्ञानपीठ
आगरा—२

२२-२-७० ई०

चिन्तन की मनोभूमि पर :
विद्वत्जनों के गौरव-संदेश

मानव चिरकाल से अपनी समस्याओ को सुलझाता हुआ आ रहा है। जीवन को सुख-शान्तिमय बनाने के उद्देश्य से कभी वह एक को देखता तो कभी अनेक को, कभी व्यष्टि को, तो कभी समष्टि को; कभी आत्मा को, तो कभी परमात्मा को। उसकी दृष्टि मे कभी अध्यात्म प्रधान बन जाता है, तो कभी भौतिकता बलवती हो जाती है, कभी वह धर्म के प्रति श्रद्धा रखता है, तो कभी विज्ञान का आश्रय लेता है। कभी उसे प्राचीनता अच्छी लगती है, तो कभी वह नवीनता को गले लगाता है। पर, जब कभी वह एक को त्यागकर मात्र दूसरे को ही पूर्णरूपेण जीवन का आधार मान लेता है, तब वह एकागी बन जाता है और अपने उद्देश्य को प्राप्त करने मे असफल हो जाता है। कारण, मानव जीवन की सफलता समन्वयात्मकता से परिपुष्ट होती है।

उपाध्याय अमरमुनिजी समन्वयवाद के एक सच्चे उपासक हैं। और अपनी साधना की पूर्णता के लिए इन्होंने दार्शनिक, धार्मिक, सास्कृतिक एव सामाजिक—सभी दृष्टिकोणो को अपनाया है, जिनकी जानकारी इनकी नयी कृति 'चिन्तन की मनोभूमि' से होती है।

प्रस्तुत ग्रन्थ अपने जन-हितकारी दृष्टिकोण के कारण, जो आज के मानव का दिशा-निर्देश करता है, सामान्य तौर से भारतीय दर्शन एव विशेपकर जैनदर्शन मे अपना विशिष्ट स्थान रखता है। हमे पूर्ण विश्वास है कि उच्चकोटि के विद्वान् तथा साथ ही साधारण पाठकगण भी इसका हार्दिक स्वागत करेंगे और इससे समुचित लाभ उठाएँगे।

नई दिल्ली, (सेठ) गोविन्ददास,
२२-२-७० ई० ससद सदस्य

★ ★ ★ ★

मैंने उपाध्याय अमरमुनि रचित 'चिन्तन की मनोभूमि' नामक ग्रन्थ का स्थान-स्थान पर निरीक्षण किया। मुनिजी विशाल दृष्टि से मण्डित प्रतिभाशाली लेखक है। उनकी दृष्टि पैनी है तथा लेखनी अर्थबोधिनी है। फलतः यह ग्रन्थ जैनधर्म को साम्प्रदायिकता के सकुचित क्षेत्र से उठाकर विश्वधर्म की विशालता पर पहुँचा देता है। लिखने की शैली बडी ही सरस-सुबोध है। कठिन से कठिन दार्शनिक तत्त्व दर्पण के समान प्रकाशमय तथा आकर्षक प्रतीत होते हैं। मुनिजी के समग्रविचारो से सहमत होना असम्भव है, परन्तु उनके अधिकाश विचार तथा व्याख्यान बडे ही सुन्दर आवर्जक तथा प्रभावशाली हैं।

मैं ऐसे मनोरम ग्रन्थ के प्रचार की कामना करता हूँ।

"विद्याविलास" डॉ० बलदेव उपाध्याय,
रवीन्द्रपुरी, दुर्गाकुण्ड प्राप्तावकाश सचालक,
वाराणसी-५ अनुसंधान सस्थान,
फाल्गुन अमा, सं० २०२६ वाराणसेय सस्कृत विश्वविद्यालय

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी की पुस्तक 'चिन्तन की मनोभूमि' का मैंने अवलोकन किया। यह पुस्तक जैन धर्म और दर्शन के आधार पर लिखी गई प्राचीन एवं आधुनिक समस्याओ के ऊपर दार्शनिक दृष्टिकोण से विचारो की लेखमाला है। लेखक ने बहुत-सी समस्याओ पर स्वतन्त्र रूप से विचार किया है जो कि आधुनिक युगीन पाठको को बहुत पसंद आनेवाला है।

उपाध्यायजी की लेखन-शैली बहुत सुबोध और रुचिकर है और भाषा बहुत सरल और सुन्दर। सरलता से समझ मे आनेवाले दृष्टान्तो एव छोटी-छोटी कहानियो के द्वारा उपाध्यायजी ने अपने मन्तव्य को रुचिपूर्ण बना दिया है। कहीं पर भी दार्शनिक जटिलताओ मे पाठक को नही फँसाया है। इसलिए दर्शन मे रुचि रखने वालो के लिए यह पुस्तक बडी लाभदायक सिद्ध हो सकती है।

इस पुस्तक को लिखने के लिए उपाध्यायजी हिन्दी पाठको के धन्यवाद के पात्र हैं। वस्तुत इस प्रकार की पुस्तको की हिन्दी मे अतीव आवश्यकता है। इस बहुमूल्य पुस्तक के प्रकाशन पर मैं उपाध्यायजी को बधाई देता हूँ।

पुस्तक का सम्पादन भी बडे सुन्दर ढग से किया गया है।

६-३-१९७० ई०
महाशिवरात्रि

डॉ० भीखन लाल आत्रेय,
भूतपूर्व प्रोफेसर एवं अध्यक्ष,
दर्शन, मनोविज्ञान तथा भारतीय दर्शन एव धर्म

★ ☆ ★

उपाध्याय श्री अमरमुनि द्वारा प्रणीत 'चिंतन की मनोभूमि' नामक ग्र थ अत्यन्त विचारोत्पादक है। इसमे विद्वान् लेखक ने जैन दर्शन के आधार पर मानव जीवन के गम्भीर रहस्यो, वर्तमान युग मे धर्म की उपादेयता, मनुष्य का धार्मिक उन्नयन एव अन्य महत्त्वपूर्ण तत्त्वो के विषय मे नवीन, समयोचित तथा अत्यन्त उपयोगी विचार प्रस्तुत किया है।

यह ग्रन्थ विचारशील विद्वत्‌जनो के लिए विशेष रूप से पठनीय है।

८-३-१९७० ई०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी-५

डॉ० रामशकर मिश्र
कार्यकारी अध्यक्ष,
भारतीय दर्शन एव धर्म विभाग

★ ★ ★

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी का 'चिन्तन की मनोभूमि' नामक ग्रन्थ देखने का मौका मिला। आपके विचार स्वतत्र हैं और वे अपनी उपलब्धि के ही फल हैं। परम्परागत भावना तो चाहिए, लेकिन अपने स्वतन्त्र विचार से उसे उद्दीपित करना भी महत्त्वपूर्ण काम है। जैन धर्म के मूल मे इसी प्रकार के स्वतन्त्र विचार का विशेष स्थान रहा है।

मैं आशा करता हूँ, इस ग्रन्थ के अध्ययन से जैनधर्मप्रेमी तथा विद्वत्‌समाज बडा लाभ उठाएँगे।

७-३-१९७० ई०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय,
वाराणसी—५

डॉ० सिद्धेश्वर भट्टाचार्य,
एम. ए., पी-एच डी , डी लिट्, न्यायतीर्थ,
न्याय वैशेषिक आचार्य (गोल्ड मेडेलिस्ट)
अध्यक्ष, संस्कृत एव पाली विभाग

प्राक्कथन

उपाध्याय श्री अमरमुनिजी ने 'चिन्तन की मनोभूमि' नामक ग्रन्थ लिखकर बडा उपकार किया है। इस समय भारत मे साम्प्रदायिकता की समस्या बडे भीषण रूप मे उपस्थित हुई है। इसका प्रमुख कारण यह प्रतीत होता है कि धर्म और संस्कृति का, सही अर्थ मे भेद नही किया जा रहा है। भारतीय सस्कृति मे आदिकाल से ही अनेक धर्मों का प्रादुर्भाव हुआ। बौद्ध और जैनधर्म, वैदिक धर्म से—जिसे आज हिन्दूधर्म कहा जाता है—अलग रहे, किन्तु भारतीय सस्कृति एवं जीवनविधि को सभी ने अपनाया और उसमे सबो की निष्ठा समानरूप से रही। आजकल लोग, यह सोचते हैं कि भारतीय सस्कृति को हिन्दूधर्म से अलग नही किया जा सकता, क्योकि वही बहुसख्यक अनुयायियो का धर्म है और अन्य सब लोगो पर उसकी गहरी छाप पड चुकी है, और भारत की गतिविधि उसी से निर्धारित होती है। इसलिए उसके अतिरिक्त कोई भारतीय सस्कृति है, इसकी कल्पना भी करना कठिन है। किन्तु इस अविवेक से समस्या का समाधान नही होता। आज के युग मे जबकि राज्य का स्वरूप ऐहिक है और उसकी दृष्टि मे सब धर्म समान प्रतिष्ठा रखते हैं, तब उनमे से कोई एक धर्म अन्य सब धर्मों के व्यक्तित्व का लोप करके अपनी सर्वोपरि सत्ता स्थापित नही कर सकता और न अन्य लोगो से यह माग या आशा ही की जा सकती है कि वे हिन्दूधर्म और तथाकथित हिन्दू सस्कृति को अपनी सर्वोपरि निष्ठा अर्पित करें और अपने धर्मों एव उनमे सन्निहित सस्कृतियो को हीन स्थान दें। सामाजिक न्याय का तकाजा है कि धर्म और सस्कृति को अलग-अलग समझा जाए और सब धर्मों से समान भारतीय सस्कृति के लिए—न कि हिन्दू धर्म अथवा हिन्दू सस्कृति के लिए—निष्ठा मागी जाए। भारतीय सस्कृति को एक सम्मिलित सस्कृति के रूप मे देखा जाए, जिसके निर्माण मे, भारत मे उत्पन्न हुए तथा बाहर से आए हुए—सभी धर्मों एव उनके साथ सश्लिष्ट सस्कृतियो अथवा उपसस्कृतियो ने महत्त्वपूर्ण योगदान दिया है। यह सस्कृति—भारतीय सस्कृति—सब धर्मों की है और सबसे पृथक् है।

उपाध्यायजी ने जैनधर्म की जिस अनेकात समन्वय दृष्टि का इस ग्रन्थ मे प्रतिपादन किया है और भारत के हिन्दू, मुसलमान, ईसाई आदि सभी धर्मों की जो उदार व्याख्या की है, उससे सबका विरोध-परिहार होता है और साथ ही साथ इन सबके योगदान से बनी हुई सम्मिलित भारतीय सस्कृति सबकी आदर दृष्टिसम्पन्न होती है।

मैं इस युग में इस प्रकार की कृति का स्वागत करता हूँ। इससे बडी आवश्यकता की पूर्ति होगी और अध्येताओ के लिए एक ऐसा आधार बनेगा कि वे भारतीय सस्कृति के ऐसे व्यापक तत्त्वो का, जो भारत के सभी धर्मो मे अनुस्युत हैं, अध्ययन करें और इस प्रकार सभी धर्मों से पृथक् सामान्य भारतीय सस्कृति का एक रूप प्रस्फुटित करें।

६-३-१९७० ई०
वाराणसी-२

राजाराम शास्त्री,
उपकुलपति,
काशी विद्यापीठ

दो शब्द

भारत की आध्यात्मिक-परम्पराओ मे जैन धर्म और संस्कृति का महत्त्वपूर्ण स्थान है। कर्म, पुनर्जन्म, मोक्ष, सृष्टि-रूप आदि के सम्बन्ध मे जैन दर्शन के अपने विचार है। 'अनेकान्तवाद' और 'स्यादवाद' के सिद्धान्त उसकी मौलिकता के प्रवलतर प्रतीक हैं। साख्य-योग की भाँति जैन दर्शन सृष्टिकर्त्ता ईश्वर को स्वीकार नही करता, अद्वैतवेदान्त की तरह वह आत्मा के स्वरूपलाभ को ही मोक्ष मानता है। वैशेषिक के समान वह परमाणुवादी है। उसके ज्ञान-सम्बन्धी कतिपय विचार वर्तमान परामनोविज्ञान का पूर्वाभास देते हैं।

श्री अमरमुनिजी जैन-परम्परा के ख्यातिप्राप्त व्याख्याता हैं। अब तक वे अनेक पुस्तको का प्रणयन कर चुके है। उनकी भाषा प्रसन्न-प्राजल और अभिव्यक्ति आत्मीयता से सयुक्त है। वे प्रायः अनुभूत, आत्मसात् किये हुए सत्य को ही शव्दवद्ध करते हैं; अतः उनकी वात पाठक के मन को छूती है।

मुनिजी दोहरे अर्थ मे उदारचित्त हैं। प्रथम, वे दूसरे धर्मों-सम्प्रदायो की शिक्षाओ को सहानुभूति से देखने की क्षमता रखते है, जो 'अनेकान्त' का व्यावहारिक रूप है, दूसरे, वे जीवन की माँगो के प्रति भी कठोर नही हैं। फलतः वे जैन दर्शन तथा अध्यात्म की ऐसी व्याख्या दे सके हैं जो आधुनिक जिज्ञासुओ को मान्य हो। मुनिजी की सहज समन्वयमूलक दृष्टि, और उनका विभिन्न दर्शन-परम्पराओ से अन्तरग परिचय, इस ग्रन्थ को सव प्रकार के पाठको के लिए रुचिकर व उपादेय वनाते है।

इसके अतिरिक्त 'चिन्तन की मनोभूमि' के लेखक लीक से अलग होकर चलने मे झिझक महसूस नही करते। आशा है, समझदार पाठक और जिज्ञासु इस ग्रन्थ को समुचित आदर देंगे।

डॉ० देवराज,
एम० ए०, डी० फिल्०, डी० लिट्०
अध्यक्ष, दर्शन विभाग,

१० मार्च, १९७० ई०
काशी हिन्दू विश्वविद्यालय
वाराणसी-५

सम्पादकीय वक्तव्य

सत एव तपस्वी का जीवन साधना का जीवन होता है। कहा भी है—"तपसा धारयन्ति सताम् !" सत लोग अपने साधना का दीप जलाकर, उस तपःदीप की धवल ज्योति मे जीवन एव जगत् की गहरी अनुभूति का दर्शन विश्व को कराते हैं और यही, सत-जीवन का, तपस्वी-जीवन का आदर्श भी है।

इस विराट् विश्व की विभूति—मानव—के जितने मस्तिष्क हैं, विचारने की जितनी दृष्टि-विधा है, विश्व के बिम्ब का उतने ही दृष्टि के कोण से दर्शन किया जाता है। इस अर्थ मे यह कदापि संभव नही कि किसी एक की दृष्टि को सर्वांगपूर्ण कहा जाए। यह विश्व तो एक महासागर है, जिसमे साधक अपनी गहन साधना के गोते लगाता रहता है। जो जितना कुशल गोताखोर—साधक—होता है, वह उतना ही अधिक मोती निकाल पाता है।

विश्व-दर्शन का इतिहास इसका पुष्ट प्रमाण है कि समय के पख पर चढकर कितने ही दार्शनिको ने इस विश्व की विराटता का अवलोकन, मनन एव चिंतन किया तथा अत मे, अपनी अनुभूति के उद्गारो को दर्शन के पृष्ठो पर अंकित कर चले गए। चाहे वे पाश्चात्य महान् दार्शनिक—अरस्तू हो, प्लेटो हो, सुकरात हो, जरथ्रुस्ट हो, हॉब्स, लॉक, रूसो, वाल्तेयर, सिसमोडी, मैकियावेली, मिल, मार्क्स, जॉन लॉ पाल सार्त्र हो अथवा प्राच्य महान् दार्शनिक—मनु, व्यास, कपिल, कणाद, शकर, मध्व, निम्बार्क, महावीर, बुद्ध, दादू, कबीर, रैदास, नामदेव, ज्ञानेश्वर, अरविन्द, रामकृष्णपरमहस, विवेकानन्द, महात्मा गांधी आदि हो—सबो ने जीवन और जगत् का भिन्न-भिन्न दृष्टिकोण से अवलोकन किया है और सासारिक समस्याओ का चिंतनपरक अपना भिन्न-भिन्न समाधान प्रस्तुत किया है।

कहने का तात्पर्य यह है कि इस विशाल विश्व का न तो किसी ने अथ से इति तक सर्वांगपूर्ण सर्वदिश अवलोकन ही किया है, न ही सर्वांगपूर्ण सर्वमान्य मन्तव्य ही प्रस्तुत किया है।

आरम्भ से लेकर मध्ययुगतक दर्शन का दृष्टिक्षेत्र कुछ और आयाम का था; और आज, जबकि जीवन के प्रत्येक क्षेत्र मे विज्ञान सर पर चढकर बोल रहा है, दर्शन की दृष्टिविधा भी उससे अछूती न रह सकी है। आज के आधुनिक दार्शनिको के चिंतन को यदि प्राचीन दार्शनिकों के चिंतन के सामने रखें, तो युगीन परिस्थितियो के कारण दोनो मे पर्याप्त अंतर लक्षित होगा। आज का प्रत्येक दार्शनिक, जैसा कि मेरा निजी दृष्टिकोण है, अणुवाद पर आधृत है। सबो के चिंतन की धूरी अणु है। जिस प्रकार अणु पर विज्ञान का सूत्र निर्मित होता है, विज्ञान का विकास-पथ प्रशस्त होता है, उसी प्रकार, दर्शन भी अणु पर ही चिंतन करता है। अणु को ही इस विराट् विश्व का निर्मायक तत्त्व, आत्मा एवं अन्त मे परमात्मा तक स्वीकारा जा रहा है। युगसापेक्ष दृष्टि से बात भी सही ही है। आज का धर्म और दर्शन मध्ययुगीन वितण्डावादी मनोभूमि को लेकर अग्रसर नहीं हो सकता। तब, धर्म, आज

मूंदकर धर्मनेताओ की वाणी को हृदयंगम कर लेने भर था, किंतु आज, जब हर चीज तर्क की तुला पर तोलकर ली जाती है, धर्म को भी जीवन-व्यवहार एव तर्क की कसौटी पर तोल कर ही अपनाया जाता है। आज अंध-परम्पराओ, अंध-रूढियो एवं अंध-विश्वासो का युग लद चुका है। आज प्रत्येक वस्तु वैज्ञानिकता के मापक मे खरी उतारे बिना नही अपनाई जा सकती।

यह सर्वविदित है कि संस्कृति का निर्माण मात्र अंधानुकरण से नही होता, बल्कि प्राचीनता के व्यवहारक्षम पक्षो को लेकर नवीनता के साथ समन्वित करके ही युगीन संस्कृति का सृजन होता है। और तब, नवयुग का मानव अपने वर्तमान जीवन की यात्रा उस नए परिवेश मे आरम्भ करता है। अपेक्षा भी आज इसी बात की की जाती है कि आज का दार्शनिक, तपस्वी अथवा सत अपनी साधना के भगीरथ प्रयत्न से समग्र विश्व-कल्याणी चिंतन-गगा को पर्वत की दुर्गमघाटी से समतल के विस्तीर्ण सुगम धरातल पर इस प्रकार से लाकर प्रवाहित कर दे कि जिसके पीयूष प्रवाह की बूंद-बूंद का दर्शन, मज्जन, पान कर जीवन के त्रिविध ताप नष्ट-ध्वस्त हो जाएं। अपेक्षा यह नही की जाती कि आज का दार्शनिक, मध्ययुगीन दार्शनिको की तरह से चमत्कारी कथाओ की भावधारा मे बहाकर हमे कल्पना के, आदर्श के, ऐसे लोक मे पहुँचा दे—जो "निश्छल प्रेम कथा कहती हो तज कोलाहल की अवनी रे।" और हम, कल्पना-जल्पना के ताने-बाने के बीच इस तरह मत्रमुग्ध होकर, उलझ हो जाएं कि यथार्थ जीवन की डोर ही हाथ से छूट जाए और हम मुंह की खाकर ऐसे रेतीले बियाबान स्थान पर गिर पडे, जहाँ आदर्श का रस यथार्थ की बालुकाराशि मे दम तोडने लग जाए।

श्रद्धेय कवि श्री अमरमुनिजी महाराज आधुनिक युग के एक ऐसे महान् तपस्वी, सौम्यसत एव प्रबुद्ध विचारक हैं, जो निरन्तर अपनी साधना एव चिन्तना का अमोल अर्घ्य भारती को भेंट कर रहे हैं। आपके विचारो मे प्रखरता है। चिन्तन मे अपूर्व गहराई है तथा भावना मे युगीन गतिविधियो के वैज्ञानिक पकड की अनोखी सूझ है। आपने विश्व-मानव को अपने प्रवचन-सागर का विस्तीर्ण पटल प्रदान कर समस्त मानव-पर्याय को महान् गौरव से विभूषित किया है।

आपके प्रवचन-सागर के कतिपय मोतियो को अपनी श्रद्धा की लडियो मे पिरोने का एक प्रयास भर यह पुस्तक है। "चिन्तन की मनोभूमि" जैसा कि नाम से ही स्पष्ट है, कविश्रीजी के चिन्तन की मनोभूमि को, उसके परिप्रेक्ष्य को दिग्दर्शित कराना मात्र ही इस कृति का उद्देश्य है। कविश्रीजी जहां एक ओर अध्यात्म-पुरुष हैं, धर्म के सशक्त प्रहरी है, वहाँ दूसरी ओर उसका तात्त्विक विवेचन कर एक युगीन स्वरूप प्रदान करने वाले महान् दार्शनिक भी हैं। किन्तु, इसका यह अर्थ नहीं कि कविश्री का चिन्तन धर्म एव अध्यात्म की सीमा विशेष मे ही हुआ है, बल्कि यह कि आपका चिन्तन सामाजिक, शैक्षणिक एव राजनीतिक क्षेत्रो मे भी भरपूर हुआ है। आपके व्यक्तित्व मे जहाँ एक ओर विवेकानन्द सा तत्त्वदर्शी चिंतन तरगायित है, वहाँ दूसरी ओर स्वामी दयानन्द सरस्वती एव सन्त कबीर की पाखण्ड-प्रतिरोधी एवं अन्धरूढि-विरोधी क्रान्तिकारी तेजस्विता भी मुखर है। प्रस्तुत पुस्तक मे आपके समग्र चिन्तन का स्वरूप प्रतिबिम्बित है।

'चिन्तन की मनोभूमि' को तीन खण्डो—क्रमश (१) दार्शनिक दृष्टिकोण, (२) धार्मिक एव आध्यात्मिक दृष्टिकोण तथा (३) सामाजिक, सास्कृतिक एव राजनीतिक दृष्टिकोण–मे विभाजित किया गया है। इसमें कुल पचास अध्याय हैं। पचास अध्याय कविश्रीजी की ५०वी दीक्षा जयती का भी प्रतीक प्रस्तुत करने के अभिप्राय से रखा गया है।

प्रथम खण्ड–दार्शनिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत–जीव, जगत्, मन, आत्मा, तीर्थंकर, अरिहत, ईश्वर, कर्म और जीव, वन्धन और मोक्ष, अवतारवाद या उत्तारवाद, जैन धर्म की आस्तिकता, समन्वय एव अन्य विचारधाराएँ, जैन दर्शन की समन्वय-परम्परा तथा अनेकात आदि विषय-विन्दुओ पर गहराई, स्पष्टता एव पूरी उदारता से विचार किया गया है। उक्त विषयो पर अवतक लगभग सभी सम्प्रदायो मे काफी विचार किया जा चुका है, किन्तु यहाँ जो विचार प्रस्तुत किया गया है, वह इस अर्थ में विशेष महत्त्वपूर्ण है कि इसमे किसी सम्प्रदाय विशेष के आग्रह पर विशेष वल न देकर विषय का विवेचन वैज्ञानिकता के साथ तर्क की तुला पर तोल कर किया गया है, जिसमे विषय-वस्तु को, पाठको को समझा देना ही मंतव्य रहा है।

द्वितीय खण्ड—धार्मिक एव आध्यात्मिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत—धर्म एक चिन्तन; भक्ति, कर्म और ज्ञान, प्रेम और भक्ति योग, धर्म का अन्तर्हृदय, साधना का मार्ग, राग का उर्ध्वीकरण, जीवन मे स्व का विकास, सुख का राजमार्ग, कल्याण का मार्ग, अमरता का मार्ग, स्वरूप की साधना, योग और क्षेम; धर्म और जीवन; आत्म जागरण, धर्म की कसौटी शास्त्र, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अपरिग्रह तथा सर्वधर्म समन्वय आदि पहलुओ पर वडी वारीकी एव सुस्पष्टता से विचार किया गया है। यह अध्याय जैन धर्म को विश्व धर्म की विराट् पीठिका पर लाकर अवस्थित करने मे सहज समर्थ है, ऐसा सर्वांगीन सर्वतोमुखी विवेचन इसमे प्रसूत हुआ है। कविश्रीजी का क्रान्तिकारी लेख—"क्या शास्त्रो को चुनौती दी जा सकती है ?" जिसकी जन-सामान्य मे काफी चर्चा हुई है, तथा जिसने विद्वत्समाज को भी लेखनी चलाने को विवश किया है—वही इस पुस्तक मे "धर्म की कसौटी : शास्त्र" के नाम से सन्निविष्ट है।

तृतीय खण्ड—सास्कृतिक, सामाजिक एव राजनीतिक दृष्टिकोण के अन्तर्गत—संस्कृति और सभ्यता; भारतीय सस्कृति मे व्रतो का योगदान, व्यक्ति और समाज, मानव जीवन की सफलता; अन्तर्जीवन, जीने की कला; समाज-सुधार; शिक्षा और विद्यार्थी जीवन, नारी जीवन का अस्तित्व, भोजन और आचार-विचार; समानता, राष्ट्रीय जागरण, वसुधैव कुटुम्वकम् तथा विश्वकल्याण का चिरतन पथ : सेवा का पथ—प्रभृति शीर्षको पर वडी तन्मयता एव सूक्ष्मता से विचार किया गया है तथा वर्तमान युगीन समस्या के लिए एक सहज सुलभ मार्ग निदेश किया गया है।

इस प्रकार, विहगम दृष्टि डालने मात्र से ही यह भली-भाँति विदित हो जाता है कि कविश्रीजी का चिन्तन जीवन के लगभग सम्पूर्ण क्षेत्रो मे हुआ है, कोई भी ऐसा कोना नही, जहाँ कविश्रीजी की पारखी एव तत्त्वान्वेषी दृष्टि न गई हो। यही कारण है कि यह पुस्तक दार्शनिक, तपस्वी, साधक, सन्त, समाज-सुधारक, गृहस्थ, शिक्षक शिक्षार्थी एव राजनीतिज्ञ—सबो के लिए समान रूप से उपादेय वन पाई है। इतने बहुल-विषयो पर इतना व्यापक चिन्तन अन्यत्र एक स्थान पर मिल पाना शायद ही सम्भव हो।

इस पुस्तक की प्राण-प्रतिष्ठा करने का जो कुछ भी श्रेय है, वह सेवाभावी श्री अखिलेश मुनिजी महाराज को है। यदि उनका आशीर्वाद तथा श्रद्धेय कवि श्री अमर मुनिजी महाराज का सर्जनात्मक वात्सल्य-स्नेह भरा निदेश हमे प्राप्त न होता, तो यह पुस्तक अपने इस गौरव को कथमपि प्राप्त न कर पाती।

विषय-चयन एव सम्पादन की जो कुछ प्रेरणा एव पथदिशा हमने प्रो० श्री विश्वम्भर 'अरुण', आगरा कालेज से प्राप्त की है, इसके लिए हम उनके प्रति बहुत ही आभारी है।

इस पुस्तक के प्रकाशन मे प्रेरणाबिन्दु श्री श्रीचन्दजी सुराणा 'सरस' रहे हैं, अत हम उनके प्रति अपना हार्दिक आभार व्यक्त करते हैं तथा अपने सहयोगी श्री रामघन शर्मा के सहयोग के लिए भी आभारी हैं।

पुस्तक के मुद्रण कार्य मे प्रेम इलैक्ट्रिक प्रेस के समर्थ सचालक, मेधावी नवयुवक श्री प्रेमचन्दजी जैन का, जो हार्दिक सहयोग हमे प्राप्त हुआ है, उसके लिए हम उनके प्रति आभारी हैं तथा ऐसे साधु प्रयास के लिए हम उन्हें साधुवाद देते हैं। इसके साथ ही इसी प्रेस के श्री सीताराम रावत एव यतेन्द्र कुमार जैन तथा अन्य सभी कार्यकर्त्ताओ का जोश भरा हार्दिक एव सक्रिय सहयोग हमे प्राप्त हुआ है, हम उनके प्रति बहुत-बहुत आभार व्यक्त करते हैं, क्योकि यदि उन लोगो का सहयोग हमे प्राप्त न होता, तो इतने अल्प समय मे इतने बडे ग्र थ का मुद्रित-प्रकाशित हो पाना असभव ही था। इसकी सज्जा के सम्बन्ध मे, श्री श्यामसुन्दर शर्मा, बेलनगंज, आवरण एव खंडो के शिल्पी श्री जगदीश प्रसाद, विवक स्टुडियो तथा श्री गिरिजाशकर उप्रैती ने भी अपना बहुमूल्य सुझाव एव सक्रिय सहयोग हमे प्रदान किया है, अतः हम उनके प्रति भी बहुत कृतज्ञ हैं।

अत मे, हम उन समस्त सुधी विद्वत्जनो के प्रति अपनी हार्दिक कृतज्ञता ज्ञापित करते है, जिन्होने अल्प समय मे ही इस पुस्तक का अवलोकन कर, हमे अपने अमोल अभिमत, प्राक्कथन एव संदेश देकर गौरवान्वित किया है। साथ ही, इस ग्र थ के सम्पादन मे अनेक विद्वत्जनो के विचारो एव उनकी कृतियो का लाभ उठाया है, अत हम उन सबो के प्रति अनुगृहित हैं।

आज कविश्रीजी की दीक्षा स्वर्ण जयन्ती की पावन वेला मे उनके विचार-सुमनो का गुलदस्ता श्रद्धालु सज्जनो के बीच प्रस्तुत करते हुए हमे अपार हर्ष की अनुभूति हो रही है। यदि इससे जन-सामान्य का कुछ भी हित हो सका, तो हमे अपने श्रम पर गौरव होगा, हम अपने श्रम को सार्थक समझेंगे। पुनश्च अत्यन्त अल्प समय मे सम्पादन, मुद्रण एव प्रकाशन होने के कारण अशुद्धियो का रह जाना, कोई बडी बात नहीं है। अतः हम श्रद्धालु पाठको से निवेदन करते हैं कि वे उन अशुद्धियो पर ध्यान न देकर मूल विषय पर चितन कर लाभ उठाएँ।

अत मे, हम समस्त सुधी चितको एव सहृदयजनो से आग्रह करेंगे कि वे इस पुस्तक का अध्ययन कर अपनी सम्मति एव सर्जनात्मक सुझाव देकर हमे कृतार्थ करें।

दीक्षास्वर्णजयती के शुभअवसर पर हम अपनी सहज भक्ति-भावना का श्रद्धा-सुमन श्रद्धेय कविश्रीजी के गरिमामय गुरुत्व को अर्पित करते हुए हार्दिक अभिनन्दन करते हैं।

आगरा, २२ फरवरी १९७० ई०

—सम्पादक

दार्शनिक
दृष्टिकोण

१
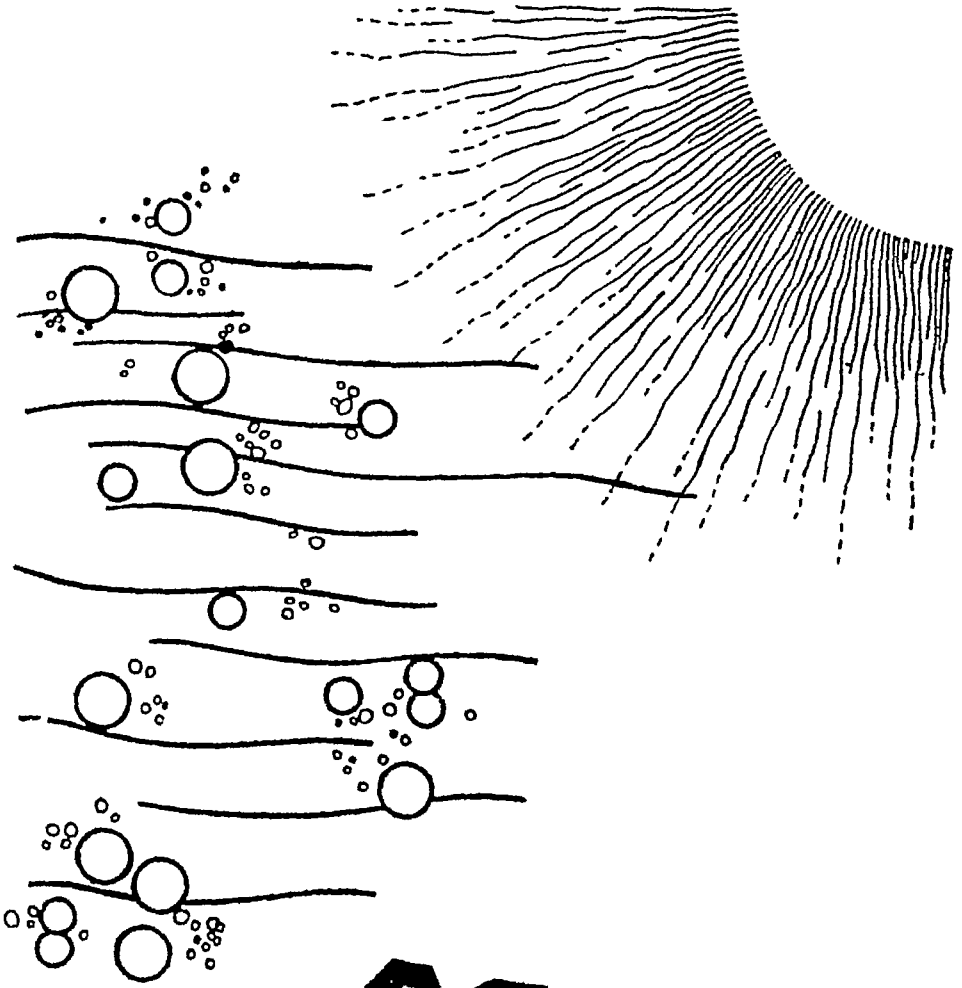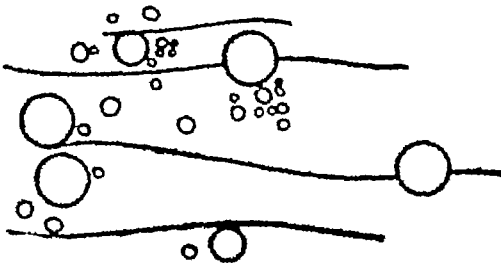
जीव और जगत् : आधार एवं अस्तित्व

भारतीय दर्शन और तत्त्व-चिन्तन ने एक बात मानी है कि इस विराट् विश्व का अस्तित्व दो प्रमुख तत्त्वो पर निर्भर है। दो तत्त्वो का मेल ही इस विश्वस्थिति का आधार है। एक है—शाश्वत, चिन्मय और अरूप। दूसरा है—क्षणभगुर, अचेतन और रूपवान। पहले को—जीव कहा गया है, दूसरे को—जड, पुद्गल। यह शरीर, ये इन्द्रियाँ, ये महल और यह धन-सम्पत्ति सब पुद्गल का खेल है। ये कभी बनते हैं, कभी मिटते हैं। पुद्गल का अर्थ ही है—"पूरणात् गलनाद् इति पुद्गल" मिलना और गलना। सघात और विघात, यही पुद्गल का लक्षण है।

यह विराट् विश्व परमाणुओ से भरा हुआ है। इसमे से कभी कुछ परमाणु-पिण्डो का मिलन हुआ नही कि शरीर का निर्माण हो गया। एक अवस्था एव काल तक इसका विकास होता है और फिर बिखर जाता है। इसी प्रकार धन, ऐश्वर्य एव मकान है। अनन्तकाल से ये तत्त्व शाश्वत चैतन्य के साथ मिलकर घूम रहे हैं। संसार का चक्कर लगा रहे है। अनन्त-अनन्त बार शरीर आदि के रूप मे एक साथ मिले, नए-नए खेल किए और फिर गलने लगे, बिखर गए।

आकाश मे बादलो का खेल होता है। एक समय यह अनन्त आकाश साफ है, सूर्य का प्रकाश चमक रहा है, किन्तु कुछ ही समय बाद काली-काली जल से भरी हुई घटाएँ घुमड़ती-मचलती चली आती है, आकाश मे छा जाती है और सूर्य का प्रकाश ढक जाता है। फिर कुछ समय बाद हवा का एक प्रचण्ड झोका आता है, बादल चूर-चूर होकर बिखर जाते है, आकाश स्वच्छ हो जाता है और सूर्य फिर पहले की तरह चमकने लगता है। यह पुद्गलो का रूप है। एक क्षण बिजली चमकती है, प्रकाश की लहर उठती है और दूसरे ही क्षण बुझ जाती है, समूचा ससार अन्धकार मे डूब जाता है।

इस दृष्टादृष्ट अनन्त विश्व की सर्वात्मवादी व्याख्या सत्ता पर आधारित है। 'सत्ता' अर्थात् सामान्य, 'सामान्य' अर्थात् द्रव्य ; 'द्रव्य' अर्थात् अविनाशी मूलतत्त्व। सत्ता

के दो मूल रूप हैं—जड और चेतन। ये दोनो ही तत्त्व विश्व के अनादिनिधन मौलिक भाग हैं। दोनो परिवर्तनशील है, क्रियाधारा मे प्रवाहमान हैं। एक क्षण के लिए भी कोई क्रियाशून्य नही रह पाता। कभी स्वतन्त्र रूप से, तो कभी पारस्परिक प्रभाव-प्रतिप्रभाव से क्रिया और प्रतिक्रिया का चक्र चलता ही रहता है। हम सब जो यह परिवर्तन-चक्र देख रहे हैं, वह किसी ऐसे आधार की ओर सकेत देता है। जो परिवर्तित होकर भी परिवर्तित नही होता, अर्थात् अपनी मूल स्वरूपस्थिति से कभी भी च्युत नही होता। और वह आधार क्या है ? दर्शन का उत्तर है—'सत्ता।' सत्ता अर्थात् अनादि अनन्त मूल तत्त्व। सत्ता का जन्म नही है। इसलिए उसकी आदि नही है। और सत्ता का विनाश नही है, न स्वरूप परिवर्तन है। इसलिए उसका अन्त भी नही है। सत्ता, जिसके जड और चेतन दो रूप है, अपने मे एक वास्तविक शाश्वत तत्त्व है। यह न कोई आकस्मिक सयोग है और न कोई काल्पनिक सत्य। यह किसी सर्वोच्च सत्ता के रूप मे माने गये ईश्वर, खुदा या गौड की देन भी नही है और न ऐसी किसी तथाकथित शक्तिविशेष से प्रशासित ही है। इस प्रकार उक्त अखण्ड अविनाशी सत्ता का न कोई कर्त्ता है और न हर्ता है। यह अपने आप मे शतप्रतिशत पूर्ण है, स्वतन्त्र है। पूर्ण और स्वतन्त्र अर्थात् सर्वतन्त्र-स्वतन्त्र। इसकी अपनी नियमबद्धता भी निश्चित है, अर्थात् स्वतन्त्र है, किसी अन्य परोक्ष-शक्ति के द्वारा परिचालित नही है। इसके अस्तित्व मे कोई हेतु नही है। तर्क की भाषा मे कहा जाए तो कह सकते हैं—"सत्ता सत्ता है, क्योकि वह सत्ता है।"

इस विराट् विश्व की व्यवस्था का मूल सूत्र है—'सत्ता।' इसके अनेकानेक महत्त्वपूर्ण अंश मानवबुद्धि के द्वारा परिज्ञात हो चुके हैं, फिर भी मानव का तर्कशील मस्तिष्क अभी तक विश्व के अनन्त रहस्यो का ठीक तरह उद्घाटन नही कर पाया है, न इसकी विराट् शक्ति का कोई एक निश्चित माप ही ले सका है। विश्व की सूक्ष्मतम सीमाओ की खोज मे, उसकी अज्ञात अतल गहराइयो को जानने की दिशा मे मानव अनादिकाल से प्रयत्न करता आ रहा है। उसे एक सर्वथा अज्ञात रहस्य मानकर, अथवा अनावश्यक प्रपच समझ कर वह कभी चुप होकर नही बैठा है। शोध की प्रक्रिया निरन्तर चालू रही है। इसी अज्ञात को ज्ञात करने की धुन मे विज्ञान के चरण अनवरत आगे और आगे बढते रहे है, और वह अनेकानेक अद्भुत रहस्यो को रहस्यता की सीमा मे से बाहर निकाल भी लाया है। फिर भी, अभी तक निर्णयात्मक रूप से यह नही कहा जा सका है कि—"विश्व का यह अभिव्यक्त मानचित्र अन्तिम है। इसकी यह इयत्ता है, आगे और कुछ नही है।" सचमुच ही सर्वसाधारण जन-समाज के लिए विश्व एक पहेली है, जो कितनी ही बार बूझी जाकर भी अनबूझी ही रह जाती है।

चेतन और अचेतन .

साधारण मानवबुद्धि के लिए भले ही विश्व आज भी एक पहेली हो, किन्तु भारतीय तत्त्वदर्शन ने इस पहेली को ठीक तरह सुलझाया है। भारत का तत्त्वदर्शन कहता है कि विश्व की सत्ता के दो मौलिक रूप हैं—जड और चेतन। सत्ता का जो चेतन भाग है, वह सवेदनशील है, अनुभूतिस्वरूप है। किन्तु जड भाग उक्त शक्ति से सर्वथा शून्य है। यही कारण है कि चेतन की अधिकांश प्रवृत्तियाँ पूर्वनिर्धारित होती हैं, हेतुमूलक होती हैं। अपनी

इस निर्धारण की क्रिया मे, उपयोग की धारा मे चेतन स्वतन्त्र है। चेतना से ही तो चेतन है। किन्तु जड सर्वथा अचेतन है, चेतनाशून्य है। अत जड की अपनी क्रिया मे स्वय जड का अपना कोई हेतु नही है। जड की क्रिया होती है, सतत होती है, परन्तु वह कोई हेतु एवं लक्ष्य निर्धारित करके नही होती।

चेतन . आनन्द की खोज में

चेतन अनादिकाल से आनन्द की खोज मे रहा है। आनन्द ही उसका चरम लक्ष्य है, अन्तिम प्राप्तव्य है। चेतन को अपनी अनन्त जीवन यात्रा मे तन और मन के चरम आनन्द मिले है, भौतिक सुख-सुविधाएँ उपलब्ध हुई है, और वह इनमे उलझता भी रहा है, अटकता या भटकता भी रहा है। इन्हे ही वह अपना अन्तिम प्राप्तव्य मानकर सन्तुष्ट होता रहा है। परन्तु यह आनन्द क्षणिक है। साथ ही दु खसम्पृक्त भी है। विष-मिश्रित मधुर मोदक जैसी स्थिति है इसकी। अत जागृत चेतन कुछ और आगे झांकने लगता है, शाश्वत मुक्त आनन्द की खोज मे आगे चरण बढा देता है। उक्त सच्चे और स्थायी आनन्द की खोज ने ही मोक्ष के अस्तित्व को सिद्ध किया है—परम्परागत दृष्ट जीवन से परे अनन्त असीम आनन्दमय जीवन का परिबोध दिया है। जड की स्वय अपनी ऐसी कोई खोज नही है। जड की सक्रियता स्वय उसके लिए सर्वतोभावेन निरुद्देश्य है, जबकि चेतन की क्रियाशीलता सोद्देश्य है। चेतन का परम उद्देश्य क्या है और वह कैसे प्राप्त किया जा सकता है, इसी विश्लेपण की दिशा मे मानव हजारो-हजार वर्षो से प्रयत्न करता रहा है। यह चिन्तन, यह मनन, यह प्रयत्न ही चेतन का अपना स्वविज्ञान है, जिसे शास्त्र की भाषा मे अध्यात्म कहते है। अध्यात्म भूमिका ज्योही स्थिर स्थिति मे पहुँचती है, साधक के अन्तर मे से सहज आनन्द का अक्षय अजस्र स्रोत फूट पडता है।

चेतन के स्वरूपबोध का मूलाधार ·

स्थूल दृश्य पदार्थों को आसानी से समझा जा सकता है, उनकी स्थिति एवं शक्ति का आसानी से अनुमापन हो सकता है, किन्तु चेतना के सम्बन्ध मे ऐसा नही है। चेतना अत्यन्त सूक्ष्म तथा गूढ है। दर्शन की भाषा मे 'अणोरणीयान्' है। साधारण मानवबुद्धि के पास तत्त्व-चिन्तन के जो इन्द्रिय एव मन आदि ऐहिक उपकरण है, वे बहुत ही अल्प है, सीमित है। साथ ही सत्य की मूल स्थिति के वास्तविक आकलन मे अधूरे है, अक्षम है। इसके माध्यम से चेतना का स्पष्ट परिबोध नहीं हो पाता है। केवल ऊपर की सतह पर तैरते रहने वाले भला सागर की गहराई को कैसे जान सकते हैं ? जो साधक अन्तर्मुख होते है—साधना के पथ पर एक निष्ठा से गतिमान रहते है—चेतना के चिन्तन तक ही नही, अपितु चेतना के ज्ञान-विज्ञान तक पहुँचते हैं—निजानुभूति की गहराई मे उतरते हैं, वे ही चेतना के मूल स्वरूप का दिन के उजाले की भाँति स्पष्ट परिबोध पा सकते हैं।

विश्व की क्षणभगुरता

भारतीय दर्शन और भारतीय सस्कृति मे दु.ख और क्लेश तथा अनित्यता और क्षणभंगुरता के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा गया है और बहुत कुछ लिखा गया है। यही कारण है कि पाश्चात्य विद्वान् भारतीय दर्शन की उत्पत्ति अनित्यता और दु ख मे से ही मानते है। क्या दु:ख और अनित्यता भारतीय दर्शन का मूल हो सकता है ? यह एक

गम्भीर प्रश्न है, जिस पर भरपूर चिन्तन, मनन एवं विचार किया गया है। जीवन अनित्य है और जीवन दुःखमय है, इस चरम सत्य से इनकार नही किया जा सकता। सम्भवत पाश्चात्य जगत् के विद्वान् भी इस सत्य को ओझल नही कर सकते। जीवन को अनित्य, दु.खमय, क्लेशमय, क्षणभगुर मानकर भी भारतीय दर्शन आत्मा को एक अमर और शाश्वत तत्त्व मानता है। आत्मा को अमर और शाश्वत मानने का यह अर्थ कदापि नही हो सकता कि उसमे किसी प्रकार का परिवर्तन नही होता है। परिवर्तन तो जगत् का एक शाश्वत नियम है। चेतन और अचेतन दोनो मे ही परिवर्तन होता है। किन्तु इतनी बात अवश्य है, कि जडगत परिवर्तन की प्रतीति शीघ्र हो जाती है, जबकि चेतनगत परिवर्तन की प्रतीति शीघ्र नही होने पाती। यदि चेतन मे परिवर्तन न होता, तो आत्मा का दुःखी से सुखी होना और अशुद्ध से शुद्ध होना, यह कैसे सम्भव हो सकता था। जीवन और जगत् मे प्रतिक्षण परिवर्तन हो रहा है, दर्शनशास्त्र का यह एक चरम सत्य है।

भारतीय दर्शन अनित्य मे से और दु ख मे से जन्म लेता है। भगवान् महावीर ने कहा है—"अणिच्चे जीव-लोगम्मि।" यह ससार अनित्य है और क्षणभंगुर है। क्या ठिकाना है इसका? कौन यहाँ पर अजर-अमर बनकर आया है? संसार मे शाश्वत और नित्य कुछ भी नही है। यही बात बुद्ध ने भी कही है—"अणिच्चा सखारा।" यह संस्कार अनित्य है, क्षणभंगुर है। विशाल-बुद्धि व्यास ने भी कहा है—

"अनित्यानि शरीराणि, विभवो नैव शाश्वत.।
नित्य सन्निहितो मृत्यु. कर्त्तव्यो धर्म-संग्रहः ॥"

शरीर अनित्य है, धन और वैभव भी शाश्वत नही है, मृत्यु सदा सिर पर मँडराती रहती है न। जाने कब मृत्यु आकर पकड ले, अतः जितना हो सके धर्म कर लेना चाहिए।

भारतीय सस्कृति और भारतीय दर्शन का यह अटल विश्वास है कि मौत हर इन्सान के पीछे छाया की तरह चल रही है। जिस दिन जन्म लिया था, उसी दिन से इन्सान के पीछे मौत लग चुकी थी। न जाने वह कब झपट ले और कब हमारे जीवन को समाप्त करदे। जीवन का यह खिला हुआ फूल न जाने कब ससार की डाली से झडकर अलग हो जाए। जीवन नदी के उस प्रवाह के तुल्य है, जो निरन्तर बहता ही रहता है। भगवान् महावीर ने इस मानव जीवन को अनित्य और क्षणभगुर बताते हुए कहा है कि यह जीवन कुश के अग्रभाग पर स्थित जल-बिन्दु के समान है। मरण के पवन का झोका लगते ही यह धराशायी हो जाता है। जिस शरीर पर मनुष्य अभिमान करता है, वह शरीर भी विविध प्रकार के रोगो से आक्रान्त है। पीडाओ और व्यथाओ का भडार है। न जाने कब और किस समय और कहाँ पर इसमे से रोग फूट पडे? यह सब कुछ होने पर भी, भारतीय दर्शन और भारतीय सस्कृति के उद्गाता उस दुःख का केवल रोना रोकर ही नहीं रह गए। क्षणभंगुरता और अनित्यता का उपदेश देकर ही नही रह गए। केवल मनुष्य के दु ख की बात कहकर, अनित्यता की बात दुहरा कर तथा क्षणभंगुरता की बात सुनाकर, निराशा के गहन गर्त मे लाकर उसने जीवन को धकेल नहीं दिया, बल्कि निराश, हताश और पीडित जन-जीवन मे आशा की सुखकर उपदेश-रश्मियाँ प्रदानकर

प्रकाशित-प्रफुल्लित कर दिया। उसने कहा कि मानव। आगे बढते जाओ। जीवन की क्षणभंगुता और अनित्यता हमारे जीवन का आदर्श या लक्ष्य नही है। अनित्यता और क्षणभगुरता का उपदेश केवल इसीलिए है कि हम जीवन मे और धन-वैभव मे आसक्त न बनें। जब जीवन को और उसके सुख-साधनो को अनित्य और क्षणभगुर मान लिया जाएगा, तब उनमे आसक्ति नही जगेगी। आसक्ति का न होना ही भारतीय सस्कृति की साधना का मूल लक्ष्य है, चरम उद्देश्य है।

भारतीय सस्कृति मे जीवन के दो रूप माने गये है—(१) मर्त्य-जीवन और (२) अमर्त्य-जीवन। इस जीवन मे कुछ वह है, जो अनित्य है और जो क्षणभगुर है। और इस जीवन मे वह भी है, जो अमर्त्य है, जो अमृत है और जो अमर है। जीवन का मर्त्य भाग क्षण-प्रतिक्षण नष्ट होता जा रहा है, समाप्त होता जा रहा है। जिस प्रकार अञ्जलि मे भरा हुआ जल बूँद-बूँद करके रिसता चला जाता है, उसी प्रकार जीवन-पुञ्ज मे से जीवन के क्षण निरन्तर बिखरते रहते हैं। जिस प्रकार एक फूटे घडे से बूँद-बूँद करके जल निकलता रहता है और कुछ काल मे घडा खाली हो जाता है, प्राणी-जीवन की भी यही स्थिति है और यही दशा है। जीवन का मर्त्य-भाग अनित्य है, क्षणभगुर है और विनाशशील है। यह तन अनित्य है, यह मन अनित्य है, ये इन्द्रियाँ क्षणभगुर हैं तथा धन और सम्पत्ति चचल है। पुरजन और परिवारीजन आज हैं और कल नही। घर की लक्ष्मी उस बिजली की रेखा के समान है, जो चमक कर क्षण भर मे विलुप्त हो जाती है। जरा सोचिए तो, इस अन्त-हीन और सीमा-हीन ससार मे किसकी विभूति नित्य रही है और किसका ऐश्वर्य स्थिर रहा है? रावण का परिवार कितना विराट् था। दुर्योधन का परिवार कितना विस्तृत था, कितना व्यापक था। किन्तु उन सबका ध्वस्त होते और मिट्टी मे मिलते क्या देर लगी? जिस प्रकार जल का बुद-बुद जल मे जन्म लेता है और जल मे ही विलीन हो जाता है, उसी प्रकार धन, वैभव और ऐश्वर्य मिट्टी मे से जन्म लेता है और अन्त मे मिट्टी मे ही विलीन हो जाता है। भारतीय सस्कृति का यह वैराग्य रोने और बिलखने के लिए नही है, बल्कि इसलिए है कि जीवन के मर्त्य भाग मे हम आसक्त न बनें और जीवन के किसी भी मर्त्य रूप को पकड कर हम न बैठ जाएँ। सब कुछ पाकर भी और सबके मध्य रहकर भी हम समझे कि यह हमारा अपना रूप नही है। यह सब आया है और चला जाएगा। जो कुछ आता है, वह जाने के लिए ही आता है, स्थिर रहने और टिकने के लिए नहीं आता है। भारतीय दर्शन और भारतीय संस्कृति का यह अनित्यता और क्षणभगुरता का उपदेश जीवन को जागृत करने के लिए है, जीवन को बन्धनों से विमुक्त करने के लिए है।

जीवन का दूसरा रूप है—अमर्त्य, अमृत और अमर। जीवन के अमर्त्य भाग को आलोक और प्रकाश कहा जाता है। अमृत का अर्थ है—कभी न मरने वाला। अमर का अर्थ है—जिस पर मृत्यु का कुछ भी प्रभाव नही पडता है। वह क्या तत्त्व है? इसके उत्तर मे भारतीय दर्शन कहता है कि इस क्षणभगुर, अनित्य और मर्त्य-शरीर में जो कुछ अमर्त्य है, जो कुछ अमृत है और जो कुछ अमर है, वही आत्म-तत्त्व है। यह आत्म-तत्त्व वह तत्त्व है जिसका न कही आदि है, न कही मध्य और न कही अन्त है। यह आत्म-तत्त्व अविनाशी है, नित्य और शाश्वत है। न कभी इसका जन्म हुआ है और न कभी

इसका मरण होगा। भारत के प्राचीन दार्शनिकों ने अपनी समग्र शक्ति इसी अविनाशी तत्त्व की व्याख्या मे लगादी थी। आत्मा क्या है ? वह ज्ञान है, वह दर्शन है, वह चरित्र है, वह आलोक है, वह प्रकाश है। अमृत वह होता है, जो अनन्त काल से है और अनन्तकाल तक रहेगा।

वैदिक-परम्परा के एक ऋषि ने कहा है—"अमृतस्य पुत्र ।" हम सब अमृत के पुत्र हैं। हम सब अमृत हैं, हम सब शाश्वत हैं और हम सब नित्य है। अमृत-आत्मा का पुत्र अमृत ही हो सकता है, मृत नही। ईश्वर अमृत है और हम सब उसके भक्त-पुत्र हैं। जिन और सिद्ध शाश्वत हैं, इसलिए हम सब शाश्वत हैं और नित्य हैं। इस अमृत भाग को जिसने जान लिया और समझ लिया, उस आत्मा के लिए इस ससार मे कही पर भी न कोई रोग है, न शोक है, न क्षोभ है और न मोह है। क्षोभ और मोह की उत्पत्ति जीवन के मर्त्य भाग मे होती है, अमर्त्य मे नही। यदि किसी का प्रियजन मर जाता है, तो वह विलाप करता है। किन्तु मैं पूछता हूँ कि वह विलाप किसका किया जाता है ? क्या आत्मा का, अथवा देह का ? आत्मा के लिए विलाप करना तो एक बहुत बडा अज्ञान ही है, क्योंकि वह सदाकाल के लिए शाश्वत है, फिर उसके लिए विलाप क्यो ? यदि शरीर के लिए विलाप करते हो, तो यह भी एक प्रकार की मूर्खता ही है, क्योंकि शरीर तो क्षणभंगुर ही है, अनित्य ही है, वह तो मिटने के लिए ही बना है। अनन्त अतीत मे वह अनन्त बार बना है और अनन्त बार मिटा है। अनन्त अनागत मे भी वह अनन्त बार बन सकता है और अनन्त बार मिट सकता है। तो, जिसका स्वभाव ही बनना और बिगडना है, फिर उसके लिए विलाप क्यो ? जीवन मे जो अमर्त्य है, वह कभी नष्ट नही होता और जीवन मे जो मर्त्य है, वह टिक कर रह नही सकता। अतः क्षणभंगुरता की दृष्टि से, और नित्यता की दृष्टि से भी विलाप करना अज्ञान का ही द्योतक है। जो कुछ मर्त्य भाग है, वह किसी का भी क्यो न हो और किसी भी काल का क्यो न हो, कभी स्थिर नही रह सकता। चक्रवर्ती का ऐश्वर्य और तीर्थंकर की विभूति, देवताओ की समृद्धि तथा मनुष्यों का वैभव कभी स्थिर नही रहा है और कभी स्थिर नहीं रहेगा, फिर एक साधारण मनुष्य की साधारण धन-सम्पत्ति स्थिर कैसे रह सकती है ? इस जीवन मे जितना सम्बन्ध है, वह सब शरीर का है, आत्मा का तो सम्बन्ध होता नही है। इस जीवन मे जो कुछ प्रपच है, वह सब शरीर का है, आत्मा तो प्रपच-रहित होती है। प्रपच और विकल्प तन-मन के होते है, आत्मा के नही, किन्तु अज्ञानवश इनको हमने अपना समझ लिया है और इसी कारण हमारा यह जीवन दु:खमय एव क्लेशमय है। जीवन के इस दु ख और क्लेश को क्षणभंगुरता और अनित्यता के उपदेश से दूर किया जा सकता है। क्योंकि जबतक भव के विभव मे अपनत्व-बुद्धि रहती है, तबतक वैभव के बधन से विमुक्ति कैसे मिल सकती है ? पर मे स्व बुद्धि को तोडने के लिए ही, अनित्यता का उपदेश दिया गया है।

★★★★

२

मन : एक सम्यक् विश्लेषण

"मन को जीतना बड़ा कठिन है, मन पवन जैसा चंचल है।"[1] "दुष्ट घोड़े जैसा दुःसाहसिक है।"[2] मन जैसा कोई शत्रु नहीं, अतः मन को मारो, मारो और इतना मारो कि मार मार कर चकनाचूर कर दो।—ऐसा कहा जाता है। परन्तु मैं कहता हूँ कि यह तो एक तरफ की बात हुई। दूसरी तरफ भी देखना चाहिए। यदि दूसरी ओर देखें तो मन जैसा कोई मित्र भी नही है। बाहर मे जो कुछ भी दृश्य जगत् है—परिवार है, समाज है। और राष्ट्र है, व्यापार, वैभव और ऐश्वर्य है, वह सब मन से ही पैदा हुआ है। मैं तो यहाँ तक मानता हूँ कि सृष्टि का निर्माता, यदि कोई ब्रह्मा है, तो वह मन ही है। और वही इसका संहर्त्ता, महारुद्र भी है। तथागत बुद्ध ने ठीक ही कहा है कि—"सब धर्म, सब वृत्तियां और सब संस्कार पहले मन मे ही पैदा होते है।"[3] मन सब मे मुख्य ही क्या, सब कुछ यही है। अतः मन को अनुकूल कर लेना ही परमानन्द का द्वार पा लेना है।

मन की माया :

आचार्य शंकर जो भारतीय चिंतनक्षितिज पर ज्योतिष्मान नक्षत्र की तरह आज भी चमक रहे हैं, उन्होंने कहा है—'ब्रह्म सत्य है, जगत् मिथ्या है—'ब्रह्म सत्य जगन्मिथ्या।' उक्त सूत्र को यदि मन के लिए कहा जाए, तो यह कहा जा सकता है—'मनः सत्यं जगद् माया' मन ही सत्य है, यह जगत्, यह सृष्टि उसी मन की माया है। इसलिए जगत् को 'मन की माया' कह सकते है।

इन्सान जब माता के उदर से जन्म लेकर इस पृथ्वी पर आया, तो उसके पास क्या था? धन था? अलंकार थे? कपड़े-लत्ते थे? मकान था? आज जो कुछ दीख रहा है उसके पास, उसमे से कुछ भी था? कुछ भी नहीं! जो था, वह केवल एक छोटा-सा,

१ चंचलं हि मनः कृष्ण ।··वायुरिव सुदुष्करम्—गीता
२ मणो साहस्सिओ भीमो दुट्ठस्सो परिधावई—उत्त०, २३
३ मनो पुब्बंगमा धम्मा, मनोसेट्ठा मनोमया—धम्मपद, १।१

शरीर। एक नगा तन। और कुछ भी तो उसके पास नही था। फिर यह सब कुछ कहाँ से आ गया? ये बडे-बडे भवन। ये कल-कारखाने। ये धरती-आकाश की परिक्रमा करने वाले विमान। ये सब कहाँ से आये? सभ्यता और सस्कृति का जो विकास हुआ है, धर्म और दर्शन का जो गम्भीरतम चिंतन हुआ है, वह सब कहाँ से जन्मा? मन की सृष्टि से ही तो। मनुष्य ने मनन किया, चिन्तन किया और इस विशाल सृष्टि का निर्माण हो गया। इसलिए मैंने कहा—मन ब्रह्म है, मन जैसा दूसरा कोई साथी नही, मित्र नही और परमशक्ति नही।

यह ठीक है कि मन शत्रु भी है, और वह बहुत बडा भयकर शत्रु है। जब वह गलत सोचना शुरू करता है तो सृष्टि मे प्रलय मचा देता है। निरपराध मनुष्यो के रक्त की नदियाँ बहा देता है और हड्डियो के पहाड खडे कर देता है।

मन ने राम को पैदा किया तो रावण को भी। धर्मपुत्र युधिष्ठिर को जन्म दिया तो दुर्योधन को भी। और एक नही, इस ससार मे लाखो-करोडो रावण, दुर्योधन और हिटलर मन मे पैदा होते रहे हैं, जिन की हुंकार से सृष्टि काँपती रही है। मानवीय रक्त से नहाती रही है। फिर सोचिए, मन जैसा शत्रु कौन होगा।

मारना या साधना

मन की इस अपार शक्ति से, अदभुत माया से, जब आप परिचित हैं, तो सहज ही यह प्रश्न आपके सामने आ जाता है कि इस मन को वश मे कैसे करें? इसको मित्र कैसे बनाएँ?

इस सम्बन्ध मे साधना के क्षेत्र मे दो विचार चलते रहे हैं। एक विचार वह है, जो मन को शत्रु के रूप में ही देखता आया है, इसलिए वह मन को मारने की बात कहता है। वह कहता है—मन सबसे बडा शत्रु है, इसे यदि नही मारा, तो कुछ भी नही हुआ। 'मन मारा तन वश किया।'—यही उसके स्वर है, भजन है। मन को मारने के लिए उसने अनेक क्रियाएँ भी बतलाई। हठयोग आया, प्राणायाम की क्रियाएँ आई, मन को मूर्च्छित करने के तरीके निकले। और वे यहाँ तक पहुँच गये कि मदिरा, भांग, गाँजा और धतूरा तक पीकर मन को मूर्च्छित करने के प्रयत्न चले। हठयोगी साधको ने कहा—मन पारा है, पारे को मारने से जैसे वह सिद्ध होकर रसायन बन जाता है, बस इसी तरह मन को मार लो, वह सिद्ध रसायन बन जाएगा। इस प्रकार मन को मारने की यह एक साधना है, जो आज भी चल रही है।

यहाँ एक बात समझ लेने की है कि साधक साधक होता है, मारक नही। मारक का अर्थ होता है—हत्यारा। और साधक का अर्थ होता है—साधने वाला। साधक मारने की बात नही सोच सकता। उसकी दृष्टि साधनाप्रधान होती है। प्रत्येक वस्तु को साधने का वह प्रयत्न करता है। इसलिए मन को मारने की जगह, मन को साधने की बात भी आ गई।

मन एक बहुमूल्य उपलब्धि

विचारकों को शिकायत है कि "मन बडा चचल है।" किन्तु मैं पूछता हूँ कि यह शिकायत ऐसी ही तो नही है कि हवा क्यों चलती है? अग्नि क्यों जलती है? पानी क्यों बरसता है? सूर्य क्यों तपता है? हवा स्थिर क्यो नही हो जाती? अग्नि ठण्डी क्यो नही बन जाती? पानी रुक क्यो नही जाता? सूर्य शीतलता क्यों नही देता? दिल धडकने—गतिशीलता—क्यों नही बन्द कर देता?"

प्रत्येक वस्तु का अपना धर्म होता है, स्वभाव होता है। हवा का धर्म चलना है, अग्नि का धर्म जलना है और मन का धर्म मनन करना है। मन है तो मनन है। मनन है तो मनुष्य है। मन जब मनन करेगा तो गतिशीलता आएगी ही, सक्रियता आएगी ही। मन से शिकायत है तो क्या आप एकेन्द्रिय आदि बिना मन वाले (असज्ञी) हो जाते तो अच्छा होता ? न रहता बाँस न बजती बाँसुरी। मन ही नही होता, तो उसमे चचलता भी नही आती।

बात वस्तुतः यह है कि मन कोई परेशानी और दुविधा की चीज नही है। यह तो एक बहुत बडी उपलब्धि है। महान् पुण्य से प्राप्त होने वाली दुर्लभ निधि है। भगवान् महावीर ने कहा है—"बहुत बडे पुण्य का जब उदय होता है, तो मन की प्राप्ति होती है।" सम्यग् दर्शन किसको प्राप्त होता है ? सज्ञी को या असंज्ञी को ? जिसके पास मन नही, क्या वह सम्यग् दृष्टि हो सकता है ? नही न ! सम्यग्दृष्टि की श्रेष्ठतम उपलब्धि मन वाले को ही हो सकती है, यह आप मानते हैं, तो फिर मन आपके लिए दुविधा की वस्तु क्यो है ? उसे ऐसा भूत क्यो समझते हैं कि जो जबरदस्ती आपके पीछे लग गया है। मेरे बन्धुओ ! यह तो वह देवता है, जिसके लिए बडी-बडी साधनाएँ करनी पडती हैं। फिर भी मन को मारने की बात क्यो ?

मन की साधना

एक रात की बात है। रात ज्यो-ज्यो गहरा रही थी, त्यो-त्यो नीलगगन मे तारे अधिक प्रभास्वर हो रहे थे, चमक रहे थे। शात नीरव निशा। श्रावस्ती का अनाथपिण्डक-जेतवन आराम ! तथागत बुद्ध ध्यान चिन्तन मे लीन।

सघन अधकार को चीरता हुआ एक प्रकाश पुंज-सा महान् द्युतिमान देवता तथागत का अभिवादन करके चरणो मे खडा हुआ। उसकी उज्ज्वल नीलप्रभा से सारा जेतवन आलोकित हो उठा। "भन्ते, आपने कहा—मन ही सब विषयो की प्रसव-भूमि है, तृष्णा एव क्लेश सर्वप्रथम मन मे ही उत्पन्न होते हैं, तो क्या साधक जहाँ-जहाँ से मन को हटा लेता है, वहाँ-वहाँ से दुःख भी हट जाता है ? क्या सभी जगह से मन को हटा लेने पर सब दुःख छूट जाते हैं ?"[1]—अन्तर की सहज जिज्ञासा से स्फूर्त देवता की वचनभगिमा हवा मे दूर तक तैरती चली गई।

"आवुस ! मन को सभी जगह से हटाने की आवश्यकता नहीं है, चित्त जहाँ-जहाँ पापमय होता है, वहाँ-वहाँ से ही उसे हटाकर अपने वश मे करना चाहिए। यही दुःख मुक्ति का मार्ग है।"[2]—तथागत ने मन का सही समाधान प्रस्तुत किया।

घोड़े की लाश पर सवारी :

आप कहते है, "मन चचल है। इस चचलता से बहुत नुकसान होता है, परेशानी होती है। इसलिए मन को मारना चाहिए।" और फिर मारने के लिए नये

---

१ यतो यतो मनो निवारये न दुक्खमेति न ततो ततो।
न सब्बतो मनो निवारये स सब्बतो दुक्खा पमुच्चति॥

२. न सब्बतो मनो निवारये न मनो संयतत्तमागत।
यतो यतो च पापक ततो ततो मनो निवारये॥ —संयुत्तनिकाय, १।१।२४

किए जाते हैं, मन को मूर्छित किया जाता है और उसके साथ कठोर से कठोर सघर्ष किया जाता है।

मैं सोचता हूं, यह कितना गलत चिन्तन है। घोडा किसी के पास है, और वह बहुत चचल है, हवा से बातें करता है। सवार चढा कि बस, लुढक गया और लगा घोडे को कोसने, चाबुक मारने कि बडा चचल है, बदमाश है। तो मतलब यह हुआ कि आपको कबोजी घोडा नही चाहिए, प्रजापति का घोडा अर्थात् गधा चाहिए, जिसे कितना ही मारो, कितना ही पीटो, किन्तु वह मद-मथर घिसटता ही चलता है, गति नही पकडता। फिर तो आपको तेज घोडा नही, ठण्डा घोडा चाहिए, शीतला का घोडा चाहिए। घोडे का अर्थ ही है— चचल! ठण्डा घोडा तो घोडा नही, घोडे की लाश होगी। इसी प्रकार मन को मूर्च्छित करके उस पर सवार होना, मन पर सवार नही होना है, बल्कि मन की लाश पर सवार होना है।

अभिप्राय यह है कि घोडे से शिकायत करने वाले को दरअसल अपने आप से शिकायत होनी चाहिए कि उसे घोडे पर चढ़ना नही आया। अभी वह सवार सधा नही है, उसे अपने को साधना चाहिए। यात्रा के लिए घोडा और सवार दोनो ही सधे होने चाहिएँ। सधा हुआ सवार सधे हुए घोडे की तेज-गति की कभी शिकायत नही करता, बल्कि वह तो उसका आनन्द ही लेता है। इशारो पर नचाता हुआ, हवा से बातें करता है, जहाँ मोडना चाहे मोड लेता है, जहाँ रोकना चाहे रोक लेता है। आप भी अपने आपको, अपने मन को इस प्रकार साध लें कि मन को जहाँ मोडना चाहे, मोड लें, जहाँ रोकना चाहे, रोक लें, फिर तो यह मन आपके लिए परेशानी की चीज नही, बल्कि बडे आनन्द की चीज होगी।

एकाग्रता या पवित्रता :

बहुत से जिज्ञासु व्यक्ति मन को एकाग्र करने की बात प्राय मुझसे पूछते हैं। मैं कहा करता हूँ, मन को एकाग्र करना कोई बडी बात नही है। आप जिसे अहमसवाल या मुख्य प्रश्न कहते है, वह मन को एकाग्र करने का नही, बल्कि मन की पवित्रता का है। सिनेमा देखते हैं, तो वहाँ भी मन बडा स्थिर हो जाता है। खेल-कूद और गपशप मे समय का पता नही चलता, उसमे भी मन बडा एकाग्र हो जाता है। फिर मन को एकाग्र करना कोई बडी बात हो, ऐसी बात नही। सवाल है, मन को पवित्र कैसे किया जाए? मन यदि पवित्र एव शुद्ध होता है, तो उस की चचलता मे भी आनन्द आता है।

मन को छानिए :

पानी को छानकर पीने की बात जैन धर्म ने बडे जोर से कही है। यों तो 'वस्त्र पूतं पिवेज्जलं' का सूत्र सर्वत्र ही मान्य है, पर इसी के साथ 'मन पूतं समाचरेत्' की बात भी कही गई है। मन को छानने की प्रक्रिया भी भारतीय धर्म मे बतलाई गई है। मन को छानने से मतलब है, उसमे से असद्विचारो का कूडा-करकट निकाल कर पवित्र बना लेना, उसे शुद्ध और निर्मल बना लेना। इसके लिए मन को मारने की जरूरत नही, साधने की जरूरत है, उसे शत्रु नही, मित्र बनाने की जरूरत है। सधा हुआ मन जब चिंतन-मनन, निदिध्यासन मे जुट जाता है, फिर तो वह अपने आप एकाग्र हो जाता है। प्रयत्न करने की जरूरत नही। केवल इशारा ही काफी है, दिशा-निर्देशन ही बहुत है। उसे पवित्र बनाकर किसी भी रास्ते पर दौडा दीजिए, आपको आनन्द ही आनन्द आएगा, कष्ट का नाम भी नही होगा।

बिखरे मन की समस्याएं :

बहुत बार सुना करता हूं, लोग कहते हैं—"मन उखडा-उखडा-सा हो रहा है, मन कही लग नही रहा है, किसी बात मे रस नही आ रहा है"—इसका मतलब क्या है ? कभी-कभी मन बेचैन हो जाता है, तो आपलोग इधर-उधर घूमने निकल जाते हैं—चलो, मन को कहीं बहलाएं। मतलब इसका यह हुआ कि मन कही लग नही रहा है, इसलिए आपको बेचैनी है, परेशानी है। इधर-उधर घूमकर कैसे भी समय बिताना चाहते हैं।

एक सज्जन हैं, जिन्हे कभी-कभी रात को नीद नही आती है, तो बडे परेशान होते हैं, खाट पर पडे-पडे करवटें बदलते रहते है, कभी बैठते हैं, कभी घूमते हैं, कभी लाइट जलाते हैं, कभी अन्धेरा करते हैं। यह सब परेशानी इसलिए है कि नींद नही आती है, और नीद इसलिए नही आती कि मन अशान्त है, उद्विग्न है। जिस मन को शान्ति नही मिलती, वह ऐसे ही करवटें बदलता रहता है, इधर-उधर भटकता-फिरता है। परेशान और बेचैन दिखाई देता है। ये सब बिखरे मन की समस्याएं है, मन की गांठें हैं, जिन्हें खोले बिना, सुलझाए बिना चैन नही पड सकता।

काम में रस पैदा कीजिए

प्रश्न यह है कि मन की गांठें कैसे खोलें ? मन को नीद कैसे दिलाएं ? बिखरे हुए मन को शान्ति कैसे मिले ? इसके लिए एक बडा सुन्दर उदाहरण प्रस्तुत है

वैदिक-परम्परा मे वाचस्पतिमिश्र का बहुत ऊंचा स्थान है। वेदान्त के तो यह महान् आचार्य हो गए हैं, यो सभी विषयो मे उनकी लेखनी चली है, वे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र थे, उनकी कुछ मौलिक स्थापनाओ को आज भी चुनौती नही दी जा सकती है। उनके सम्बन्ध मे कहा जाता है कि वे विवाह से पूर्व ही वेदान्तदर्शन के शांकर भाष्य पर टीका लिख रहे थे। विवाह हो गया, फिर भी वे अपने लेखन मे ही डूबे रहे। रात दिन उसी धुन मे लगे रहे, सध्या होते ही पत्नी आती, दीपक जला जाती, और वे अपने लिखने मे लगे रहते। एकबार तेल समाप्त होने पर दीपक बुझ गया, अंधेरा हो गया तो लेखनी रुकी। पत्नी आई और तेल डालकर दीपक फिर से जलाई। तब वाचस्पति ने आँखें उठाकर उस दीपक के प्रकाश मे पत्नी की ओर देखा। देखने पर पाया कि पत्नी का यौवन ढल चुका था, काले केश सफेद होने जारहे थे। वाचस्पति मिश्र सहसा बोल उठे— "अरे ! यह क्या ? मुझे तो ध्यान ही नही रहा कि मेरा विवाह हो गया है, और तुम तो बूढी भी हो गई।"

सोचिए, यह कैसी बात है ? आप कहते है, काम मे मन नही लगता है। और, एक यह वाचस्पति मिश्र थे कि यौवन बीत गया, पर उन्हें पता भी नही रहा कि विवाह किया भी है या नही ? यह बात और कुछ नही, कर्म मे आनन्द की बात है! रस की बात है। अपने कर्म में उन्हे इतना आनन्द आया कि वह तल्लीन हो गया। मन मे रस जगा कि वह कर्म के साथ एकाकार हो गया। फिर न कोई विकल्प ! न कोई चचलता और न किसी तरह की थकावट।

इंग्लैंड के एक डाक्टर के सम्बन्ध मे भी कहा जाता है कि वह जनहित के लिए जीवन भर किसी महत्त्वपूर्ण शोध मे लगा रहा। बुढापे मे किसी एक मित्र ने उससे पूछा— आपकी सतान कितनी है ?

डाक्टर ने बड़ी सजीदगी से कहा—मित्र ! तुमने भी क्या खूब याद दिलाई ! मुझे तो कभी शादी करने की याद ही नही आई ।

ये बातें मजाक नही हैं, जीवन के मूलभूत सत्य हैं । जिन्हें अपने काम मे आनन्द आ जाता है, उन्हे चाहे जितना भी काम हो, थकावट महसूस नही होती । समय बीतता जाता है, पर उन्हे पता नही चलता । जीवन मे वे कभी विक्षिप्तता का अनुभव नही करते, उनका मन विकल्पो से परेशान होकर कभी करवटें नही बदलता । आपको मालूम होना चाहिए कि मन मे विकल्प, थकावट, बेचैनी, ऊब तभी आती है, जब कर्म मे रस नही आता । इन विकल्पो को भगाने के लिए, और कोई साधना नही है, सिवाय इसके कि मन को कर्म के रस मे डुबो दिया जाए ।

रस का स्रोत : श्रद्धा .

हमारे यहाँ रत्नत्रय की चर्चा आती है । दर्शन, ज्ञान और चारित्र ! दर्शन सबसे पहला रत्न है, वह साधना की मुख्य आधारभूमि है । दर्शन का अर्थ है—श्रद्धा ! निष्ठा ! श्रद्धा मन को रस देती है, कर्म मे आनन्द जगाती है । आप कुछ भी कर रहे है, यदि उस कर्म मे आपकी श्रद्धा है, तो उसमे आपको अवश्य रस मिलेगा, अवश्य आनन्द आएगा । कर्म करते हुए आपका मन मुरझाया हुआ नही रहेगा, प्रफुल्लित हो उठेगा, चूँकि श्रद्धा रस का स्रोत है, आनन्द का उत्स है ।

अत: मेरे दृष्टिकोण से कर्म से पहले, कर्म के प्रति श्रद्धा जगनी चाहिए । यदि मैं आपसे पूछूँ कि—अहिंसा पहले होनी चाहिए या अहिंसा के प्रति श्रद्धा पहले होनी चाहिए ? सत्य पहले हो, या सत्य के प्रति श्रद्धा पहले हो ? तो आप क्या उत्तर देंगे ? बात अचकचाने की नही है, और हमारे लिए तो बिल्कुल नही, चूँकि यहाँ तो पहला पाठ श्रद्धा का ही पढाया जाता है । स्पष्ट है कि अहिंसा तभी अहिंसा है, जब उसमे श्रद्धा है, सत्य तभी सत्य है, जब उसमे श्रद्धा है । यदि श्रद्धा नही है, तो अहिंसा हिंसा हो जाती है, किन्तु यह बिल्कुल स्पष्ट है कि यदि अहिंसा मे श्रद्धा और निष्ठा नही है, तो वह अहिंसा एक पॉलिसी, या कूटनीति हो सकती है, पर जीवन का सिद्धान्त और आदर्श कभी नही बन सकती । श्रद्धा के बिना अहिंसा और सत्य की साधना कदापि नही हो सकती । गांधीजी कष्ट एव सकट के झझावातों मे, जेल के सीकचो मे भी आनन्द अनुभव करते थे, मुस्कराते रहते थे । वह आनन्द उन्हे कहाँ से प्राप्त होता था ? बाहर मे या भीतर से ? भीतर मे जो आनन्द का अमृत सरोवर था, वह श्रद्धा ही थी । अहिंसा और सत्य की श्रद्धा थी, इसलिए वे सकट मे भी अपनी साधना मे आनन्द प्राप्त करते रहते थे । इसलिए मैंने आप से कहा—श्रद्धा हमारे जीवन मे रस का स्रोत है, आनन्द का उत्स है ।

मित्र और भगवान् एक श्रद्धा है .

आप जीवन में किसी को मित्र बनाते हैं, और फिर उस मैत्री का आनन्द प्राप्त करते हैं । मित्र बनाने का अर्थ क्या है ? आप मित्र कहे जाने वाले व्यक्ति मे अपना विश्वास स्थिर करते हैं, उसके भीतर श्रद्धा का रस डालते हैं और फिर उसका विश्वास एव श्रद्धा का आनन्द उठाते हैं, प्रसन्नता प्राप्त करते हैं । पति-पत्नी क्या है ? केवल दैहिक सम्बन्ध ही पति-पत्नी नहीं है । पति-पत्नी एक भाव है, एक विश्वास है, एक श्रद्धा है । पहले एक-

दूसरे मे अपना विश्वास स्थापित किया जाता है, श्रद्धा का रस एक-दूसरे के हृदय में डाला जाता है और फिर उससे आनन्द एव उल्लास प्राप्त किया जाता है। गुरु-शिष्य और भक्त-भगवान् के सम्बन्ध भी और कुछ नही, केवल एक भाव है। श्रद्धा है, तो गुरु है, भाव है, तो भगवान् हैं, 'भावे हि विद्यते देवः—भाव में ही भगवान् है। यदि भाव नही हैं, तो भगवान् कही नही है।

ईश्वर के लिए, ब्रह्म के लिए जब जिज्ञासा उठी कि वह क्या है ? तो उत्तर मिला "रसो वै स· रसह्येवाय लब्ध्वाऽनन्दी भवतिः"[1]—वह ईश्वर रसरूप है। तभी तो मनुष्य जहां कही भी रस पाता है, तो उसमे निमग्न हो जाता है। आनन्दस्वरूप बन जाता है।

मन को रस दीजिए :

मेरा आशय यह है कि कर्म मे पहले रस जागृत होना चाहिए। सत्कर्म में जब रस जगता है, तो आनन्द की उपलब्धि होती है और तब भगवज्ज्योति के दर्शन होने लगते हैं। फिर प्रत्येक सत्कर्म भक्ति एव उपासना का रूप ले लेता है, आनन्द का स्रोत बन जाता है, जिससे निरन्तर हमारा मन अक्षय आनन्द प्राप्त करता रहता है।

मन को विना रस दिए यदि कोई चाहे कि उसे किसी कार्य मे लगा दें, तो यह सम्भव नही है। मधुमक्षिका को जब रस मिलेगा, तो वह फूलो पर आएगी, मँडराएगी। यदि रस नहीं मिलेगा, तो आप कितना ही निमन्त्रण दीजिए, वह नही आएगी।

मधुमक्षिका की बात हम बहुत पहले से कहते आये है, पर राजगृह के चातुर्मास मे मैंने इसे बहुत निकट से एव बारीकी से देखा। हम प्रात वैभारगिरि पर्वत पर ध्यान-साधना के लिए वेणुवन मे से होकर जाते थे। वेणुवन महावीर एव बुद्ध के युग मे बांसो का एक विशाल वन था और अब उसे फूलो का बगीचा बना दिया गया है। हां, प्राचीन इतिहास की कडी को जोडे रखने के लिए, अब भी उसे 'वेणुवन' ही कहते हैं, और नाम की सार्थकता के लिए दस-पांच बांस भी लगा रखे है। मैंने वहाँ देखा कि मधु-मक्खियां पहले फूलो पर ऊपर-ऊपर उडती हैं, गुनगुनाती है, रस खोजती हैं, फिर किसी फूल पर जाकर बैठती हैं। और जब रस मिलने लगता है, तो बिल्कुल मौन। शान्त। ऐसा लगता कि फूल के भीतर लीन-विलीन होती जा रही हैं, बिलकुल निष्पन्द। निश्चेष्ट!

हमारा यह मन भी एक तरह से मधुमक्षिका ही है। इसे सत्कर्म के फूलो मे जबतक रस नही मिलेगा, तबतक वह उनके ऊपर ही ऊपर मंडराता रहेगा, भटकता रहेगा, गुनगुनाता रहेगा। किन्तु जब रस मिलेगा, तब उसकी सब गुनगुनाहट बन्द हो जाएगी, वह कर्म में लीन होता चला जाएगा, एकरस, एक आत्मा बन जाएगा। समस्त विकल्प समाप्त हो जाएँगे और आनन्द का अक्षय सागर लहरा उठेगा।

विकल्पों को एकसाथ मिटाएँ :

साधक के सामने कभी कभी एक समस्या आती है कि वह विकल्पो से लडने का प्रयत्न करते-करते कभी-कभी उनमे और अधिक उलझ जाता है। वह एक विकल्प को मिटाने

---

१. तैत्तिरीय उपनिषद्, २।७

जाता है कि दूसरे सौ विकल्प मन पर छा जाते हैं, सौ को मिटाने की कोशिश करता है, तो दूसरे हजार विकल्प खड़े हो जाते हैं, और इस तरह साधक इस सघर्ष मे विजयी बनने की जगह पराजित हो जाता है। वह निराश हो जाता है और उसे साधना नीरस प्रतीत होने लगती है। मैंने प्रारम्भ मे कहा है—"मन के साथ झगड़ने का, संघर्ष करने का तरीका गलत है, सघर्ष करके मन को कभी भी वश मे नही किया जा सकता, विकल्पो का कभी अन्त नही किया जा सकता।"

कल्पना कीजिए—खेत मे धान के पौधे लहलहा रहे हैं और उन पर पक्षी आ रहे है, तो उन्हे एक-एक करके यदि उडाने का प्रयत्न हो, तो कबतक उडाया जा सकता है ? एक चिडिया को यदि उडाने गये तो पीछे दस आ जाएँगी। उन्हें तो किसी एक धमाके से ही उडाना होगा, और एक साथ ही उडाना होगा।

यह मन एक वट वृक्ष है, इस पर काम, क्रोध, मोह, माया, अहकार रूपी विकल्पो की असख्य-असख्य चिडियाँ बैठी हैं, यदि उन्हे हम एक-एक करके उडाने का प्रयत्न करते रहे, तो वे कभी भी नही उड सकेंगी। उनके लिए तो बन्दूक का एक धमाका ही करना पडेगा कि सब एक ही साथ उड जाएँ। बन्दूक के धमाके की बात ही मन को रस मे डुबो देने की बात है। यदि मन रस मे डूब जाता है, तो विकल्प समाप्त हो जाते हैं, वह भी एक ही साथ।

जीवन मे यदि आप दान देते हैं, सेवा करते हैं, अध्ययन करते हैं या और कुछ भी सत्कर्म करते है, तो उसमे आनन्द प्राप्त करने का प्रयत्न कीजिए। आनन्द तब मिलेगा, जब उसमे आपकी श्रद्धा होगी, आपके मन मे उस सत्कर्म के प्रति रस होगा। जिसे आप गहरी दिलचस्पी कहते है, वह रस ही तो है। जब रस उमड पडेगा, तो न विकल्पो का डर रहेगा, न मन की चचलता की शिकायत रहेगी। तन अपने आप सत्कर्म मे लग जाएगा और उसके आनन्द मे विभोर हो उठेगा। फिर न किसी प्रेरणा की अपेक्षा रहेगी, न उपदेश की। बस अपने आप सब अपेक्षाएँ पूर्ण होती जाएँगी। और, आप जीवन मे अपार आनन्द और शान्ति का अनुभव करने लगेंगे। कहा भी है कि—"यह जाना गया है कि आनन्द ही ब्रह्म है। आनन्द से ही सब भूत उत्पन्न होते हैं। उत्पन्न होने के बाद आनन्द से ही जीवित रहते हैं, और अन्त मे आनन्द मे ही विलीन हो जाते है।"[1]

---

१. आनन्दो ब्रह्मेति व्यजानात्।
आनन्दाद्ध्येव खलु इमानि भूतानि जायन्ते,
आनन्देन जातानि जीवन्ति,
आनन्द प्रयन्ति, अभिसंविशन्ति।—तैत्तिरीय उपनिषद्, ३।६

३२

सत्य का विराट् रूप

हमारे जीवन मे सत्य का बड़ा महत्त्व है। लेकिन साधारण बोल-चाल की प्रचलित भाषा मे यदि हम सत्य का प्रकाश ग्रहण करना चाहे, तो सत्य का महान् प्रकाश हमे नही मिलेगा। सत्य का दिव्य प्रकाश प्राप्त करने के लिए तो हमे अपने अन्तरतम की गहराई मे दूर तक झांकना होगा।

आप विचार करेंगे, तो पता चलेगा कि जैनधर्म ने सत्य के विराट् रूप को स्वीकारते हुए ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध मे एक बहुत बड़ी क्रान्ति की है।

हमारे जो दूसरे साथी है, दर्शन हैं, और आसपास जो मत-मतान्तर हैं, उनमे ईश्वर को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहाँ साधक की सारी साधनाएँ ईश्वर को केन्द्र बनाकर चलती है। उनके अनुसार यदि ईश्वर को स्थान नही रहा, तो साधना का भी कोई स्थान नही रह जाता। किन्तु जैनधर्म ने इस प्रकार ईश्वर को साधना का केन्द्र नहीं माना है।

सत्य ही भगवान् है :

तो फिर प्रश्न यह है कि जैनधर्म की साधना का केन्द्र क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर के शब्दो के अनुसार यह है—

"त सच्चं खु भगव।"[1]

मनुष्य ईश्वर के रूप मे एक अलौकिक व्यक्ति के चारो ओर घूम रहा था। उसके ध्यान मे ईश्वर एक विराट् व्यक्ति था और उसी की पूजा एव उपासना मे वह अपनी सारी शक्ति और समय व्यय कर रहा था। वह उसी को प्रसन्न करने के लिए कभी गलत और कभी सही रास्ते पर भटका और लाखो धक्के खाता फिरा। जिस किसी भी विधि से उसको प्रसन्न करना उसके जीवन का प्रधान और एकमात्र लक्ष्य था। इस प्रकार हजारो गलतियाँ साधना के नाम पर मानव-समाज मे पैदा हो गई थीं। ऐसी स्थिति मे भगवान् महावीर आगे आए और उन्होंने एक ही बात बहुत थोड़े-से शब्दो मे कहकर समस्त भ्रान्तियाँ दूर कर दी।

---

१ प्रश्न व्याकरण सूत्र, द्वि० सं०

भगवान् कौन है ? महावीर स्वामी ने बतलाया कि वह भगवान् तो सत्य ही है । सत्य ही आपका भगवान् है । अतएव जो भी साधना कर सकते हो और करना चाहते हो, सत्य को सामने रखकर ही करो । अर्थात् सत्य होगा तो साधना होगी, अन्यथा कोई भी साधना सम्भव नही है ।

सच्ची उपासना :

अस्तु, हम देखते हैं कि जब-जब मनुष्य सत्य के आचरण मे उतरा, तो उसने प्रकाश पाया और जब सत्य को छोडकर केवल ईश्वर की पूजा मे लगा और उसी को प्रसन्न करने मे प्रयत्नशील हुआ, तो ठोकरें खाता फिरा, भटकता रहा ।

आज हजारो मन्दिर हैं और वहाँ ईश्वर के रूप मे कल्पित व्यक्ति-विशेष की पूजा की जा रही है, किन्तु वहाँ भगवान् सत्य की उपासना का कोई सम्बन्ध नही होता । चाहे कोई जैन हो या जैनेतर हो, मूर्तिपूजा करने वाला हो या न हो, अधिकाशत वह अपनी शक्ति का उपयोग एकमात्र ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर रहा है, उसमे वह न न्याय को देखता है, न अन्याय का विचार करता है । हम देखते है और कोई भी देख सकता है कि भक्त लोग मन्दिर मे जाकर ईश्वर को अशर्फी चढाएँगे और हजारो-लाखो के स्वर्ण-मुकुट पहना देंगे किन्तु मन्दिर से बाहर आएँगे तो उनकी सारी उदारता न जाने कहाँ गायब हो जायगी ? मन्दिर के बाहर, द्वार पर, गरीब लोग पैसे-पैसे के लिए सिर झुकाते हैं, बेहद मिन्नतें और खुशामदें करते हैं, धक्का-मुक्की होती है, परन्तु ईश्वर का वह उदार पुजारी मानो आँखें बन्द करके, नाक-भौह सिकोडता हुआ और उन दरिद्रो पर घृणा एव तिरस्कार बरसाता हुआ, अपने घर का रास्ता पकडता है । इस प्रकार जो पिता है—उसके लिए तो लाखो के मुकुट अर्पण किए जाते है, किन्तु उसके लाखो बेटो के लिए, जो पैसे-पैसे के लिए दर-दर भटकते फिरते है, कुछ भी नही किया जाता । उनके जीवन की समस्या को हल करने के लिए तनिक भी उदारता नही दिखलाई जाती ।

जन-साधारण के जीवन मे यह विसगति आखिर क्यो है ? कहाँ से आई है ? आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि इस विसगति के मूल मे सत्य को स्थान न देना ही है । क्या जैन और क्या जैनेतर, सभी आज बाहर की चीजो मे उलझ गए हैं । परिणाम-स्वरूप धूमधाम मचती है, क्रियाकाण्ड का आडम्बर किया जाता है, अमुक को प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है, कभी भगवान् को और कभी गुरुजी को रिझाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, और ऐसा करने मे हजारो-लाखो पूरे हो जाते हैं । लेकिन आपका कोई सधर्मी भाई है, वह जीवन के कर्त्तव्य के साथ जूझ रहा है, उसे समय पर यदि थोडी-सी सहायता भी मिल जाए, तो वह जीवन के मार्ग पर पहुँच सकता है और अपना तथा अपने परिवार का जीवन-निर्माण कर सकता है; किन्तु उसके लिए आप कुछ भी नही करते ।

तात्पर्य यह है कि जबतक सत्य को जीवन मे नही उतारा जाएगा, सही समाधान नही मिल सकेगा, जीवन मे व्याप्त अनेक असगतियाँ दूर नही की जा सकेंगी और सच्ची धर्म-साधना का फल भी प्राप्त नही किया जा सकेगा ।

सत्य का सही मदिर : अन्तर्मन :

लोग ईश्वर के नाम पर भटकते-फिरते थे और देवी-देवताओ के नाम पर काम करते थे, किन्तु अपने जीवन के लिए कुछ भी नही करते थे । भगवान् महावीर ने उन्हें बतलाया कि सत्य ही भगवान है । भगवान का यह कथन मनुष्य को अपने ही भीतर सत्य

को खोजने की प्रेरणा थी। सत्य अपने अन्दर ही छिपा है। उसे कही वाहर ढूँढने के वजाए भीतर ही खोजना है। जवतक अन्दर का भगवान् नहीं जागेगा और अन्दर के सत्य की झाँकी नही होगी, भीतर का देवता तुम्हारे भीतर प्रकाश नही फैलाएगा, तव तक तुम तीन काल और तीन लोक मे भी कभी भी, कही पर भी ईश्वर के दर्शन नही पा सकोगे।

कोई धनवान है, तो उसको भी वतलाया गया कि साधना अन्दर करो और जिसके पास एक पैसा भी नही, चढाने के लिए एक चावल भी नही, उससे भी कहा गया कि तुम्हारा भगवान् भीतर ही है। भीतर के उस भगवान् को चढाने के लिए चावल का एक भी दाना नही, तो न सही। इसके लिए चिन्तित होने की कोई जरूरत नही है। उसे चाँदी-सोने की भूख नही है। उसे मुकुट और हार पहनने की भी लालसा नहीं है। उसे नैवेद्य की भी आवश्यकता नही है। एकमात्र अपनी सद्भावना के स्वच्छ और सुन्दर सुमन उसे चढाओ और हृदय की सत्यानुभूति से उसकी पूजा करो। यही उस देवता की पूजा की सर्वोत्तम सामग्री है, यही उसके लिए अनुपम अर्घ्य है। इसी से अन्दर का देवता प्रसन्न होगा। इसके विपरीत यदि वाहर की ओर देखोगे, तो वह तुम्हारा अज्ञान होगा। भीतर देखने पर तुम्हें आत्मा-परमात्मा की शक्ल वदलती हुई दिखलाई देगी। आपके अन्दर के राक्षस—क्रोध, मान, माया, लोभ आदि, जो हजारो तलवारें लेकर तुम्हे तवाह कर रहे हैं, सहसा अन्तर्घ्यान हो जाएँगे। अन्दर का देवता रोशनी देगा, तो अन्धकार मे प्रकाश हो जाएगा।

इस प्रकार वास्तव मे अन्दर मे ही भगवान् मौजूद है। वाहर देखने पर कुछ भी हाथ नही लगने वाला है। एक साधक ने कहा है—

"ढूँढन चाल्या ब्रह्म को, ढूँढ फिरा सब ढूँढ।
जो तू चाहे ढूढना, इसी ढूँढ में ढूँढ॥"

तू ब्रह्म को और ईश्वर को ढूँढने के लिए चला है और दुनिया भर की जगह तलाश कर चुका है और इधर-उधर भटकता फिरता है। कभी नदियो के पानी मे और कभी पहाडो की चोटी पर सारी पृथ्वी के ऊपर ईश्वर की तलाश करता रहा है किन्तु वह कहाँ है? यदि तुझे ढूँढना है, वास्तव मे तलाश करनी है और सत्य की झाँकी अपने जीवन मे उतारनी है, तो सवसे वडा मन्दिर तेरा शरीर ही है, और उसी मे ईश्वर विराजमान है। शरीर मे जो आत्मा निवास कर रही है, वही सवसे वडा देवता है। यदि उसको तलाश कर लिया, तो फिर अन्यत्र कही तलाश करने की आवश्यकता नही रह जाती, तुझे अवश्य ही भगवान् के दर्शन हो जाएँगे। सत कवीर ने कितना सही कथन किया है—

"मन मथुरा, तन द्वारिका, काया काशी जान।
दस द्वारे का देहरा, तामें पीव पिछान॥"

यदि तूने अपने-आपको राक्षस वनाए रखा, हैवान वनाए रखा और फिर ईश्वर की तलाश करने को चला, तो तुझे कुछ भी नही मिलना है।

संसार वाहर के देवी-देवताओं की उपासना के मार्ग पर चला जा रहा है। उसके सामने भगवान् महावीर की साधना किस रूप मे आई? यदि हम जैनधर्म के साहित्य का

भली-भाँति चिन्तन करेंगे, तो मालूम होगा कि जैनधर्म देवी-देवताओ की ओर जाने के लिए है, या देवताओ को अपनी ओर लाने के लिए है ? वह देवताओ को साधक के चरणो मे झुकाने के लिए चला है, साधक को देवताओ के चरणो मे झुकाने के लिए नही चला है। सम्यक् श्रुति के रूप मे प्रवाहित हुई भगवान् महावीर की वाणी दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ मे ही बतलाती है—"धर्म अहिंसा है। धर्म सयम है। धर्म तप और त्याग है। यह महामगलमय धर्म है। जिसके जीवन मे इस धर्म की रोशनी पहुँच चुकी, देवता भी उसके चरणो मे नमस्कार करते हैं।"[1]

सत्य का बल :

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैनधर्म ने एक बहुत बडी बात ससार के सामने रखी है। तुम्हारे पास जो जन-शक्ति है, धन-शक्ति है, समय है और जो भी चन्द साधन-सामग्रियाँ तुम्हे मिली हुई हैं, उन्हें अगर तुम देवताओ के चरणो मे अर्पित करने चले हो, तो उन्हे निर्माल्य बना रहे हो। लाखो और करोड रुपए देवी-देवताओ को भेंट करते हो, तो भी जीवन के लिए उनका कोई उपयोग नही हो रहा है। अतएव यदि सचमुच ही तुम्हे ईश्वर की उपासना करनी है, तो तुम्हारे आस-पास की जनता ही ईश्वर के रूप मे है। छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ और दूसरे जो दीन और दुःखी प्राणी हैं, वे सब नारायण के स्वरूप हैं, उनकी सेवा और सहायता, ईश्वर की ही आराधना है।

अत जहाँ जरूरत है, वहाँ इस धन को अर्पण करते चलो। इस रूप मे अर्पण करने से तुम्हारा अन्दर मे सोया हुआ देवता जाग उठेगा और वह बन्धनो को तोड देगा। कोई दूसरा बाहरी देवता तुम्हारे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओ के बन्धनो को नही तोड सकता। वस्तुत. अन्तरंग के बन्धनो को तोडने की शक्ति अन्तरग आत्मा मे ही है।

इस प्रकार जैनधर्म देवताओ की ओर नही चला, अपितु देवताओ को मानव के चरणो मे लाने के लिए चला है।

हम पुराने इतिहास की ओर अपने आसपास की घटनाओं को देखते है, तो मालूम होता है कि ससार की प्रत्येक ताकत नीची रह जाती है और समय पर असमर्थ और निकम्मा साबित होती है। किसी मे रूप-सौन्दर्य है। जहाँ वह बैठता है, हजारो आदमी टकटकी लगाकर उसकी तरफ देखने लगते हैं। नातेदारी मे या सभा-सोसायटी मे उसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं। अपने असाधारण रूप-सौन्दर्य को देखकर वह स्वयं भी बहुत इतराता है। परन्तु क्या वह रूप सदा रहने वाला है ? अचानक ही कोई दुर्घटना हो जाती है, तो वह क्षण भर मे विकृत हो जाता है। सोने-जैसा रूप मिट्टी मे मिल जाता है। इस प्रकार रूप का कोई स्थायित्व नहीं है।

इसके बाद, धन का बल आता है, और मनुष्य उसको लेकर चलता है। मनुष्य समझता है कि सोने की चमक इतनी तेज है कि इसके बल पर वह सभी कुछ कर

---

1. "धम्मो मगलमुक्किट्ठं अहिंसा सं[illegible]
देवा वि तं नमं[illegible] धम्मे म[illegible] —दशवैकालिक १/१

सकता है। पर वास्तव मे देखा जाए तो धन की शक्ति भी निकम्मी साबित होती है। रावण के पास सोने की कितनी शक्ति थी ? जरासध के पास सोने की क्या कमी थी ? दुनिया के लोग बडे-बडे सोने का महल खडे करते आए और ससार को खरीदने का दावा करते रहे, ससार को ही क्या, ईश्वर को भी खरीदने का दावा करते रहे, किन्तु सोने-चाँदी के सिक्को का वह बल कब तक रहा ? उनके जीवन मे ही वह समाप्त हो गया। सोने की वह लका रावण के देखते-देखते ध्वस्त हो गई। धन की भी शक्ति है अवश्य, किन्तु उसकी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह काम नही आ सकती।

इससे आगे चलिए और जन-बल एव परिवार-बल पर चितन-मनन कीजिए। मालूम होगा कि वह भी एक सीमा तक ही काम आ सकता है। महाभारत पढ जाइए और द्रौपदी के उस दृश्य का स्मरण कीजिए, जबकि हजारो की सभा के बीच द्रौपदी खडी है। उसके गौरव को बर्बाद करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी लज्जा को समाप्त करने की भरसक चेष्टाएँ की जाती हैं। ससार के सबसे बडे शक्तिशाली पुरुष और नातेदार बैठे हैं, किन्तु सब के सब जड बन गए हैं और प्रचण्ड बलशाली पाँचो पाण्डव भी नीचा मुँह किए, पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे हैं। उनमे से कोई भी काम नही आया। द्रौपदी की लाज किसने बचाई ? ऐसी विकट एव दारुण प्रसग उपस्थित होने पर मनुष्य को सत्य के सहारे ही खडा रहना पडता है।

मनुष्य दूसरो के प्रति मोह-माया रखता है, और सोचता है कि यह वक्त पर काम आएँगे, परन्तु वास्तव मे कोई काम नही आता। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न पति के रूप मे मिले असाधारण शूरवीर, पृथ्वी को कँपाने वाले पाण्डव ही काम आए। कोई भी उसकी लज्जा बचाने के लिए आगे न बढा। उस समय एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी की लाज रखने मे समर्थ हो सका।

इस रूप मे हम देखते है कि ईश्वर के पास जाने मे, ईश्वरत्व की उपलब्धि करने मे न रूप, न धन और न परिवार का ही बल काम आता है, और न बुद्धि का बल ही कारगर साबित होता है। द्रौपदी की बुद्धि का चातुर्य भी किस काम आया ? आखिरकार, हम देखते हैं कि उसके चीर को बढाने के लिए देवता आ गए। किन्तु हमे यह जानना होगा कि देवताओ मे यह प्रेरणा जगाने वाला, उन्हें खीच लाने वाला कौन था ? इस प्रश्न का उत्तर है, सत्य। सत्य की दैवी शक्ति से ही देवता खिचे चले आए।

दुनिया भर मे उलटे-सीधे काम हो रहे हैं। देवता कब आते हैं ? किन्तु द्रौपदी पर सकट पडा, तो देवता आ गए। सीता को काम पडा, तो भी देवता आ पहुँचे। सीता के सामने अग्नि का कुण्ड धधक रहा था। उसमे प्रवेश कराने के लिए उसके पति ही आगे आए, जिन पर सीता की रक्षा का उत्तरदायित्व था। राम कहते हैं—'सत्य का जो कुछ भी प्रकाश तुम्हे मिला है, उसकी परीक्षा दो।' ऐसे विकट संकट के अवसर पर सीता का सत्य ही काम आता है।

इन घटनाओ के प्रकाश मे हम देखते हैं कि सत्य का बल कितना महान् है। भारत के दर्शनकारो और चिन्तको ने भी कहा है कि सारे संसार के बल एक तरफ है और सत्य का बल एक तरफ है।

भली-भांति चिन्तन करेंगे, तो मालूम होगा कि जैनधर्म देवी-देवताओ की ओर जाने के लिए है, या देवताओ को अपनी ओर लाने के लिए है ? वह देवताओ को साधक के चरणो में झुकाने के लिए चला है, साधक को देवताओ के चरणो मे झुकाने के लिए नही चला है। सम्यक् श्रुति के रूप मे प्रवाहित हुई भगवान् महावीर की वाणी दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ मे ही बतलाती है—"धर्म अहिंसा है। धर्म सयम है। धर्म तप और त्याग है। यह महामगलमय धर्म है। जिसके जीवन मे इस धर्म की रोशनी पहुँच चुकी, देवता भी उसके चरणो मे नमस्कार करते हैं।"[1]

सत्य का वल :

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैनधर्म ने एक वहुत वडी वात ससार के सामने रखी है। तुम्हारे पास जो जन-शक्ति है, धन-शक्ति है, समय है और जो भी चन्द साधन-सामग्रियाँ तुम्हे मिली हुई हैं, उन्हे अगर तुम देवताओ के चरणो मे अर्पित करने चले हो, तो उन्हे निर्माल्य वना रहे हो। लाखो और करोड रुपए देवी-देवताओ को भेट करते हो, तो भी जीवन के लिए उनका कोई उपयोग नही हो रहा है। अतएव यदि सचमुच ही तुम्हें ईश्वर की उपासना करनी है, तो तुम्हारे आस-पास की जनता ही ईश्वर के रूप मे है। छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ और दूसरे जो दीन और दु खी प्राणी हैं, वे सव नारायण के स्वरूप हैं, उनकी सेवा और सहायता, ईश्वर की ही आराधना है।

अत जहाँ जरूरत है, वहाँ इस धन को अर्पण करते चलो। इस रूप मे अर्पण करने से तुम्हारा अन्दर मे सोया हुआ देवता जाग उठेगा और वह वन्धनो को तोड देगा। कोई दूसरा वाहरी देवता तुम्हारे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओ के वन्धनो को नही तोड सकता। वस्तुत अन्तरग के वन्धनो को तोडने की शक्ति अन्तरग आत्मा मे ही है।

इस प्रकार जैनधर्म देवताओ की ओर नही चला, अपितु देवताओ को मानव के चरणो मे लाने के लिए चला है।

हम पुराने इतिहास की ओर अपने आसपास की घटनाओ को देखते है, तो मालूम होता है कि ससार की प्रत्येक ताकत नीची रह जाती है और समय पर असमर्थ और निकम्मा सावित होती है। किसी मे रूप-सौन्दर्य है। जहाँ वह वैठता है, हजारो आदमी टकटकी लगाकर उसकी तरफ देखने लगते हैं। नातेदारी में या सभा-सोसायटी मे उसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं। अपने असाधारण रूप-सौन्दर्य को देखकर वह स्वयं भी वहुत इतराता है। परन्तु क्या वह रूप सदा रहने वाला है ? अचानक ही कोई दुर्घटना हो जाती है, तो वह क्षण भर में विकृत हो जाता है। सोने जैसा रूप मिट्टी मे मिल जाता है। इस प्रकार रूप का कोई स्थायित्व नही है।

इसके वाद, धन का वल आता है, और मनुष्य उसको लेकर चलता है। मनुष्य समझता है कि सोने की चमक इतनी तेज है कि उसके वल पर वह सभी कुछ कर

---

१. "धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥" —दशवैकालिक १/१

सकता है। पर वास्तव मे देखा जाए तो धन की शक्ति भी निकम्मी साबित होती है। रावण के पास सोने की कितनी शक्ति थी ? जरासध के पास सोने की क्या कमी थी ? दुनिया के लोग बडे-बडे सोने का महल खडे करते आए और ससार को खरीदने का दावा करते रहे, ससार को ही क्या, ईश्वर को भी खरीदने का दावा करते रहे, किन्तु सोने-चाँदी के सिक्को का वह बल कब तक रहा ? उनके जीवन मे ही वह समाप्त हो गया। सोने की वह लका रावण के देखते-देखते ध्वस्त हो गई। धन की भी शक्ति है अवश्य, किन्तु उसकी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह काम नही आ सकती।

इससे आगे चलिए और जन-बल एव परिवार-बल पर चिंतन-मनन कीजिए। मालूम होगा कि वह भी एक सीमा तक ही काम आ सकता है। महाभारत पढ जाइए और द्रौपदी के उस दृश्य का स्मरण कीजिए, जबकि हजारो की सभा के बीच द्रौपदी खडी है। उसके गौरव को बर्बाद करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी लज्जा को समाप्त करने की भरसक चेष्टाएँ की जाती हैं। ससार के सबसे बडे शक्तिशाली पुरुष और नातेदार बैठे हैं, किन्तु सब के सब जड बन गए हैं और प्रचण्ड बलशाली पाँचो पाण्डव भी नीचा मुँह किए, पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे हैं। उनमे से कोई भी काम नही आया। द्रौपदी की लाज किसने बचाई ? ऐसी विकट एव दारुण प्रसग उपस्थित होने पर मनुष्य को सत्य के सहारे ही खडा रहना पडता है।

मनुष्य दूसरो के प्रति मोह-माया रखता है, और सोचता है कि यह वक्त पर काम आएँगे, परन्तु वास्तव मे कोई काम नही आता। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न पति के रूप मे मिले असाधारण शूरवीर, पृथ्वी को कँपाने वाले पाण्डव ही काम आए। कोई भी उसकी लज्जा बचाने के लिए आगे न बढा। उस समय एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी की लाज रखने मे समर्थ हो सका।

इस रूप मे हम देखते हैं कि ईश्वर के पास जाने मे, ईश्वरत्व की उपलब्धि करने मे न रूप, न धन और न परिवार का ही बल काम आता है, और न बुद्धि का बल ही कारगर साबित होता है। द्रौपदी की बुद्धि का चातुर्य भी किस काम आया ? आखिरकार, हम देखते हैं कि उसके चीर को बढाने के लिए देवता आ गए। किन्तु हमे यह जानना होगा कि देवताओ मे यह प्रेरणा जगाने वाला, उन्हे खीच लाने वाला कौन था ? इस प्रश्न का उत्तर है, सत्य। सत्य की दैवी शक्ति से ही देवता खिचे चले आए।

दुनिया भर मे उलटे-सीधे काम हो रहे हैं। देवता कब आते हैं ? किन्तु द्रौपदी पर सकट पडा, तो देवता आ गए। सीता को काम पडा, तो भी देवता आ पहुँचे। सीता के सामने अग्नि का कुण्ड धधक रहा था। उसमें प्रवेश कराने के लिए उसके पति ही आगे आए, जिन पर सीता की रक्षा का उत्तरदायित्व था। राम कहते हैं—'सत्य का जो कुछ भी प्रकाश तुम्हे मिला है, उसकी परीक्षा दो!' ऐसे विकट संकट के अवसर पर सीता का सत्य ही काम आता है।

इन घटनाओ के प्रकाश मे हम देखते हैं कि सत्य का बल कितना महान् है। भारत के दर्शनकारो और चिन्तको ने भी कहा है कि सारे ससार के बल एक तरफ हैं और सत्य का बल एक तरफ है।

निराश्रय का आश्रय · सत्य ·

ससार की जितनी भी ताकतें हैं, वे कुछ दूर तक तो साथ देती हैं, किन्तु उससे आगे जवाव दे जाती हैं। उस समय सत्य का ही वल हमारा आश्रय वनता है, और वही एक मात्र काम आता है।

जव मनुष्य मृत्यु की आखिरी घडियो मे पहुँच जाता है, तव उसे न धन वचा पाता है, न ऊँचा पद तथा न परिवार ही। वह रोता रहता है और ये सव के सव व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु कोई-कोई महान् आत्मा व्यक्ति उस समय भी मुस्कराता हुआ जाता है, रोना नही जानता है। अपितु एक विलक्षण स्फूर्ति के साथ ससार से विदा होता है। तो वताएँ उसे कौन रोशनी देता है? ससार के सारे सम्बन्ध टूट रहे हैं, एक कौडी भी साथ नही जा रही है और शरीर की हड्डी का एक टुकडा भी साथ नही जा रहा है, वुद्धि-वल भी वही समाप्त हो जाता है, फिर भी वह संसार से हँसता हुआ विदा होता है! इससे स्वत स्पष्ट है कि यहाँ पर सत्य का अलौकिक प्रकाश ही उसे यह वल प्रदान कर रहा होता है।

विश्व का विधायक तत्त्व सत्य :

सत्य और धर्म का प्रकाश अगर हमारे जीवन मे जगमगा रहा है, तो हम दूसरे की रक्षा करने के लिए अपने अमूल्य जीवन को भेंट देकर और मृत्यु का आलिंगन करके भी संसार से मुस्कराते हुए विदा हो लेते हैं। यह प्रेरणा और यह प्रकाश सत्य और धर्म के सिवाय और कोई देने वाला नही है। सत्य जीवन की समाप्ति के पश्चात् ही प्रेरणा प्रदान करता है। हमारे आचार्यों ने कहा है—

> "सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रवि।
> सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम्॥"

कहने को तो लोग कुछ भी कह देते हैं। कोई कहते हैं कि जगत् साँप के फन पर टिका है, और किसी की राय मे वैल के सीग पर। किन्तु यह सव कल्पनाएँ हैं। इनमे कोई तथ्य नही है। तथ्य तो यह है कि इतना विराट् ससार पृथ्वी पर टिका हुआ है। पृथ्वी का अपने-आप मे यह विधान और नियम है कि जवतक वह सत्य पर टिकी हुई है, तवतक सारा संसार उस पर खडा हुआ है।

सूर्य समय पर ही उदित और अस्त होता है और संसार की यह अनोखी घडी निरन्तर चलती रहती है। इसकी चाल मे जरा भी गड़वड हो जाए, तो ससार की सारी व्यवस्थाएँ ही विगड जाएँ। किन्तु प्रकृति का यह सत्य नियम है कि सूर्य का उदय और अस्त ठीक समय पर ही होता है।

इसी प्रकार यह वायु भी केवल सत्य के वल पर ही चल रही है। जीवन की जितनी भी साधनाएँ है, वे चाहे प्रकृति की हो या चैतन्य की हो, सव की सव अपने आप मे सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार क्या जड प्रकृति और क्या चेतन, सभी सत्य पर प्रतिष्ठित है। चेतन जवतक अपने चैतन्य शक्ति की सीमा मे चल रहा है तवतक कोई गडवड नही होने पाती। और, जड-प्रकृति भी जवतक अपनी सत्य की धुरी पर चल रही है, सव कुछ व्यवस्थित चलता है। जव प्रकृति मे तनिक-सा भी व्यतिक्रम होता है, तो भीषण संहार हो जाता है। एक छोटा-सा भूकम्प ही प्रलय की कल्पना को प्रत्यक्ष वना देता है। अतः यह कथन सत्य है कि संसार-भर के नियम और विधान सव सत्य पर ही प्रतिष्ठित है।

सत्य का आध्यात्मिक विश्लेषण

भगवान् महावीर के दर्शन मे, सबसे बडी क्रान्ति, सत्य के विषय मे, यह रही है कि वे वाणी के सत्य को तो महत्त्व देते ही हैं, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मन के सत्य को, विचार या मनन करने के सत्य को देते हैं। जबतक मन मे सत्य नही आता, मन में पवित्र विचार और सकल्प जागृत नही होते और मन सत्य के प्रति आग्रहशील नही बनता; बल्कि मन मे झूठ, कपट और छल भरा होता है, तब तक वाणी का सत्य, सत्य नही माना जा सकता। सत्य की पहली कडी मानसिक पावनता है और दूसरी कडी वचन की पवित्रता है।

सत्य का विघातक . अभाव एव अहंकार

आज लोगो के जीवन मे जो सघर्ष और गडबडी दिखाई देती है चारो ओर जो बेचैनी फैली हुई है, उसके मूल कारण की ओर दृष्टिपात किया जाए, तो यह पता लगेगा कि मन के सत्य का अभाव ही इस विषम परिस्थिति का प्रधान कारण है। जबतक मन के सत्य की भली-भाँति उपासना नही की जाती, तबतक घृणा-द्वेष आदि बुराइयाँ, जो आज सर्वत्र अपना अड्डा जमाए बैठी हैं, समाप्त नही हो सकती।

असत्य भाषण का एक कारण क्रोध है। जब क्रोध उभरता है, तो मनुष्य अपने आपे मे नही रहता है। क्रोध की आग प्रज्वलित होने पर मनुष्य की शान्ति नष्ट हो जाती है, विवेक भस्म हो जाता है और वह असत्य भाषण करने लग जाता है। आपा भुला देने वाले उस क्रोध की स्थिति में बोला गया असत्य तो असत्य है ही, किन्तु सत्य भी असत्य हो जाता है।

इस प्रकार जब मन मे अभिमान भरा होता है और अहकार की वाणी ठोकरें मार रही होती है, तो ऐसी स्थिति मे असत्य तो असत्य रहता ही है, परन्तु यदि वाणी से सत्य भी बोल दिया जाए, तो वह भी, जैनधर्म की भाषा मे, असत्य हो जाता है।

यदि मन मे माया है, छल-कपट और धोखा है और उस स्थिति मे कोई अटपटा-सा शब्द तैयार कर लिया गया, जिसका यह आशय भी हो सकता है और दूसरा अभिप्राय भी निकला जा सकता है, तो वह सत्य भी असत्य की श्रेणी मे है।

मनुष्य जब लोभ-लालच मे फँस जाता है, वासना के विष से मूर्च्छित हो जाता है और अपने जीवन के महत्त्व को भूल जाता है उसे जीवन की पवित्रता का स्मरण नही रहता है, तब उसे विवेक नही रहता कि वह साधु है या गृहस्थ है ? वह नही सोच पाता कि अगर मैं गृहस्थ हूँ तो गृहस्थ की भूमिका भी ससार को लूटने की नही है और ससार मे डाका डालने के लिए ही मेरा जन्म नही हुआ है। मनुष्य ससार से लेने ही लेने के लिए नही जन्मा है, किन्तु मेरा जन्म ससार को कुछ देने के लिए भी हुआ है, ससार की सेवा के लिए भी हुआ है। जो कुछ मैंने पाया है, उसमे मेरा भी अधिकार है और समाज तथा देश का भी अधिकार है। जब तक सँभाल कर रख रहा हूँ, और जब देश को तथा समाज को जरूरत होगी, तो कर्त्तव्य समझ कर खुशी से अर्पित कर दूँगा।

मनुष्य की इस प्रकार की मनोवृत्ति उसके मन को विशाल एव विराट् बना देती है। जिसके मन मे ऐसी उदार भावना रहती है, उसके मन मे ईश्वरीय प्रकाश चमकता रहता है और ऐसा भला आदमी जिस परिवार मे रहता है, वह परिवार फूला-फला रहता

है। जिस समाज मे ऐसे उदार मनुष्य विद्यमान रहते है, वह समाज जीता-जागता समाज है। जिस देश मे ऐसे मनुष्य उत्पन्न होंगे, उस देश की सुख-समृद्धि फूलती-फलती रहेगी।

सत्य का आचरण .

जबतक मनुष्य के मन मे उदारता बनी रहती है, उसे लोभ नही घेरता है। उत्पन्न होते हुए लोभ से वह टकराता रहता है, सघर्ष करता है और उस जहर को अन्दर नही आने देता है। जबतक वह मनुष्य बना रहता है और उदारता की पूजा करता है, तभी तक उसकी उदारता सत्य है और क्षमा भी सत्य है।

क्षमा करना भी सत्य का आचरण करना है। किसी मे निरभिमानता है और सेवा की भावना है, अर्थात् वह जनता के सामने नम्र सेवक के रूप मे पहुँचता है, तो उसकी नम्रता भी सत्य है। जो ससार की सेवा के लिए नम्र बन कर चल रहा है, वह सत्य का ही आचरण कर रहा है।

इसी प्रकार जो सरलता के मार्ग की ओर जिन्दगी ले जाता है, जिसका जीवन खुला हुआ है, स्पष्ट है--चाहे कोई भी देख ले, दिन मे या रात मे परख ले; चाहे एकान्त मे परखे, चाहे हजार आदमियो मे परखे, उसकी जिन्दगी वह जिन्दगी है कि अकेले मे रह रहा है, तो भी वही काम कर रहा है और हजारो के बीच मे रह रहा है, तो भी वही काम रहा है। भगवान् महावीर ने कहा है-"तू अकेला है और तुझे कोई देखने वाला नही है, पहचानने वाला नही है, तुझे गिनने के लिए कोई उँगली उठाने वाला नही है, तो तू क्यो सोचता है कि ऐसा या वैसा क्यो न कर लूँ; यहाँ कौन देखने बैठा है ? अरे, सत्य तेरे आचरण के लिए है, कर तेरी बीमारी को दूर करने के लिए है। इसलिए तू अकेला बैठा है, तो भी उस सत्य की पूजा और हजारों की सभा मे बैठा है, तो भी उसी सत्य का अनुसरण कर। यदि लाखो और करोड़ो की सख्या मे जनता बैठी है, तो उसे देखकर तुझे अपनी राह नही बदलनी है। यह क्या कि जनता की आँखें तुझे घूरने लगें, तो तू राह बदल दे ? सत्य का मार्ग बदल दे ? नही, तुझे सत्य की ही ओर चलना है और प्रत्येक परिस्थिति मे सत्य को ही तेरा उपास्य होना है।"[1]

सर्वज्ञता सत्य की चरमपरिणति :

जब मनुष्य सर्वज्ञता की भूमिका पर पहुँचता है, तभी उसका ज्ञान पूर्ण होता है, तभी उसे उज्ज्वलतम प्रकाश मिलता है, तभी उसे परिपूर्ण वास्तविक सत्य का पता लगता है। किन्तु उससे नीचे की जो भूमिकाएँ है, वहाँ क्या है ? जहाँ तक विचार सत्य को आज्ञा देते हैं मनुष्य सोचता है और आचरण करता है। फिर भी सम्भव है कि सोचते-सोचते और आचरण करते-करते ऐसी धारणाएँ बन जाएँ, जो सत्य से विपरीत हो। किन्तु जब कभी सत्य का पता चल जाए और भूल मालूम होने लगे, यह समझ आ जाए कि यह गलत बात है, तो उसे एक क्षण भी मत रखो, तुरत सत्य को ग्रहण कर लो। गलती को गलती के रूप मे स्वीकार कर लो—यह सत्य की दृष्टि है, सम्यग्दृष्टि की भूमिका है।

---

१ "दिआ वा, राओ वा, परिसागओ वा,
सुत्ते वा, जागरमाणे वा।"—दशवैकालिक, ४

सत्य की भूमिका :

छठे गुणस्थान मे सत्य महाव्रत होता है, किन्तु वहाँ पर भी गलतियाँ और भूलें हो जाती हैं। पर गलती या भूल हो जाना एक बात है और उसके लिए आग्रह होना दूसरी वात। सम्यग्दृष्टि भूल करता हुआ भी उसके लिए आग्रहशील नहीं होता, उसका आग्रह तो सत्य के लिए ही होता है। वह असत्य को असत्य जानकर कदापि आग्रहशील न होगा। जव उसे सत्य का पता लगेगा, वह स्पष्ट शब्दो मे, अपनी प्रतिष्ठा को जोखिम मे डालकर भी यही कहेगा—"पहले मैंने ऐसा कहा था, इस बात का समर्थन किया था और अव यह सत्य वात सामने आ गई है, तो इसे कैसे अस्वीकार करूँ?" इस प्रकार वह उसी क्षण सत्य को स्वीकार करने के लिए उद्यत हो जाएगा। इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ सत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य है और जहाँ असत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य नही है।

जीवन के मार्ग मे कही सत्य का और कही असत्य का ढेर नही लगा होता कि उसे वटोर कर ले आया जाए। सत्य और असत्य तो मनुष्य की अपनी दृष्टि मे रहा करता है। इसी वात को भगवान् महावीर ने भी नन्दी-सूत्र मे कहा है—

"एआणि मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइ मिच्छासुय,
एआणि चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइ सम्मसुय।"

कौन शास्त्र सच्चा है और कौन झूठा है, जब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया, तो एक बहुत वडा निरूपण हमारे सामने आया। इस सम्बन्ध मे बडी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है।

हम वोलचाल की भाषा मे जिसे सत्य कहते हैं, सिद्धान्त की भाषा मे वह कभी असत्य भी हो जाता है, और कभी-कभी वोलचाल का असत्य भी सत्य वन जाता है। अतएव सत्य और असत्य की दृष्टि ही प्रधान वस्तु है। जिसे सत्य की दृष्टि प्राप्त है, वह वास्तव मे सत्य का आराधक है। सत्य की दृष्टि कहो या मन का सत्य कहो, एक ही वात है। इस मन के सत्य के अभाव मे वाणी का सत्य मूल्यहीन ही नही, वरन् कभी-कभी धूर्तता का चिन्ह भी वन जाता है। अतएव जिसे सत्य भगवान् की अराधना करनी है, उसे अपने मन को सत्यमय वनाना होगा, सत्य के पीछे विवेक को जागृत करना होगा।

आज तक जो भी धर्म आए हैं और जिन्होंने मनुष्य को प्रेरणाएँ दी हैं, यह न समझिए कि उन्होने जीवन मे वाहर से कोई प्रेरणाएँ डाली हैं। यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि हम मनुष्यो को जो सिखाता है और प्रेरणा देता है, जो हमारे भीतर अहिंसा, सत्य, दया एव करुणा का रस डालता है और हमे अहकार के क्षुद्र दायरे से निकाल कर विशाल-विराट् जगत् मे भलाई करने की प्रेरणा देता है, क्या वह वाहर की वस्तु है? जो डाला जा रहा है, वह तो वाहर की ही वस्तु हो सकती है और इस कारण हम समझते है कि वह विजातीय पदार्थ है। विजातीय पदार्थ कितना ही घुल-मिल जाए, आखिर उसका अस्तित्व अलग ही रहने वाला होता है। वह हमारी अपनी वस्तु हमारे जीवन का अग नही वन सकती।

मिश्री डाल देने से पानी मीठा हो जाता है। मिश्री की मिठास पानी मे एकमेक हुई-सी मालूम होती है और पीने वाले को आनन्द देती है, किन्तु क्या कभी वह पानी का स्वरूप वन सकती है? आप पानी को मिश्री से अलग नही कर सकते, किन्तु एक वैज्ञानिक वन्धु कहते हैं कि मीठा, मीठे की जगह और पानी, पानी की जगह है। दोनो मिल अवश्य गए हैं और एकरस प्रतीत होते हैं, किन्तु एक विश्लेपण करने पर दोनो ही अलग-अलग हो जाएँगे।

इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि हमारे जीवन मे एक अद्‌भुत माधुर्य उत्पन्न कर देते है, जीवनगत कर्त्तव्यो के लिए महान् प्रेरणा को जागृत करते हैं, और यदि यह चीजें पानी से मिश्री की तरह विजातीय हैं, मनुष्य की अपनी स्वाभाविक नहीं हैं, जातिगत विशेषता नही हैं, तो वे जीवन का स्वरूप नही बन सकती, हमारे जीवन मे एक रस नही हो सकती। सम्भव है, कुछ समय के लिए वे एकरूप प्रतीत हो, फिर भी समय पाकर उनका अलग हो जाना अनिवार्य होगा।

निश्चित है कि हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश बाह्य तत्त्वो की मिलावट से पूरा नही हो सकता। एक वस्तु, दूसरी को परिपूर्णता प्रदान नही कर सकती। विजातीय वस्तु, किसी भी वस्तु मे बोझ बन कर रह सकती है, उसकी असलियत को विकृत कर सकती है, उसमे अशुद्धि उत्पन्न कर सकती है, उसे स्वाभाविक विकास और पूर्णता एव विशुद्धि नही दे सकती।

इस सम्बन्ध मे भारतीय दर्शनो ने और जैन-दर्शन ने चिन्तन किया है। भगवान् महावीर ने बतलाया है कि धर्म के रूप मे जो प्रेरणाएँ दी जा रही हैं, उन्हें हम बाहर से नही डाल रहे हैं। वे तो मनुष्य की अपनी ही विशेषताएँ हैं, अपना ही स्वभाव है, निज का ही रूप है।

"वत्थुसहावो धम्मो।"

अर्थात्—धर्म आत्मा का ही स्वभाव है।

धर्मशास्त्र की वाणियाँ मनुष्य की सोई हुई वृत्तियों को जगाती हैं। किसी सोते हुए आदमी को जगाया जाता है, तो वह जगाना बाहर से नही डाला जाता है और जागने का भाव पैदा नही किया जाता है। इस प्रकार वह जाग भी गया, तो उसकी जागृति क्या खाक काम आएगी? ऐसे जगाने का कोई मूल्य भी नही है। शास्त्रीय अथवा दार्शनिक दृष्टि से उस जागने और जगाने का क्या महत्त्व है? वास्तव मे आवाज देने का अर्थ—सोई हुई चेतना को उद्‌बुद्ध कर देना ही है। सुप्त चेतना का उद्‌बोधन ही जागृति है।

यह जागृति क्या है? कान मे डाले गए शब्दो की भाँति जागृति भी क्या बाहर से डाली गई है? नही। जागृति बाहर से नही डाली गई, जागने की वृत्ति तो अन्दर मे ही है। जब मनुष्य सोता होता है, तब भी वह छिपे तौर पर उसमे विद्यमान रहती है। स्वप्न मे भी मनुष्य के भीतर निरन्तर चेतना दौड़ती रहती है और सूक्ष्म चेतना के रूप मे अपना काम करती रहती है। इस प्रकार जब जागृति सदैव विद्यमान रहती है, तो समझ लेना होगा कि जागने का भाव बाहर से भीतर नही डाला गया है। सुषुप्ति ने पर्दे की तरह जागृति को आच्छादित कर लिया था। वह पर्दा हटा कि मनुष्य जाग उठा।

हमारे आचार्यों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से कहा है कि मनुष्य अपने-आप मे एक प्रेरणा है। मनुष्य की विशेषताएँ अपने-आप में अपना अस्तित्व रखती हैं। शास्त्र का या उपदेश का सहारा लेकर हम जीवन का सन्देश बाहर से प्राप्त नही करते, वरन् वासनाओ और दुर्बलताओ के कारण हमारी जो चेतना अन्दर छिप गई है, उसी को जागृत करते हैं। तुलसीदास ने सत्य ही कहा है—

"बड़े भाग मानुस-तन पावा,
सुरदुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा।"

मनुष्य की महिमा आखिर किस कारण है ? क्या इस सप्त धातुओ के बने शरीर के कारण ? इन्द्रियो के कारण ? मिट्टी के इस ढेर के कारण ? नही, मनुष्य का शरीर तो हमे कितनी ही बार मिल चुका है और इससे भी सुन्दर मिल चुका है, किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर भी मनुष्य का जीवन नही पाया। और जिसने मानव-तन के साथ मानव-जीवन भी पाया, वह यथार्थ मे कृतार्थ हो गया।

हम पहली वार ही मनुष्य वने हैं, यह कल्पना करना दार्शनिक दृष्टि से भयकर भूल है। इससे वढकर और कोई भूल नही हो सकती। जैन-धर्म ने कहा है कि—आत्मा अनन्त-अनन्त वार मनुष्य वन चुकी है और इससे भी अधिक सुन्दर तन पा चुकी है, किन्तु मनुष्य का तन पा लेने से ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकती। जब तक आत्मा नही जागती है, तब तक मनुष्य-शरीर पा लेने का भी कोई मूल्य नही है।

यदि मनुष्य के रूप मे तुमने आचरण नही किया, मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह चीज नही पैदा हुई, तो यह शरीर तो मिट्टी का पुतला ही है। यह कितनी ही वार लिया गया है और कितनी ही वार छोडा गया है। भगवान् महावीर ने कहा है—"मनुष्य होना उतनी वडी चीज नही, वडी चीज है, मनुष्यता का होना। मनुष्य होकर जो मनुष्यता प्राप्त करते हैं, उन्ही का जीवन वरदान-रूप है। केवल नर का आकार तो बन्दरो को भी प्राप्त होता है।"[1]

हमारे यहाँ एक शब्द आया है—'द्विज'। एक तरफ साधु या व्रतधारक श्रावक को भी द्विज कहते हैं और दूसरी तरफ पक्षी को भी द्विज कहते हैं। पक्षी पहले अण्डे के रूप मे जन्म लेता है। अण्डा प्राय लुढकने के लिए है, टूट-फूट कर नष्ट हो जाने के लिए है। जब वह नष्ट न हुआ हो और सुरक्षित वना हुआ हो, तव भी वह उड नही सकता। पक्षी को उडाने की कला का विकास उसमे नही हुआ है। किन्तु, भाग्य से अण्डा सुरक्षित वना रहता है और अपना समय तय कर लेता है, तव अण्डे का खोल टूटता है और उसे तोड कर पक्षी वाहर आता है। इस प्रकार पक्षी का पहला जन्म अण्डे के रूप मे होता है, और दूसरा जन्म खोल तोडने के वाद पक्षी के रूप में होता है। पक्षी अपने पहले जन्म मे कोई काम नही कर सकता—अपने जीवन की ऊँची उडान नही भर सकता। यह दूसरा जीवन प्राप्त करने के पश्चात् ही वह लम्वी और ऊँची उड़ान भरता है।

इसी प्रकार माता के उदर से प्रसूत होना मनुष्य का प्रथम जन्म है। कुछ पुरातन सस्कार उसकी आत्मा के साथ थे, उनकी वदौलत उसने मनुष्य का चोला प्राप्त कर लिया। मनुष्य का चोला पा लेने के पश्चात् वह राम वनेगा या रावण, उस चोले मे शैतान जन्म लेगा या मनुष्य अथवा देवता—यह नही कहा जा सकता। उसका वह रूप साधारण है,

---

१ चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥

—उत्तराध्ययन ३।१

दोनो के जन्म की सम्भावनाएँ उसमे निहित है। आगे चलकर जब वह विशिष्ट संज्ञा प्राप्त करता है, चिन्तन और विचार के क्षेत्र मे आता है, अपने जीवन का स्वय निर्माण करता है और अपनी सोई हुई मनुष्यता की वृत्तियो को जगाता है, तव उसका दूसरा जन्म होता है। यही मनुष्य का द्वितीय जन्म है।

जव मनुष्यता जाग उठती है, तो ऊँचे कर्त्तव्यो का महत्त्व सामने आ जाता है, मनुष्य ऊँची उडान लेता है। ऐसा 'मनुष्य' जिस किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र मे जन्म लेता है, वही अपने जीवन के पावन सौरभ का प्रसार करता है और जीवन की महत्त्वपूर्ण ऊँचाइयो को प्राप्त करता है।

अगर तुम अपने मनुष्य-जीवन मे मनुष्य के मन को जगा लोगे अपने भीतर मानवीय वृत्तियो को विकसित कर लोगे और अपने जीवन के सौरभ को ससार मे फैलाना शुरू कर दोगे, तव दूसरा जन्म होगा। उस समय तुम मानव द्विज वन सकोगे। यह मनुष्य जीवन का एक महान् सन्देश है।

जव भगवान् महावीर की आत्मा का पावापुरी में निर्वाण हो रहा था और हजारो-लाखो लोग उनके दर्शन के लिए चले आ रहे थे, तव उन्होंने अपने अन्तिम प्रवचन मे एक वडा हृदयग्राही, करुणा से परिपूर्ण सन्देश दिया—

"माणुस्सं खु सुदुल्लहं।"

निस्सदेह, मनुष्य-जीवन वडा ही दुर्लभ है।

इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शरीर लिए हुए तो लाखो की सख्या सामने है, सव अपने को मनुष्य समझ रहे हैं, किन्तु केवल मनुष्य-तन पा लेना ही मनुष्य-जीवन को पा लेना नही है, वास्तविक मनुष्यता पा लेने पर ही कोई मनुष्य कहला सकता है।

यह जीवन की कला इतनी महत्त्वपूर्ण है कि सारा का सारा जीवन ही उसकी प्राप्ति मे लग जाता है। क्षुद्र जीवन ज्यो-ज्यो विशाल और विराट् वनता जाता है और उसमे सत्य, अहिंसा और दया का विकास होता जाता है, त्यो-त्यो सोया हुआ मनुष्य का भाव जागृत होता जाता है। अतएव शास्त्रीय शब्दो मे कहा जा सकता है कि मनुष्यत्व का भाव आना ही मनुष्य होना कहलाता है।

मनुष्य जीवन मे प्रेरणा उत्पन्न करने वाली चार वातें भगवान् महावीर ने वतलाई हैं। उनमे सर्वप्रथम 'प्रकृतिभद्रता' है। मनुष्य को अपने-आप से प्रश्न करना चाहिए कि तू प्रकृति से भद्र है अथवा नही? तेरे मन मे या जीवन मे कोई अभद्रता की दीवारें तो नही है? उसमे तू अपने परिवार को और समाज को स्थान देता है या नही? आस-पास के लोगो में समरसता लेकर चलता है या नही? ऐसा तो नही है कि तू अकेला होता है, तो कुछ और सोचता है, परिवार मे रहता है, तो कुछ और ही सोचता है और समाज मे जाकर कुछ और ही सोचने लगता है? इस प्रकार अपने अन्तर को तूने कही वहुरूपिया तो नही वना रखा है?

स्मरण रखें, जहाँ जीवन मे एकरूपता नही है, वहाँ जीवन का विकास भी नही है। मैं समझता हूँ, अगर आप गृहस्थ हैं, तव भी आपको इस कला की वहुत वडी आवश्यकता है, और यदि साधु वन गए हैं, तव तो उससे भी वड़ी आवश्यकता है। जिसे छोटा-सा

परिवार मिला है, उसे भी आवश्यकता है और जो ऊँचा अधिकारी बना है, और जिसके कन्धो पर समाज एव देश का उत्तरदायित्व आ पडा है, उसको भी इस कला की आवश्यकता है। जीवन मे एक ऐसा सहज-भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि मनुष्य जहाँ कही भी रहे, किसी भी स्थिति में हो, एकरूप होकर रहे। यही एकरूपता, भद्रता या सरलता कहलाती है और यह जीवन के हर पहलू मे रहनी चाहिए। सरलता की उत्तम कसौटी यही है कि मनुष्य सुनसान जगल मे जिस भाव से अपने उत्तरदायित्व को पूरा कर रहा है, उसी भाव से वह नगर मे भी करे और जिस भाव से दूसरो के सामने कर रहा है, उसी भाव से एकान्त में भी करे।

प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्त्तव्य, कर्त्तव्यभाव से, स्वत ही पूर्ण करना चाहिए। किसी की आँखें हमारी ओर घूर रही हैं या नही, यह देखने की उसे आवश्यकता ही क्या है ?

भगवान् महावीर का पवित्र सन्देश है कि मनुष्य अपने-आप मे सरल बन जाए और द्वैत-बुद्धि—मन, वचन, काया की वक्रता—नही रखे। हर प्रसग पर दूसरो की आँखो से अपने कर्त्तव्य को नापने की कोशिश न करे। जो इस ढग से काम नही कर रहा है और केवल भय से प्रेरित होकर हाथ-पाँव हिला रहा है, वह आतक मे काम कर रहा है ऐसे काम करने वाले के कार्य मे सुन्दरता नही पैदा हो सकती, महत्त्वपूर्ण प्रेरणा नही जाग सकती।

ऋगवेद मे कहा गया है—

"यत्र विश्व भवत्येकनीड़म्।"

सारा भूमण्डल तेरा देश है और सारा देश एक घोसला है तथा हम सब उसमें पक्षी के रूप मे बैठे है। फिर कौन भूमि है कि जहाँ हम न जाएँ ? समस्त भूमण्डल मनुष्य का वतन है और वह जहाँ कही भी जाए या रहे, एकरूप होकर रहे। उसके लिए कोई पराया न हो। जो इस प्रकार की भावना को अपने जीवन मे स्थान देगा, वह अपने जीवन-पुष्प को सौरभमय बनाएगा। गुलाब का फूल टहनी पर है, तब भी महकता है और टूटकर अन्यत्र जाएगा, तब भी महकता रहेगा। महक ही उसका जीवन है, उसका प्राण है।

सहज-भाव से अपने कर्त्तव्य को निभाने वाला मनुष्य सिर्फ अपने-आपको देखता है। उसकी दृष्टि दूसरों की ओर नही जाती। कौन व्यक्ति मेरे सामने है अथवा किस समाज के भीतर मैं हूँ, यह देखकर वह काम नही करता। सूने पहाड मे जब वनगुलाब खिलता है, महकता है, तो क्या उसके विकास को देखने वाला और महक को सूँघने वाला आस-पास मे कोई होता है ? परन्तु गुलाब को इसकी कोई परवाह नही कि कोई उसे दाद देने वाला है या नही, भ्रमर है या नही। गुलाब जब विकास की चरम सीमा पर पहुँचता है, तो अपने-आप खिल उठता है। उससे कोई पूछे—तुम्हारा उपयोग करने वाला यहाँ कोई नही है, फिर तू क्यो वृथा खिल रहे हो ? क्यो अपनी महक लुटा रहे हो ? गुलाब जवाब देगा—कोई है या नही, इसकी मुझको चिन्ता नही। मेरे भीतर उल्लास आ गया है, विकास आ गया है और मैंने महकना शुरू कर दिया है। यह मेरे बस की बात नही है। इसके बिना मेरे जीवन की और कोई गति ही नहीं है। यही तो मेरा जीवन है।

वस, यही भाव मनुष्य मे जागृत होना चाहिए। वह सहजभाव से अपना कर्त्तव्य पूरा करे और इसी मे अपने जीवन की सार्थकता समझे।

इसके विपरीत, जव मनुष्य स्वत समुद्भूत उल्लास के भाव से अनेक कर्त्तव्य और दायित्व को नही निभाता, तो चारो ओर से उसे दवाया और कुचला जाता है। इस प्रकार एक तरह की गदगी और वदवू फैलती है। आज दुर्भाग्य से समाज और देश मे सर्वत्र गन्दगी और वदवू ही नजर आ रही है और इसीलिए वह जीवन अत्यन्त पामर वना रहता है।

सत्य की अतर में अनुभूति ही सच्ची अनुभूति :

भारतीय दर्शन, जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर आया है कि तू अन्दर से क्या है ? तुझे अन्तरतम मे विराजमान महाप्रभु के प्रति सच्चा होना चाहिए। वहाँ सच्चा है, तो संसार के प्रति भी सच्चा है और वहाँ सच्चा नही, तो ससार के प्रति भी सच्चा नहीं है। अन्त प्रेरणा और स्फूर्ति से, विना दवाव के भय से जव अपना कर्त्तव्य निभाया जाएगा, तो जीवन एकरूप होकर कल्याणमय वन जाएगा।

दूसरी वात है—मनुष्य के हृदय मे दया और करुणा की लहर पैदा होना। हमारे भीतर, हृदय के रूप मे, मांस का एक टुकडा है। निस्सन्देह, वह मांस का टुकडा ही है और मांस के पिण्ड के रूप मे ही हरकत कर रहा है। हमे जिन्दा रखने के लिए साँस छोड रहा है और ले रहा है। पर उस हृदय का मूल्य अपने-आप में कुछ नही है। उसमे अगर महान् करुणा की लहर पैदा नही होती, तो उस मांस के टुकडे की कोई कीमत नही है।

जव हमारे जीवन मे समग्र विश्व के प्रति दया और करुणा का भाव जागृत होगा, तभी प्रकृति-भद्रता उत्पन्न हो सकेगी। तभी हमारा जीवन भगवत्स्वरूप हो सकेगा।

सत्य का विराट् रूप

इस प्रकार सारे समाज के प्रति कर्त्तव्य की वुद्धि उत्पन्न हो जाना, विश्व-चेतना का विकास हो जाना है और उसी को जैन-धर्म ने भागवत रूप दिया है। यही मानव-धर्म है।

तो, धर्म का मूल इन्सानियत है, मानवता है और मानव की मानवता ज्यो-ज्यो विराट् रूप ग्रहण करती जाती है, त्यो-त्यो उसका धर्म भी विराट् वनता चला जाता है। इस विराटता मे जैन, वैदिक, वौद्ध, मुस्लिम, सिख और ईसाई आदि का कोई भेद नही रहता, सव एकाकार हो जाते हैं। यही सत्य का स्वरूप है, प्राण है और इस विराट् चेतना मे ही सत्य की उपलब्धि होती है।

★★★★

३३

अस्तेय-व्रत

शास्त्रकारो ने कहा है कि—

"चित्तमन्तमचित्त वा, अप्प वा जइ वा वहु।
दंत-सोहणमेत्त' पि उग्गहंसि अजाइया ॥"

अजीव वस्तु हो या निर्जीव, कम हो या ज्यादा, पर मालिक के आज्ञा को बिना कोई भी वस्तु नही लेनी चाहिए। दांत कुरेदने का तिनका भी विना आज्ञा के नही लिया जा सकता है। जव अस्तेय-व्रत पर सम्यक् रूप से विचार करेंगे, तो यह प्रतीत होगा कि इस व्रत का पालक ही अहिंसा और सत्य व्रत का पालक बन सकता है।

अपनी वस्तु को छोडकर दूसरे की किसी भी वस्तु को हाथ लगाना चोरी है। दूसरे की वस्तु को विना उसकी अनुमति के अपने उपयोग मे लाना अदत्तादान है। इस अदत्तादान का त्याग ही अस्तेय व्रत है। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है कि मार्ग मे पडी हुई दूसरे की वस्तु को अपनी समझना भी चोरी है। मन, वचन और काय से ऐसी चोरी को न स्वय करना और न दूसरो से कराना, यही इस व्रत का आशय है।

किसी भी वस्तु को विना आज्ञा लेने का नियम इस व्रत मे बताया गया है। जिस वस्तु की हमको आवश्यकता न हो, वह वस्तु दूसरो के पास से लेना भी चोरी है। फिर भले ही वह वस्तु दूसरो की आज्ञा से ही क्यो न ली गई हो, पर विना जरूरत के वस्तु लेना चोरी ही है। अमुक फल खाने की मनुष्य को आवश्यकता नही होती है, फिर भी यदि वह उन्हे खाने लग जाए तो वह भी चोरी ही है। मनुष्य अपना स्वभाव समझता नही है, इसी से उससे ऐसी चोरी हो जाती है। इस व्रत के आराधक को इस प्रकार अचौर्य का व्यापक अर्थ घटाना चाहिए। जैसे-जैसे वह इस व्रत का विशाल रूप मे पालन करता जाएगा वैसे-वैसे इस व्रत की महत्ता और उसका रहस्य भी समझता जाएगा।

अस्तेय का इससे भी गहरा अर्थ यह है कि पेट भरने और शरीर ढकने के लिए जरूरत से अधिक सग्रह करना भी चोरी ही है। एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक

रखने लग जाय, तो यह स्वाभाविक ही है कि दूसरो को आवश्यकता पूर्ति के लिए भी नही मिल सके। दो जोडी कपडो के बजाय यदि कोई मनुष्य बीस जोडी कपडे रखे, तो इससे उसे दूसरे पांच-सात आदमियो को वस्त्र-हीन करना पडता है अत किसी भी वस्तु का अधिक सग्रह करना चोरी है।

जो वस्तु जिस उपयोग के लिए मिली है, उसका वैसा उपयोग नही करना भी चोरी है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, शक्ति आदि की प्राप्ति आराधना के लिए हुई है, उनका उपयोग आत्माराधना मे न कर भोगोपभोग मे करना भी सूक्ष्म दृष्टि से चोरी ही है। शारीरादि का उपयोग परमार्थ के लिए न करते हुए, स्वार्थ के लिए करना भी एक तरह की चोरी ही है।

उपनिषद् मे अश्वपति राजा अपने राज्य की महत्ता बताते हुए एक वाक्य मे कहता है कि—'**न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यः**' चोर और कृपण को वह एक ही श्रेणी मे बैठाता है। गहरा विचार करेंगे, तो प्रतीत होगा कि कृपण ही चोर के जनक होते हैं। अतः समाज मे अस्तेय व्रत की प्रतिष्ठा कायम करने के लिए कृपणो को अपनी कृपणता त्याग देनी चाहिए और बदले मे उदारता प्रकट करनी चाहिए।

चोरी के प्रमुख चार प्रकार होते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य से चोरी करना यानि वस्तुओ की चोरी। सजीव और निर्जीव इन दोनो प्रकार की चोरी द्रव्य कही जाती है। किसी के पशु चुरा लेना या किसी की स्त्री का अपहरण कर लेना, किसी का बालक चुरा लेना या किसी के फलफूल तोडना यह सजीव चोरी कही जाती है। सोना-चाँदी हीरा, माणिक, मोती आदि की चोरी निर्जीव चोरी है। कर या महसूल की चोरी का भी निर्जीव चोरी मे समावेश होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मार्ग मे पडी हुई ऐसी कोई निर्जीव वस्तु, जिसका कोई मालिक न हो, ले लेना भी चोरी है। किसी के घर या खेत पर अनुचित रीति से अपना कब्जा जमा लेना—क्षेत्र की चोरी कही जाती है। वेतन, किराया, ब्याज आदि देने-लेने के समय की न्यूनाधिकता बताना काल की चोरी है। किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावो को लेकर अपने नाम से लिखना भाव की चोरी है।

एक लेखक ने लिखा है कि He who purposely cheats his friend, would cheat his God' अर्थात् जो व्यक्ति अपने मित्र को ठगता है, वह एकदिन ईश्वर को भी ठगेगा। दूसरे एक लेखक ने लिखा है कि—'Dishonesty is a forsaking of permanent for temporary advantages' अर्थात् अप्रामाणिकता बताना या चोरी करना, यह क्षणिक लाभ के लिए शाश्वत श्रेय को गुम कर देने जैसा है।

अपने हक के अतिरिक्त की वस्तु चाहे जिस किसी प्रकार से ले लेना चोरी है। कोई सरकारी नौकर किसी को काम करके उसके बदले मे रिश्वत या इनाम ले, तो यह भी चोरी है।

अपने असाध्य रोग की खबर होने पर भी बीमा कराना यह भी एक तरह की चोरी ही है।

आयदिनो समाज में चोरियाँ बढती जा रही है। पाप चोरी करने वाले को तो लगता ही है, परन्तु परोक्ष रूप मे वे मनुष्य भी इस पाप के कम भागीदार नही बनते,

कह सकते कि यह पत्ता जिसे आप वर्तमान क्षण मे प्रत्यक्ष देख रहे हैं, भूतकाल मे भी ऐसा ही था और भविष्यकाल मे भी ऐसा ही रहेगा। एक पत्ता जब जन्म लेता है, तब उसका रूप और वर्ण कैसा होता है ? उस समय उसके रूप अथवा वर्ण को ताम्र कहा जाता है फिर धीरे-धीरे वह हरा हो जाता है और फिर धीरे-धीरे वह एक दिन पीला पड जाता है। ताम्रवर्ण, हरितवर्ण और पीतवर्ण एक ही पत्ते की ये तीन अवस्थाएँ बहुत स्थूल हैं। इनके बीच की सूक्ष्म अवस्थाओ का यदि विचार किया जाए, तो ताम्र से हरित तक हजारो लाखो अवस्थाएँ हो सकती हैं और हरित से पीत तक करोडो अवस्थाएँ हो सकती हैं। वस्तुतः यह हमारी परिगणना भी बहुत ही स्थूल है। जैन-दर्शन के अनुसार तो उसमे प्रतिक्षण परिवर्तन आ रहा है, जिसे हम अपनी चर्मचक्षुओं से देख नही सकते। कल्पना कीजिए, आपके समक्ष कोमल कमल के शतपत्र एक के ऊपर एक गड्डी बना कर रक्खे हुए हो, आपने एक सूई ली और एक झटके मे उन्हे बीध दिया। नुकीली सूई एक साथ एक झटके मे ही कमल के शतपत्रो को पार कर गई। पर सूक्ष्मता से देखा जाए, तो सूई ने पत्ते को क्रमश ही पार किया है, किन्तु यह कालगणना सहसा ध्यान मे नही आती। शत-पत्र कमल-भेदन मे कालक्रम की व्यवस्था है, किन्तु उसकी प्रतीति हमे नही होने पाती है। और फिर पत्ते मे केवल वर्ण ही नही होता, वर्ण के अतिरिक्त उसमे गन्ध, रस और स्पर्श आदि भी रहते हैं किन्तु जब हम नेत्र के द्वारा पत्ते को देखते हैं, तब उसके रूप का ही परिज्ञान होता है। जब हम उसे सूँघते हैं, तब हमे उसकी गन्ध का ही परिज्ञान होता है, रूप का नही। जब हम उसको अपनी जिह्वा पर रखते हैं, तब हमको उसके रस का ही परिबोध होता है, वर्ण और गन्ध का नही। जब हम उसे हाथ से छूते हैं, तब हमे उसके स्पर्श का ही ज्ञान होता है, वर्ण, गन्ध और रस का नही। जब हम तज्जन्य शब्द को सुनते हैं, तब शब्द का ही हमे ज्ञान होता है, वर्ण गन्ध, रस और स्पर्श का नही फिर हम यह कैसे दावा कर सकते हैं कि हमने नेत्र से पत्ते को देखकर उसके सम्पूर्ण-रूप का ज्ञान कर लिया। जब तक हमारा ज्ञान सावरण है, तब तक हम किसी भी वस्तु के सम्पूर्ण रूप को जान नही सकते। सावरण ज्ञान खण्ड-खण्ड मे ही वस्तु का परिज्ञान करता है। वस्तु का सम्पूर्ण ज्ञान तो एकमात्र निरावरण केवल ज्ञान मे ही प्रतिबिम्बित हो सकता है। इसलिए एक आचार्य ने कहा है—

"दर्पण-तल इव सकला प्रतिफलति पदार्थ-मालिका यत्र।"

जिस प्रकार दर्पण के सामने आया हुआ पदार्थ उसमे प्रतिबिम्बित हो जाता है, उसी प्रकार जिस ज्ञान मे अनन्त-अनन्त पदार्थ युगपद झलक रहे हो, वह ज्ञान केवल ज्ञान है। केवल ज्ञान आवरण रहित होता है। उसमे किसी प्रकार का आवरण नही रह पाता। अतः पदार्थ का सम्पूर्ण रूप ही उसमे प्रतिबिम्बित होता है। दर्पण मे जब किसी भी पदार्थ का प्रति-बिम्ब पडता है, तब इसका अर्थ यह नही होता कि पदार्थ दर्पण बन गया अथवा दर्पण पदार्थ, बन गया। पदार्थ, पदार्थ के स्थान पर है और दर्पण, दर्पण के स्थान पर। दोनो की अपनी अलग-अलग सत्ता है। दर्पण मे बिम्ब के प्रतिबिम्ब को ग्रहण करने की शक्ति है और बिम्ब मे प्रतिबिम्ब होने की शक्ति है। इसीलिए दर्पण मे पदार्थ का प्रतिबिम्ब पडता है। केवल ज्ञान मे पदार्थ को जानने की शक्ति है, और पदार्थ मे ज्ञान को ज्ञेय बनने का स्वभाव है। जब ज्ञान के द्वारा किसी पदार्थ को जाना जाता है, तब इसका अर्थ यह नही होता कि ज्ञान

पदार्थ वन गया है, अथवा पदार्थ ज्ञान वन गया है। ज्ञान, ज्ञान की जगह है और पदार्थ, पदार्थ की जगह है। दोनो को एक समझना एक भयकर मिथ्यात्व है। ज्ञान का स्वभाव है जानना और पदार्थ का स्वभाव है, ज्ञान के द्वारा ज्ञात होना। केवल ज्ञान एक पूर्ण और निरावरण ज्ञान है। इसीलिए उसमे ससार के अनन्त पदार्थ एक साथ झलक जाते हैं। और एक पदार्थ के अनन्त-अनन्त पर्याय भी एक साथ झलक जाते है। -इसीलिए आचार्यजी ने यह कहा है कि ससार की सम्पूर्ण पदार्थमालिका केवल ज्ञानी के ज्ञान मे प्रतिक्षण प्रतिविम्बित होती रहती है। केवल ज्ञान अनन्त होता है, इसीलिए उसमे ससार के अनन्त पदार्थों को जानने की शक्ति है। अनन्त ही अनन्त को जान सकता है।

राग और द्वेष आदि कषाय के कारण निर्मल आत्मा मलिन बन जाती है। आत्मा मे जो कुछ भी मलिनता है, वह अपनी नही है, वल्कि पर के सयोग से आई है। और जो वस्तु पर के सयोग से आती है, वह कभी स्थायी नही रहती। अमल-धवल वसन मे जो मल आता है, वह शरीर संयोग से आता है। धवल वस्त्र मे जो मलिनता है, वह उसकी अपनी नही है। वह पर की है, इसीलिए उसे दूर भी किया जा सकता है। यदि मलिनता वस्त्र की अपनी होती, तो हजार वार धोने से भी वह कभी दूर नही हो सकती थी। धवल वस्त्र को आप किसी भी रग मे रग लें, क्या वह रग उसका अपना है? वह रग उसका अपना रग कदापि नही है। जैसे सयोग मिलते रहे, वैसा ही उसका रग वदलता रहा। अतः वस्त्र मे जो मलिनता है अथवा रग है, वह उसका अपना नही है, वह पर-सयोग जन्य है। विजातीय तत्त्व का सयोग होने पर, पदार्थ में जो परिवर्तन आता है, जैन-दर्शन की निश्चय दृष्टि और वेदान्त की परमार्थ दृष्टि उसे स्व मे स्वीकार नही करती। जो भी कुछ पर है, यदि उसे अपना मान लिया जाए, तो फिर ससार मे जीव और अजीव की व्यवस्था ही नही रहेगी। पर-सयोग-जन्य राग-द्वेष को यदि आत्मा का अपना स्वभाव मान लिया जाए, तो करोड वर्षों की साधना से भी राग-द्वेप दूर नही किए जा सकते।

जैन-दर्शन के अनुसार आत्मा ज्ञानावरणादि कर्म से भिन्न है, शरीर आदि नोकर्म से भिन्न है और कर्म-सयोगजन्य रागादि अध्यवसाय से भी भिन्न है। कर्म मे, मैं हूँ, और नोकर्म मे, मैं हूँ, इस प्रकार की वुद्धि तथा यह कर्म और नोकर्म मेरे हैं, इस प्रकार की वुद्धि, मिथ्यादृष्टि है। यदि कर्म को आत्मा मान लिया जाए, तो फिर आत्मा को भी कर्म मानना पडेगा। इस प्रकार जीवन मे अजीवत्व आ जाएगा और अजीवत्व मे जीवत्व चला जाएगा। इस दृष्टि से जैन-दर्शन का यह कथन यथार्थ है कि यह राग, यह द्वेप, यह मोह और यह अज्ञान न कभी मेरा था और न कभी मेरा होगा। आत्मा के अतिरिक्त ससार मे अन्य जो भी कुछ है, उसका परमाणु मात्र भी मेरा अपना नही है। अज्ञानी आत्मा यह समझती है ककि मैं र्म का कर्ता हूँ और मैं ही कर्म का भोक्ता हूँ। व्यवहारनय से यह कथन हो सकता है, किन्तु निश्चय नय से आत्मा न कर्म का कर्ता है और न कर्म का भोक्ता है। कर्तृत्व और भोक्तृत्व आत्मा के धर्म नही हैं, क्योकि परम शुद्धनय से आत्मा न कर्ता है न भोक्ता हैं, वह तो एकमात्र ज्ञायक है, ज्ञायक स्वभाव है और ज्ञातामात्र है। ज्ञान आत्मा का अपना निज स्वभाव है। उसमे जो कुछ मलिनता आती है, वह विजातीय तत्त्व के सयोग से ही आती है। विजातीय तत्त्व के सयोग के विलय हो जाने पर ज्ञान स्वच्छ, निर्मल और पवित्र हो जाता है। सावरण ज्ञान मलिन होता है और निरावरण ज्ञान निर्मल और स्वच्छ होता है। ज्ञान की निर्मलता और स्वच्छता

तभी सम्भव है, जबकि राग और द्वेष के विकल्पो का आत्मा मे से सर्वथा अभाव हो जाए। निर्विकल्प और निर्द्वन्द्व स्थिति ही आत्मा का अपना सहज स्वभाव है। रागी आत्मा प्रिय वस्तु पर राग करती है और अप्रिय वस्तु पर द्वेष करती है, पर यथार्थ दृष्टिकोण से देखा जाए, तो पदार्थ अपने आप मे न प्रिय है, न अप्रिय है। हमारे मन की रागात्मक और द्वेपात्मक मनोवृत्ति ही किसी भी वस्तु को प्रिय और अप्रिय बनाती है। जब तक किसी भी प्रकार का विकल्प, जो कि पर-सयोग-जन्य है, आत्मा मे विद्यमान है, तब तक स्वरूप की उपलब्धि हो नही सकती है। ज्ञानात्मक भगवान् आत्मा को समझने के लिए निर्मल और स्वच्छ ज्ञान की आवश्यकता है। ज्ञान मे यदि निर्मलता का अभाव है, तो उससे वस्तु का यथार्थ बोध भी नही हो सकता। जैन-दर्शन की दृष्टि से ज्ञान और आत्मा भिन्न नही, अभिन्न ही हैं। ज्ञान से भिन्न आत्मा अन्य कुछ भी नही है, ज्ञान-गुण मे अन्य सब गुणो का समावेश हो जाता है।

कहने का भाव यही है कि हमारे अशुभ विकल्प शुभ विकल्पो से लडें और इस प्रकार इन दोनो की लडाई मे आत्मा तटस्थ बन कर देखती रहे। जब दोनो ही खत्म हो जाएँगे तो आत्मा अपने निरजन निर्विकार शुद्ध स्वरूप मे आ जाएगी। मन, इन्द्रिय और शरीर के घेरे को तोडकर जो अपना शुद्ध लक्षण है—ज्ञानमय स्वरूप है, उसमे सदा सर्वदा के लिए विराजमान हो जाएगी। तब वह इस ससार का दास नही, स्वामी रहेगी। और रहेगी चिन्मय प्रकाश-पुञ्ज।

४
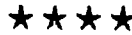
तीर्थंकर

'तीर्थङ्कर' जैन-साहित्य का एक मुख्य पारिभाषिक शब्द है। यह शब्द कितना पुराना है, इसके लिए इतिहास के फेर मे पडने की जरूरत नही। आजकल का विकसित-से विकसित इतिहास भी इसका प्रारम्भ काल पा सकने मे असमर्थ है। और एक प्रकार से तो यह कहना चाहिए कि यह शब्द उपलब्ध इतिहास सामग्री से है भी बहुत दूर-परे की चीज।

जैन-धर्म के साथ उक्त शब्द का अभिन्न सम्बन्ध है। दोनो को दो अलग-अलग स्थानो मे विभक्त करना, मानो दोनो के वास्तविक स्वरूप को ही विकृत कर देना है। जैनो की देखा-देखी यह शब्द अन्य पन्थो[1] मे भी कुछ-कुछ प्राचीन काल मे व्यवहृत हुआ है, परन्तु वह सब नही के बराबर है। जैनो की तरह उनके यहाँ यह एक मात्र रूढ एवं उनका अपना निजी शब्द बन कर नही रह सका।

तीर्थङ्कर की परिभाषा

जैन-धर्म मे यह शब्द किस अर्थ मे व्यवहृत हुआ है, और इसका क्या महत्त्व है? यह देख लेने की बात है। तीर्थङ्कर का शाब्दिक अर्थ होता है—तीर्थ का कर्त्ता अर्थात् बनाने वाला। 'तीर्थ' शब्द का जैन-परिभाषा के अनुसार मुख्य अर्थ है—धर्म। संसार-समुद्र से आत्मा को तिराने वाला एकमात्र अहिंसा एव सत्य आदि धर्म ही है, अत धर्म को तीर्थ कहना शब्दशास्त्र की दृष्टि से उपयुक्त ही है। तीर्थङ्कर अपने समय मे ससार-सागर से पार करने वाले धर्म-तीर्थ की स्थापना करते हैं, अतः वे तीर्थङ्कर कहलाते हैं। धर्म के आचरण करने वाले साधु, साध्वी, श्रावक-गृहस्थ पुरुष और श्राविका-गृहस्थस्त्रीरूप चतुर्विधसंघ को भी गौण दृष्टि से तीर्थ कहा जाता है। अत चतुर्विध धर्म-संघ की स्थापना करने वाले महापुरुषो को भी तीर्थङ्कर कहते हैं।

जैन-धर्म की मान्यता है कि जब-जब ससार मे अत्याचार का राज्य होता है, प्रजा दुराचारो से उत्पीडित हो जाती है, लोगो मे धार्मिक भावना क्षीण होकर पाप भावना जोर

१ देखिए, बौद्ध साहित्य का 'लकावतार सूत्र'।

पकड लेती है, तव-तब संसार में तीर्थङ्करो का अवतरण होता है। और ससार की मोह-माया का परित्याग कर, त्याग और वैराग्य की अखड साधना मे रम कर, अनेकानेक भयकर कष्ट उठाकर, पहले स्वय सत्य की पूर्ण ज्योति का दर्शन करते हैं—जैन-परिभाषा के अनुसार केवल ज्ञान प्राप्त करते हैं, और फिर मानव-ससार को धर्मोपदेश देकर उसे असत्य-प्रपच के चगुल से छुडाते हैं, सत्य के पथ पर लगाते हैं और ससार मे पूर्ण सुख-शान्ति का आध्यात्मिक साम्राज्य स्थापित करते हैं।

तीर्थङ्करो के शासन-काल मे प्राय. प्रत्येक भव्य स्त्री-पुरुष अपने आप को पहचान लेता है, और 'स्वय सुख पूर्वक जीना, दूसरो को सुख पूर्वक जीने देना तथा दूसरो को सुख पूर्वक जीते रहने के लिए अपने सुखो की कुछ भी परवाह न करके अधिक-से-अधिक सहायता देना'—उक्त महान् सिद्धान्त को अपने जीवन मे उतार लेता है। अस्तु तीर्थङ्कर वह है, जो ससार को सच्चे धर्म का उपदेश देता है, आध्यात्मिक तथा नैतिक पतन की ओर ले जाने, पापाचारो से वचाता है, संसार को भौतिक सुखो की लालसा से हटाकर आध्यात्म-सुखो का प्रेमी वनाता है, और वनाता है नरक-स्वरूप उन्मत्त एव विक्षिप्त ससार को सत्य शिव सुन्दर का स्वर्ग।

अरिहन्त भगवान् तीर्थङ्कर कहलाते हैं। तीर्थङ्कर का अर्थ है—तीर्थ का निर्माता जिसके द्वारा ससाररूप मोहमाया का महानद सुविधा के साथ तिरा जाए, वह धर्म, तीर्थ कहलाता है। संस्कृत भाषा मे घाट के लिए 'तीर्थ' शब्द प्रयुक्त होता है। अतः ये घाट के वनाने वाले तैराक, लोक मे तीर्थङ्कर कहलाते हैं। हमारे तीर्थङ्कर भगवान् भी इसी प्रकार घाट के निर्माता थे, अत तीर्थङ्कर कहलाते थे। आप जानते हैं, यह ससाररूपी नदी कितनी भयकर है? क्रोध, मान, माया, लोभ आदि के हजारो विकाररूप मगरमच्छ, भँवर और गर्त हैं इसमे, जिन्हें पार करना सहज नही है। साधारण साधक इन विकारो के भँवर मे फँस जाते हैं, और डूब जाते हैं। परन्तु तीर्थङ्कर देवो ने सर्व-साधारण साधको की सुविधा के लिए धर्म का घाट वना दिया है, सदाचाररूपी विधि-विधानो की एक निश्चित योजना तैयार करदी है, जिससे कोई साधक सुविधा के साथ इस भीषण नदी को पार कर सकता है।

तीर्थ का अर्थ पुल भी है। विना पुल के नदी से पार होना बडे-से-बडे वलवान् के लिए भी अशक्य है; परन्तु पुल वन जाने पर साधारण दुर्वल, रोगी यात्री भी वडे आनन्द से पार हो सकता है। और तो क्या, नन्ही-सी चीटी भी इधर से उधर पार हो सकती है। हमारे तीर्थङ्कर वस्तुत. ससार की नदी को पार करने के लिए धर्म का तीर्थ वना गए हैं, पुल वना गए हैं, साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका-रूप चतुर्विध सघ की धर्म-साधना, ससार-सागर से पार होने के लिए पुल है। अपने सामर्थ्य के अनुसार इनमें से किसी भी पुल पर चढिए, किसी भी धर्म-साधना को अपनाइए, आप उस पार हो जायेंगे।

आप प्रश्न कर सकते हैं कि इस प्रकार धर्म तीर्थ की स्थापना करने वाले तो भारतवर्ष मे सर्वप्रथम श्रीऋषभदेव भगवान् हुए थे, अत वे ही तीर्थङ्कर कहलाने चाहिए। दूसरे तीर्थङ्करो को तीर्थङ्कर क्यो कहा जाता है? उत्तर मे निवेदन है कि प्रत्येक तीर्थङ्कर अपने युग में प्रचलित धर्म-परम्परा मे समयानुसार परिवर्तन करता है, अत नये तीर्थ का निर्माण करता है। पुराने घाट जव खराव हो जाते हैं, तव नया घाट ढूँढा जाता है न?

इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानो मे विकृति आ जाने के बाद नए तीर्थङ्कर, ससार के समक्ष नए धार्मिक विधानो की योजना उपस्थित करते हैं। धर्म का मूल प्राण वही होता है, केवल क्रियाकाण्ड रूप-शरीर बदल देते हैं। जैन समाज प्रारम्भ से, केवल धर्म की मूल भावनाओ पर विश्वास करता आया है, न कि पुराने शब्दो और पुरानी पद्धतियो पर। जैन तीर्थङ्करो का शासन-भेद, उदाहरण के लिए, भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन-भेद, मेरी उपर्युक्त मान्यता के लिए ज्वलन्त प्रमाण है।

अष्टादश दोष

जैन धर्म मे मानव जीवन की दुर्बलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णता के सूचक निम्नोक्त अठारह दोष माने गये हैं—

१. मिथ्यात्व=असत्य विश्वास।
२. अज्ञान।
३ क्रोध।
४. मान।
५ माया=कपट।
६ लोभ।
७. रति=मन पसन्द वस्तु के मिलने पर हर्ष।
८ अरति=अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर खेद।
९ निद्रा।
१० शोक।
११ अलीक=झूठ।
१२ चौर्य=चोरी।
१३ मत्सर=डाह।
१४ भय।
१५ हिंसा।
१६ राग=आसक्ति।
१७. क्रीडा=खेल-तमाशा नाच-रंग।
१८. हास्य=हँसी-मजाक।

जबतक मनुष्य इन अठारह दोषो से सर्वथा मुक्त नही होता, तबतक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नही पहुँच सकता। ज्यो ही वह अठारह दोषो से मुक्त होता है, त्यो ही आत्मशुद्धि के महान् ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है और केवल-ज्ञान एव केवल-दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा बन जाता है। तीर्थङ्कर भगवान् उक्त अठारह दोषो से सर्वथा रहित होते है। एक भी दोष, उनके जीवन मे नही रहता।

तीर्थङ्कर ईश्वरीय अवतार नहीं :

जैन तीर्थङ्करो के सम्बन्ध मे कुछ लोग बहुत भ्रान्त धारणाएँ रखते हैं। उनका कहना है कि जैन अपने तीर्थङ्करो को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन बन्धुओ से कहूँगा कि वे भूल मे हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नही है। वह संसार के कर्त्ता, धर्ता और संहर्ता

किसी एक ईश्वर को नही मानता। उसकी यह मान्यता नही है कि हजारो भुजाओ वाला, दुष्टो का नाश करने वाला, भक्तो का पालन करने वाला, सर्वथा परोक्ष कोई एक ईश्वर है, और वह यथा समय त्रस्त ससार पर दयाभाव लाकर गो-लोक, सत्य-लोक या वैकुण्ठ धाम आदि से दौडकर ससार मे आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है और फिर लोला दिखाकर वापस लौट जाता है। अथवा जहाँ कही भी है, वही से बैठा हुआ ससार-घटिका की सूई फेर देता है और मनचाहा वजा देता है।

जैन-धर्म मे मनुष्य से वढकर और कोई दूसरा महान् प्राणी नही है। जैन शास्त्रो मे आप जहाँ कही भी देखेंगे, मनुष्यो को सम्वोधन करते हुए 'देवाणुप्पिय' शब्द का प्रयोग पायेंगे। उक्त सम्वोधन का यह भावार्थ है कि 'देव-ससार' भी मनुष्य के आगे तुच्छ है। वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम, श्रद्धा एव आदर का भाव रखता है। मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियो का भडार है। वह दूसरे शब्दो मे स्वयसिद्ध ईश्वर है, परन्तु ससार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, अत वादलो से ढँका हुआ सूर्य है, जो सम्यक् रूप से अपना प्रकाश नही प्रसारित कर सकता।

परन्तु ज्यो ही वह होश मे आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणो को त्यागकर सद्गुणो को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एव स्वच्छ होता चला जाता है, एक दिन जगमगाती हुई अनत शक्तियो का प्रकाश प्राप्त कर मानवता के पूर्ण विकास की कोटि पर पहुँच जाता है और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, ईश्वर, परमात्मा, शुद्ध, बुद्ध वन जाता है। तदनन्तर जीवन्मुक्त दशा मे ससार को सत्य का प्रकाश देता है और अन्त मे निर्वाण पाकर मोक्ष-दशा मे सदा काल के लिए अजर-अमर अविनाशी—जैन-परिभाषा मे सिद्ध हो जाता है।

अस्तु, तीर्थङ्कर भी मनुष्य ही होते हैं। वे कोई अजीव दैवी सृष्टि के प्राणी, ईश्वर, अवतार या ईश्वर के अश जैसे कुछ नही होते। एकदिन वे भी हमारी तुम्हारी तरह ही वासनाओ के गुलाम थे, पाप-मल से लिप्त थे, ससार के दु ख, शोक, आधि-व्याधि से सत्रस्त थे। सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हे कुछ भी पता नही था। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र ध्येय था, उसी की कल्पना के पीछे अनादिकाल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झझावात मे चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषो का सग मिला, चैतन्य और जड का भेद समझा, भौतिक एव आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान में आया, फलत ससार की वासनाओ से मुँह मोड कर सत्य-पथ के पथिक वन गए। आत्मसयम की साधना मे पहले से अनेक जन्मो से ही आगे वढते गए और अन्त मे एक दिन वह आया कि आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि उन्हे हो गई। ज्ञान की ज्योति जगमगाई और वे तीर्थङ्कर के रूप मे प्रकट हो गए। उस जन्म मे भी यह नही कि किसी राजा-महराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विलास करते हुए ही तीर्थङ्कर हो गए। उन्हे भी राज्य-वैभव छोडना होता है, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह की साधना मे निरन्तर जुटा रहना होता है, पूर्ण विरक्त मुनि वनकर एकान्त-निर्जन स्थानो मे आत्ममनन करना होता है। अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक दुःखो को पूर्ण शान्ति के साथ सहन कर प्राणापहरी शत्रु पर भी अन्तर्हृदय से दयामृत का शीतल झरना वहाना होता है, तव कही पाप-मल से मुक्ति होने पर केवल ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति के द्वारा तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है।

इसी प्रकार पुराने धार्मिक विधानो मे विकृति आ जाने के बाद नए तीर्थङ्कर, ससार के समक्ष नए धार्मिक विधानो की योजना उपस्थित करते है। धर्म का मूल प्राण वही होता है, केवल क्रियाकाण्ड रूप-शरीर वदल देते हैं। जैन समाज प्रारम्भ से, केवल धर्म की मूल भावनाओ पर विश्वास करता आया है, न कि पुराने शब्दो और पुरानी पद्धतियो पर। जैन तीर्थङ्करो का शासन-भेद, उदाहरण के लिए, भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर का शासन-भेद, मेरी उपर्युक्त मान्यता के लिए ज्वलन्त प्रमाण है।

अष्टादश दोष

जैन धर्म मे मानव जीवन की दुर्वलता के अर्थात् मनुष्य की अपूर्णता के सूचक निम्नोक्त अठारह दोप माने गये हैं—

१ मिथ्यात्व=असत्य विश्वास।
२. अज्ञान।
३. क्रोध।
४. मान।
५ माया=कपट।
६ लोभ।
७ रति=मन पसन्द वस्तु के मिलने पर हर्ष।
८ अरति=अमनोज्ञ वस्तु के मिलने पर खेद।
९ निद्रा।
१० शोक।
११. अलीक=झूठ।
१२ चौर्य=चोरी।
१३. मत्सर=डाह।
१४ भय।
१५ हिंसा।
१६ राग=आसक्ति।
१७ क्रीडा=खेल-तमाशा नाच-रग।
१८ हास्य=हँसी-मजाक।

जवतक मनुष्य इन अठारह दोपो से सर्वथा मुक्त नही होता, तवतक वह आध्यात्मिक शुद्धि के पूर्ण विकास के पद पर नही पहुँच सकता। ज्यो ही वह अठारह दोषो से मुक्त होता है, त्यो ही आत्मशुद्धि के महान् ऊँचे शिखर पर पहुँच जाता है और केवल-ज्ञान एव केवल-दर्शन के द्वारा समस्त विश्व का ज्ञाता-द्रष्टा वन जाता है। तीर्थङ्कर भगवान् उक्त अठारह दोपो से सर्वथा रहित होते हैं। एक भी दोप, उनके जीवन मे नही रहता।

तीर्थङ्कर ईश्वरीय अवतार नहीं

जैन तीर्थङ्करो के सम्बन्ध मे कुछ लोग वहुत भ्रान्त धारणाएँ रखते हैं। उनका कहना है कि जैन अपने तीर्थङ्करो को ईश्वर का अवतार मानते हैं। मैं उन वन्धुओ से कहूँगा कि वे भूल मे हैं। जैन-धर्म ईश्वरवादी नही है। वह ससार के कर्त्ता, धर्ता और सहर्ता

किसी एक ईश्वर को नही मानता । उसकी यह मान्यता नही है कि हजारो भुजाओ वाला, दुष्टो का नाश करने वाला, भक्तो का पालन करने वाला, सर्वथा परोक्ष कोई एक ईश्वर है, और वह यथा समय त्रस्त ससार पर दयाभाव लाकर गो-लोक, सत्य-लोक या वैकुण्ठ धाम आदि से दौडकर ससार मे आता है, किसी के यहाँ जन्म लेता है और फिर लोला दिखाकर वापस लौट जाता है । अथवा जहाँ कही भी है, वही से बैठा हुआ ससार-घटिका की सूई फेर देता है और मनचाहा बजा देता है ।

जैन-धर्म मे मनुष्य से बढकर और कोई दूसरा महान् प्राणी नही है । जैन शास्त्रो मे आप जहाँ कही भी देखेंगे, मनुष्यो को सम्बोधन करते हुए 'देवाणप्पिय' शब्द का प्रयोग पायेंगे । उक्त सम्बोधन का यह भावार्थ है कि 'देव-ससार' भी मनुष्य के आगे तुच्छ है । वह भी मनुष्य के प्रति प्रेम, श्रद्धा एव आदर का भाव रखता है । मनुष्य असीम तथा अनन्त शक्तियो का भडार है । वह दूसरे शब्दो मे स्वयसिद्ध ईश्वर है, परन्तु ससार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, अत वादलो से ढँका हुआ सूर्य है, जो सम्यक् रूप से अपना प्रकाश नही प्रसारित कर सकता ।

परन्तु ज्यो ही वह होश मे आता है, अपने वास्तविक स्वरूप को पहचानता है, दुर्गुणो को त्यागकर सद्‌गुणो को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एव स्वच्छ होता चला जाता है, एक दिन जगमगाती हुई अनत शक्तियो का प्रकाश प्राप्त कर मानवता के पूर्ण विकास की कोटि पर पहुँच जाता है और सर्वज्ञ, सर्वदर्शी, ईश्वर, परमात्मा, शुद्ध, वुद्ध वन जाता है । तदनन्तर जीवन्मुक्त दशा मे ससार को सत्य का प्रकाश देता है और अन्त मे निर्वाण पाकर मोक्ष-दशा मे सदा काल के लिए अजर-अमर अविनाशी—जैन-परिभापा मे सिद्ध हो जाता है ।

अस्तु, तीर्थङ्कर भी मनुष्य ही होते हैं । वे कोई अजीव दैवी सृष्टि के प्राणी, ईश्वर, अवतार या ईश्वर के अश जैसे कुछ नही होते । एकदिन वे भी हमारी-तुम्हारी तरह ही वासनाओ के गुलाम थे, पाप-मल से लिप्त थे, ससार के दु ख, शोक, आधि-व्याधि से सन्त्रस्त थे । सत्य क्या है, असत्य क्या है—यह उन्हे कुछ भी पता नही था । इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र ध्येय था, उसी की कल्पना के पीछे अनादिकाल से नाना प्रकार के क्लेश उठाते, जन्म-मरण के झझावात मे चक्कर खाते घूम रहे थे । परन्तु अपूर्व पुण्योदय से सत्पुरुषो का सग मिला, चैतन्य और जड का भेद समझा, भौतिक एव आध्यात्मिक सुख का महान् अन्तर ध्यान मे आया, फलत ससार की वासनाओ से मुँह मोड कर सत्य-पथ के पथिक वन गए । आत्मसयम की साधना मे पहले से अनेक जन्मो से ही आगे वढते गए और अन्त मे एक दिन वह आया कि आत्म-स्वरूप की पूर्ण उपलब्धि उन्हे हो गई । ज्ञान की ज्योति जगमगाई और वे तीर्थङ्कर के रूप मे प्रकट हो गए । उस जन्म मे भी यह नही कि किसी राजा-महराजा के यहाँ जन्म लिया और वयस्क होने पर भोग-विलास करते हुए ही तीर्थङ्कर हो गए । उन्हे भी राज्य-वैभव छोडना होता है, पूर्ण अहिंसा, पूर्ण सत्य, पूर्ण अस्तेय, पूर्ण ब्रह्मचर्य और पूर्ण अपरिग्रह की साधना मे निरन्तर जुटा रहना होता है, पूर्ण विरक्त मुनि वनकर एकान्त-निर्जन स्थानो मे आत्ममनन करना होता है । अनेक प्रकार के आधिभौतिक, आधिदैविक एव आध्यात्मिक दुःखो को पूर्ण शान्ति के साथ सहन कर प्राणापहरी शत्रु पर भी अन्तर्हृदय से दयामृत का शीतल झरना वहाना होता है, तव कही पाप-मल से मुक्ति होने पर केवल ज्ञान और केवल-दर्शन की प्राप्ति के द्वारा तीर्थङ्कर पद प्राप्त होता है ।

तीर्थङ्कर का पुनरागमन नहीं

वहुत से स्थानो मे जैनेतर वन्धुओ द्वारा यह शका सामने आती है कि "जैनो मे २४ ईश्वर या देव है, जो प्रत्येक काल-चक्र मे वारी-वारी से जन्म लेते है और धर्मोपदेश देकर पुनः अन्तर्ध्यान हो जाते हैं।" इस शका का समाधान कुछ तो पहले ही कर दिया गया है। फिर भी स्पष्ट शब्दो मे यह वात वतला देना चाहता हूँ कि—जैन-धर्म मे ऐसा अवतार-वाद नही माना गया है। प्रथम तो अवतार शब्द ही जैन-परिभाषा का नही है। यह एक वैष्णव परम्परा का शब्द है, जो उसकी मान्यता के अनुसार विष्णु के वार-वार जन्म लेने के रूप मे राम, कृष्ण आदि सत्पुरुषो के लिए आया है। आगे चलकर यह मात्र महापुरुष का द्योतक रह गया और इसी कारण आजकल के जन-वन्धु भी किसी के पूछने पर झटपट अपने यहाँ २४ अवतार वता देते हैं, और तीर्थङ्करो को अवतार कह देते हैं। परन्तु इसके पीछे किसी एक व्यक्ति के द्वारा वार-वार जन्म लेने की भ्रान्ति भी चली आई है, जिसको लेकर अवोध जनता मे यह विश्वास फल गया है कि २८ तीर्थङ्करो की मूल सख्या एक शक्तिविशेप के रूप मे निश्चित है और वही महाशक्ति प्रत्येक काल-चक्र मे वार-वार जन्म लेती है, संसार का उद्धार करती हैं और फिर अपने स्थान मे जाकर विराजमान हो जाती है।

जैन-धर्म मे मोक्ष प्राप्त करने के वाद ससार में पुनरागमन नही माना जाता। विश्व का प्रत्येक नियम कार्य-कारण के रूप मे सम्बद्ध है। विना कारण के कभी कार्य नही हो सकता। वीज होगा, तभी अकुर हो सकता है; धागा होगा तभी वस्त्र वन सकता है। आवागमन का, जन्म-मरण पाने का कारण कर्म है, और वह मोक्ष अवस्था मे नही रहता। अत कोई भी विचारशील सज्जन समझ सकता है कि—जो आत्मा कर्म-मल से मुक्त होकर मोक्ष पा चुकी, वह फिर संसार मे कैसे आ सकती है ? वीज तभी उत्पन्न हो सकता है, जव तक कि वह भुना नही है, निर्जीव नही हुआ है। जव वीज एक वार भुन गया, तो फिर कभी भी उससे अकुर उत्पन्न नही हो सकता। जन्म-मरण के अकुर का वीज कर्म है। जव उसे तपश्चरण आदि धर्म-क्रियाओ से जला दिया, तो फिर जन्म-मरण का अकुर कैसे फूटेगा ? आचार्य उमास्वाति ने अपने तत्त्वार्थ भाष्य मे, इस सम्वन्ध मे क्या ही अच्छा कहा है—

> "दग्धे वीजे यथाऽत्यन्त
> प्रादुर्भवति नांकुर. ।
> कर्म-वीजे तथा दग्धे
> न रोहति भवांकुरः ॥"

वहुत दूर चला आया हूँ, परन्तु विपय को स्पष्ट करने के लिए इतना विस्तार के साथ लिखना आवश्यक भी था। अव आप अच्छी तरह समझ गए होगे कि जैन तीर्थङ्कर मुक्त हो जाते हैं, फलत वे ससार मे दुवारा नही आते। अस्तु, प्रत्येक कालचक्र मे जो २४ तीर्थङ्कर होते हैं, वे सव पृथक्-पृथक् आत्मा होते हैं; एक नहीं।

तीर्थङ्करो एवं अन्य मुक्तआत्माओ में अन्तर :

अव एक और गम्भीर प्रश्न है, जो प्राय. हमारे सामने आया करता है। कुछ लोग कहते हैं कि—जैन अपने २४ तीर्थङ्करो का ही मुक्त होना मानते हैं, और कोई इनके

यहाँ मुक्त नही होते ।' यह बिल्कुल ही भ्रान्त धारणा है । इसमे सत्य का कुछ भी अश नही है ।

तीर्थङ्करो के अतिरिक्त अन्य आत्माएँ भी मुक्त होती हैं । जैन-धर्म किसी एक व्यक्ति, जाति या समाज के अधिकार मे ही मुक्ति का ठेका नही रखता । उसकी उदार दृष्टि में तो हर कोई मनुष्य, चाहे वह किसी भी देश, जाति, समाज या धर्म का क्यो न हो, जो अपने आप को बुराइयो से बचाता है, आत्मा को अहिंसा, क्षमा, सत्य, शील आदि सद्‌गुणो से पवित्र बनाता है, वह अनन्त ज्ञान का प्रकाश प्राप्त करके मुक्त हो सकता है ।

तीर्थङ्करो की तथा और अन्य मुक्त होने वाले महान् आत्माओ की आतरिक शक्तियो मे कोई भेद नही है । केवल-ज्ञान, केवल-दर्शन आदि आत्मिक शक्तियाँ सभी मुक्त होने वालो मे समान होती हैं । जो कुछ भेद है, वह धर्म-प्रचार की मौलिक दृष्टि का और अन्य योग-सम्बन्धी अद्‌भुत शक्तियो का है । तीर्थङ्कर महान् धर्म-प्रचारक होते हैं, वे अपने अद्वितीय तेजोबल से अज्ञान एव अन्धविश्वासो का अन्धकार छिन्न-भिन्न कर देते हैं, और एक प्रकार से जीर्ण-शीर्ण, गले-सडे मानव-संसार की काया-पलट कर डालते हैं । उनकी योग-सम्बन्धी शक्तियाँ अर्थात् सिद्धियाँ भी बडी ही अद्‌भुत होती हैं । उनका शरीर पूर्ण स्वस्थ एव निर्मल रहता है, मुख के श्वास-उच्छ्‌वास सुगन्धित होते हैं । वैरानुबद्धविरोधी प्राणी भी उपदेश श्रवण कर शान्त हो जाते हैं । उनकी उपस्थिति मे दुर्भिक्ष एव अतिवृष्टि आदि उपद्रव नही होते, महामारी भी नही होती । उनके प्रभाव से रोग-ग्रस्त प्राणियो के रोग भी दूर हो जाते हैं । उनकी भाषा मे वह चमत्कार होता है कि—क्या आर्य और क्या अनार्य मनुष्य, क्या पशु-पक्षी, सभी उनकी दिव्य वाणी का भावार्थ समझ लेते हैं । इस प्रकार अनेक लोकोपकारी सिद्धियो के स्वामी तीर्थङ्कर होते हैं, जबकि दूसरे मुक्त होने वाली आत्मा ऐसी नही होती । अर्थात् न तो वे तीर्थङ्कर जैसे महान् धर्म-प्रचारक ही होती हैं, और न इतनी अलौकिक योग-सिद्धियों के स्वामी ही । साधारण मुक्त जीव अपना अन्तिम विकास-लक्ष्य अवश्य प्राप्त कर लेते हैं, परन्तु जनता पर अपना चिरस्थायी एव अक्षुण्ण आध्यात्मिक प्रभुत्व नही जमा पाते । यही एक विशेषता है, जो तीर्थङ्कर और मुक्त आत्माओ मे भेद करती है ।

प्रस्तुत विषय के साथ यह स्पष्ट कर देना आवश्यक है कि उपरिवर्णित यह भेद मात्र जीवन्मुक्त-दशा मे अर्थात् देहधारी अवस्था मे ही है । मोक्ष प्राप्ति के बाद कोई भी भेदभाव नही रहता । वहाँ तीर्थङ्कर और अन्य मुक्त आत्मा, सभी एक ही स्वरूप मे रहते हैं । क्योकि जबतक जीवात्मा जीवन्मुक्त दशा मे रहती है तबतक तो प्रारब्ध-कर्म का भोग बाकी ही रहता है, अत उसके कारण जीवन मे भेद रहता है । परन्तु देह-मुक्त दशा होने पर मोक्ष मे तो कोई भी कर्म अवशिष्ट नही रहता, फलत कर्म-जन्य भेद-भाव भी नही रहता ।

अध्यात्म के आख्याता चौवीस तीर्थङ्कर

वर्तमान काल-प्रवाह मे चौवीस तीर्थङ्कर हुए हैं । प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे चौवीसो ही तीर्थङ्करो का विस्तृत जीवन-चरित्र मिलता है । परन्तु यहाँ विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही चौवीस तीर्थङ्करो का परिचय प्रस्तुत है ।

१ ऋषभदेव :

भगवान् ऋषभदेव सर्वप्रथम तीर्थङ्कर थे । उनका जन्म युगलियो के युग मे हुआ था,

जब मनुष्य वृक्षो के नीचे रहते थे और वन-फल तथा कन्दमूल खाकर जीवन-यापन करते थे। उनके पिता का नाम नाभिराजा और माता का नाम मरुदेवा था। उन्होने युवावस्था मे आर्य-सभ्यता की नीव डाली। पुरुषो को बहत्तर और स्त्रियो को चौंसठ कलाएँ सिखाई। वे विवाहित हुए। बाद मे राज्य त्यागकर दीक्षा ग्रहण की और कैवल्य प्राप्त किया। भगवान् ऋषभदेव का जन्म, चैत्रकृष्णा अष्टमी को और निर्वाण—मोक्ष माघ कृष्णा त्रयोदशी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि अष्टापद (कैलाश) पर्वत है। ऋग्वेद, विष्णुपुराण, अग्निपुराण, भागवत आदि वैदिक साहित्य में भी उनका गुण-कीर्तन किया गया है।

२ अजितनाथ :

भगवान् अजितनाथ दूसरे तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी मे इक्ष्वाकु-वशीय क्षत्रिय सम्राट् जितशत्रु राजा के यहाँ हुआ। माता का नाम विजयादेवी था। भारतवर्ष के दूसरे चक्रवर्ती सगर इनके चाचा सुमित्रविजय के पुत्र थे। भगवान् अजितनाथ का जन्म माघशुक्ला अष्टमी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पंचमी को हुआ। उनकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है, जो आजकल बिहार मे पारसनाथ पहाड के नाम से प्रसिद्ध है।

३. संभवनाथ :

भगवान् सभवनाथ तीसरे तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म श्रावस्ती नगरी मे हुआ था। पिता का नाम इक्ष्वाकुवशीय महाराजा जितारि और माता का नाम सेनादेवी था। उन्होने पूर्व जन्म मे विपुल वाहन राजा के रूप मे अकालग्रस्त प्रजा का पालन किया था और अपना सब कोष दीनो के हितार्थ लुटा दिया था। भगवान् सभवनाथ का जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला चतुर्दशी को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पचमी को हुआ। इनकी भी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

४ अभिनदन :

भगवान् अभिनदननाथ चौथे तीर्थङ्कर थे। इनका जन्म अयोध्या नगरी के इक्ष्वाकुवशीय राजा संवर के यहाँ हुआ था। माता का नाम सिद्धार्था था। भगवान् अभिनदन-नाथ का जन्म माघशुक्ला द्वितीया को और निर्वाण वैशाखशुक्ला अष्टमी को हुआ था। इनकी निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

५. सुमतिनाथ :

भगवान् सुमतिनाथ पाँचवें तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म अयोध्या नगरी (कौशल-पुरी) मे हुआ था। उनके पिता महाराजा मेघरथ और माता सुमगलादेवी थी। भगवान् सुमतिनाथ का जन्म वैशाखशुक्ला अष्टमी को तथा निर्वाण चैत्रशुक्ला नवमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। वे जब गर्भ मे आए, तब माता की बुद्धि बहुत श्रेष्ठ और तीव्र हो गई थी, अतः उनका नाम सुमतिनाथ रखा गया।

६. पद्मप्रभ :

भगवान् पद्मप्रभ छठे तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म कौशाम्बी नगरी के राजा श्रीधर के यहाँ हुआ था। माता का नाम सुसीमा था। जन्म कार्तिककृष्णा द्वादशी को और निर्वाण मार्गशीर्ष कृष्णा एकादशी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

७ सुपार्श्वनाथ :

भगवान् सुपार्श्वनाथ सातवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि काशी (वाराणसी),

पिता राजा प्रतिष्ठेन और माता पृथ्वी थी। आपका जन्म ज्येष्ठशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर ही है।

८ चन्द्रप्रभ

भगवान् चन्द्रप्रभ आठवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि चन्द्रपुरी नगरी थी। पिता राजा महासेन और माता लक्ष्मणा थी। भगवान् चन्द्रप्रभ का जन्म पौषशुक्ला द्वादशी को और निर्वाण भाद्रपद कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

९ सुविधिनाथ

भगवान् सुविधिनाथ (पुष्पदन्त) नौवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि काकन्दी नगरी थी। पिता राजा सुग्रीव एव माता रामादेवी थी। आपका जन्म मार्गशीर्ष कृष्णा पचमी को और निर्वाण भाद्रपद शुक्ला नवमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१० शीतलनाथ :

भगवान् शीतलनाथ दशवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि भद्दिलपुर नगरी थी। पिता राजा दृढरथ और माता नन्दारानी थी। आपका जन्म माघकृष्णा द्वादशी को और निर्वाण वेशाख-कृष्णा द्वितीया को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

११ श्रेयासनाथ :

भगवान् श्रेयासनाथ ग्यारहवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि सिहपुर नगरी थी। पिता राजा विष्णुसेन और माता विष्णदेवी थी। आपका जन्म फाल्गुनकृष्णा द्वादशी को और निर्वाण श्रावणकृष्णा तृतीया को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। ऐसा कहा जाता है कि भगवान् महावीर ने पूर्व-जन्म मे त्रिपृष्ठ वासुदेव के रूप मे भगवान् श्रेयासनाथजी के चरणो मे उपदेश प्राप्त किया था।

१२ वासुपूज्य :

भगवान् वासुपूज्य वारहवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि चम्पा नगरी थी। पिता राजा वासुपूज्य और माता जयादेवी थी। आपका जन्म फाल्गुनकृष्णा चतुर्दशी को और निर्वाण आषाढशुक्ला चतुर्दशी को हुआ था। निर्वाण-भूमि चम्पा नगरी है। वे वालब्रह्मचारी रहे; आपने विवाह जीवनपर्यंत नही किया।

१३. विमलनाथ

भगवान् विमलनाथ तेरहवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि कम्पिलपुर नगरी थी। पिता राजा कर्तृवर्म और माता श्यामादेवी थी। आपका जन्म माघशुक्ला तृतीया और निर्वाण आषाढ-कृष्णा सप्तमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१४ अनन्तनाथ :

भगवान् अनन्तनाथ चौदहवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्म-भूमि अयोध्या नगरी थी। पिता राजा सिहसेन और माता सुयशा थी। आपका जन्म वैशाखकृष्णा तृतीया को और निर्वाण चैत्रशुक्ला पचमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१५. धर्मनाथ:

भगवान् धर्मनाथ पन्द्रहवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि रत्नपुर नामक नगरी थी।

पिता भानुराजा और माता सुव्रता थी। आपका जन्म माघ शुक्ला तृतीया को और निर्वाण ज्येष्ठशुक्ला पचमी को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

१६ शान्तिनाथ :

भगवान् शान्तिनाथ सोलहवें तीर्थङ्कर थे। आपका जन्म हस्तिनागपुर के राजा विश्वसेन की अचिरा रानी से हुआ। आपका जन्म ज्येष्ठकृष्णा त्रयोदशी को और निर्वाण भी इसी तिथि को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् शान्तिनाथ भारत के पंचम चक्रवर्ती राजा भी थे। ऐसा कहा जाता है कि इनके जन्म लेने पर देश मे फैली हुई मृगी रोग की महामारी शान्त हो गई थी, इसलिए माता पिता ने इनका नाम शान्तिनाथ रखा था। ये बहुत ही दयालु प्रकृति के थे। ऐसी कथा मिलती है कि पहले जन्म मे जबकि वे मेघरथ राजा थे, कबूतर की रक्षा के लिए उसके बदले मे बाज को अपने शरीर का मास काटकर दे दिया था।

१७ कुन्थुनाथ :

भगवान् कुन्थुनाथ सतरहवें तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म-स्थान हस्तिनागपुर है। पिता सूरराजा और माता श्रीदेवी थी। आपका जन्म वैशाख कृष्णा चतुर्दशी और निर्वाण वैशाख-कृष्णा प्रतिपदा (एकम) को हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् कुन्थुनाथ भारत के छठे चक्रवर्ती राजा भी थे।

१८. अरनाथ :

भगवान् अरनाथ अठारहवें तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म-स्थान हस्तिनागपुर हैं, पिता राजा सुदर्शन और माता श्रीदेवी थी। आपका जन्म मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी और निर्वाण भी मार्गशीर्ष शुक्ला दशमी को ही हुआ था। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। भगवान् अरनाथ भारत के सातवें चक्रवर्ती राजा भी थे।

१९ मल्लिनाथ :

भगवान् मल्लिनाथ उन्नीसवें तीर्थङ्कर थे। उनका जन्म-स्थान मिथिला नगरी है। पिता कुम्भराजा और माता प्रभावतीदेवी थी। आपका जन्म मार्गशीर्षशुक्ला एकादशी को और निर्वाण फाल्गुनशुक्ला द्वादशी को सम्मेतशिखर पर हुआ। ये वर्तमानकाल के चौबीस तीर्थङ्करो मे स्त्रीतीर्थङ्कर थे। इन्होने विवाह नही किया, आजन्म ब्रह्मचारी रहे। स्त्री शरीर होते हुए भी इन्होने बहुत व्यापक भ्रमण कर धर्म-प्रचार किया। चालीस हजार मुनि और पचपन हजार साध्वियाँ इनके शिष्य हुए। तथा इनके एक लाख उन्यासी हजार श्रावक और तीन लाख सत्तर हजार श्राविकाएँ थी।

२० मुनिसुव्रतनाथ :

भगवान् मुनिसुव्रतनाथ बीसवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि राजगृह नगरी थी। पिता हरिवश-कुलोत्पन्न राजा सुमित्र और माता पद्मावतीदेवी थी। आपका जन्म ज्येष्ठकृष्णा अष्टमी और निर्वाण ज्येष्ठकृष्णा नवमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है।

२१. नमिनाथ :

भगवान् नमिनाथ इक्कीसवें तीर्थङ्कर थे। इनकी जन्मभूमि मिथिला नगरी थी। कुछ आचार्य मथुरा नगरी बताते हैं। पिता राजा विजयसेन और माता वप्रादेवी थी। आपका जन्म श्रावणकृष्णा अष्टमी और निर्वाण वैशाखकृष्णा दशमी को हुआ। निर्वाणभूमि सम्मेत-शिखर है।

२२ नेमिनाथ :

भगवान् नेमिनाथ बाइसवें तीर्थङ्कर थे। इनका दूसरा नाम अरिष्टनेमि भी था। आपकी जन्मभूमि आगरा के पास शौरीपुर नगर है। पिता यदुवंश के राजा समुद्रविजय और माता शिवादेवी थी। आपका जन्म श्रावणशुक्ला पचमी और निर्वाण आषाढशुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सौराष्ट्र मे गिरनार पर्वत है, जिसे पुराने युग मे रेवतगिरि भी कहते थे। भगवान् अरिष्टनेमि कर्मयोगी श्रीकृष्णचन्द्र के ताऊ के पुत्र भाई थे। श्रीकृष्ण ने भगवान् नेमिनाथ से धर्मोपदेश सुना था। इनका विवाहसम्बन्ध महाराजा उग्रसेन की सुपुत्री राजीमती से निश्चित हुआ था, किन्तु विवाह के अवसर पर बरातियो के भोजन के लिए पशु वध होता देख कर इनका हृदय द्रवित हो उठा, फलत. इन्होने विवाह नही किया और वापस लौट कर मुनि बन गए।

२३. पार्श्वनाथ :

भगवान् पार्श्वनाथ तेईसवें तीर्थङ्कर थे। आपकी जन्मभूमि वाराणसी (बनारस) है। पिता राजा अश्वसेन और माता वामादेवी थी। आपका जन्म पौषकृष्णा दशमी और निर्वाण श्रावण शुक्ला अष्टमी को हुआ। निर्वाण-भूमि सम्मेतशिखर है। आपने कमठ तपस्वी को बोध दिया था और उसकी धूनी में से जलते हुए नाग को बचाया था।

२४. महावीर .

भगवान् महावीर चौवीसवें तीर्थङ्कर थे। उनकी जन्मभूमि वैशाली (क्षत्रिय कुण्ड —सम्प्रति वासुकुण्ड) है। आपके पिता राजा सिद्धार्थ और माता त्रिशलादेवी थी। आपका जन्म चैत्रशुक्ला त्रयोदशी और निर्वाण कार्तिक कृष्णा पदरस (दिवाली) को हुआ। निर्वाण-भूमि पावापुरी है। भगवान् महावीर बडे ही उत्कृष्ट त्यागी पुरुष थे। भारतवर्ष मे सर्वत्र फैले हुए हिंसामय यज्ञो का निषेध करके दया और प्रेम का प्रचार किया। बौद्ध-साहित्य मे भी उनके जीवन से सम्बन्धित अनेक उल्लेख मिलते हैं। महात्मा बुद्ध महाश्रमण महावीर के समकालीन थे। वर्तमान मे श्रमणभगवान् महावीर का ही शासन चल रहा है।

स्वयसम्बुद्ध :

तीर्थङ्कर भगवान् स्वयसम्बुद्ध कहलाते हैं। स्वयसम्बुद्ध का अर्थ है—अपने-आप प्रबुद्ध होने वाले, बोध-पाने वाले, जगने वाले। हजारो लोग ऐसे हैं, जो जगाने पर भी नही जगते। उनकी अज्ञान निद्रा अत्यन्त गहरी होती है। कुछ लोग ऐसे होते हैं, जो स्वय तो नही जग सकते; परन्तु दूसरो के द्वारा जगाए जाने पर अवश्य जग उठते हैं। यह श्रेणी साधारण साधको की है। तीसरी श्रेणी उन पुरुषो की है, जो स्वयमेव समय पर जाग जाते हैं, मोहमाया की निद्रा त्याग देते हैं और मोह-निद्रा मे प्रसुप्त विश्व को भी अपनी एक आवाज से जगा देते हैं। हमारे तीर्थङ्कर इसी श्रेणी के महापुरुष हैं। तीर्थङ्कर देव किसी के बताये हुए पूर्व निर्धारित समय पथ पर नहीं चलते। वे अपने और विश्व के उत्थान के लिए स्वय अपने-आप अपने पथ का निर्माण करते हैं। तीर्थङ्कर को पथ-प्रदर्शन करने के लिए न कोई गुरु होता है, और न कोई शास्त्र। वह स्वय ही अपना पथ-प्रदर्शक है, स्वय ही उस पथ का यात्री है। वह अपना पथ स्वय खोज निकालता है। स्वावलम्बन का यह महान् आदर्श, तीर्थङ्करो के जीवन मे कूट-कूट कर भरा होता है। तीर्थङ्कर देव सडी-गली

और पुरानी की अन्ध व्यर्थ परम्पराओ को छिन्न-भिन्न कर जन-हित के लिए नई परम्पराएँ, नई योजनाएँ स्थापित करते हैं। उनकी क्रान्ति का पथ स्वय अपना होता है, वह कभी भी परमुखापेक्षी नही होते।

पुरुषोत्तम :

तीर्थङ्कर भगवान् पुरुषोत्तम होते हैं। पुरुषोत्तम, अर्थात् पुरुषो मे उत्तम—श्रेष्ठ। भगवान् के क्या वाह्य और क्या आभ्यन्तर—दोनो ही प्रकार के गुण अलौकिक होते हैं, असाधारण होते है। भगवान् का रूप त्रिभुवन-मोहक होता है। और उनका तेज सूर्य को भी हत-प्रभ वना देने वाला। भगवान् का मुखचन्द्र सुर-नर-नाग नयन मनहर होता है। और, उनके दिव्य शरीर मे एक-मे-एक उत्तम एक हजार आठ लक्षण होते हैं, जो हर किसी दर्शक को उनकी महत्ता की सूचना देते हैं। वज्रर्षभनाराच सहनन और समचतुरस्र सस्थान का सौन्दर्य तो अत्यन्त ही अनूठा होता है। भगवान् के परमौदारिक शरीर के समक्ष देवताओं का दीप्तिमान वैक्रिय शरीर भी वहुत तुच्छ एव नगण्य मालूम देता है। यह तो है वाह्य ऐश्वर्य की वात। अव जरा अन्तरग ऐश्वर्य की वात भी मालूम कर लीजिए। तीर्थङ्कर देव अनन्त चतुष्टय के वर्ता होते हैं। उनके अनन्त ज्ञान, अनन्त दर्शन आदि गुणो की समता भला दूसरे साधारण देवपद-वाच्य कहाँ कर सकते हैं? तीर्थङ्कर देव के अपने युग मे, कोई भी ससारी पुरुष उनके समकक्ष नही होता।

पुरुषसिंह :

तीर्थङ्कर भगवान् पुरुषो मे सिंह होते हैं। सिंह एक अज्ञानी पशु है, हिंसक जीव है। अतः कहाँ वह निर्दय एव क्रूर पशु और कहाँ दया एव क्षमा के अपूर्व भंडार भगवान्? भगवान् को सिंह की उपमा देना, कुछ उचित नही मालूम देता। किंतु, यह मात्र एकदेशी उपमा है। यहाँ सिंह से अभिप्राय, सिंह की वीरता और पराक्रम मात्र से है। जिस प्रकार वन मे पशुओ का राजा सिंह अपने वल और पराक्रम के कारण निर्भय रहता है, कोई भी पशु वीरता मे उसकी वरावरी नही कर सकता, उसी प्रकार तीर्थङ्कर देव भी ससार मे निर्भय रहते हैं, कोई भी ससारी व्यक्ति उनके आत्म-वल और तपस्त्याग सम्वन्धी वीरता की वरावरी नही कर सकता।

सिंह की उपमा देने का एक अभिप्राय और भी हो सकता है। वह यह कि ससार मे दो प्रकृति के मनुष्य होते हैं—एक कुत्ते की प्रकृति के और दूसरे सिंह की प्रकृति के कुत्ते को जव कोई लाठी मारता है, तो वह लाठी को मुँह मे पकडता है और समझता है कि लाठी मुझे मार रही है। वह लाठी मारने वाले को नही काटने दौडता, लाठी को काटने दौडता है। इसी प्रकार जव कोई शत्रु किसी को सताता है तो वह सताया जाने वाला व्यक्ति सोचता है कि यह मेरा शत्रु है, यह मुझे तग करता है, मैं इसे क्यो न नष्ट कर दूँ? वह उस शत्रु को शत्रु वनाने वाले अन्तर्मन के विकारो को नही देखता, उन्हे नष्ट करने की वात नही सोचता। इसके विपरीत, सिंह की प्रकृति लाठी पकडने की नही होती, प्रत्युत लाठी वाले को पकडने की होती है। ससार के वीतराग महापुरुष भी सिंह के समान अपने शत्रु को शत्रु नही समझते, प्रत्युत उनके मन में स्थित विकारो को ही शत्रु समझते हैं। वस्तुत शत्रु को पैदा करने वाले मन के विकार ही तो है। अतः उनका आक्रमण व्यक्ति पर न होकर व्यक्ति के विकारो पर होता है। अपने दया, क्षमा आदि सद्गुणो के प्रभाव से दूसरो के विकारो को

शान्त करते है। फलत शत्रु को भी मित्र वना लेते हैं। तीर्थङ्कर भगवान् उक्त विवेचन के प्रकाश में पुरुष-सिंह हैं, पुरुषो मे सिंह की वृत्ति रखते हैं।

पुरुषवर पुण्डरीक .

तीर्थङ्कर भगवान् पुरुषो मे श्रेष्ठ पुण्डरीक कमल के समान होते हैं। भगवान् पुण्डरीक को कमल की उपमा वडी ही सुन्दर दी गई है। पुण्डरीक श्वेत कमल का नाम है। दूसरे कमलो की अपेक्षा श्वेत कमल सौन्दर्य एवं सुगन्ध मे अतीव उत्कृष्ट होता है। सम्पूर्ण सरोवर एक श्वेत कमल के द्वारा जितना सुगन्धित हो सकता है, उतना अन्य हजारो कमलो से नही हो सकता। दूर-दूर से भ्रमर-वृन्द उसकी सुगन्ध से आकर्षित होकर चले आते हैं, फलत· कमल के आस-पास भँवरो का एक विराट् मेना-सा लगा रहता है। और इधर कमल विना किसी स्वार्थभाव के दिन-रात अपनी सुगन्ध विश्व को अर्पण करता रहता है। न उसे किसी प्रकार के वदले की भूख है, और न ही कोई अन्य वासना। चुप-चाप मूक सेवा करना ही कमल के उच्च जीवन का आदर्श है।

तीर्थङ्करदेव भी मानव-सरोवर मे सर्वश्रेष्ठ कमल माने गये हैं। उनके आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध अनन्त होती है। अपने समय मे वे अहिंसा और सत्य आदि सद्गुणो की सुगन्ध सर्वत्र फैला देते हैं। पुण्डरीक की सुगन्घ का अस्तित्व तो वर्तमान कालावच्छेदेन ही होता है, किन्तु तीर्थङ्करदेवो के जीवन की सुगन्ध तो हजारो-लाखो वर्षों वाद आज भी भक्त-जनता के हृदयो को महका रही है। आज ही नही, भविष्य मे भी हजारो वर्षों तक इसी प्रकार महकाती रहेगी। महापुरुषो के जीवन की सुगन्ध को न दिशा ही अविच्छिन्न कर सकती है, और न काल ही। जिस प्रकार पुण्डरीक श्वेत होता है, उसी प्रकार भगवान का जीवन भी वीतराग-भाव के कारण पूर्णतया निर्मल श्वेत होता है। उसमे कषाय-भाव का जरा भी रग नही होता। पुण्डरीक के समान भगवान् भी निस्वार्थभाव से जनता का कल्याण करते हैं, उन्हे किसी प्रकार की भी सासारिक वासना नही होती। कमल अज्ञान अविस्था मे ऐसा करता है, जवकि भगवान् ज्ञान के विमल प्रकाश मे निष्काम भाव से जन-कल्याण का कार्य करते हैं। यह कमल की अपेक्षा भगवान् की उच्च विशेषता है। कमल के पास भ्रमर ही आते हैं, जवकि तीर्थङ्करदेव के आध्यात्मिक जीवन की सुगन्ध से प्रभावित होकर विश्व के भव्य प्राणी उनके चरणो मे उपस्थित हो जाते हैं। कमल की उपमा का एक भाव और भी है। वह यह है कि भगवान् ससार मे रहते हुए भी ससार की वासनाओ से पूर्णतया निर्लिप्त रहते हैं, जिस प्रकार पानी से लवालव भरे हुए सरोवर मे रहकर भी कमल पानी से लिप्त नही होता। कमलपत्र पर पानी की एक भी बूंद अपनी रेखा नही डाल सकती। यह कमल की उपमा आगम-प्रसिद्ध उपमा है।

गन्धहस्ती ·

भगवान् पुरुषो मे श्रेष्ठ गन्ध-हस्ती के समान हैं। सिंह की उपमा वीरता का सूचक है, गन्ध का नही। और पुण्डरीक की उपमा गन्ध का सूचक है, वीरता का नही। परन्तु गन्धहस्ती की उपमा सुगन्ध और वीरता दोनो की सूचना देती है।

गन्धहस्ती एक महान् विलक्षण हस्ती होता है। उसके गन्धस्थल से सदैव सुगन्धित मद जल वहता रहता है और उस पर भ्रमर-समूह गूंजते रहते हैं। गन्धहस्ती की

गन्ध इतनी तीव्र होती है कि युद्धभूमि मे जाते ही उसकी सुगन्धमात्र से दूसरे हजारो हाथी त्रस्त होकर भागने लगते हैं, उसके समक्ष कुछ देर के लिए भी नही ठहर पाते। यह गन्ध-हस्ती भारतीय साहित्य मे वडा मगलकारी माना गया है। यह जहाँ रहता है, उस प्रदेश मे अतिवृष्टि और अनावृष्टि आदि के उपद्रव नही होते। सदा सुभिक्ष रहता है, कभी भी दुर्भिक्ष नही पडता।

तीर्थङ्कर भगवान् भी मानव-जाति मे गन्धहस्ती के समान हैं। भगवान् का प्रताप और तेज इतना महान् है कि उनके समक्ष अत्याचार, वैर-विरोध, अज्ञान और पाखण्ड आदि कितने ही भयंकर क्यो न हो, ठहर ही नही सकते। चिरकाल से फैले हुए मिथ्या विश्वास, भगवान् की वाणी के समक्ष सहसा छिन्न-भिन्न हो जाते है, सव ओर सत्य का अखण्ड साम्राज्य स्थापित हो जाता है।

भगवान् गन्धहस्ती के समान विश्व के लिए मगलकारी हैं। जिस देश मे भगवान् का पदार्पण होता है, उस देश मे अतिवृष्टि, अनावृष्टि, महामारी आदि किसी भी प्रकार के उपद्रव नही होते। यदि पहले से उपद्रव हो भी रहे हो, तो भगवान् के पधारते ही सव-के-सव पूर्णतया शान्त हो जाते है। समवायाग-सूत्र में तीर्थङ्कर देव के चौतीस अतिशयो का वर्णन है। वहाँ लिखा है कि "जहाँ तीर्थङ्कर भगवान् विराजमान होते है, वहाँ आस-पास सौ-सौ कोस तक महामारी आदि के उपद्रव नही होते। यदि पहले से हो भी, तो शीघ्र ही शान्त हो जाते है।" यह भगवान् का कितना महान् विश्वहितकर रूप है। भगवान् की महिमा केवल अन्तरग के काम, क्रोध आदि उपद्रवो को शान्त करने मे ही नही है, अपितु वाह्य उपद्रवो की शान्ति मे भी है।

प्रश्न किया जा सकता है कि एक सम्प्रदाय की मान्यता के अनुसार तो जीवो की रक्षा करना, उन्हे दुःख से वचाना पाप है। दुःखो को भोगना, अपने पाप कर्मों का ऋण चुकाना है। अतः भगवान् का यह जीवो को दुःखो से वचाने का अतिशय क्यो? उत्तर मे निवेदन है कि भगवान् का जीवन मगलमय है। वे क्या आध्यात्मिक और क्या भौतिक, सभी प्रकार से जनता के दुःखो को दूर कर शान्ति का साम्राज्य स्थापित करते हैं। यदि दूसरो को अपने निमित्त से सुख पहुँचाना पाप होता, तो भगवान् को यह पाप-वर्द्धक अतिशय मिलता ही क्यो? यह अतिशय तो पुण्यानुवन्धी पुण्य के द्वारा प्राप्त होता है, फलतः जगत् का कल्याण करता है। इसमे पाप की कल्पना करना तो वज्र-मूर्खता है। कौन कहता है कि जीवो की रक्षा पाप है? यदि पाप है, तो भगवान् को यह पाप-जनक अतिशय कैसे मिला? यदि किसी को सुख पहुँचाना वस्तुतः पाप ही होता, तो भगवान् क्यो नही किसी पर्वत की गुहा मे वैठे रहे? क्यो दूर-सुदूर देशो मे भ्रमण कर जगत् का कल्याण करते रहे? अतएव यह भ्रान्त कल्पना है कि किसी को सुख-शान्ति देने से पाप होता है। भगवान् का यह मगलमय अतिशय ही इसके विरोध मे सवसे वडा और प्रवल प्रमाण है।

लोकप्रदीप :

तीर्थङ्कर भगवान् लोक मे प्रकाश करने वाले अनुपम दीपक हैं। जव ससार मे अज्ञान का अन्धकार घनीभूत हो जाता है, जनता को अपने हित-अहित का कुछ भी भान नहीं रहता है, सत्य-धर्म का मार्ग एक प्रकार से विलुप्त-सा हो जाता है, तव तीर्थङ्कर

भगवान् अपने केवल ज्ञान का प्रकाश विश्व मे फैलाते हैं और जनता के मिथ्यात्व-अन्धकार को नष्ट कर सन्मार्ग का पथ आलोकित करते हैं।

घर का दीपक घर के कोने मे प्रकाश करता है, उसका प्रकाश सीमित और धुधला होता है। परन्तु, भगवान् तो तीन लोक के दीपक हैं, तीन लोक मे प्रकाश करने का महान् दायित्व अपने पर रखते हैं। घर का दीपक प्रकाश करने के लिए तेल और वत्ती की अपेक्षा रखता है, अपने-आप प्रकाश नही करता, जलाने पर प्रकाश करता है, वह भी सीमित प्रदेश मे और सीमित काल तक। परन्तु तीर्थङ्कर भगवान् तो विना किसी अपेक्षा के अपने-आप तीन लोक और तीन काल को प्रकाशित करने वाले हैं। भगवान् कितने अनोखे दीपक हैं।

भगवान् को दीपक की उपमा क्यो दी गई है? सूर्य और चन्द्र आदि की अन्य सव उत्कृष्ट उपमाएँ छोड कर दीपक ही क्यो अपनाया गया? प्रश्न ठीक है, परन्तु जरा गम्भी-रता से सोचिए, नन्हे से दीपक की महत्ता, स्पष्टत. झलक उठेगी। बात यह है कि सूर्य और चन्द्र प्रकाश तो करते हैं, किन्तु किसी को अपने समान प्रकाशमान नही वना सकते। इधर लघु दीपक अपने ससर्ग मे आए, अपने से सयुक्त हुए हजारो दीपको को प्रदीप्त कर अपने समान ही प्रकाशमान दीपक वना देता है। वे भी उसी तरह जगमगाने लगते हैं और अन्धकार को छिन्न-भिन्न करने लगते हैं। अत स्पष्ट है कि दीपक प्रकाश देकर ही नही रह जाता, वह दूसरो को भी अपने समान ही वना लेता है। तीर्थङ्कर भगवान् भी इसी प्रकार केवल प्रकाश फैला कर ही विश्रान्ति नही लेते, प्रत्युत अपने निकट ससर्ग मे आने वाले अन्य साधको को भी साधना का पथ प्रदर्शित कर, अन्त मे अपने समान ही वना लेते हैं। तीर्थङ्करो का ध्याता, सदा ध्याता ही नही रहता, वह ध्यान के द्वारा अन्ततोगत्वा, ध्येय-रूप मे परि-णत हो जाता है। उक्त सिद्धान्त की साक्षी के लिए गौतम और चन्दना आदि के इतिहास प्रसिद्ध उदाहरण, हर कोई जिज्ञासु देख सकता है।

अभयदयः अभयदान के दाता :

ससार के सव दानो मे अभय-दान श्रेष्ठ है। हृदय की करुणा अभय-दान मे ही पूर्णतया तरगित होती है।

'दाणाण सेट्ठ अभयप्पयाण।'

—सूत्र कृताग, ६/२३

अस्तु, तीर्थङ्कर भगवान् तीन लोक मे अलौकिक एव अनुपम दयालु होते हैं। उनके हृदय मे करुणा का सागर कुलाँचें मारता रहता है। विरोधी-से-विरोधी के प्रति भी उनके हृदय से करुणा की सतत धारा ही वहा करती है। गोशालक कितना उद्दण्ड प्राणी था? परन्तु भगवान् ने तो उसे भी क्रुद्ध तपस्वी की तेजोलेश्या से जलते हुए वचाया। चण्डकौशिक पर कितनी अनन्त करुणा की है? तीर्थङ्करदेव उस युग मे जन्म लेते हैं, जव मानव-सभ्यता अपना पथ भूल जाती है, फलत सव ओर अन्याय एव अत्याचार का दम्भपूर्ण साम्राज्य छा जाता है। उस समय तीर्थङ्कर भगवान् क्या स्त्री क्या पुरुष, क्या राजा क्या रक, क्या ब्राह्मण क्या शूद्र, सभी को सन्मार्ग का उपदेश करते हैं। संसार के मिथ्यात्व-वन मे भटकते

हुए मानव-समूह को सन्मार्ग पर लाकर उसे निराकुल बनाना, अभय-प्रदान करना, एक-मात्र तीर्थङ्कर देवो का ही महान् कार्य है।

चक्षुर्दय : ज्ञाननेत्र के दाता :

तीर्थङ्कर भगवान् आंखो के देने वाले हैं। कितना ही हृष्ट-पुष्ट मनुष्य हो, यदि आंख नही तो कुछ भी नही। आंखो के अभाव मे जीवन भार हो जाता है। अधे को आंख मिल जाय, फिर देखिए, कितना आनदित होता है वह। तीर्थङ्कर भगवान् वस्तुतः अधो को आंखें देने वाले हैं। जब जनता के ज्ञान-नेत्रो के समक्ष अज्ञान का जाल छा जाता है, तब तीर्थङ्कर भगवान् ही जनता को ज्ञान-नेत्र अर्पण करते हैं, अज्ञान का जाल साफ करते हैं।

पुरानी कहानी है कि एक देवता का मन्दिर था, बडा ही चमत्कार पूर्ण! वह, आने वाले अन्धो को नेत्र-ज्योति दिया करता था। अन्धे लाठी टेकते आते और इधर आंखें पाते ही द्वार पर लाठी फेंक कर घर चले जाते! तीर्थङ्कर भगवान् ही वस्तुत ऐसे चमत्कारी देव हैं। इनके द्वार पर जो भी काम और क्रोध आदि विकारो से दूषित अज्ञानी अन्धा आता है; वह ज्ञान-नेत्र पाकर प्रसन्न होता हुआ लौटता है। चण्डकौशिक आदि ऐसे ही जन्म-जन्मान्तर के अन्धे थे, परन्तु भगवान् के पास आते ही अज्ञान का अन्धकार दूर हो गया, सत्य का प्रकाश जगमगा गया। ज्ञान-नेत्र की ज्योति पाते ही सब भ्रान्तियां क्षण-भर मे दूर हो गई।

धर्मचक्रवर्ती :

तीर्थंकर भगवान् धर्म के श्रेष्ठ चक्रवर्ती हैं, चार दिशारूप चार गतियो का अन्त करने वाले हैं। जब देश मे सब ओर अराजकता छाती है, तथा छोटे-छोटे राज्यो मे विभक्त होकर देश की एकता नष्ट हो जाती है, तब चक्रवर्ती का चक्र ही पुन. राज्य की सुव्यवस्था करता है, यह सम्पूर्ण बिखरी हुई देश की शक्ति को एक शासन के नीचे लाता है। सार्वभौम राज्य के बिना प्रजा मे शान्ति की व्यवस्था नही हो सकती। अत चक्रवर्ती इसी उद्देश्य की पूर्ति करता है। वह पूरब, पश्चिम और दक्षिण इन तीन दिशाओ में समुद्र-पर्यन्त तथा उत्तर मे हिमवान पर्वत पर्यन्त अपना अखण्ड साम्राज्य स्थापित करता है, अतः चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाता है।

तीर्थङ्कर भगवान् भी नरक, तिर्यंच आदि चारो गतियो का अन्तकर सम्पूर्ण विश्व मे अपना अहिंसा और सत्य का धर्मराज्य स्थापित करते हैं। दान, शील, तप और भावरूप चतुर्विध धर्म की साधना वे स्वय अन्तिम कोटि तक करते है, और जनता को भी इस धर्म का उपदेश देते है, अतः वे धर्म के चतुरन्त चक्रवर्ती कहलाते हैं। भगवान् का धर्मचक्र ही वस्तुत ससार मे भौतिक एव आध्यात्मिक—सर्वप्रकारेण अखण्ड शान्ति कायम कर सकता है। अपने-अपने मत-जन्य दुराग्रह के कारण फैली हुई धार्मिक अराजकता का अन्त कर अखण्ड धर्म-राज्य की स्थापना तीर्थङ्कर ही करते हैं। वस्तुतः यदि विचार किया जाए, तो भौतिक जगत् के प्रतिनिधि चक्रवर्ती से यह ससार कभी स्थायी शान्ति पा ही नहीं सकता। चक्रवर्ती तो भोग-वासना का दास एक पामर ससारी प्राणी है। उसके चक्र के मूल मे साम्राज्य-लिप्सा का विष छुपा होता है। जनता का परमार्थ नहीं, अपना स्वार्थ निहित होता

है। यही कारण है कि जहाँ चक्रवर्ती का शासन मानव-प्रजा के निरपराध रक्त से सीचा जाता है, वहाँ हृदय पर नही, शरीर पर विजय पाने का प्रयत्न होता है। परन्तु हमारे तीर्थङ्कर धर्म-चक्रवर्ती हैं। अतः वे पहले अपनी ही तप.साधना के वल से काम, क्रोधादि अन्तरग शत्रुओ को नष्ट करते हैं, पश्चात् जनता के लिए धर्म-तीर्थ की स्थापना कर अखण्ड आध्यात्मिक शान्ति का साम्राज्य कायम करते हैं। तीर्थङ्कर शरीर के नही, हृदय के सम्राट् बनते हैं, फलतः वे संसार मे पारस्परिक प्रेम एव सहानुभूति का, त्याग एव वैराग्य का विश्व-हित-कर शासन चलाते हैं। वास्तविक सुख-शान्ति, इन्ही धर्म चक्रवर्तियो के शासन की छत्रच्छाया मे प्राप्त हो सकती है, अन्यत्र नही। तीर्थङ्कर भगवान् का शासन तो चक्रवर्तियो पर भी होता है। भोग-विलास के कारण जीवन की भूल-भुलैय्या मे पड जाने वाले और अपने कर्त्तव्य से पराङ्मुख हो जाने वाले चक्रवर्तियो को तीर्थङ्कर भगवान् ही उपदेश देकर सन्मार्ग पर लाते हैं, कर्त्तव्य का भान कराते हैं। अत तीर्थङ्कर भगवान् चक्रवर्तियो के भी चक्रवर्ती हैं।

व्यावृत्त छद्म

तीर्थङ्कर देव व्यावृत्त-छद्म कहलाते हैं। व्यावृत्त छद्म का अथ है—'छद्म से रहित।' छद्म के दो अर्थ हैं—आवरण और छल। ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्म आत्मा की ज्ञान, दर्शन आदि मूल शक्तियो को छादन किए रहते हैं, ढँके रहते हैं, वे छद्म कहलाते हैं—

'छादयतीति छद्म ज्ञानावरणीयादि'

—प्रतिक्रमण सूत्र पद विवृत्ति, प्रणिपातदण्डक

जो छद्म से, ज्ञानावरणीय आदि चार घातिया कर्मों से पूर्णतया अलग हो गये हैं, वे 'व्यावृत्त-छद्म' कहलाते हैं। तीथङ्कर देव अज्ञान और मोह आदि से सर्वथा रहित होते हैं। छद्म का दूसरा अर्थ है—'छल और प्रमाद।' अत छल और प्रमाद से रहित होने के कारण भी तीथङ्कर 'व्यावृत्तछद्म' कहे जाते हैं।

तीर्थङ्कर भगवान् का जीवन पूर्णतया सरल और समरस रहता है। किसी भी प्रकार की गोपनीयता, उनके मन मे नही होती। क्या अन्दर और क्या बाहर, सर्वत्र सम-भाव रहता है, स्पष्ट भाव रहता है। यही कारण है कि भगवान् महावीर आदि तीर्थङ्करो का जीवन पूर्ण आप्त पुरुषो का जीवन रहा है। उन्होने कभी भी दुहरी बातें नही की। परिचित और अपरिचित, साधारण जनता और असाधारण चक्रवर्ती आदि, अनसमझ बालक और समझदार वृद्ध—सबके समक्ष एक समान रहे। जो कुछ भी परम सत्य उन्होंने प्राप्त किया, निश्छल-भाव से जनता को अर्पण किया। यही आप्त जीवन है, जो शास्त्र मे प्रामा-णिकता लाता है। आप्त पुरुष का कहा हुआ प्रवचन ही प्रमाणाबाधित, तत्त्वोपदेशक, सर्व-जीव-हितकर, अकाट्य तथा मिथ्यामाग का निराकरण करने वाला होता है। आचार्य सिद्धसेन ने शास्त्र का उल्लेख करते हुए कहा है—

"आप्तोपज्ञमनुल्लङ्घ्य—
महष्टेष्टविरोधकम्।

तत्त्वोपदेशकृत् सार्वं,
शास्त्र कापथ-घट्टनम् ॥ ६ ॥"

—न्यायावतार

तीर्थङ्कर की वाणी : जन कल्याण के लिए :

तीर्थङ्कर भगवान् के लिए जिन, जापक, तीर्ण, तारक, बुद्ध, बोधक, मुक्त और मोचक के विशेषण बडे ही महत्त्वपूर्ण है। तीर्थङ्करो का उच्च-जीवन वस्तुत इन विशेषणो पर ही अवलम्बित है। राग-द्वेष को स्वय जीतना और दूसरे साधको से जितवाना, संसार-सागर से स्वय तैरना और दूसरे प्राणियो को तैराना, केवलज्ञान पाकर स्वय बुद्ध होना और दूसरो को बोध देना, कर्म-बन्धनो से स्वय मुक्त होना और दूसरो को मुक्त कराना, कितना महान् एव मगलमय आदर्श है! जो लोग एकान्त निवृत्ति मार्ग के गीत गाते हैं, अपनी आत्मा को ही तारने मात्र का स्वप्न रखते हैं, उन्हे इस ओर लक्ष्य देना चाहिए!

मै पूछता हूँ, तीर्थङ्कर भगवान् क्यो दूर-दूर भ्रमण कर अहिसा और सत्य का सन्देश देते हैं? वे तो केवलज्ञान और केवल-दर्शन को पाकर कृतकृत्य हो गए है। अब उनके लिए क्या करना शेष है? ससार के दूसरे जीव मुक्त होते हैं या नही, इससे उनको क्या हानि-लाभ? यदि लोग धर्मसाधना करेंगे, तो उनको लाभ है और नही करेंगे, तो उन्ही को हानि है। उनके लाभ और हानि से भगवान् को क्या लाभ-हानि है? जनता को प्रबोध देने से उनकी मुक्ति मे क्या विशेषता हो जाएगी? और यदि प्रबोध न दें तो कौन-सी विशेषता कम हो जाएगी?

इन सब प्रश्नो का उत्तर जैनागमो का मर्मी पाठक यही देता है कि जनता को प्रबोध देने और न देने से भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत हानि-लाभ नही है। भगवान् किसी स्वार्थ को लक्ष्य मे रखकर कुछ भी नही करते। न उनको पथ चलाने का मोह है, न शिष्यो की टोली जमा करने का स्वार्थ है। न उन्हे पूजा-प्रतिष्ठा चाहिए और न मान-सम्मान। वे तो पूर्ण वीतराग पुरुष है। अत उनकी प्रत्येक प्रवृत्ति केवल करुणाभाव से होती है। जन-कल्याण की श्रेष्ठ भावना ही धर्म-प्रचार के मूल मे निहित है, और कुछ नही। तीर्थङ्कर अनन्त-करुणा के सागर हैं। फलत किसी भी जीव को मोह-माया मे आकुल देखना उनके लिए करुणा की वस्तु है। यह करुणा-भावना ही उनके महान् प्रवृत्तिशील जीवन की आधारशिला है। जैन-सस्कृति का गौरव प्रत्येक बात मे केवल अपना हानि-लाभ देखने मे ही नही है, प्रत्युत जनता का हानि-लाभ देखने मे भी है। केवल ज्ञान पाने के बाद तीस वर्ष तक भगवान् महावीर निष्काम जन-सेवा करते रहे। तीस वर्ष के धर्म-प्रचार से एव जन-कल्याण से भगवान् को कुछ भी व्यक्तिगत लाभ न हुआ, और न उनको इसकी अपेक्षा ही थी। उनका अपना आध्यात्मिक जीवन बन चुका था और कुछ साधना शेष नही रही थी, फिर भी विश्व-करुणा की भावना से जीवन के अन्तिम क्षण तक जनता को सन्मार्ग का उपदेश देते रहे। आचार्य शीलाङ्क ने सूत्रकृताङ्ग सूत्र की अपनी टीका मे इसी बात को ध्यान मे रखकर कहा है—

"धर्ममुक्तवान् प्राणिनामनुग्रहार्थम्, न पूजा-सत्कारार्थम्"

—सूत्र कृताङ्ग टीका १/६/४।

केवल टीका मे ही नही, जैन-धर्म के मूल आगम-साहित्य मे भी यही भाव वताया गया है—

"सव्वजगजीव-रक्खण-दयट्ठयाए पावयण भगवया सुकहिय"

—प्रश्नव्याकरण-सूत्र २/१

तीर्थंकर सर्वज्ञ, सर्वदर्शी

सूत्रकार ने 'जिणाण' आदि विशेषणो के वाद 'सव्वन्नूण सव्वदरिसीण' के विशेषण वडे ही गम्भीर अनुभव के आधार पर रखे हैं। जैन-धर्म मे सर्वज्ञता के लिए शर्त है, राग और द्वेष का क्षय हो जाना। राग-द्वेष का सम्पूर्ण क्षय किए विना, अर्थात् उत्कृष्ट वीतराग भाव सम्पादन किए बिना सर्वज्ञता सम्भव नही। सर्वज्ञता प्राप्त किए बिना पूर्ण आप्त पुरुप नहीं हो सकता। पूर्ण आप्त पुरुष हुए विना त्रिलोक-पूज्यता नही हो सकती, तीर्थङ्कर पद की प्राप्ति नही हो सकती। उक्त 'जिणाण' पद ध्वनित करता है कि जैन-धर्म मे वही आत्मा सुदेव है, परमात्मा है, ईश्वर है, परमेश्वर है, परब्रह्म है, सच्चिदानन्द है, जिसने चतुर्गति-रूप संसार-वन मे परिभ्रमण कराने वाले राग-द्वेष आदि अन्तरग शत्रुओ को पूर्णरूप से नष्ट कर दिया है। जिसमे राग-द्वेष आदि विकारो का थोडा भी अश हो, वह साधक भले ही हो सकता है, परन्तु यह तीर्थंकर अथवा देवाधिदेव परमात्मा नही हो सकता। आचार्य हेमचन्द्र कहते हैं—

"सर्वज्ञो जितरागादि-दोषस्त्रैलोक्य-पूजित ।
यथास्थितार्थ-वादी च, देवोऽर्हन् परमेश्वर ॥"

—योगशास्त्र २/४

सर्वज्ञता का, एक वडा ही सरल एव व्यावहारिक अर्थ है—'आत्मवत् सर्व भूतेषु' की उदात्त दृष्टि। तात्पर्य यह है कि जव एक व्यक्ति अपनी आत्मा का विकास ऐसे उच्च एव विस्तृत धरातल पर कर लेता है, जहाँ विश्व की समस्त अनुभूति को, सुख, दुख, हर्ष, विषाद, प्रमोद एव पीडा की भावनाओ को अपनी भावना मे अन्तर्भूत कर लेता है, विश्व की समस्त आत्माओ मे अपनी आत्मा को मिला देता है, वस्तुत ऐसी ही पीठिका पर, वह सर्वज्ञ हो जाता है। सर्वज्ञ का सीधा अर्थ यही है कि हम विश्व की सभी आत्माओ को समभाव से, समानरूप से देखें। इस स्थिति मे व्यक्ति-आत्मा की आवाज, विश्वात्मा की आवाज होती है, उसका चिन्तन विश्व-आत्मा का चिन्तन होता है, उसकी अनुभूति, विश्व-आत्मा की अनुभूति होती है। विश्व उसमें निहित होता है और वह विश्वमय हो जाता है। वही सर्वज्ञ होता है, सर्वदर्शी होता है, तीर्थङ्कर होता है।

★★★★

अरुहन्त का अर्थ है—कर्म-बीज को नष्टकर देने वाले, फिर कभी जन्म न लेने वाले। 'रुह' धातु का संस्कृत भाषा मे अर्थ है—सन्तान अर्थात् परम्परा। बीज से वृक्ष, वृक्ष से बीज, फिर बीज से वृक्ष और वृक्ष से बीज—यह बीज और वृक्ष की परम्परा अनादि काल से चली आ रही है। यदि कोई बीज को जलाकर नष्ट कर दे, तो फिर वृक्ष उत्पन्न नही होगा, बीज-वृक्ष की प्रकार परम्परा समाप्त हो जाएगी। इसी प्रकार कर्म से जन्म, और जन्म से कर्म की परम्परा भी अनादिकाल से चली आ रही है। यदि कोई साधक रत्नत्रय की साधना की अग्नि से कर्म-बीज को पूर्णतया जला डाले, तो वह सदा के लिए परम्परा से मुक्त हो जाएगा, अरुहन्त शब्द की इसी व्याख्या को ध्यान मे रखकर आचार्य उमास्वाति तत्त्वार्थ-सूत्र के अपने स्वोपज्ञ भाष्य मे कहते हैं—

> "दग्धेबीजे यथाऽत्यन्तं, प्रादुर्भवति नाऽङ्कुर ।
> कर्म-बीजे तथा दग्धे, न रोहति भवाङ्कुरः ॥"
>
> —अन्तिम, उपसंहारकारिका प्रकरण

अरिहन्त भगवान् का स्वरूप

भारतवर्ष के दार्शनिक एवं धार्मिक साहित्य मे भगवान् शब्द, बडा ही उच्चकोटि का भावपूर्ण शब्द माना जाता है। इसके पीछे एक विशिष्ट भाव-राशि स्थित है। 'भगवान्' शब्द 'भग' शब्द से बना है। अतः भगवान् का शब्दार्थ है—'भगवाली आत्मा।'

आचार्य हरिभद्र ने भगवान् शब्द पर विवेचन करते हुए 'भग' शब्द के छः अर्थ बतलाए हैं—ऐश्वर्य=प्रताप, वीर्य=शक्ति अथवा उत्साह, यश=कीर्ति, श्री=शोभा, धर्म=सदाचार और प्रयत्न=कर्त्तव्य की पूर्ति के लिए किया जाने वाला अदम्य पुरुषार्थ। जैसाकि उन्होने कहा है—

> "ऐश्वर्यस्य समग्रस्य, वीर्यस्य[1] यशसः श्रियः ।
> धर्मस्याऽथ प्रयत्नस्य, षण्णां भग इतीङ्गना ॥"
>
> —दशवैकालिक-सूत्र टीका, ४/१

अतः यहाँ स्पष्ट है कि जिस महान् आत्मा मे पूर्ण ऐश्वर्य, पूर्ण वीर्य पूर्ण यश, पूर्ण श्री, पूर्ण धर्म और पूर्ण प्रयत्न स्थित हो, वह भगवान् कहलाती है। तीर्थंकर महाप्रभु मे उक्त छहो गुण पूर्णरूप से विद्यमान होते हैं, अत वे भगवान् कहे जाते हैं।

जैन-संस्कृति, मानव-संस्कृति है। यह मानव में ही भगवत्स्वरूप की झाँकी देखती है। अत जो साधक, साधना करते हुए वीतराग-भाव के पूर्ण विकसित पद पर पहुँच जाता है, वही यहाँ भगवान् बन जाता है। जैन-धर्म यह नही मानता कि मोक्षलोक से भटक कर ईश्वर यहाँ अवतार लेता है, और वह संसार का भगवान् बनता है। जैन-धर्म का भगवान् भटका हुआ ईश्वर नही; परन्तु पूर्ण विकास पाया हुआ मानव-आत्मा ही ईश्वर है, भगवान् है। उसी के चरणो मे स्वर्ग के इन्द्र अपना मस्तक झुकाते हैं, उसे अपना आराध्य देव स्वीकार करते है। तीन लोक का सम्पूर्ण ऐश्वर्य उसके चरणो मे उपस्थित रहता है। उसका प्रताप वह प्रताप है, जिसके समक्ष कोटि-कोटि सूर्यों का प्रताप और प्रकाश भी फीका पड जाता है।

---

१ आचार्य जिनदास ने दशवैकालिक चूर्णि मे 'वीर्य' के स्थान मे 'रूप' शब्द का प्रयोग किया है।

अरिहन्त : आदिकर :

अरिहन्त भगवान् आदिकर भी कहलाते हैं। आदिकर का मूल अर्थ है, आदि करने वाला। यहाँ प्रश्न हो सकता है कि किसकी आदि करने वाला ? धर्म तो अनादि है, उसकी आदि कैसी ? उत्तर है कि धर्म अवश्य अनादि है। जब से यह ससार है, ससार का बन्धन है, तभी से धर्म है, और उसका फल मोक्ष भी है। जब ससार अनादि है, तो धर्म भी अनादि ही हुआ। परन्तु यहाँ जो धर्म की आदि करने वाला कहा गया है, उसका अभिप्राय यह है कि अरिहन्त भगवान् धर्म का निर्माण नही करते, प्रत्युत धर्म की व्यवस्था का, धर्म की मर्यादा का निर्माण करते हैं। अपने-अपने युग मे धर्म मे जो विकार आ जाते हैं, धर्म के नाम पर जो मिथ्या आचार फैल जाते हैं, उनकी शुद्धि करके नये सिरे से धर्म की मर्यादाओं का विधान करते हैं। अत अपने युग मे धर्म की आदि करने के कारण अरिहन्त भगवान् 'आदिकर' कहलाते हैं।

हमारे विद्वान् जैनाचार्यों की एक परम्परा यह भी है कि अरिहन्त भगवान् श्रुत-धर्म की आदि करने वाले हैं, अर्थात् श्रुत धर्म का निर्माण करने वाले हैं। जैन-साहित्य मे आचाराग आदि धर्म-सूत्रो को श्रुत धर्म कहा जाता है। भाव यह है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने चले आये धर्मशास्त्रो के अनुसार अपनी साधना का मार्ग नही तैयार करते। उनका जीवन अनुभव का जीवन होता है। अपने आत्मानुभव के द्वारा ही वे अपना मार्ग तय करते हैं और फिर उसी को जनता के समक्ष रखते हैं। पुराने पोथी-पत्रो का भार लादकर चलना, उन्हे अभीष्ट नही है। हर एक युग का द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव के अनुसार अपना अलग शास्त्र होना चाहिए, अलग विधि-विधान होना चाहिए। तभी जनता का वास्तविक हित हो सकता है, अन्यथा जो शास्त्र चालू युग की अपनी दुरूह गुत्थियो को नही सुलझा सकते, वर्तमान परिस्थितियो पर प्रकाश नही डाल सकते, वे शास्त्र मानवजाति के अपने वर्तमान युग के लिए अकिंचित्कर हैं, अन्यथा सिद्ध है। यही कारण है कि तीर्थंकर भगवान् पुराने शास्त्रो के अनुसार हूबहू न स्वय चलते हैं, न जनता को चलाते हैं। स्वानुभव के बल पर नये विधि-विधान का निर्माण करके जनता का कल्याण करते हैं, अतः वे आदिकर कहलाते हैं।

६

ईश्वरत्व

मानव-जीवन सगमरमर के समान है और मानव एक शिल्पकार है। कुशल शिल्पी के हाथो मानव-जीवन सुन्दरतम रूप मे परिणत हो जाता है। मानव यदि कुशल शिल्पकार नही बन पाया, तो जीवन-सगमरमर का स्वय कोई मूल्य किंवा उपयोग नही रह जाता। वह मात्र संगमरमर का एक टुकडा पत्थर, केवल पत्थर रह जाएगा, इससे अधिक कुछ नही। यदि मनुष्य एक शिल्पकार की भूमिका मे आ जाए, तो अपने जीवन-सगमरमर को उसे क्या रूप देना है, उसमे कौन-सा सौन्दर्य लाना है, उसमे क्या देखना है, उसके लिए कुछ भी बताने की आवश्यकता अन्य किसी को नही। एक शिल्पकार ही तो सगमरमर को काट-छाँट कर इसे भगवान् का रूप देता है। बस, मनुष्य शिल्पकार बना नही कि उसके जीवन-सगमरमर से भगवान् बन गया। हे मानव ! तू एक बार अपने को पहचान ले, कुशल शिल्पकार बन ले, बस, तुझे सर्व शक्तिमान् बनते देर नही लगेगी।

भारत के कुछ दार्शनिको ने ईश्वर की एक अलग सत्ता मानकर और उसे सर्व-शक्तिमान् की सज्ञा देकर मनुष्य का महत्त्व कम कर दिया है। इसके विपरीत जैन दार्शनिको की यह सबसे बड़ी विशेषता रही है कि उन्होने सर्वशक्तिमान् के रूप मे ईश्वर की अलग सत्ता नही मानकर, मनुष्य मात्र को ही सर्व शक्तिमान माना। कितना गहरा एव स्वस्थ विचार दिया जैन दार्शनिको ने। मनुष्य को मनुष्य मे ही बन्द कर दिया, कहीं अन्यत्र भटकने नही दिया, तनिक भी हिलने-डुलने की आवश्यकता का अनुभव नही होने दिया और परम सुख एव अनन्त ज्ञान की अनुभूतियाँ छिटकने लग पडी। परमानन्द प्राप्त करने का कितना सत्य एवं सरल मार्ग है। कवि ने ठीक ही कहा है—

"बीज बीज ही नही, बीज मे तरुवर भी है।
मनुज मनुज ही नही, मनुज मे ईश्वर भी है॥"

मनुष्य तू केवल मनुष्य ही नही, हाड-माँस का चलता-फिरता ढाँचा ही नहीं। तू बहुत कुछ है, बहुत कुछ। बस, एक बार अपने को पहचान ले। अपना परिचय अपने से

करा दे। तेरे मे अनन्त प्रकाश की जो रश्मियाँ बन्द पडी हैं, उन्हे एक वार खोलने की आवश्यकता है। एक वार अपनी आत्मा पर लगी राग-द्वेष की गन्दगी को धोकर देख, बस, सुगन्ध ही सुगन्ध है, प्रकाश ही प्रकाश है। ठोकरें देने वाला अन्धकार स्वय प्रकाश बनकर ठोकरो से वचाने वाला वन जाएगा।

•

आत्मा को विकारो से बचाने की आवश्यकता है, फिर तो वाजी अपने हाथ मे है। रागद्वेष के वातावरण से वाहर आकर एक वार जो श्वास लिया कि उसकी सुगन्ध स्वयमेव सर्वशक्तिमान् की अनुभूति करा देगी। सोई हुई आत्मा के जागृत होने पर विकार रूपी शत्रुओ का कही अता-पता भी न लगेगा। जीवन में एक नयी चमक आ जाएगी। जीवन को सच्चे आनन्द की ओर एक नया मोड मिल जाएगा। जीवन में पूर्णता आने लगेगी। जीवन के साम्राज्य मे सर्वशक्तियो का उदय हो जाएगा।

जैन-दर्शन के अनुसार प्रत्येक आत्मा मे परमात्म-ज्योति विद्यमान है। प्रत्येक चेतन मे परम चेतन विराजमान है। चेतन और परमचेतन दो नही हैं, एक हैं। अशुद्ध से शुद्ध होने पर चेतन ही परम चेतन हो जाता है। कोई भी चेतन, परम चेतन की ज्योति से मूलत शून्य या रिक्त नही है। वह दीन, हीन एवं भिखारी नही है। यह मत समझिए कि कर्म के आवरण के कारण जो आत्मा आज ससार मे भटक रही है, वह कभी संसार के वन्धनो से मुक्त न हो सकेगी। इस विराट् विश्व का प्रत्येक चेतन अपने स्वयसिद्ध अध्यात्म-राज्य के सिहासन पर वैठने का अधिकारी है, उसे भिखारी समझना सर्वथा भूल है। भिखारी हर चीज को मांगता है और साधक प्रत्येक वस्तु को अपने अन्दर से ही प्राप्त करने का प्रयत्न करता है मैं आपसे कहता हूँ कि प्रत्येक साधक अधिकारी है, वह भिखारी नहीं है। अधिकारी का अर्थ है—अपनी सत्ता पर विश्वास करने वाला और भिखारी का अर्थ है—अपनी सत्ता पर विश्वास न करके दूसरे की दया और करुणा पर अपना जीवन व्यतीत करने वाला। जैनदर्शन का तत्त्व-चिन्तन उस ज्योति, प्रकाश और परमात्म-तत्त्व की खोज कही वाहर मे नही, अपने अन्दर मे ही करता है। वह कहता है कि 'अप्पा सो परमप्पा' अर्थात् आत्मा ही परमात्मा है। 'तत्वमसि' का अर्थ भी यही है कि आत्मा केवल आत्मा ही नही है, वल्कि वह स्वय परमात्मा है, परब्रह्म है, ईश्वर है। मात्र आवश्यकता है—अपने को जागृत करने की और आवरण को दूर फेंक देने की।

भारत के कुछ दर्शन केवल प्रकृति की व्याख्या करते हैं, पुद्गल के स्वरूप का ही वे प्रतिपादन करते हैं। भौतिक-दर्शन पुद्गल और प्रकृति की सूक्ष्म से सूक्ष्म व्याख्या करता है, किन्तु पुद्गल और प्रकृति से परे आत्म-तत्त्व तक उसकी पहुँच नहीं है। भौतिकवादी दार्शनिक पुद्गल और प्रकृति के सम्बन्ध मे वहुत कुछ कह सकता है और वहुत कुछ लिख भी सकता है, परन्तु वह स्वय अपने सम्बन्ध मे कुछ भी जान नही पाता, कुछ भी कह नही पाता और कुछ भी लिख नही पाता। वह अपने को भी प्रकृति का ही परिणाम मानता है। अपनी स्वतन्त्र सत्ता की ओर उसका लक्ष्य नही जाता। इसके विपरीत अध्यात्मवादी दर्शन प्रकृति के वात्याचक्र मे न उलझकर आत्मा की वात कहता है। वह कहता है कि आत्मा स्वय क्या है और वह क्या होना चाहती है? अध्यात्मवादी दार्शनिक यह सोचता है और विश्वास करता है कि मेरी यह आत्मा यद्यपि मूल-स्वरूप की दृष्टि से शुद्ध, वुद्ध, निरञ्जन

एवं निर्विकार है, फिर भी जब तक इसके साथ कर्म का संयोग है, जब तक इस पर माया एवं अविद्या का आवरण है तभी तक यह विविध बन्धनो मे बद्ध है। पर, जैसे ही यह आत्मा निर्मल हुई कि शुद्ध-बुद्ध होकर समस्त प्रकार के बन्धनो से सदा के लिए विमुक्त हो जाती है, परमात्मा बन जाती है। अध्यात्मवादी दर्शन आत्मा की शुद्ध अवस्था की ओर अपने लक्ष्य को स्थिर करता है। जैन-दर्शन मे कहा है कि विश्व की प्रत्येक आत्मा अपने मूल स्वरूप मे वैसी नही है, जैसी कि वर्तमान मे दृष्टिगोचर होती है। यह तो केवल व्यवहार नय है। शुद्ध निश्चय नय से तो प्रत्येक आत्मा ज्ञान-स्वरूप और परमात्मा-स्वरूप है। निश्चय नय से ससारस्थ आत्मा मे और सिद्ध आत्मा मे अणुमात्र भी भेद नही है। जो कुछ भेद है, वह औपाधिक है, कर्म-प्रकृति के सयोग से है। अतः प्रत्येक आत्मा को यह विश्वास करना चाहिए कि भले ही आज मैं बद्ध-दशा मे हूँ, किन्तु एक दिन मैं मुक्त-दशा को भी अवश्य ही प्राप्त कर सकता हूँ। क्योकि आत्मा चैतन्य स्वरूप है और उस चैतन्य स्वरूप आत्मा मे अनन्त-अनन्त शक्ति विद्यमान है। आवश्यकता शक्ति की उत्पत्ति की नही, अपितु शक्ति की अभिव्यक्ति की है।

जब भी कोई रोती एव बिलखती आत्मा सद्‌गुरु के समक्ष हताश और निराश होकर खडी हुई है, भारत के प्रत्येक सद्‌गुरु ने उसके आँसुओ को पोछकर उसे स्व-स्वरूप की शक्ति को जागृत करने की दिशा मे अमोघ सान्त्वना एव प्रेरणा दी है। साधना के मार्ग पर लडखडाते पगु मन को केवल बाह्य क्रियाकलापरूपी लाठी का सहारा ही नही दिया गया, बल्कि इधर-उधर की पराश्रित भावना की बैसाखी छुडाकर, उसमे आध्यात्म-मार्ग पर दौड लगाने की एक अद्‌भुत शक्ति भी जागृत कर दी। सद्‌गुरु ने उस दीन-हीन आत्मा की प्रसुप्त शक्ति को जागृत करके उसे भिखारी से सम्राट् बना दिया। उस दीन एवं हीन आत्मा को, जो अपने अन्दर अनन्त शक्ति के होते हुए भी विलाप करती थी, अध्यात्म-भाव की मधुर प्रेरणा देकर इतना अधिक शक्ति-सम्पन्न बना दिया कि वह स्वय ही सन्मार्ग पर अग्रसर नही हुई, बल्कि, दूसरो को भी सन्मार्ग पर लाने के प्रयत्न मे महान् सफलता प्राप्त की।

भारतीय दर्शन कहता है कि ससार की कोई भी आत्मा, भले ही वह अपने जीवन के कितने ही नीचे स्तर पर क्यो न हो, भूल कर भी उससे घृणा और द्वेष नही करनी चाहिए; क्योकि न जाने कब उस आत्मा मे परमात्म-भाव की जागृति हो जाए। प्रत्येक आत्मा अध्यात्म-गुणो का अक्षय एवं अनन्त अमृत कूप है, जिसका न कभी अन्त हुआ है और न कभी अन्त होगा। विवेक ज्योति प्राप्त हो जाने पर प्रत्येक आत्मा अपने उस परमात्मा स्वरूप अमृत रस का आस्वादन करने लगती है। आत्मा का यह शुद्ध स्वरूप अमृत कही बाहर नही, बल्कि स्वय उसके अन्दर मे ही है। वह शुद्ध स्वरूप कही दूर नही है, अपने समीप ही है। समीप भी क्या ? जो है, वह स्वय ही है। बात बस इतनी-सी कि जो गलत रास्ता पकड लिया गया है, उसे छोडकर अच्छी एव सच्ची राह पर आजाना है। जीवन की गति एव प्रगति को रोकना नही है, बल्कि, उसे अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध की ओर मोड देना है।

जैन-दर्शन के अनुसार, प्रत्येक चेतन एवं प्रत्येक आत्मा अक्षय एव अनन्तकूप के समान है, जिसमे शुद्ध अमृत रस का अभाव नही है। प्रत्येक आत्मा में अनन्त-अनन्त गुण हैं। वह

कभी गुणो से रिक्त एव शून्य नही हो सकता। आत्मा उस धन-कुवेर के पुत्र के समान है, जिसके पास कभी धन की कमी नही होती, भले ही वह अपने उस अक्षय भडार का दुरुपयोग ही क्यो न कर रहा हो। शक्ति का अक्षय धन तो आपके पास है, परन्तु उसे दुरुपयोग से हटा कर सदुपयोग मे लगाना है। यदि इतना कर सके, तो फिर समझ लीजिए, आपके जीवन का समस्त दु.ख, सुख मे वदल जाएगा, समस्त अशान्ति, शान्ति मे वदल जाएगी और सारी विषमताएँ समता में वदल जाएँगी। जीवन का हा-हाकार जय-जयकार, मे परिणत हो जायगा। फिर जीवन मे किसी भी प्रकार के द्वन्द्व, संघर्ष और प्रतिकूल भाव कभी नही रहेंगे।

ससारी आत्मा के पास सत्ता भी है और चेतना भी है। यदि उसके पास कुछ कमी है, तो सिर्फ स्थायी सुख एव स्थायी आनन्द की कमी है। आत्मा को परमात्मा वनने के लिए यदि किसी वस्तु की आवश्यकता है, तो वह है उसका अक्षय एव अनन्त आनन्द। अक्षय आनन्द की उपलब्धि के लिए आत्मा मे निरन्तर उत्कण्ठा रहती है। वह सदा आनन्द और सुख की खोज करती है। प्रश्न यह है कि ससार के प्रत्येक प्राणी को सुख की खोज क्यो रहती है? उसका कारण यह है कि सुख और आनन्द आत्मा का निज रूप है, वह इसके विना नही रह मकती। इसलिए वह इसे पाने के लिए सतत प्रयत्नशील रहती है। चीटी से लेकर हाथी तक और गन्दी नाली के कीट से लेकर सुरलोक मे रहने वाले इन्द्र तक सभी सुख चाहते हैं, आनद चाहते हैं। विश्व की छोटी-मे-छोटी चेतना भी सुख चाहती है, भले ही, उस सुख को वह अपनी भाषा मे अभिव्यक्त न कर सके। हाँ यह सम्भव है कि सवकी सुख की कल्पना एक जैसी न हो, किन्तु यह निश्चित है कि सवके जीवन का एकमात्र ध्येय सुख की प्राप्ति है। सुख कहाँ मिलेगा? कैसे मिलेगा? यह तथ्य भी सवकी समझ मे एक जैसा नही है। किन्तु सचेतन जीवन मे कभी भी सुख की अभिलाषा का अभाव नही हो सकता, यह ध्रुव सत्य है। सुख की अभिलाषा तो सभी को है, किन्तु उसे प्राप्त करने का प्रयत्न और वह भी उचित प्रयत्न कितने करते हैं, यह एक विचारणीय प्रश्न है। जो उचित एव सही प्रयत्न करेगा, वह एक-न-एक-दिन अवश्य ही सुख पाएगा, इसमे किसी प्रकार का सन्देह नही है। सुख की अभिलापा प्रत्येक मे होने पर भी वह सुख कहाँ मिलेगा, इस तथ्य को विरले ही समझ पाते हैं। निश्चय ही उक्त अनन्त एव अक्षय सुख का केन्द्र हमारी स्वय की आत्मा है। आत्मा के अतिरिक्त विश्व के किसी भी वाह्य पदार्थ मे सुख की परिकल्पना करना, एक भयकर भ्रम है। जिस आत्मा ने अपने अन्दर मे—अपने स्वरूप मे ही रहकर अक्षय आनन्द का अनुसधान कर लिया, उसे अधिगत कर लिया, दर्शन की भाषा मे, वह आत्मा सच्चिदानन्द वन जाती है। सत् और चित् तो उसके पास व्यक्तस्वरूप मे पहले भी थे, किन्तु आनन्द के व्यस्वक्तरूप की कमी थी। उसकी पूर्ति होते ही, आनन्द की उपलब्धि होते ही वह सच्चिदानन्द वन गयी है। जीव से ईश्वर वन गया, आत्मा मे परमात्मा वन गया, भक्त से भगवान् वन गया और उपासक से उपास्य वन गया। यही भारतीय दर्शन का मर्म है। इमी मर्म को प्राप्त करने के लिए साधक निरन्तर आध्यात्म भावना का दीप जलाता है।

ईश्वर कौन है, कहाँ है?

ईश्वरत्व के सम्बन्ध मे ऊपरि विचार-चर्चा के उपरान्त अव हमे निष्कर्ष रूप मे यह विचार करना है कि ईश्वर क्या है? उसकी वास्तविक स्थिति क्या है?

मानव जाति ईश्वर के विषय मे काफी भ्रान्त रही है। सम्भव है, अन्य किसी विषय मे उतनी भ्रान्त न रही हो, जितनी कि ईश्वर के विषय मे रही है। कुछ धर्मों ने ईश्वर को एक सर्वोपरि प्रभुसत्ता के रूप मे माना है। वे कहते हैं—"ईश्वर एक है, अनादि-काल से वह सर्वसत्ता सम्पन्न एक ही चला आ रहा है। दूसरा कोई ईश्वर नही है। नही क्या? दूसरा कोई ईश्वर हो ही नही सकता। वह ईश्वर अपनी इच्छा का राजा है। जो चाहता है, वही करता है। वह असभव को सम्भव कर सकता है, और सभव को असंभव! जो हो सकता है, उसे न होने दे, जो नही हो सकता, उसे करके दिखा दे। जो किसी अन्य रूप मे होने जैसा हो, उसे सर्वथा विपरीत किसी अन्य रूप मे कर दे।" ऐसा है ईश्वर का तानाशाही व्यक्तित्व, जिसे एक भक्त ने 'कर्तुमकर्तुमन्यथा कर्तुं समर्थः' कहा है। वह जगत् का निर्माता है, संहर्ता है। एक क्षण मे वह विराट् विश्व को बना सकता है, और एक क्षण मे उसे नष्ट भी कर सकता है। उसकी लीला का कुछ पार नही है। उसकी मर्जी के बिना एक पत्ता भी नही हिल सकता। और वह रहता कहाँ है? किसी का ईश्वर वैकुण्ठ मे रहता है, किसी का ब्रह्मलोक मे तो किसी का सातवें आसमान पर रहता है, तो किसी का समग्र विश्व मे व्याप्त है।

ईश्वरीय सत्ता की उक्त स्थापना ने मनुष्य को पगु बना दिया है। उसने परा-श्रित रहने की दुर्बल मनोवृत्ति पैदा की है। देववाद के समान ही ईश्वरवाद भी मानव को भय एव प्रलोभन के द्वार पर लाकर खडा कर देता है। वह ईश्वर से डरता है, फलत उसके प्रकोप से बचने के लिए वह नाना प्रकार के विचित्र क्रियाकाण्ड करता है। स्तोत्र पढता है, माला जपता है, यज्ञ करता है, मूक पशुओ की बलि देता है। वह समझता है कि इस प्रकार करने से ईश्वर मुझ पर प्रसन्न रहेगा, मेरे सब अपराध क्षमा कर देगा, मुझे किसी प्रकार का दण्ड न देगा। इस तरह ईश्वरीय उपासना मनुष्य को पापाचार से नही बचाती, अपितु पापाचार के फल से बच निकलने की दूषित मनोवृत्ति को बढावा देती है। मनुष्य को कर्त्तव्यनिष्ठ नही, अपितु खुशामदी बनाती है।

यही बात प्रलोभन के सम्बन्ध मे है। मनुष्य को अपनी आवश्यकताओ की पूर्ति के लिए न्यायोचित प्रयत्न करना चाहिए। जो पाना है, उसके लिए अपने पुरुषार्थ का भरोसा रखना चाहिए। परन्तु ईश्वरवाद मनुष्य को इसके विपरीत आलसी, निष्कर्मण्य एव भिखारी बनाता है। वह हर आवश्यकता के लिए ईश्वर से भीख माँगने लगता है। वह समझता है, यदि ईश्वर प्रसन्न हो जाए, तो बस कुछ का कुछ हो सकता है। ईश्वर के बिना मेरी भाग्य लिपि को कौन पलट सकता है? कोई नही। और उक्त प्रलोभन से प्रभावित मनोवृत्ति का आखिर यही परिणाम होता है कि जैसे भी हो, ईश्वर को प्रसन्न किया जाय और अपना मतलब साधा जाय!

भगवान् महावीर ने प्रस्तुत सन्दर्भ मे मानव को उद्बोधन देते हुए कहा है—"मानव! विश्व मे तू ही सर्वोपरि है। यह दीनता और हीनता तेरे स्वय के अज्ञान का दुष्फल

है। जो तू अच्छा-बुरा कुछ भी पाता है, वह तेरा अपना किया हुआ होता है, वह किसी का दिया हुआ नही होता। तू ईश्वर की सृष्टि नही है, वल्कि ईश्वर ही तेरी सृष्टि है। ईश्वर का अस्तित्व है, परन्तु वह मनुष्य से भिन्न कोई परोक्ष सत्ता नही है। ईश्वर शासक है और मनुष्य शासित, ऐसा कुछ नही है। मानवीय चेतना का चरम विकास ही ईश्वरत्व है। ईश्वर कोई एक व्यक्तिविशेष नही, अपितु एक आध्यात्मिक भूमिकाविशेष है, जिसे हर कोई मानव प्राप्त कर सकता है। ईश्वरत्व की स्थिति पाने के लिए न किसी तथाकथित देश का वन्धन है, न किसी जाति, कुल और पन्थ विशेष का। जो भी मनुष्य आध्यात्मिक विकास की उच्च भूमिका तक पहुँच जाता है, राग-द्वेष के विकारो से अपने को मुक्त कर लेता है, स्व मे स्व की लीनता प्राप्त कर लेता है, वह परमात्मा हो जाता है। भगवान् का कहना था कि हर आत्मा शक्ति रूप से तो अब भी ईश्वर है, सदा ही ईश्वर है। आवश्यकता है उस शक्ति को अभिव्यक्ति देने की। हर विन्दु मे सिन्धु छिपा है। सिन्धु का क्षुद्र रूप विन्दु है, विन्दु का विराट् रूप सिन्धु है। मानवीय चेतना जव क्षुद्र रहती है, राग-द्वेष के वन्धन मे वद्ध रहती है, तवतक वह एक साधारण ससारी प्राणी है। परन्तु जव चेतना विकृति-शून्य होती है, आध्यात्मिक विकास की सर्वोच्च सीमा पर पहुँचती है, तो वह परम चेतना वन जाती है, परमात्मा हो जाती है। परमात्मा मूलत और कुछ नही है, सदा-सदा के लिए चेतना का शुद्ध हो जाना ही परमात्मा होना है।

ससारभूमिका पर खडी वद्ध चेतना अन्दर मे दुर्वलताओ का शिकार होती है, अतः अन्तर्मन के सागर मे तरगायित होने वाली विकृतियो के आदेशो का पालन करती है, निर्दिष्ट मांगो का अनुसरण करती है। तन और मन की कुछ सुविधाओ को पाकर वह सन्तुष्ट हो जाती है। परन्तु चेतना के सूक्ष्म अन्त स्तर पर जव परिवर्तन होता है, अधो-मुखता से ऊर्ध्वमुखता आती है, तव जीवन के समग्र तोष-रोष अर्थात् राग-द्वेष समाप्त हो जाते हैं, आत्मानन्द की शाश्वत धारा प्रवाहित हो जाती है, और इस प्रकार चेतना अनन्त प्रज्ञा में परिवर्तित एव विकसित होकर परमात्मा हो जाती है। चेतना का शुद्ध रूप ही प्रज्ञा है, जिसे दर्शन की भाषा मे ज्ञानचेतना कहते हैं। वाहर के किसी प्रभाव को ग्रहण न करना ही अर्थात् राग या द्वेष के छद्म रूप से प्रभावित न होना ही चेतना का प्रज्ञा हो जाना है, ज्ञान-चेतना हो जाना है। यही आध्यात्मिक पवित्रता है, वीरागता है, जो आत्मचेतना को परमा-त्मचेतना मे रूपान्तरित करती है, जन से जिन और नर से नारायण वना देती है। यह विकासप्रक्रिया क्रमिक है। जितना-जितना प्रज्ञा के द्वारा चेतना का जड के साथ चला आया रागात्मक सपर्क टूटता जाता है, जितना-जितना भेदविज्ञान के आधार पर जड और चेतन का विभाजन गहरा और गहरा होता जाता है, उतनी-उतनी चेतना मे परमात्मस्वरूप की अनुभूति स्पष्ट होती जाती है। अध्यात्म भाव की इस विकासप्रक्रिया को महावीर ने गुणस्थान की सज्ञा दी है। आत्मा से परमात्मा होने की विकासप्रक्रिया के सम्वन्ध मे भगवान ने स्पष्ट घोषणा की है कि परमात्मा विश्वप्रकृति का द्रष्टा है, स्रष्टा नहीं। स्रष्टा स्वयं विश्वप्रकृति है। विश्वप्रकृति के दो मूल तत्त्व है—जड और चेतन। दोनो ही अपने अन्दर मे कर्तृत्व की वह शक्ति लिए हुए है, जो स्वभाव से विभाव और विभाव से स्वभाव

की ओर गतिशील रहती है। पर के निमित्त से होने वाली कर्तृत्व शक्ति विभाव है, और पर के निमित्त से रहित स्वयंसिद्ध सहज कर्तृत्वशक्ति स्वभाव है। जव चेतनातत्त्व पूर्ण शुद्ध होकर परमात्वचेतना का रूप लेता है, तव वह पराश्रितता से मुक्त हो जाता है, पर के कर्तृत्व का विकल्प उसमे नही रहता, 'स्व' अपने ही 'स्व' रूप मे पूर्णतया समाहित हो जाता है। यह चेतना की विभाव से स्वभाव मे पूरी तरह वापस लौट आने की अन्तिम स्थिति है। और यह स्थिति ही वह परमात्व सत्ता है, जो मानव जीवन की सर्वोत्तम शुद्ध चेतना मे प्रतिष्ठित है। इस प्रकार भगवान् महावीर ने ससार की अन्धेरी गलियो मे भटकते मनुष्य को जीवनशुद्धि का दिव्य सन्देश देकर अनन्त ज्योतिर्मय ईश्वर के पद पर प्रतिष्ठित किया। महावीर ईश्वर को, जैसा कि कुछ लोग मान रहे थे, शक्ति और शासन का प्रतीक नही, अपितु शुद्धि का प्रतीक मानते थे। उनका कहना था कि मानव-आत्मा जव पूर्ण शुद्धि की भूमिका पर जा पहुँचती है, तो वह सिद्ध हो जाती है, आत्मा से परमात्मा हो जाती है।

७
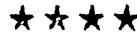
जीव और कर्म का सम्बन्ध

जीव और कर्म का सम्बन्ध कैसे होता है, इस सम्बन्ध मे तीन प्रकार के विचार उपलब्ध होते हैं—पहला है नीर-क्षीरवत् । जैसे जल और दुग्ध परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, वैसे ही कर्म पुद्गल के परमाणु आत्म-प्रदेशो के साथ सश्लिष्ट हो जाते हैं । दूसरा विचार है—अग्निलौहपिण्डवत् । जिस प्रकार लौह-पिण्ड को अग्नि मे डाल देने से उसके कण-कण मे अग्नि परिव्याप्त हो जाती है, उसी प्रकार आत्मा के असख्यात प्रदेशो पर अनन्त-अनन्त कर्मवर्गणा के कर्म दलिक सम्बद्ध हो जाते हैं, सश्लिष्ट हो जाते हैं । तीसरा विचार है—सर्प-केंचुलीवत् । जिस प्रकार सर्प का उसकी केंचुली के साथ सम्बन्ध होता है, उसी प्रकार आत्मा का भी कर्म के साथ सम्बन्ध होता है । यह तृतीय मान्यता जैन परम्परा के ही एक विद्रोही विचारक सातवें निह्नव गोष्ठामाहिल का है । जैन दर्शन मे और कर्म-ग्रन्थो मे इस मान्यता को स्वीकार नही किया गया है ।

कर्म और उसका फल :

हम देखते हैं कि ससार मे जितने भी जीव हैं, वे दो ही प्रकार के कर्म करते हैं—शुभ और अशुभ, अच्छा और बुरा । कर्मशास्त्र के अनुसार शुभ कर्म का फल अच्छा होता है और अशुभ कर्म का फल बुरा होता है । आश्चर्य है कि सभी प्राणी अच्छे या बुरे कर्म करते हैं, पर बुरे कर्म का दु:ख रूप फल कोई जीव नहीं चाहता । ससार का प्रत्येक प्राणी सुख तो चाहता है, किन्तु दु.ख कोई नही चाहता । अस्तु, यहाँ एक प्रश्न उठता है कि जब कर्म स्वय जड़ है, वह चेतन नही है, तब वह फल कैसे दे सकता है ? क्योकि चेतन की बिना प्रेरणा के फल-प्रदान करना सभव नही हो सकता । और, यदि स्वयं कर्म कर्त्ता चेतन ही उसका फल भोग लेता है, तो वह सुख तो भोग सकता है, परन्तु वह दु.ख स्वय कैसे भोगेगा ? दु.ख तो कोई भी नही चाहता । अत कर्मवादी अन्य दार्शनिकों ने कर्मफल भोग करने वाला ईश्वर माना है । परन्तु जैनदार्शनिक इस प्रकार के ईश्वर की सत्ता को स्वीकार नही करते । फिर, यहाँ प्रश्न यह उठता है कि जैन-दर्शन मे कर्म-फल-भोग की क्या व्यवस्था रहेगी ? इसका समाधान इस प्रकार से किया गया है कि—प्राणी अपने अशुभ कर्म

का फल नही चाहता, यह ठीक है, पर यह बात ध्यान मे रखनी चाहिए कि चेतन आत्मा के संसर्ग से अचेतन कर्म मे एक ऐसी शक्ति उत्पन्न हो जाती है, जिससे कर्म अपने शुभाशुभ फल को नियत समय पर स्वय ही प्रकट कर देता है। जैन-दर्शन यह नही मानता कि जड कर्म चेतन के ससर्ग विना भी फल देने मे समर्थ है। कर्म स्वय ही अपना फल प्रदान करने का सामर्थ्य रखता है। प्राणी जैसा भी कर्म करते हैं, उनका फल उन्हे उन्ही कर्मों द्वारा स्वत मिल जाता है। जिस प्रकार जीभ पर मिर्च रखने के वाद उसकी तिक्तता का अनुभव स्वत होता है, व्यक्ति के न चाहने से मिर्च का स्वाद नही आए, यह नही हो सकता। उस मिर्च के तीखेपन का अनुभव कराने के लिए किसी अन्य चेतन आत्मा की भी आवश्यकता नही पडती। यही वात कर्म-फल भोगने के विषय मे भी समझ लेनी चाहिए।

शुभ ग्रौर अशुभ कर्म

जैन दर्शन के अनुसार कर्म वर्गणा के पुद्गल-परमाणु लोक मे सर्वत्र भरे हैं। उनमे शुभत्व और अशुभत्व का भेद नहीं है, फिर कर्म पुद्गल परमाणुओ में शुभत्व एवं अशुभत्व का भेद कैसे पैदा हो जाता है ? इसका उत्तर यह है कि—जीव अपने शुभ और अशुभ परिणामो के अनुसार कर्म वर्गणा के दलिको को शुभ एवं अशुभ मे परिणत स्वरूप को करता ही ग्रहण करता है। इस प्रकार जीव के परिणाम एवं विचार ही, कर्मों की शुभता एव अशुभता के कारण हैं। इसका अर्थ यह है कि कर्म-पुद्गल स्वय अपने आप मे शुभ और अशुभ नही होता, वल्कि जीवका परिणाम ही उसे शुभ एव अशुभ वनाता है। दूसरा कारण है, आश्रय का स्वभाव। कर्म आश्रय भूत ससारी जीव का भी यह वैभाविक स्वभाव है कि वह कर्मों को शुभ एव अशुभ रूप मे परिणत करके ही ग्रहण करता है। इसी प्रकार कर्मों मे भी कुछ ऐसी योग्यता रहती है कि वे शुभ एव अशुभ परिणाम-सहित जीव द्वारा ग्रहण किए जाकर ही, शुभ एव अशुभ रूप मे परिणत होते रहते है, वदलते रहते हैं एव परिर्वातत होते रहते हैं। पुद्गल शुभ से अशुभ रूप मे और अशुभ से शुभ रूप मे परिणति का क्रम सदा चलता रहता है।

प्रकृति, स्थिति और ग्रनुभाग की विचित्रता तथा प्रदेशो के अल्प-वहुत्व का भी भेद जीव कर्म ग्रहण के समय ही करता है। इस तथ्य को समझने के लिए आहार के एक दृष्टान्त से समझा जा सकता है। सर्प और गाय को प्रायः एक जैसा ही भोजन एव आहार दिया जाए, किन्तु उन दोनो की परिणति विभिन्न प्रकार की होती है। कल्पना कीजिए, सर्प और गाय को एक साथ और एक जैसा दूध पीने के लिए दिया गया, वह दूध सर्प के शरीर मे विप रूप मे परिणत होजाता है और गाय के शरीर मे दूध, दूध रूप मे ही परिणत होता है। ऐसा क्यो होता है ? इस प्रश्न का समाधान स्वत. स्पष्ट है कि आहार का यह स्वभाव है कि वह अपने आश्रय के अनुसार ही परिणत होता है। एक ही समय पडी वर्षा की बूंदो, का आश्रय के भेद से, भिन्न-भिन्न परिणाम देखा जाता है। जैसेकि स्वाति नक्षत्र मे गिरी बूंदें सीप के मुख मे जाकर मोती वन जाती हैं और सर्प के मुख मे विप। यह तो हुई भिन्न-भिन्न शरीरो में आहार की विचित्रता की वात, किन्तु, एक शरीर मे भी एक जैसे आहार के द्वारा प्राप्त भिन्न-भिन्न परिणामो की विचित्रता देखी जा सकती है। शरीर द्वारा

ग्रहण किया हुआ एक आहार अस्थि, मज्जा एव मलमूत्र आदि सार-असार विविध रूपो में परिणत होता रहता है। इसी प्रकार कर्म भी जीव से ग्रहण किए जाने पर शुभ एव अशुभ रूप मे परिणत होते रहते हैं। एक ही पुद्गल वर्गणा मे विभिन्नता का हो जाना, सिद्धान्त-वाधित नही कहा जा सकता है।

जीव का कर्म से अनादि सम्बन्ध

आत्मा चेतन है और कर्म जड है, फिर यहाँ प्रश्न यह उठता है कि इस चेतन आत्मा का इस जड कर्म के साथ सम्बन्ध कव से है? इसके समाधान मे यह कहाजा सकता है कि—कर्म-सन्तति का आत्मा के साथ अनादिकाल से सम्बन्ध है। यह नही वताया जा सकता, कि जीव से कर्म का सर्वप्रथम सम्बन्ध कव और कैसे हुआ? शास्त्र मे यह कहा गया है कि जीव सदा क्रियाशील रहता है। वह प्रतिक्षण मन, वचन और काय से एकवद्ध हो व्यापार मे प्रवृत्त रहता है। अत वह हर समय कर्म वन्व करता ही रहता है। इस प्रकार अमुक कर्म विशेप दृष्टि से आत्मा के साथ कर्म का सम्बन्ध सादि ही कहा जा सकता है। परन्तु कर्म सन्तति की अपेक्षा से जीव के साथ कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध है। प्रतिक्षण पुराने कर्म क्षय होते रहते हैं और नये कर्म वँधते रहते हैं।

यदि कर्म सन्तति को सादि मान लिया जाए, तो फिर क्या जीव कर्म सम्बन्ध से पूर्व सिद्ध, वुद्ध एव मुक्त दशा में रहा होगा? फिर वह कर्म से लिप्त कैसे हो गया? यदि अपने शुद्ध स्वरूप मे स्थित जीव कर्म से लिप्त हो सकता है तो सिद्ध आत्मा भी कर्म से लिप्त क्यो नही हो जाती? इस प्रकार ससार और मोक्ष का कोई महत्त्व न रहेगा, कोई व्यवस्था न रहेगी। इसके अतिरिक्त कर्म सन्तति को सादि मानने वालो को यह भी वताना होगा कि कव से कर्म आत्मा के साथ लगे और क्यो लगे? इस प्रकार, किसी प्रकार का समाधान नही किया जा सकता। इन सव तर्कों से यही तथ्य सिद्ध होता है कि आत्मा के साथ कर्म का अनादि काल से सम्बन्ध रहा है।

कर्म वन्ध के कारण

यदि यह मान लिया जाए कि जीव के साथ कर्म का अनादि सम्बन्ध है, परन्तु फिर इस तथ्य को स्वीकार करने पर यह प्रश्न सामने आता है कि यह वन्ध किन कारणों से होता है? उक्त प्रश्न के समाधान मे कर्म-ग्रन्थो मे दो अभिमत उपलब्ध होते हैं—पहला, कर्म-वन्ध के कारण पाँच मानता है—जैसे मिथ्यात्व, अविरति, प्रमाद, कपाय और योग। दूसरा, कर्म-वन्ध के कारण केवल दो ही मानता है—कपाय और योग। यहाँ पर यह समझ लेना चाहिए कि कपाय मे मिथ्यात्व, अविरति और प्रमाद अन्तर्भूत हो जाते हैं। अतः सक्षेप की दृष्टि से कर्म-वन्ध के हेतु दो और विस्तार की अपेक्षा से कर्म-वन्ध के हेतु पांच हैं। दोनो अभिमतो मे कोई मौलिक भेद नहीं है।

कर्म-ग्रन्थो में वन्ध के चार भेद वताए गए हैं—प्रकृति, स्थिति, अनुभाग और प्रदेश। इनमें मे प्रकृति और प्रदेश का वन्ध योग से होता है तथा स्थिति और अनुभाग का का वन्ध कपाय से होता है। जिस प्रकार मकडी अपनी ही प्रवृत्ति से अपने वनाए हुए जाले मे फँस जाती है, उसी प्रकार यह जीव भी अपनी राग-द्वेप रूपी प्रवृत्ति से अपने आपको कर्म पुद्गल के जाल मे फँसा लेता है। कल्पना कीजिए, एक व्यक्ति अपने शरीर मे तेल लगा कर यदि धूलि मे लेटे तो धूलि उस शरीर मे चिपक जाती है। तो, जिस प्रकार मे

धूलि उसके शरीर मे चिपक जाती है, ठीक इसी प्रकार आत्मा के राग-द्वेष रूप परिणामो से जीव भी पुद्गलो को ग्रहण करता है और कषाय भाव के कारण उन कर्म-दलिको का आत्म-प्रदेशो के साथ संलेप हो जाता है और वस्तुतः यही बन्ध है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनो मे माया, अविद्या, अज्ञान और वासना को कर्म बन्ध के कारण माना गया है, परन्तु शब्द भेद और प्रक्रिया-भेद होने पर भी मूल भावनाओ मे अधिक मौलिक भेद नही है। न्याय एव वैशेषिक दर्शन में मिथ्या ज्ञान को, योग दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के सयोग को, वेदान्त मे अविद्या एव अज्ञान को तथा बौद्ध दर्शन मे वासना को कर्म-बन्ध का कारण माना गया है।

कर्म बन्ध से मुक्ति के साधन

भारतीय दर्शन मे जिस प्रकार कर्म-बन्ध और कर्म-बन्ध के कारण माने गए हैं, उसी प्रकार उस कर्म बंध से मुक्ति प्राप्ति के साधन भी बताए गए हैं। मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण प्रायः समान अर्थों मे प्रयुक्त होते हैं। बन्धन से विपरीत दशा को ही मुक्ति एव मोक्ष कहा जाता है यह ठीक है, कि जीव के साथ कर्म का प्रतिक्षण बन्ध होता है। पुरातन कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म प्रतिक्षण बँधते रहते हैं। परन्तु इसका फलितार्थ यह नही निकाल लेना चाहिए कि आत्मा कभी कर्मों से मुक्त होगी ही नही। जैसे स्वर्ण और मिट्टी परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, किन्तु ताप आदि की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार मिट्टी को अलग करके शुद्ध स्वर्ण को अलग कर लिया जाता है, उसी प्रकार अध्यात्म-साधना से कर्म-फल से छूट कर शुद्ध, बुद्ध एव मुक्त हो सकता है। यदि आत्मा एक बार कर्म विमुक्त हो जाती है, तो फिर कभी वह कर्म-बद्ध नही होती। क्योकि कर्म-बन्ध के कारणीभूत साधनो का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे बीज के सर्वथा जल जाने पर उससे फिर अकुर की उत्पत्ति नही हो सकती, वैसे ही कर्मरूपी बीज के जल जाने पर उससे ससार-रूप अंकुर उत्पन्न नही हो पाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि जो आत्मा एकदिन बद्ध हो सकती है, वह आत्मा एक दिन कर्मों से विमुक्त भी हो सकती है।

प्रश्न होता है कि कर्म-बन्ध से छूटने के उपाय क्या हैं, ? उक्त प्रश्न के समाधान मे जैन-दर्शन मोक्ष एवं मुक्ति के तीन साधन एव उपाय बतलाता है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। कही पर यह भी कहा गया है कि '**ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्ष**' अर्थात् ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की उपलब्धि होती है। ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का हेतु मानने का यह अर्थ नही है कि यहाँ सम्यग्दर्शन को मानने से इन्कार कर दिया है। जैन-दर्शन के अनुसार, जहाँ पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र होता है, वहाँ पर सम्यग्दर्शन भी अवश्य ही होता है। आगमो में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ तप को भी मोक्ष प्राप्ति मे एव मुक्ति की उपलब्धि मे उपाय व कारण माना गया है। इस अपेक्षा से जैन-दर्शन मे मोक्ष के हेतु दो एव चार सिद्ध होते हैं। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव मे मोक्ष के हेतु तीन ही हैं—श्रद्धान, ज्ञान और आचरण। बद्ध कर्मो से मुक्त होने के लिए साधक सवर की साधना से नवीन कर्मों के आगमन को रोक देता है और निर्जरा की साधना से पूर्व सचित कर्मो को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है। और साधक कर्म-बन्ध से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

★★★★

८

वन्धन और मोक्ष

यह आत्मा अनन्तकाल से वन्धन मे वँधी चली आ रही है। वन्धन भी एक नही, वल्कि अनन्तानन्त वन्धन आत्मा पर लगे हुए हैं। ऐसी वात भी नही है कि आत्मा उन वन्धनो को पुरुपार्थहीन वनकर चुपचाप सहती आई है, वल्कि वह उन्हे तोडने के प्रयत्न सदा-सर्वदा करती रही है। भले ही भोग कर ही क्यो न तोडी हो, पर तोडी जरूर है। इस प्रकार यह आत्मा वन्धन और मोक्ष के वीच से गुजरती रही है।

विचारणीय प्रश्न यह है कि ये वन्धन आत्मा मे कहां से आए हैं ? ये शरीर, ये परिवार और ये ऐश्वर्य आदि कहां से जुटाए गए हैं ? क्या इन्ही वाहरी पदार्थों ने आत्मा को वांध रखा है ? या अन्दर के काम-क्रोध आदि ने उसके गले मे फदा डाल रखा है ? इन दोनो—वाहरी और भीतरी वन्धनो के स्वरूप को समझे विना 'आत्मा के वन्धन क्या हैं ?' इस प्रश्न का उत्तर ठीक तरह नही समझा जा सकता। और जवतक वन्धन का स्वरूप नही समझा जाता, तव तक मोक्ष का स्वरूप भी नही समझा जा सकता। जैसा कि कहा गया है—'वुज्झिज्जित्ति तिउट्टिज्जा वन्धन परिजाणिया'—वन्धन का स्वरूप समझने के वाद ही उसे तोडने का प्रयत्न किया जा सकता है।

वन्धन क्या हैं ?

वन्धन का स्वरूप समझने के लिए हमे मूल कर्म और उसकी उत्तरकालीन परि-णति को समझना होगा। कर्म के दो रूप हैं—एक कर्म, दूसरा नोकर्म। पहला कर्म है, दूसरा वास्तव मे तो कर्म नही है किंतु कर्म जैसा ही लगता है, इसलिए साधारण भापा मे उसको नोकर्म कह दिया जाता है। शरीर, परिवार, धन, सम्पत्ति आदि सव नोकर्म हैं। नोकर्म भी दो प्रकार के होते हैं—एक वद्ध नोकर्म दूसरा अवद्ध नोकर्म। वद्ध का अर्थ है वँधा हुआ और अवद्ध का अर्थ है नहीं वँधा हुआ। ससार दशा मे जहां शरीर है, वहां आत्मा है, और जहां आत्मा है वहां शरीर है। दोनो दूध और पानी की तरह परस्पर मिले

धूलि उसके शरीर में चिपक जाती है, ठीक इसी प्रकार आत्मा के राग-द्वेष रूप परिणामो से जीव भी पुद्गलो को ग्रहण करता है और कषाय भाव के कारण उन कर्म-दलिको का आत्म-प्रदेशो के साथ सलेप हो जाता है और वस्तुतः यही वन्ध है। जैन-दर्शन के अतिरिक्त अन्य दर्शनो मे माया, अविद्या, अज्ञान और वासना को कर्म वन्ध के कारण माना गया है, परन्तु शब्द भेद और प्रक्रिया-भेद होने पर भी मूल भावनाओ मे अधिक मौलिक भेद नही है। न्याय एव वैशेषिक दर्शन मे मिथ्या ज्ञान को, योग दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के सयोग को, वेदान्त मे अविद्या एव अज्ञान को तथा वौद्ध दर्शन मे वासना को कर्म-वन्ध का कारण माना गया है।

कर्म वन्ध से मुक्ति के साधन

भारतीय दर्शन मे जिस प्रकार कर्म-वन्ध और कर्म-वन्ध के कारण माने गए हैं, उसी प्रकार उस कर्म वध से मुक्ति प्राप्ति के साधन भी वताए गए है। मुक्ति, मोक्ष और निर्वाण प्रायः समान अर्थों मे प्रयुक्त होते हैं। वन्धन से विपरीत दशा को ही मुक्ति एव मोक्ष कहा जाता है यह ठीक है, कि जीव के साथ कर्म का प्रतिक्षण वन्ध होता है। पुरातन कर्म अपना फल देकर आत्मा से अलग हो जाते हैं और नये कर्म प्रतिक्षण वँधते रहते हैं। परन्तु इसका फलितार्थ यह नही निकाल लेना चाहिए कि आत्मा कभी कर्मों से मुक्त होगी ही नही। जैसे स्वर्ण और मिट्टी परस्पर मिलकर एकमेक हो जाते हैं, किन्तु ताप आदि की प्रक्रिया के द्वारा जिस प्रकार मिट्टी को अलग करके शुद्ध स्वर्ण को अलग कर लिया जाता है, उसी प्रकार अध्यात्म-साधना से कर्म-फल से छूट कर शुद्ध, वुद्ध एवं मुक्त हो सकता है। यदि आत्मा एक वार कर्म विमुक्त हो जाती है, तो फिर कभी वह कर्म-वद्ध नही होती। क्योकि कर्म-वन्ध के कारणीभूत साधनो का सर्वथा अभाव हो जाता है। जैसे वीज के सर्वथा जल जाने पर उससे फिर अकुर की उत्पत्ति नही हो सकती, वैसे ही कर्मरूपी वीज के जल जाने पर उसमे ससार-रूप अकुर उत्पन्न नही हो पाता है। इससे यह सिद्ध हो जाता है, कि जो आत्मा एकदिन वद्ध हो सकती है, वह आत्मा एक दिन कर्मों से विमुक्त भी हो सकती है।

प्रश्न होता है कि कर्म-वन्ध से छूटने के उपाय क्या हैं, ? उक्त प्रश्न के समाधान में जैन-दर्शन मोक्ष एव मुक्ति के तीन साधन एव उपाय वतलाता है—सम्यग्दर्शन, सम्यग्ज्ञान और सम्यक्चारित्र। कही पर यह भी कहा गया है कि 'ज्ञान-क्रियाभ्यां मोक्ष' अर्थात् ज्ञान और क्रिया से मोक्ष की उपलब्धि होती है। ज्ञान और क्रिया को मोक्ष का हेतु मानने का यह अर्थ नही है कि यहाँ सम्यग्दर्शन को मानने से इन्कार कर दिया है। जैन-दर्शन के अनुसार, जहाँ पर सम्यग्ज्ञान और सम्यक् चारित्र होता है, वहाँ पर सम्यग्दर्शन भी अवश्य ही होता है। आगमो में दर्शन, ज्ञान और चारित्र के साथ तप को भी मोक्ष प्राप्ति मे एव मुक्ति की उपलब्धि मे उपाय व कारण माना गया है। इस अपेक्षा से जैन-दर्शन मे मोक्ष के हेतु दो एव चार सिद्ध होते हैं। परन्तु गम्भीरता से विचार करने पर यह ज्ञात होता है कि वास्तव मे मोक्ष के हेतु तीन ही हैं—श्रद्धान, ज्ञान और आचरण। वद्ध कर्मों से मुक्त होने के लिए साधक सवर की साधना से नवीन कर्मो के आगमन को रोक देता है और निर्जरा की साधना से पूर्व सचित कर्मो को धीरे-धीरे नष्ट कर देता है। और साधक कर्म-वन्ध से मुक्ति प्राप्त कर लेता है।

****

मन ही वन्धन और मुक्ति का कारण है। वन्धन शरीर से नही होता वल्कि शरीर के निमित्त से मन मे जो विकल्प होते हैं, जो राग-द्वेष के परिणाम होते हैं, उन विकल्पो और परिणामो के कारण वन्धन होता है। इसी प्रकार इन्द्रियाँ भी वन्धन नही हैं, किंतु इन्द्रियो के द्वारा जो रूपादि का वोध और जानकारी होती है, और उसके पश्चात् जो भावना मे विकृति आती है, राग-द्वेष का सचार होता है, वह आसक्ति एव रागद्वेष का घेरा ही आत्मा को वन्धन मे डालता है। उस घेरे मे वह पदार्थ, जो कि राग-द्वेष के विकल्प का निमित्त वना, नही वँधता, किंतु विकल्प करने वाली आत्मा वँध जाती है। अन्य पदार्थ पर आत्मा का अधिकार कभी नही हो सकता। यदि इन पर आत्मा का अधिकार होता, तो वह किसी भी अभीष्ट पदार्थ को कभी नष्ट नही होने देती। और तो क्या, शरीर तक पर अधिकार नही है। वचपन के वाद जवानी आने पर मनुष्य सदा जवान ही रहना चाहता है, परन्तु ससार की कोई भी शक्ति इस दिशा मे सफलता प्राप्त नही कर सकी। शरीर के पर्याय प्रतिक्षण वदलते रहते हैं, इन पर किसी का कोई अधिकार नही चल सकता। आज अनेक औषधियाँ, वैज्ञानिक अनुसधान, इसके लिए हो रहे हैं। वडे-वडे मस्तिष्क इस चेष्टा मे सक्रिय हैं कि मनुष्य अपने शरीर पर मनचाहा अधिकार रख सके, किंतु आज तक भी यह संभव नहीं हो पाया है। जव अपने एकदम निकट के सगी-साथी वद्ध शरीर पर भी आत्मा का नियन्त्रण नही हो सकता, तो फिर धन, सम्पत्ति आदि अवद्ध नोकर्म की तो वात ही क्या है ? जव हमारे विना चाहे भी आँख, कान, नाक और शरीर आदि के कण-कण जवाव देना शुरू कर देते हैं, तो वाहरी पदार्थ हमारे अनुकूल किस प्रकार होंगे ? यह हमारे मन का विकल्प ही है जो कि सवको अपना ही समझ रहा है, शरीर आदि पर पदार्थों के साथ मेरापन का सम्वन्ध जोड रहा है। किंतु वास्तव मे वे आत्मा के कभी नही होते। शरीर तथा इन्द्रिय आदि परपदार्थ आत्मा का न कभी अहित कर सकते है और न कभी हित। यदि कोई व्यक्ति यह कहे कि मेरी आँखें मुझे पतित कर रही हैं, तो यह वात ठीक नही है। आँखो में मानव का उत्थान और पतन करने की क्षमता है ही नही, यह क्षमता तो मानव की अपनी आत्मा में ही है। आँखें सिर्फ निमित्त वन सकती हैं, और कुछ नही।

आचाराग सूत्र मे भगवान् महावीर ने कहा है कि आँखें जव है, तो वे रूप को ग्रहण करेंगी ही। अच्छा या वुरा जो भी दृश्य उनके सम्मुख आएगा, उसका रूप आँखें ग्रहण कर लेंगी। साधक वनने के लिए सूरदास वनना जरूरी नहीं है। किन्तु आवश्यकता इस वात की है कि आँखो के सामने अच्छा या वुरा जो भी रूप आए, उसे वे ग्रहण तो भले ही करें, किन्तु उसके सम्वन्ध मे राग-द्वेष का भाव न आए, मन मे किसी प्रकार का दुर्विकल्प न हो, तो आँखो से कुछ देखने मे कोई हानि नही है। इसी प्रकार कान हैं, तो जो भी स्वर या शब्द उसकी सीमा के अन्दर मे होगा, उसे वह ग्रहण करेगा ही, सुनेगा ही। निन्दा और स्तुति, जय-जयकार और भर्त्सना—दोनों ही ध्वनियाँ कान मे अवश्य आएँगी, किन्तु उनके प्रति राग-द्वेष का विकल्प न उठना चाहिए। यदि वास्तव मे साधक अपने को ऐसा वना लेता है, तो ससार के कोई भी पदार्थ उसे वन्धन में नहीं डाल सकते। वन्धन तो निज के विकल्पो के कारण होता है। यदि अन्दर के भावो मे राग-द्वेष की चिकनाई नही रहती है तो वाह्य पदार्थों के रजकण उस पर चिपक नहीं सकते और न उस आत्मा को मलिन ही कर

सकते हैं। इस प्रकार जैन दर्शन का यह निश्चित मत है कि वन्धन का कारण एकमात्र भाव ही है, द्रव्य नही।

मुक्ति का दाता कौन ?

ऊपर के विवेचन से यह स्पष्ट हो जाता है कि जव वन्धन का कारण भाव है, तो मुक्ति का कारण भी कोई दूसरा नही हो सकता। जव वेचारे शरीर और इन्द्रियाँ वन्धन मे नही डाल सकते, तो मुक्ति कैसे दिला सकते हैं? शरीर मे यह शक्ति है ही नही, भले ही वह तीर्थंकर का वज्र ऋषभ नाराज सहनन वाला शरीर ही क्यो न हो। समस्त विश्व मे ऐसी कोई भी वाहरी शक्ति नही है, जो किसी आत्मा को वन्धन मे डाल दे या उसे मुक्ति दिला दे। जैन एव वेदान्त जैसे महान् भारतीय दर्शन एक स्वर से यही कहते हैं कि हे आत्मन् ! तेरी मुक्ति तेरे ही हाथ मे है, तू ही वन्धन करने वाला है और तू ही अपने को मुक्त करने वाला भी है।

> "स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते।
> स्वय भ्रमति ससारे, स्वय तस्माद् विमुच्यते॥'

यह आत्मा स्वयं ही कर्म करती है और स्वय ही उसे भोगती है। अपने स्वय के कर्मों के कारण ही ससार मे भ्रमण करती है और स्वयं ही कर्मों से मुक्त होकर मोक्ष में विराजमान हो जाती है। इसलिए हमे मुक्ति के लिए कही वाहर भटकने की जरूरत नही है, वह इसी आत्मा मे है, आत्मा ही मुक्ति का दाता है।

आत्मा ही मित्र है :

जव जव आत्मा वाहर झाँकती है और जव जव सुख, दुख, शत्रु और मित्र को वाहर मे देखने का विकल्प करती है, तभी आत्मा उन विकल्पो मे उलझकर अपने आप को वन्धनो मे फँसा लेती है। वास्तव मे जव तक आत्मा का दृष्टिकोण वहिर्मुखी रहता है, तव तक उसके लिए वन्धन ही वन्धन है। जव वह वाहर मे किसी मित्र को खोजेगी, तो एक मित्र के साथ वाहर मे इसे शत्रु भी मिल जाएँगे। किन्तु जव अन्तर्मुखी होकर अपनी आत्मा को ही मित्र की दृष्टि से देखेगी, तो न कोई मित्र होगा और न कोई शत्रु ही होगा। संसार के सभी वाह्य शत्रु और मित्र नकली प्रतीत होगे। भगवान् महावीर ने भी कहा है—

> "पुरिसा ! तुममेव तुम मित्त,
> कि वहिया मित्त मिच्छसि?"

मानव ! तू ही तेरा मित्र है, वाहर के मित्रों को क्यो खोजता है ? जव आत्मा अपने स्वरूप मे, ज्ञान, दर्शन, चारित्र के उपयोग मे रहती है, तो वह अपना परम मित्र है और जव वह अपने स्वरूप से हटकर परभाव मे चली जाती है, तो अपना सवसे वडा शत्रु भी वही होती है। जहाँ शुद्ध चेतना है, वहाँ वीतराग भाव होता है और जो वीतराग भाव है, वह अपना परम मित्र है और वहीं मोक्ष है। इसके विपरीत जहाँ आत्मा राग-द्वेष की लहरो मे थपेडे खाने लग जाती है, अशुद्धता में, मिलावट मे चली जाती है, तो वही भाव अपना शत्रु भाव है। इसलिए जव अपनी आत्मा को मित्र रूप मे ग्रहण करने का प्रयत्न होगा, तभी वह मुक्ति का दाता हो सकेगी।

आत्मा की अनन्त शक्ति :

कुछ लोगो का विचार है कि वन्धनो मे वहुत अधिक शक्ति है, उन्हें तोड़ना अपने वलवूते से परे की वात है, किन्तु यह यथार्थ नही है। आत्मा मे वन्धन की शक्ति है तो मुक्त होने की भी उसी मे शक्ति है। जैन दर्शन के कर्मवाद का महत्त्वपूर्ण सिद्धान्त यही है कि प्रत्येक प्राणी अपनी स्थिति का स्रष्टा, अपने भाग्य का विधाता स्वय ही है। वह स्वय ही अपने नरक और स्वर्ग का निर्माण करता है और स्वय ही वन्धन और मोक्ष का कर्त्ता है। जैन दर्शन के इस कर्म सिद्धान्त ने मनुष्य को वहुत वडी प्रेरणा, साहस और जीवन दिया था। किन्तु आगे चलकर कर्मो की इस दासता ने मानव को इस प्रकार घेर कर जकड लिया कि प्रत्येक क्षण उसके दिमाग मे सिर्फ यही एक वात घूमती रहती है कि काम, क्रोध, अभिमान आदि वहुत वलवान हैं, इनसे छुटकारा पाना वहुत ही कठिन है। इस प्रकार कुछ व्यक्ति देवी-देवताओ और ससार के अन्य पदार्थों की दासता से मुक्त होकर भी कर्मों की दासता मे फँस गए। वे यह भूल गए कि 'कर्म' की कोई स्वतन्त्र सत्ता नही है। वह तो मन के विकल्पो का ही एक परिणाम है। अपने मन का विकल्प ही उसका स्रष्टा है। वह एक पग मे जहाँ वन्धन डालता है, वहाँ दूसरे पग मे वह मुक्त भी कर सकता है। कर्म वर्गणाओ के अनन्त दल को आत्मीय चेतना की शुद्ध शक्ति क्षण भर मे नष्ट कर सकती है।

"वायुना चीयते मेघ पुनस्तेनैव नीयते।
मनसा कल्पते वन्धो मोक्षस्तेनैव कल्पते॥"

साफ खुला आकाश है, सूर्य चमक रहा है, किन्तु अकस्मात् ऐसा होता है कि कुछ ही देर मे घटाएँ घिर आती हैं और मूसलाधार वृष्टि होने लगती है। उन काली घटाओ को किसने वुलाया? हवा ने ही न? और वही हवा एक क्षण मे उन सव घटाओ को विखेरकर आकाश को विल्कुल साफ भी तो कर देती है। अत स्पष्ट है कि हवा मे ही वादल वने और हवा से ही नष्ट हुए। इसी प्रकार मन का एक विकल्प कर्म के वादलो को लाकर आत्मा रूपी सूर्य पर फैला देता है और अन्धकार ही अन्धकार सामने छा जाता है। जव वर्षा रूपी कर्मों का उदय होता है, तव व्यक्ति चीखता है, पुकारता है और अपने को विल्कुल असहाय और दुर्वल मानने लग जाता है। किन्तु यह सव मन के एक विकल्प का ही प्रतिफल है। जव चैतन्य देव दूसरी करवट वदलता है, तो उन कर्म रूप घटाओ को छिन्न-भिन्न कर देता है, आत्मा रूपी सूर्य का तेज पुन निखर उठता है। और चारो ओर प्रकाश ही प्रकाश हँसता नजर आता है। घटाओ के वनने मे समय लगता है, किन्तु विखरने मे अधिक समय नही लगता। इसी प्रकार आत्मा को स्वरूप मे आने के लिए अधिक समय की अपेक्षा नही रहती, उसमे कोई संघर्ष या कष्ट की अधिकता नही रहती। विलम्व और सघर्ष तो पर-रूप की ओर जाने मे होता है। उसमे पुरुषार्थ की अधिक आवश्यकता रहती है। भगवान् महावीर ने कहा है कि आत्मा का एक समयमात्र का शुद्ध ज्ञान रूप पुरुषार्थ कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाओं के समूह को समाप्त कर डालता है। किसी गुफा मे हजारो, लाखो वर्षों से सचित अधकार की राशि को सूर्य की एक किरण और दीपक की एक ज्योति क्षणमात्र मे नष्ट कर देती है। इसके लिए यह वात नहीं है कि अधकार यदि लाखों वर्षों से सचित है, तो प्रकाश को भी समाप्त करने मे उसी अनुपात से समय लगेगा। वह तो प्रथम क्षण मे ही उसे विलीन कर देगा। यदि स्पष्ट शब्दो मे कहा जाये, तो एक क्षण भी नहीं लगता। अपितु अधकार का अत और प्रकाश का उदय दोनों

एक ही क्षण में होते हैं। वही अंधकार के नाश का क्षण है और वही प्रकाश के आविर्भाव का भी क्षण है।

पाप बडा है या पुण्य?

ऊपर के उदाहरण से यह स्पष्ट है कि रात्रि के सघन अन्धकार की शक्ति अधिक है या सूर्य की एक उज्ज्वल किरण की? अवश्य ही सूर्य-किरण की शक्ति अधिक है। इसी प्रकार एक दूसरा प्रश्न है कि पाप बडा है या पुण्य बडा है? रावण की शक्ति अधिक है या राम की शक्ति? रावण की अतुल राक्षसी शक्तियो से लडने के लिए राम के पास केवल एक धनुप वाण था। रावण को अभिमान था कि उसके पास अपार राक्षसी विद्याएँ हैं, मायाएँ हैं, समुद्र का घेरा है और अन्य भी अनेक भौतिक शक्तियाँ उसके पजे के नीचे दवी हुई हैं। जवकि राम के पास केवल कुछ वन्दर है और एक छोटा-सा धनुष वाण है। किन्तु क्या आप नही जानते कि उस छोटे से धनुष वाण ने रावण को समस्त मायावी शक्तियो को समाप्त कर डाला, समुद्र को भी वाँध लिया और अन्त मे सोने की लका के अधिपति रावण को भी मौत के घाट उतार डाला। इसलिए पाशविक शक्ति की अपेक्षा, मानवीय (आत्मिक) शक्ति हमेशा प्रवल होती है। भगवान् महावीर ने कहा है कि तुम कर्मों की प्रवल शक्ति को देखकर घवराते क्यो हो? भयभीत क्यो होते हो? घवराये कि खत्म। हिम्मत और साहस वटोर कर उनसे लडो। तुम्हारी आत्मा की अनन्त अपराजेय शक्तियाँ उन कर्मों को क्षणभर मे नष्ट कर डालेंगी।

जैन इतिहास मे ऐसे अनेक सम्राट् हो गए है जिनका जीवन भोग, विलास, हत्या, सग्राम आदि मे ही व्यतीत हुआ। समुद्रो की छाती रौंद कर व्यापार करने वाले सेठ, हत्या और लूट करने वाले डाकू, जिनकी समूची जिन्दगी उन्ही क्रूर कर्मों मे व्यतीत हुई। परन्तु जव वे भगवान् के चरणो मे आए, तो ऐसा कह कर पश्चात्ताप करने लगे कि भगवन्! जव आपके ज्ञान की जरूरत थी और जव हममे कुछ करने की सामर्थ्य थी, उस समय तो प्रभु! आपके दर्शन हुए नही। अव आखिरी घडियो मे, जव शरीर जरा-जर्जर हो गया है, अशक्ति मे घिर गया है, तव हम क्या कर सकते है? इन शब्दो के पीछे उनकी अन्तर आत्मा की वेदनाएँ झलक रही थी। उनके मन का परिताप उनको कचोट रहा था। और शुद्ध स्वरूप की ओर प्रेरित कर रहा था। उनकी इस दयनीय स्थिति का उद्धार करते हुए भगवान् महावीर ने कहा है—

> "पच्छावि ते पयाया, खिप्प गच्छंति अमर भवणाइं,
> जेसिं पिओ तवो, सजमो य खन्ती य वभचेरं च।"

भगवान् ने उन्हे आत्मवोध कराया। तुम क्यो विलखते हो? जिसे वुढापा समझ रहे हो, वह तो तुम्हारे शरीर का आया है, न कि उसके अन्तर मे जो प्रकाशमान आत्मा है उसको आया है? तुम ५०-६० वर्ष की जिन्दगी गुजर जाने की वात करते हो, किन्तु मेरी दृष्टि मे तो अनन्तानन्त काल की लम्बी झलक है, जो अनन्त अतीत मे आज तक तुम नही कर सके, वह अव कर सकते हो। जो आत्मा का ज्ञान आज तक नही मिला, वह ज्ञान, वह प्रकाश आज मिला है। अपने आत्मस्वरूप का जागरण तुममे हुआ है। यह कोई साधारण वात नही है। जो आज तक नहीं हो सका, वह अव हो सकता है। आवश्यकता सिर्फ एक

करवट बदलने की है, अगडाई भरने की है। जब वन्धन को समझ लिया, उसकी अत्यन्त तुच्छ हस्ती को देख लिया, तो फिर तोडने मे कोई विलम्ब नही हो सकता—

"वुज्झिज्जत्ति तिउट्टिज्जा बंधण परिजाणिया।"

वन्धन को समझो और तोडो। तुम्हारी अनन्त शक्ति के समक्ष वन्धन की कोई हस्ती नही है।

वस, भगवान् महावीर का यह एक ही उपदेश उनके लिए आलोक स्तम्भ वन गया और जीवन की अन्तिम घडियो मे उन्होंने वह कर दिखाया, जो अनन्त जन्म लेकर भी नही कर सके थे।

साराश यह है कि वधन का कर्त्ता आत्मा ही वधन को तोडने वाली है। इसके लिए अपने स्वरूप को, अपनी शक्ति को जगाकर प्रयत्न करने की आवश्यकता है, वस, मुक्ति तैयार है। और मुक्ति के प्राप्त करने पर 'आखर चार लाख चौरासी' योनियो मे भटक कर वार वार जन्म और मृत्यु के अपार दु ख से छुटकारा प्राप्त हो जाता है।

यह मुक्तावस्था कव आती है, यह तब आती है, जब प्राणी अपने अन्तर्देव की पहचान कर लेता है। अन्तर् देव की पहचान होते ही व्यक्ति स्वय परमात्मा वन जाता है। परमात्मरूप प्राप्त करने पर स्वय आत्मदेव वन जाता है। और आत्मदेव की स्थिति पर पहुंच कर आत्मा सुख-दु ख, पाप-पुण्य इन समस्त वधनो से मुक्त सर्वज्ञ वीतराग पद को प्राप्त करने मे सहज समर्थ होती है मुक्ति का यही प्रशस्त द्वार है।

मुक्ति का साधन

जैन धर्म के अनुसार आत्मा शरीर और इन्द्रियो से पृथक् है। मन और मस्तिक से भी भिन्न है। वह जो कुछ भी है, इस मिट्टी के ढेर से परे है। वह जन्म लेकर भी अजन्मा है और मर कर भी अमर है।

कुछ लोग आत्मा को परमात्मा या ईश्वर का अश कहते हैं। परन्तु वह किसी का भी अश-वश नही है, किसी परमात्मा का स्फुलिंग नही है। वह तो स्वय पूर्ण परमात्मा विशुद्ध आत्मा है। आज वह वेवस है, वे-भान है, लाचार है, परन्तु जब वह मोह-माया और अज्ञान के परदो को भेद कर, उन्हे छिन्न-भिन्न करके अलग कर देगा, तो अपने पूर्ण परमात्मस्वरूप मे चमक उठेगा। अनन्तानन्त कैवल्य-ज्योति जगमगा उठेगी उसके अन्दर।

भारतीय दर्शनो मे, जिनका मूलस्वर मे एक ही प्रकार का सुनता हूं, किन्तु अपनी वात को कहने की जिनकी शैली भिन्न-भिन्न है, प्रश्न उठाया गया है कि मोक्ष एव मुक्ति का मार्ग, उपाय, साधन एवं कारण क्या है ? यह प्रश्न वहुत ही गम्भीर है। प्रत्येक युग के समर्थ आचार्य ने अपने युग की जन-चेतना के समक्ष इसका समाधान करने का प्रयत्न किया है। किन्तु जैसे-जैसे युग आगे वढा, वैसे-वैसे वह प्रश्न भी आगे वढता रहा, और हजार वर्ष पहले, जैसा प्रश्न था, वैसा प्रश्न आज भी है। भौतिकवादी दर्शन को छोडकर समय अध्यात्मवादी दर्शन एव साध्य एक ही है—मोक्ष एव मुक्ति। साध्य मे किसी प्रकार का विवाद नही है, विवाद है केवल साधन मे। एक ने कहा है—मुक्ति का एक मात्र साधन ज्ञान ही है। दूसरे ने कहा है—मुक्ति का एक मात्र साधन, भक्ति ही है। और तीसरे ने

कहा है, मुक्ति का एकमात्र साधन कर्म है। मैं विचार करता हूँ कि एक ही साध्य को प्राप्त करने के लिए, उसके साधन के रूप मे किसी ने ज्ञान पर बल दिया, किसी ने भक्ति पर बल दिया और किसी ने कर्म पर बल दिया। संसार मे जितने भी साधना के मार्ग हैं, क्रिया-कलाप हैं अथवा क्रियाकाण्ड हैं, वे सब साधना के अलकार तो हो सकते हैं, किन्तु उसकी मूल आत्मा नही। यहाँ मेरा उद्देश्य किसी भी पथ का विरोध करना नही है, बल्कि मेरे कहने का तात्पर्य केवल इतना ही है कि जो कुछ भी किया जाए, सोच समझ कर किया जाए। प्रत्येक साधक की रुचि अलग-अलग होती है, कोई दान करता है, कोई तप करता है और कोई सेवा करता है। दान, तप और सेवा तीनो धर्म हैं, किन्तु कब ? जबकि विवेक का दीपक घट मे प्रकट हो गया हो। इसी प्रकार कोई सत्य की साधना करता है, कोई अहिंसा की साधना करता है और कोई ब्रह्मचर्य की साधना करता है। किसी भी प्रकार की साधना की जाए, कोई आपत्ति की बात नही है, परन्तु ध्यान इतना ही रहना चाहिए कि वह साधना विवेक के प्रकाश मे चलती रहे। अलग-अलग राह पर चलना भी कोई पाप नही है। यदि आत्मा के मूलस्वरूप की दृष्टि को पकड लिया हैं, तो जिस व्यक्ति के हृदय मे विवेक के दीपक का प्रकाश जगमगाता है, वह जो भी साधना करता है, वह उसी मे एकरूपता, एकरसता और समरसता प्राप्त कर लेता है। जीवन मे समरसभाव की उपलब्धि होना ही, वस्तुत सम्यक्-दर्शन है।

अध्यात्म-साधना के क्षेत्र मे विशुद्ध ज्ञान का बडा ही महत्त्व है। भारत के अध्यात्मवादी दर्शनो मे इस विषय मे किसी प्रकार का विवाद नही है कि ज्ञान भी मुक्ति का एक साधन है। वेदान्त और सांख्य एकमात्र तत्त्व-ज्ञान अथवा आत्म-ज्ञान को ही मुक्ति का साधन स्वीकार करते हैं। इसके अतिरिक्त कुछ दर्शन केवल भक्ति को ही, मुक्ति का सोपान मानते हैं और कुछ केवल क्रियाकाण्ड एव कर्म को ही मुक्ति का कारण मानते हैं। जैन-दर्शन का कथन है कि तीनो का समन्वय ही, मुक्ति का साधन हो सकता है। इसमे किसी भी प्रकार का सन्देह नही है कि अज्ञान और वासना के सघन जंगल को जलाकर भस्म करने वाला दावानल ज्ञान ही है। ज्ञान का अर्थ यहाँ पर किसी पुस्तक या पोथी का ज्ञान नही है, बल्कि अपने स्वरूप का ज्ञान ही सच्चा ज्ञान है। "मैं हूँ" यह ज्ञान जिसे हो गया, उसे फिर अन्य किसी ज्ञान की आवश्यकता नही रहती। परन्तु यह स्वरूप का ज्ञान भी तभी सम्भव है, जबकि उससे पहले सम्यक् दर्शन हो चुका हो। क्योंकि सम्यक् दर्शन के बिना जैनत्व का एक अंश भी प्राप्त नही हो सकता। यदि सम्यक् दर्शन की एक किरण भी जीवन-क्षितिज पर चमक जाती है, तो गहन से गहन गर्त मे पतित आत्मा के भी उद्धार की आशा हो जाती है। सम्यक् दर्शन की उस किरण का प्रकाश भले ही कितना ही मन्द क्यो न हो, परन्तु उसमे आत्मा को परमात्मा बनाने की शक्ति होती है। याद रखिए, उस निरंजन, निर्विकार, शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा को खोजने के लिए कही बाहर भटकने की आवश्यकता नही है, वह आपके अन्दर मे ही है। जिस प्रकार घनघोर घटाओ के बीच, बिजली की क्षीण रेखा के चमक जाने पर क्षणमात्र के लिए सर्वत्र प्रकाश फैल जाता है, उसी प्रकार एक क्षण के लिए भी सम्यक् दर्शन की ज्योति के प्रकट हो जाने पर कभी न कभी आत्मा का उद्धार अवश्य ही हो जाएगा। बिजली की चमक मे सब कुछ दृष्टिगत हो जाता है,

भले ही वह कुछ क्षण के लिए ही क्यो न हो। इसी प्रकार यदि परमार्थ तत्त्व के प्रकाश की एक किरण भी अन्तर्हृदय मे चमक जाती है, तो फिर भले ही वह कितनी ही क्षीण क्यो न हो, उसके प्रकाश मे प्राप्त ज्ञान सम्यग् ज्ञान हो जाता है। इस प्रकार ज्ञान को सम्यक् ज्ञान बनाने वाला, सम्यक् दर्शन ही है। यह सम्यक् दर्शन जीवन का मूलभूत तत्त्व है।

तत्त्वो मे अथवा पदार्थों मे सवसे पहला जीव ही है। जीव, चेतन, आत्मा और प्राणी ये सव पर्यायवाची शब्द हैं। इस अनन्त विश्व मे सवसे महत्त्वपूर्ण यदि कोई तत्त्व है, तो वह आत्मा ही है। 'मैं' की सत्ता का विश्वास और वोध यही अध्यात्म-साधना का चरम लक्ष्य है। इस समग्र संसार मे जो कुछ भी ज्ञात एव अज्ञात है, उस सवका चक्रवर्ती एवं अधिष्ठाता यह आत्मा ही है। आत्मा के अतिरिक्त ससार मे अन्य दूसरे तत्त्व या पदार्थ हैं, वे सव उसके सेवक या दास हैं। धर्मास्तिकाय, अधर्मास्तिकाय, आकाशास्तिकाय, पुद्गलास्तिकाय और काल ये पाँचो द्रव्य जीव के सेवक और दास हैं। इनको इतना भी अधिकार नही है कि वे जीव रूपी राजा की आज्ञा मे किसी प्रकार की वाधा उपस्थित कर सकें। जीव रूपी राजा को धर्मास्तिकाय सेवक यह आदेश नही दे सकता कि चलो, जल्दी करो। अधर्मास्तिकाय सेवक उस राजा को यह नही कह सकता कि जरा ठहर जाओ। आकाशास्तिकाय यह नही कह सकता कि यहाँ ठहरिए और यहाँ नही। पुद्गलास्तिकाय सदा उसके उपभोग के लिए तैयार खडा रहता है। काल भी उसकी पर्यायपरिवर्तन के लिए प्रतिक्षण तैयार रहता है। ये सव जीव के प्रेरक कारण नही, मात्र उदासीन और तटस्थ कारण ही होते हैं। इस प्रकार हम देखते हैं, कि सात तत्त्वो मे, षड्द्रव्यो मे और नव पदार्थो मे सवसे मुख्य और सवसे प्रधान जीव ही है। इसी आधार पर जीव को चक्रवर्ती और अधिष्ठाता कहा जाता है। एक वात और है, हम जीव को अपनी अलकृत भाषा मे भले ही चक्रवर्ती कह लें, वस्तुतः वह चक्रवर्ती से भी महान् है, क्योकि चक्रवर्ती केवल सीमित क्षेत्र का ही अधिपति होता है। सीमा के वाहर एक अणुमात्र पर भी उसका अधिकार नही होता और न ही उसका शासन चल सकता है। परन्तु जीव मे वह शक्ति है कि जव वह केवलज्ञान प्राप्त कर लेता है एव अरिहन्त वन जाता है, तव वह त्रिलोकनाथ और त्रिलोक-पूजित हो जाता है। त्रिलोक के समक्ष चक्रवर्ती के छह खण्ड का विशाल राज्य भी महासिन्धु मे मात्र एक विन्दु के समान ही होता है। चक्रवर्ती को चक्रवर्ती अन्य कोई व्यक्ति नही वनाता है, वह अपनी निज की शक्ति से ही चक्रवर्ती वनता है। इसी प्रकार इस आत्मा को भी त्रिलोकनाथ और त्रिलोकपूजित वनाने वाली अन्य कोई शक्ति नहीं है, आत्मा स्वय अपनी शक्ति से ही, तीन लोक का नाथ और तीन लोक का पूज्य वन जाती है। आत्मा को परमात्मा वनाने वाला अन्य कोई नही होता, वल्कि स्वय आत्मा ही अपने विकल्प और विकारो को नष्ट करके, आत्मा से परमात्मा वन जाती है।

आप इस वात को जानते ही हैं कि सिंह को वन-राज कहा जाता है। वन-राज का अर्थ है—वन का राजा, वन का सम्राट् और वन का चक्रवर्ती। मैं आपसे पूछता हूँ कि आखिर उस सिंह को वन का राजा किसने वनाया ? कौन ऐसा पशु एवं पक्षी है, जो आगे वढकर उसका राज्याभिषेक करता है। स्पष्ट है कि सिंह को वन का राज्य दिया नहीं जाता, वल्कि वह स्वय अपनी शक्ति से उसको प्राप्त करता है। यहाँ पर भी यही वात सत्य है कि

इस जीव को त्रिलोक का नाथ दूसरा कोई वनाने वाला नही है, यह स्वय ही अपनी शक्ति से तीन लोक का नाथ वन जाता है। जैसे राजा के सेवक सदा राजा के आदेश का पालन करने के लिए तत्पर खडे रहते है, वैसे ही जीव रूपी राजा के आदेश का पालन करने के लिए, अन्य द्रव्य, अन्य तत्त्व और अन्य पदार्थ सदा तत्पर खडे रहते हैं। किसी मे यह शक्ति नही है कि उसकी इच्छा के विरुद्ध उसे चला सके, ठहरा सके अथवा अन्य कोई कार्य करा सके। जव उसकी इच्छा होती है, वह चलता है, जव उसकी इच्छा होती है, तव वह ठहरता है, जव उसकी इच्छा होती है तभी वह अपना अन्य कोई कार्य सपादन करता है। अन्य पदार्थ तो केवल उसकी आज्ञा-पालन मे तैयार खडे रहते हैं। कुछ भी करने वाला और कुछ भी न करने वाला तो स्वय जीव ही है। अन्य पदार्थ उसके कार्य मे अथवा क्रिया कलाप मे निमित्त मात्र ही रहते हैं। और, निमित्त भी प्रेरक नही, केवल उदासीन ही। यह जड शरीर और इसके अन्दर रहने वाली ये इन्द्रियाँ और मन भी तभी तक कार्य करते हैं, जव तक जीव रूपी राजा इस शरीर रूपी प्रासाद मे रहता है। उसकी सत्ता पर ही इस ससार के सारे खेल चलते है। इस जडात्मक जगत् का अधिष्ठाता और चक्रवर्ती यह जीव जव तक इस देह मे है, तभी तक यह देह हरकत करती है, इन्द्रियाँ अपनी प्रवृत्ति करती हैं और मन अपना काम करता है। इस तन मे से जव चेतन जीव निकल जाता है, तव तन, मन और इन्द्रियाँ सव निरर्थक हो जाती है। अत यह कहा जा सकता है कि समस्त तत्त्वो मे मुख्य तत्त्व जीव है, द्रव्यो मे मुख्य द्रव्य जीव है और पदार्थों में प्रधान पदार्थ भी जीव ही है इस अनन्त सृष्टि का अधिनायकत्व जो जीव को मिला है, उसका मुख्य कारण, उसका ज्ञान गुण ही है। ज्ञान होने के कारण ही यह ज्ञाता है और शेप ससार ज्ञेय है। जीव उपभोक्ता है और शेष समग्र ससार उसका उपभोग्य है। ज्ञाता है, तभी ज्ञेय की सार्थकता है, उपभोक्ता है, तभी उपभोग्य की सफलता है। इस अनन्त विश्व मे जीवात्मा अपने शुभ या अशुभ कर्म करने मे स्वतन्त्र है, वह पाप भी कर सकता है और पुण्य भी कर सकता है। वह अच्छा भी कर सकता है और वुरा भी कर सकता है। पाप करके यह नरक मे जा सकता है, पुण्य करके यह स्वर्ग मे जा सकता है तथा सवर एव निर्जरा रूप धर्म की साधना करके, वह मोक्ष मे भी जा सकता है। मोक्ष अथवा मुक्ति जीव की ही होती है, अजीव की नही। जव हम अजीव शब्द का उच्चारण करते हैं, तो उसमे भी मुख्य रूप से जीव की ध्वनि ही ध्वनित होती है क्योकि जीव का विपरीत भाव ही तो अजीव है। कुछ लोग तर्क करते हैं कि जीव से पहले अजीव को क्यो नही रक्खा? यदि सात तत्त्वो मे, षट्द्रव्यों मे और नव पदार्थो मे पहले जीव को न कहकर, अजीव का ही उल्लेख किया जाता, तो क्या आपत्ति थी? सवसे पहले हमारी अनुभूति का विषय यह जड पदार्थ ही वनता है। यह शरीर भी जड है, इन्द्रियाँ भी जड है और मन भी जड है। जीवन की प्रत्येक क्रिया जड एव पुद्गल पर ही आधारित है, फिर जीव से पूर्व अजीव क्यो नही?

आपने देखा कि कुछ लोग अजीव की प्रमुखता के समर्थन मे किस प्रकार तर्क करते हैं? मेरा उन लोगो से एक ही प्रतिप्रश्न है, एक ही प्रतितर्क है। यदि इस तन मे से चेतन को निकाल दें, तो इस शरीर की क्या स्थिति रहेगी? चेतन हीन और जीव विहीन शरीर को आप लोग शव कहते हैं। याद रखिए, इस शव के सम्बन्ध से ही, शिव का स्वरूप

वना हुआ है। यदि सात तत्त्वो मे अथवा नव पदार्थों मे जीव से पहले अजीव को रख दिया गया होता, तो यह इसान के दिमाग का दिवालियापन ही होता। और तो क्या, मोक्ष की वात को भी पहले नही रखा, सवसे अन्त मे रखा है। सवका राजा तो आत्मा ही है, उसी के लिए यह सव कुछ है, उसकी सत्ता से ही अजीव की सार्थकता है। पुण्य, पाप, आस्रव, वन्ध, सवर और निर्जरा स्वतन्त्र कहाँ है। जीव की ही अवस्था-विशेष हैं ये वस। मोक्ष भी जीव की ही अवस्था है, और मोक्ष के हेतु सवर और निर्जरा भी जीव के ही स्वरूप हैं। वन्ध और मोक्ष जीव के अभाव मे किसको प्राप्त होगे ? अतः ससार मे जीव की ही प्रधानता है।

सस्कृत भाषा मे जिसे आत्मा कहते हैं, हिन्दी भाषा का 'आप' शब्द उसी का अपभ्र श है। मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि आत्मा से ही प्राकृत का अप्पा और अप्पा से हिन्दी का 'आप' वना है। आप और आत्मा दोनो का अर्थ एक ही है। आत्मा की वात अपनी वात है और अपनी वात आत्मा की वात है। यही जीवन का मूलतत्त्व है, जिस पर जीवन की समस्त क्रियाएँ आधारित हैं। जवतक यह शरीर मे विद्यमान रहती है, तभी तक शरीर क्रिया करता है। शुभ क्रिया अथवा अशुभ क्रिया का आधार जीव ही है। जीवन के अभाव मे न शुभ क्रिया हो सकती है और न अशुभ क्रिया हो सकती है। मन, वचन और शरीर की जितनी भी क्रियाएँ होती है, उन सवका आधार जीव ही तो है। यदि आत्म-तत्त्व न हो, तो फिर इस विश्व मे कोई भी व्यवस्था न रहे। विश्व की व्यवस्था का मुख्य आधार जीव ही है।

शरीर मे जव तक मन, वचन, शरीर, इन्द्रियाँ आदि सभी अपना-अपना कार्य करते-रहते हैं और इस तन मे चेतन के निकलते ही, सव का काम एकसाथ और एकदम वन्द हो जाता है।

आत्मा इस संसार मे रानी मधुमक्खी है। जव तक वह इस देहरूप छत्ते पर वैठी होती है, तभी तक मन, वचन, शरीर, इन्द्रिय तथा पुण्य, पाप, शुभ एव अशुभ आदि का व्यापार चलता रहता है। यह आत्मा रूपीरानी मधुमक्खी जव अपना छत्ता छोड देती है, तो इस जीवन की शेष समस्त क्रियाएँ अपने आप वन्द हो जाती हैं, उन्हें किसी वाह्य कारण से वन्द करने की आवश्यकता नही रहती।

आत्मा न स्त्री है, न पुरुष है और न नपु सक है। आत्मा न वाल है, न तरुण है, न प्रौढ है, न वृद्ध है। ये सव अवस्थाएँ आत्मा की नही, शरीर की होती हैं। परन्तु इनके आधार पर शरीर को आत्मा समझना और आत्मा को शरीर समझना, एक भयकर मिथ्यात्व है। जवतक यह मिथ्यात्व नही टूटेगा, तवतक आत्मा का उद्धार और कल्याण भी नहीं हो सकेगा। इस मिथ्यात्व को तोडने की शक्ति एकमात्र सम्यग् दर्शन मे ही है।

जीवन के रहने पर ही सव कुछ रहता है, जीवन के न रहने पर तो कुछ भी नही रहता। इसी आधार पर अध्यात्मवादी दर्शन मे जीव को अन्य सभी तत्त्वों का राजा कहा गया है। यदि इस जीव, चेतन और आत्मा का वास्तविक वोध हो जाता है, तो जीव से भिन्न अजीव को एवं जड को पहचानना आसान हो जाता है। अजीव के परिज्ञान के लिए

भी, पहले जीव का परिवोध ही आवश्यक है। अपने को जानो, अपने को पहचानो, यही सवसे वडा सिद्धान्त है, यही सवसे वडा ज्ञान है और यही सवसे वडा सम्यक् दर्शन है। जीव की पहचान ही सवसे पहला तत्त्व है। जव जीव का ज्ञान हो जाता है, तव प्रश्न यह उठता है कि क्या इस ससार मे जीव का प्रतिपक्षी भी कोई तत्त्व है ? इसके उत्तर मे हम कह सकते है कि जीव का प्रतिपक्षी अजीव है। अतः अजीव के ज्ञान के लिए, जीव को ही आधार वनाना पडता है। इसीलिए मैंने पूर्व कहा था कि सप्त तत्त्वो मे, पड्द्रव्यो मे और नव पदार्थों मे सवसे मुख्य तत्त्व, और सवसे मुख्य द्रव्य, सवसे प्रधान पदार्थ जीव ही है। जीव के ज्ञान के साथ अजीव का ज्ञान स्वत. ही हो जाता है। शास्त्रकारो ने जीव का प्रधान लक्षण—उपयोग वतलाया है। और अजीव के लिए कहा है कि जिसमे उपयोग न हो वह अजीव है। अजीव का शव्दार्थ ही है कि जो जीव न हो वह अजीव, अर्थात् अ+जीव। अतः अजीव से पहले जीव का ही प्रमुख स्थान है।

जीव और अजीव के वाद आस्रव तत्त्व आता है। आस्रव क्या है ? जीव और अजीव का परस्पर विभावरूप परिणति में प्रवेश ही तो आस्रव है। दो विजातीय पृथग्भूत तत्त्वो के मिलन की क्रिया, विभाव परिणाम ही आस्रव है। जीव का विभाव रूप परिणाम ही आस्रव है। जीव की विभाव रूप परिणति और अजीव की विभाव रूप परिणति ही वस्तुत आस्रव है। एक ओर आत्मा रागद्वेपरूप विभाव अवस्था मे परिणत होता है, तो दूसरी ओर कर्माण पुद्गल भी कर्मरूप विभाव अवस्था मे परिणति करता है। उक्त उभयमुखी विभाव के द्वारा जव जीव और अजीव का सयोग होता है, उस अवस्था को शास्त्रकारो ने आस्रव कहा है। इसीलिए जीव और अजीव के वाद आस्रव को रखा गया है।

आस्रव के वाद वन्ध आता है। वन्ध का अर्थ है—कम पुद्गल रूप अजीव और जीव का, दूव और पानी के समान एकक्षेत्रावगाही हो जाना। वन्ध का अर्थ है--वह अवस्था, जवकि दो विजातीय तत्त्व परस्पर मिलकर सम्वद्ध हो जाते हैं। इसी को ससार अवस्था कहा जाता है।

पुण्य और पाप, जो कि शुभ क्रिया एव अशुभ क्रियाएँ हैं, उनका अन्तर्भाव आस्रव मे और वन्ध मे कर दिया जाता है। आस्रव दो प्रकार का होता है—शुभ और अशुभ। आस्रव के वाद वन्ध की प्रक्रिया होती है, अत. वन्ध भी दो प्रकार का होता है—शुभ वन्ध और अशुभ वन्ध। इस प्रकार शुभ और अशुभ रूप पुण्य और पाप दोनो ही आस्रव और वन्ध मे अन्तर्भुक्त हैं। यहाँ तक मुख्यतः ससार-अवस्था का ही वर्णन किया गया है। संसार-अवस्था का अर्थ वाहर के किसी भी वन, पर्वत, नदी और जड पदार्थ नही, वल्कि वास्तविक ससार तो कर्म परमाणुओ का अर्थात् कर्म दलिको का आत्मा के साथ सम्वद्ध हो जाना ही है। जवतक जीव और पुद्गल की यह सयोग अवस्था रहेगी, तवतक संसार की स्थिति और सत्ता भी रहेगी। यह स्वर्ग और नरको के खेल, यह पशु-पक्षी और मानव का जीवन, सव आस्रव और वन्ध पर ही आधारित हैं। शुभ और अशुभ अर्थात् पुण्य और पाप, यह सव भी ससार के ही खेल हैं। इनमे आत्मा का कोई हित नही होता, वल्कि अहित ही होता है। अध्यात्म-ज्ञानी की दृष्टि मे शुभ भी वन्वन है, और अशुभ भी वन्वन है, पाप भी वन्वन है, और पुण्य भी वन्वन है, सुख भी वंधन है और दुःख भी वंधन है, शुभ भी वंधन है और अशुभ भी वंधन है।

यहां प्रश्न यह होता है कि यदि यह सव कुछ ससार है, वधन है, तो ससार का विपरीत भाव मोक्ष क्या वस्तु है ? इसके समाधान मे यह कहा जा सकता है कि आत्मा की विशुद्ध अवस्था ही मोक्ष है, जो शुभ और अशुभ दोनो से अतीत है। दुःख की व्याकुलता यदि ससार है, तो सुख की आसक्ति रूपी आकुलता भी ससार ही है। मोक्ष की स्थिति मे न दु.ख की व्याकुलता रहती है और न सुख की ही आकुलता रहती है। जवतक जीव इस भेद-विज्ञान को नही समझेगा, तवतक वह ससार से निकल कर मोक्ष के स्वरूप मे रमण नही कर सकेगा। पुद्गल और जीव का सयोग यदि ससार है, तो पुद्गल और जीव का वियोग ही मोक्ष है। परन्तु इसके लिए यह आवश्यक है कि जो अजीव कर्म पुद्गल जीव के साथ सम्बद्ध होने वाला है या हो चुका है, उसे जीव से अलग रखने या अलग करने का प्रयत्न किया जाए। और इसी को मोक्ष की साधना कहते हैं। इस साधना का मुख्य केन्द्र-विन्दु है—आत्मा और अनात्मा का भेद-विज्ञान। जवतक जीव पृथक् है और अजोव पृथक् है इस भेद-विज्ञान का ज्ञान नही हो जाता है, तवतक मोक्ष की साधना सफल नही हो सकती। इस भेद-विज्ञान का ज्ञान तभी होगा, जवकि आत्मा को सम्यक् दर्शन की उपलब्धि हो जायगी। सम्यक् दर्शन के अभाव मे न मोक्ष की साधना ही की जा सकती है और न वह किसी भी प्रकार से फलवती ही हो सकती है। भेद-विज्ञान का मूल आधार सम्यक् दर्शन ही है। सम्यक् दर्शन के अभाव मे जीवन की एक भी क्रिया मोक्ष का अग नही वन सकती, प्रत्युत उससे ससार की अभिवृद्धि ही होती है। मोक्ष की साधना के लिए साधक को जो कुछ करना है, वह यह है कि वह शुभ और अशुभ दोनो विकल्पों से दूर हो जाए। न शुभ को अपने अन्दर आने दे और न अशुभ को ही अपने अन्दर झांकने दे। जव तक अन्दर के शुभ एव अशुभ के विकल्प एव विकार दूर नही होंगे, तव तक अपनी मोक्ष की सिद्धि नही की जा सकेगी। आस्रव से वन्ध और वन्ध से फिर आस्रव, यह चक्र आज का नही, वल्कि अनादिकाल का है। परन्तु इससे विमुक्त होने के लिए, आत्म-ज्ञान और सत्ता का पूर्ण विश्वास जाग्रत होना ही चाहिए। शुभ और अशुभ के विकल्प जव तक वने रहेंगे, तवतक ससार का अन्त नहीं हो सकता, भले ही हम कितना ही प्रयत्न क्यो न कर लें।

ससार के विपरीत मोक्ष-मार्ग की साधना करना ही अध्यात्मवाद है। मोक्ष का अर्थ है—आत्मा की वह विशुद्ध अवस्था, जिसमे आत्मा का किसी भी विजातीय तत्त्व के साथ सयोग नही रहता और समग्र विकल्प एव विकारो का अभाव होकर, आत्मा स्व-स्वरूप मे स्थिर हो जाती है। जिस प्रकार ससार के दो कारण हैं—आस्रव और वन्ध। उसी प्रकार मोक्ष के भी दो कारण हैं—सवर और निर्जरा। सवर क्या है ? प्रतिक्षण कर्म दलिको का जो आत्मा मे आगमन है, उसे रोक देना ही तो सवर है प्रतिक्षण आत्मा कषाय और योग के वशीभूत होकर, नवीन कर्मों का उपार्जन करती रहती है, उन नवीन कर्मों के आगमन को रोक देना ही, सवर कहा जाता है। प्रश्न यह है कि निर्जरा क्या है ? इस प्रश्न के उत्तर मे कहा जा सकता है, कि पूर्ववद्ध कर्मों का एकदेश से आत्मा से अलग हटते रहना ही निर्जरा है। इस प्रकार धीरे-धीरे जव पूर्ववद्ध कर्म आत्मा से अलग होता रहेगा, तव एकदिन ऐसा भी आ सकता है, जवकि आत्मा सर्वथा कर्म-विमुक्त वन जाए। वस्तुत. इसी को मोक्ष कहा जाता है। सवर और निर्जरा मोक्ष के हेतु हैं। क्योंकि ये दोनो आस्रव और वन्ध के विरोधी तत्त्व

हैं। इस आधार पर यह कहा जा सकता है कि जब तक संवर और निर्जरा रूप धर्म की साधना नही की जाएगी, तब तक मुक्ति की उपलब्धि भी सम्भव नही है। मोक्ष प्राप्त करने के लिए सवर एव निर्जरा की साधना आवश्यक है, इसके बिना आत्मा को स्व-स्वरूप की उपलब्धि नही हो सकती।

सप्त तत्त्वो मे अथवा नव पदार्थों मे जीव ही प्रधान है। जीव के अतिरिक्त अन्य जितने भी पदार्थ एव तत्त्व हैं, वे सब किसी न किसी प्रकार जीव से ही सम्बन्धित है। जीव की सत्ता के कारण ही आस्रव और बन्ध की सत्ता रहती है और जीव के कारण ही सवर एव निर्जरा की सत्ता रहती है। मोक्ष भी क्या है, जीव की ही एक सर्वथा शुद्ध अवस्था-विशेष तो मोक्ष है। इस दृष्टि से विचार करने पर फलितार्थ यही निकलता है कि जीव की प्रधानता ही सर्वत्र लक्षित है। समग्र अध्यात्म-विद्या का आधार ही यह जीव है, अतः जीव के स्वरूप को समझने की ही सबसे बडी आवश्यकता है। जीव के स्वरूप का परिज्ञान हो जाने पर और यह निश्चय हो जाने पर, कि मैं पुद्गल से भिन्न चेतन तत्त्व हूँ, फिर आत्मा मे किसी प्रकार का मिथ्यात्व और अज्ञान का अन्धकार शेप नही रह जाता। अज्ञान और मिथ्यात्व का अन्धकार तभी तक रहता है, जब तक 'पर' मे स्वबुद्धि रहती है और 'स्व' मे पर-बुद्धि रहती है। स्व मे पर बुद्धि और पर मे स्व बुद्धि का रहना ही बन्धन है। स्व मे स्व-बुद्धि का रहना ही वस्तुतः भेद-विज्ञान है। जब स्व मे स्व-बुद्धि हो गई, तब पर मे पर-बुद्धि तो अपने आप ही हो जाती है, उसके लिए किसी प्रकार के प्रयत्न करने की आवश्यकता नही रहती। प्रयत्न की आवश्यकता केवल स्व-स्वरूप को समझने के लिए है। जिसने स्व-स्वरूप को समझ लिया, उसे फिर अन्य किसी बात की अपेक्षा नही रहती।

ससार एक बाजार है। आप जानते हैं कि बाजार मे हजारो दुकानें होती हैं, जिनमें नाना प्रकार की सामग्री भरी रहती है। बाजार मे अच्छी चीज भी मिल सकती है और बुरी से बुरी चीज भी मिलती है। बाजार मे कम कीमत की चीज भी मिल सकती है और अधिक मूल्य की वस्तु भी बाजार मे उपलब्ध हो सकती है। यह खरीदने वाले की भावना पर है कि वह क्या खरीदता है और क्या नही खरीदता है? यदि कोई व्यक्ति वस्तु खरीद लेता है, तो वह उसे लेनी होगी, और उसकी कीमत चुकानी होगी। यदि कोई बाजार मे से तटस्थ दर्शक के रूप मे गुजरता है, कुछ भी नही खरीदता है, तो उसे दुकान की किसी वस्तु को लेने के लिए बाध्य नही किया जा सकता है, और न मूल्य चुकाने के लिए ही कोई दबाव डाला जा सकता है। ससार के बाजार में भी सभी कुछ है। वहाँ विप भी है और अमृत भी है। वहाँ सुख भी है और दुख भी है। वहाँ स्वर्ग भी है और नरक भी है। यदि आपकी दृष्टि कुछ भी खरीदने की नही है, मात्र दर्शक की ही है आप, तब तो समस्त बाजार मे से पार होकर भी आप किसी वस्तु को लेने के लिए बाध्य न होगे। बाजार की वस्तु उसी से चिपकती है, जो उसे खरीदता है। जो व्यक्ति कुछ खरीदता ही नही, उस व्यक्ति के साथ कोई भी वस्तु उसकी इच्छा के विरुद्ध चिपक नही सकती। यदि आप ससार रूपी बाजार की यात्रा खरीददार बनकर कर रहे हैं, ससार की वस्तुओं के साथ रागात्मक या द्वेपात्मक भाव रख रहे हैं, तो तन्निमित्तक कर्म आपके साथ अवश्य चिपक जाएगा।

इसके विपरीत यदि आप ससार रूप बाजार की यात्रा केवल एक दर्शक के रूप मे कर रहे हैं, रागद्वेप का भाव नही रख रहे है, तो एक भी कर्म आपके

साथ सम्बद्ध न हो सकेगा। इसीलिए मैं कहता हूँ कि आप ससार के बाजार की यात्रा एक दर्शक के रूप मे कीजिए, खरीददार बनकर नही। यदि एक बार भी कहीं कुछ खरीदा, राग द्वेष का भाव किया, तो फिर वही समस्या खडी हो जाएगी। राग और द्वेष के वशीभूत होकर ही यह आत्मा अच्छे एव बुरे कर्मों को प्राप्त करती है, जिसका सुख-दुःखात्मक फल उसे भोगना ही पडता है।

अध्यात्म-साधना मे सफलता प्राप्त करने के लिए, राग और द्वेष के विकल्पो को जीतने की आवश्यकता है। जबतक जीवन मे अनासक्ति का भाव और वीतरागता का भाव नही आएगा, तब तक जीवन का कल्याण नहीं हो सकेगा। वीतरागता की वह कला प्राप्त करो, जो ऐसी अद्भुत है, कि ससार-सागर मे गोता लगाने पर भी, उसकी एक भी बूँद आप पर असर नही डाल पाती और यह कला राग-द्वेष के विकल्प को जीतने की ही है। जब आत्मा मे वीतराग भाव आ जाता है, तब ससार के किसी भी पदार्थ का उसके जीवन पर अनुकूल एव प्रतिकूल प्रभाव नही पडता है। ससार का विप विपरीत भाव ही मोक्ष है। जैसे दूध-दूध है और पानी-पानी है, यह दोनो की शुद्ध अवस्था है। जब दोनो को मिला दिया जाता है, तब यह दोनो की अशुद्ध अवस्था कहलाती है। इस प्रकार जीव और पुद्गल की संयोगावस्था ससार है और इन दोनो की वियोगावस्था ही मोक्ष है। इस मोक्ष अवस्था मे जीव, जीव रह जाता है और पुद्गल, पुद्गल रह जाता है। वस्तुत यही दोनो की विशुद्ध स्थिति है।

यहाँ पर एक बात और भी विचारणीय है, और वह यह कि प्रत्येक मत और प्रत्येक पंथ, अपने को सच्चा समझता है और दूसरे को झूठा समझता है। वास्तव मे कौन सच्चा है और कौन झूठा है, इसकी परीक्षा करना भी आवश्यक हो जाता है। मैं समझता हूँ, जो धर्म और दर्शन सत्य की उपासना करता है, फिर भले ही वह सत्य अपना हो अथवा दूसरो का हो, बिना किसी मताग्रह एव पूर्वाग्रह के तटस्थ भाव से सत्य को सत्य समझना ही वास्तविक सम्यक् दर्शन है। मैं आपसे पहले कह चुका हूँ कि सत्य तत्त्वो पर निश्चित दृष्टि, प्रतीति अर्थात् श्रद्धान ही मोक्ष साधन का प्रथम अग है। अध्यात्म-साधना मे सर्व-प्रथम यह समझना आवश्यक होता है कि आत्म-धर्म क्या है और आत्म-स्वभाव क्या है? आत्मा और अनात्मा मे भेद-विज्ञान को अध्यात्म-भाषा मे सम्यक् दर्शन कहा जाता है। आत्मस्वरूप का स्पष्ट दर्शन और कल्याण-पथ की दृढ आस्था, यही सम्यक् दर्शन है। कभी-कभी हमारी आस्था मे और हमारी श्रद्धा मे भय से और लोभ से चलता और मलि-नता आ जाती है। इस प्रकार के प्रसग पर भेद-विज्ञान के सिद्धान्त से ही, उस चलता और मलिनता को दूर हटाया जा सकता है। सम्यक् दर्शन की ज्योति जगते ही, तत्त्व का स्पष्ट दर्शन होने लगता है। स्वानुभूति और स्वानुभव यही, सम्यक् दर्शन की सबसे सक्षिप्त परि-भाषा हो सकती है। कुछ विचार-मूढ लोग बाह्य जड-क्रियाकाण्ड मे ही सम्यक् दर्शन मानते हैं। किन्तु सम्यक् दर्शन का सम्बन्ध किसी भी जड-क्रियाकाण्ड से नहीं है, बल्कि उसका एकमात्र सम्बन्ध है, आत्म-भाव की विशुद्ध परिणति से। सम्यक् दर्शन का सम्बन्ध न किसी देश-विशेष से है, न किसी जाति-विशेष से है और न किसी पथ-विशेष से ही है। जबतक यह आत्मा स्वाधीन सुख को प्राप्त करने की ओर उन्मुख नहीं होती है, तबतक किसी भी प्रकार की धर्म-साधना मे कुछ भी लाभ नहीं हो सकता। अपनी आत्मा मे अविचल आस्था करना ही जब सम्यक् दर्शन का वास्तविक अर्थ है, तब परोक्ष किसी

भी वाह्य जड क्रियाकाण्ड मे और उसके विविध विधिनिषेध मे सम्यक् दर्शन नही हो सकता।

सम्यक् दर्शन के सम्बन्ध मे वहुत कुछ कहा जा चुका है, किन्तु सम्यक् दर्शन एक ऐसा विषय है कि जीवन भर भी यदि इस पर विचार किया जाए, तव भी इस विषय का अन्त नही आ सकता। फिर भी, ससार के किसी भी पदार्थ को रागात्मक दृष्टि से देखना निश्चय ही अधर्म है, और उसे स्वरूप-वोध की दृष्टि से देखना, निश्चय ही धर्म है। किसको देखना ? इस प्रश्न के उत्तर में कहा जाता है कि इस संसार मे अनन्त पदार्थ है, तुम किस-किस को देखोगे ? यह जटिल समस्या है। अत किसी ऐसे पदार्थ को देखो, जिसके देखने से अन्य किसी के देखने की इच्छा ही न रहे और वह पदार्थ अन्य कोई नही, एकमात्र आत्मा ही है। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि किसको देखना ? इस प्रश्न का एक ही समाधान है, कि आत्मा को ही देखो, आत्मा को देखने पर ही हम अपने लक्ष्य को अधिगत कर सकेंगे। कैसे देखना ? इस प्रश्न के उत्तर मे मुझे केवल इतना ही कहना है कि अभी तक यह आत्मा अनन्त काल से संसार के पदार्थों को मिथ्या दृष्टि से ही देखती रही है, किन्तु जव तक सम्यक् दृष्टि से नही देखा जायगा, तव तक आत्मा का कल्याण एव उत्थान नही हो सकता। इस प्रकार जव हम वस्तुस्थिति का अध्ययन करते हैं, तव हमे जीवन की वास्तविकता का परिवोध हो जाता है।

मुक्ति का मार्ग

√ भारत के अध्यात्म-दर्शन मे स्पष्ट रूप से यह वतलाया गया है कि जीवन के इस चरम लक्ष्य को कोई भी साधक अपनी साधना के द्वारा प्राप्त कर सकता है। भले ही वह साधक गृहस्थ हो अथवा भिक्षु हो। पुरुष हो अथवा नारी हो। वाल हो अथवा वृद्ध हो। भारत का हो अथवा भारत के वाहर का हो। जाति, देश और काल की सीमाएँ शक्ति-पुञ्ज आत्मतत्त्व को अपने मे आवद्ध नही कर सकती। विश्व का प्रत्येक व्यक्ति एव व्यक्ति राम, कृष्ण, महावीर और वुद्ध वन सकता है। किन्तु जीवन की इस ऊँचाई को पार करने की उसमे जो क्षमता और योग्यता है, तदनुकूल प्रयत्न भी होना चाहिए। भारतीय सस्कृति मे महापुरुषो के उच्च एव पवित्र जीवन की पूजा एव प्रतिष्ठा तो की गई, किन्तु उसे कभी अप्राप्य नही वताया गया। जो अप्राप्य है, अलभ्य है, भारतीय सस्कृति उसे अपना आदर्श नहीं मान सकती। वह आदर्श उसी को मानती है—जो प्राप्य है, प्राप्त किया जा सकता है। यह वात अलग है कि उस आदर्श को प्राप्त करने के लिए कितना प्रयत्न करना पडता है, कितनी साधना करनी पडती है। भारतीय दर्शन यथार्थ और आदर्श मे समन्वय करके चलता है। भारत का प्रत्येक नागरिक यह चाहता है कि मेरा पुत्र राम, कृष्ण, महावीर और वुद्ध वने तथा मेरी पुत्री व्राह्मी, सुन्दरी, सीता और सावित्री वने। जीवन का यह आदर्श ऐसा कुछ नही है, जिसे प्राप्त न किया जा सके। भारतीय जीवन की यह एक विशेषता है कि वह अपनी सतान का नाम भी महापुरुषो के नाम पर रखती है। भारत के घरो के कितने ही आँगन ऐसे हैं—जिनमे राम, कृष्ण, शकर, महावीर और गौतम खेलते हैं। सीता, सावित्री, पार्वती और त्रिशला भी कम नही हैं। इसके पीछे एक ध्येय है और वह यह कि जैसा तुम्हारा नाम है, वैसे ही तुम वन सकते हो। ये नाम केवल

आदर्श नही है, यथार्थ है। अतः स्पष्ट है कि एक साधक अपने जीवन मे एक आदर्शवादी दृष्टिकोण को लेकर चलता है, किन्तु उसका वह आदर्श केवल आदर्श ही नही है, जीवन के धरातल पर उतरने वाला एक यथार्थवाद है। आदर्श को यथार्थ मे बदलने की और यथार्थ को आदर्श मे बदलने की कला का यहाँ चरम विकास हुआ है। भारतीय सस्कृति का यह एक स्वस्थ, सतुलित, सुन्दर एव मधुर सिद्धान्त रहा है कि जीवन को शान्त एव मधुर बनाने के लिए विचार को आचार मे बदला जाए और आचार को विचार मे बदला जाए। भारतीय दर्शन का आदर्श आत्मा के सम्बन्ध मे सच्चिदानन्द रहा है। जहाँ सत् अर्थात् सत्ता, चित् अर्थात् ज्ञान और आनन्द अर्थात् सुख—तीनो की स्थिति चरम सीमा पर पहुँच जाती है, उसी अवस्था को यहाँ परमात्व-भाव कहा गया है। उसकी प्राप्ति के बाद अन्य कुछ प्राप्तव्य नहीं रह जाता। इसकी साधना कर लेने के बाद अन्य कुछ कर्त्तव्य शेष नही रह जाता। आपही विचार कीजिए, जब अनन्त आनन्द मिल गया, अक्षय सुख मिल गया, फिर तो अब क्या पाना शेष रह गया? कुछ भी तो शेष नहीं बचा, जिसे प्राप्त करने के लिए प्रयत्न किया जाए एव साधना की जाए। भारतीय दर्शन मे इसी को मोक्ष कहा गया है, इसी को मुक्ति कहा गया है और इसी को मानव-जीवन का अन्तिम लक्ष्य माना गया है। यहाँ एक बात याद रखने की है कि जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का अनन्त आनन्द सत् है, असत् नही। वह केवल दुःखाभावरूप तुच्छ अभाव नही है, अपितु अनन्त काल से विकृत चले आ रहे आनन्द का शुद्ध रूप है। जब आत्मा स्वय सत् है, तो उसका आनन्द असत् कैसे हो सकता है? जब आत्मा स्वय सत् है, तो उसका चित् (ज्ञान) असत् कैसे हो सकता है? आत्मा मे सत्, चित् और आनन्द शाश्वत हैं, नित्य है, इनका कभी अभाव नही होता।

यहाँ प्रश्न किया जा सकता है कि जब आत्मा सुख-रूप एव आनन्द रूप है, तब उसमे दुःख कहाँ से आता है? और क्यो आता है? दुःख का मूल कारण बन्धन है। जब तक आत्मा की बद्धदशा है, तभी तक आनन्द विकृत होकर दुःख की स्थिति मे बदला रहता है। दुःख एव क्लेश का मूल कारण कर्म, अविद्या, माया एव वासना को माना गया है। जब तक आत्मा कर्म के बन्धन मे बद्ध है, तभी आनन्द विकृत रहता है, तभी तक उसे दुःख और क्लेश रहते है। जब आत्मा का कर्म के साथ सयोग न रहेगा, तब आनन्द अपने शुद्ध रूप मे परिणत हो जायगा, फलत सर्व प्रकार के दुःख एवं क्लेशो का क्षय हो जाएगा।

देह का नाश या शरीर का छूट जाना ही मोक्ष नही है। ग्राम, नगर और समाज को छोडकर शून्य निर्जन वन मे चले जाना ही मोक्ष नही है। इस प्रकार का मोक्ष तो एक बार नही, अनन्त-अनन्त बार हो चुका है। वास्तविक मोक्ष तो यही है, कि अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ सम्बद्ध कर्म, अविद्या और माया को दूर किया जाए। विकारो से मुक्ति ही सच्ची मुक्ति है। जीवन्मुक्ति पहले है, और विदेहमुक्ति उसके बाद मे है।

भारतीय दर्शन का लक्ष्य आनन्द है। भले ही वह दर्शन भारत की किसी भी परम्परा से सम्बद्ध रहा हो, किन्तु प्रत्येक अध्यात्मवादी दर्शन इस तथ्य को स्वीकार करता है कि साधक के जीवन का लक्ष्य एकमात्र आनन्द है। यह प्रश्न अवश्य किया जा सकता है, कि उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति वर्तमान जीवन मे भी हो सकती है, या नही? क्या मृत्यु के बाद ही उस अनन्त आनन्द की प्राप्ति होगी? मैंने इस तथ्य को अनेक बार दुहराया

है कि मुक्ति एव मोक्ष जीवन का अग है। स्वय चैतन्य का ही एक रूप है। एक ओर ससार है और दूसरी ओर मुक्ति है। जब यह जीवन ससार हो सकता है, तब यह जीवन मोक्ष क्यो नही हो सकता ? जीवन से अलग न ससार है और न मोक्ष है। ससार और मोक्ष दोनो ही जीवन के दो पहलू हैं, दो दृष्टिकोण हैं। दोनो को समझने की आवश्यकता है। यह बात कितनी विचित्र है कि ससार को तो हम जीवन का अग मान लें, किन्तु मुक्ति को जीवन का अग न मानें। जैन दर्शन कहता है कि एक ओर करवट बदली तो ससार है और दूसरी ओर करवट बदली तो मोक्ष है। किन्तु दोनो ओर करवट बदलने वाला जीवन शाश्वत है। वह ससार मे भी है और मोक्ष मे भी है। इसलिए मोक्ष जीवन का ही होता है, और जीवन म ही होता है, मृत्यु मे नही। जिसे हम मृत्यु कहते हैं, वह भी आखिर क्या वस्तु है ? मृत्यु जीवन का ही एक परिणाम है, जीवन का ही एक पर्याय है। मोक्ष एव मुक्ति यदि जीवन-दशा मे नही मिलती है, तो मृत्यु के बाद वह कैसे मिलेगी ? अतः भारतीय दर्शन का यह एक महान् आदर्श है, कि जीवन मे ही मुक्ति एव मोक्ष प्राप्त किया जाए। इसको दर्शनशास्त्र में अरिहन्त-दशा एव जीवन्मुक्त अवस्था कहा जाता है। जीवन्मुक्ति का अर्थ है—जीवन के रहते हुए ही, शरीर और श्वासो के चलते हुए ही, काम, क्रोध आदि विकारो से इस आत्मा का सर्वथा मुक्त हो जाना। काम-क्रोध आदि विकार भी रहें और मुक्ति भी मिल जाए, यह किसी भी प्रकार सम्भव नही है। जैन-दर्शन के अनुसार राग एव द्वेष आदि कषायो को सर्वथा क्षय कर देना ही मुक्ति है।

आत्मवादी दर्शन के समक्ष दो ही ध्रुव-केन्द्र हैं—आत्मा और उसकी मुक्ति। मोक्ष क्या वस्तु है ? इस प्रश्न के उत्तर मे अध्यात्मवादी दर्शन घूम-फिर कर एक ही बात और एक ही स्वर में कहते है कि मोक्ष आत्मा की उस विशुद्ध स्थिति का नाम है—जहाँ आत्मा सर्वथा अमल एव धवल हो जाती है। मोक्ष मे एव मुक्ति मे जीवन का विसर्जन न होकर उसके प्रति मानव-बुद्धि मे जो एक प्रकार का मिथ्या दृष्टिकोण है, उसी का विसर्जन होता है। मिथ्या दृष्टिकोण का विसर्जन हो जाना, साधक जीवन की एक बहुत बडी उत्क्रान्ति है। जैनदर्शन के अनुसार मिथ्यात्व के स्थान पर सम्यक् दर्शन का, मिथ्या ज्ञान के स्थान पर सम्यक् ज्ञान का और मिथ्या चारित्र के स्थान पर सम्यक् चारित्र का पूर्णतया एव सर्वतोभावेन विकास हो जाना ही मोक्ष एव मुक्ति है। मोक्ष को जब आत्मा की विशुद्ध स्थिति स्वीकार कर लिया जाता है, तब मोक्ष के विपरीत आत्मा की अशुद्ध स्थिति को ही ससार कहा जाता है। ससार क्या है ? यह भी एक विकट प्रश्न है। स्थूल रूप मे ससार का अर्थ आकाश, पाताल, सूर्य, चन्द्र, भूमि, वायु, जल और अग्नि आदि समझा जाता है। परन्तु क्या वस्तुत. अध्यात्म-भाषा मे यही ससार है ? क्या अध्यात्म-शास्त्र इन सब को छोडने की बात कहता है ? क्या यह सम्भव है कि भौतिक जीवन के रहते इन भौतिक तत्त्वो को छोडा जा सके ? पूर्ण आध्यात्मिक जीवन मे भी, मोक्ष मे भी आत्मा रहेगी तो लोक मे ही, लोकाकाश मे ही। लोकाकाश के बाहर कहाँ जाएगी ? जब एक व्यक्ति वैराग्य की भाषा मे ससार छोडने की बात कहता है, तब वह क्या छोडता है ? अशन, वसन और भोजन इनमें से वह क्या छोड सकता है ?

कल्पना कीजिए, कदाचित् इनको भी वह छोड दे, फिर भी अपने तन और मन को वह कैसे छोड सकता है ? इस भूमि और आकाश का परित्याग भी वह कैसे कर सकेगा ? तब फिर उसने क्या छोडा ? हम वैराग्य की भाषा मे यह कह सकते हैं कि एक वैराग्यशील ज्ञानी ने ससार को छोड़ दिया, किन्तु इस ससार-परित्याग का क्या अर्थ है ? ससार छोडकर वह कहाँ चला गया ? और उसने छोडा भी क्या है ? वही शरीर रहा, वस्त्र भी वही रहा, भले ही उसकी बनावट मे कुछ परिवर्तन आ गया हो ? एक गृहस्थ की वेशभूषा के स्थान पर एक साधु का वेश आ गया हो। शरीर पोषण के लिए वही भोजन, वही जल और वही वायु रही, तब ससार छोडने का क्या अर्थ हुआ। इससे स्पष्ट होता है कि यह सब कुछ ससार नही है। तब ससार क्या है ? अध्यात्म-भाषा मे यह कहा जाता है, कि वैषयिक आकाक्षाओ, कामनाओ और इच्छाओ का हृदय मे जो अनन्त काल से आवास है, वस्तुतः वही बन्धन है, वही ससार है। उस आकाक्षा का नाम और वासना का परित्याग ही सच्चा वैराग्य है। कामनाओ की दासता से मुक्त होना ही ससार मे मुक्त होना है। जब साधक को अपने चित्त मे आनन्द की उपलब्धि होती है, जब उसके जीवन मे निराकुलता की भावना आती है, जब साधक के जीवन मे व्याकुलता-रहित शान्त स्थिति आती है और यह आकुलता एव व्याकुलता-रहित अवस्था जितने काल के लिए चित्त मे बनी रहती है, शुद्ध आनन्द का वह एक मधुर क्षण भी मानव-जीवन की क्षणिक मुक्ति ही है। भले ही आज वह स्थायी न हो और साधक का उस पर पूर्ण अधिकार न हो पाया हो, परन्तु जिस दिन वह उस क्षणिकता को स्थायित्व मे बदल कर मुक्ति पर पूर्ण अधिकार प्राप्त कर लेगा, उसी दिन, उसी क्षण उसकी पूर्ण मुक्ति हो जाएगी। जो अध्यात्म-साधक शरीर मे रह कर भी शरीर में नही रहता, जो जीवन मे रह कर भी जीवन मे नहीं रहता और जो ससार मे रहकर भी ससार मे नही रहता, वही वस्तुत विमुक्त आत्मा है। देह के रहते हुए भी, देह की ममता मे बद्ध न होना, सच्ची मुक्ति है। जो देह मे रहकर भी देह-भाव मे आसक्त न होकर देहातीत अवस्था मे पहुँच जाता है, वही अरिहन्त है, वही जिन है और वही वीतराग है। अध्यात्म-दर्शन साधक को जगत् से भागने फिरने की शिक्षा नही देता, वह तो कहता है कि तुम प्रारब्ध कर्मजन्य भोग मे रहकर भी भोग के विकारो और विकल्पो के बन्धन से मुक्त होकर रहो, यही जीवन की सबसे बडी साधना है। जीवन की प्रारब्धप्रक्रिया से भयभीत होकर कहाँ तक भागते रहोगे ? और कब तक भागते रहोगे ? आखिर, एक दिन उससे मोर्चा लेना ही होगा। देह आदि की तथाकथित आवश्यकता की पूर्ति करते हुए भी विकारो मे निर्लिप्त रहना ही होगा, अन्तर्द्वन्द्व मे विजेता बनना ही होगा, यही जीवन की सच्ची कला है।

भारत के अध्यात्म साधको की जीवन-गाथा एक-से-एक सुन्दर है, एक-से-एक मधुर है। भारत के अध्यात्म-साधक शूली की नुकीली नोक पर चढकर भी मुक्ति का राग अलापते रहे हैं। भारत के अध्यात्मसाधक शूलो की राह पर चलकर भी, मुक्ति के मार्ग से विमुख नहीं हो सके हैं। चाहे वे भवन मे रहे हो या वन मे रहे हों, चाहे वे एकाकी रहे हों या अनेको के मध्य मे रह रहे हो, चाहे वे सुख मे रहे हो या दुःख मे रहे हों—जीवन की प्रत्येक स्थिति मे वे अपनी मुक्ति के लक्ष्य को भूल नही सके हैं। शूली की तीक्ष्ण नोक पर और फूलो की कोमल सेज पर अथवा रंगीले राजमहलो मे या वीरान जगलो मे रहने वाले

ये अध्यात्म-साधक अपने जीवन का एक ही लक्ष्य लेकर चले और वह लक्ष्य था—मुक्ति ए मोक्ष। और तो क्या, भारत की ललनाएँ अपने शिशुओ को पालने मे झुलाते हुए भी उन अध्यात्मवाद की लोरियाँ सुनाती रही हैं। मदालसा जैसी महानारियाँ गाती हैं "तू शुद्ध है निरजन है और निर्विकार है। इस ससार मे तू ससार की माया मे आवद्ध होने के लि नही आया है। तेरे जीवन का एकमात्र लक्ष्य है, भव-वन्धनो का विच्छेद करना, माया जाल को काट देना, और सर्व प्रकार के प्रपचो एव समग्र द्वन्द्वो से विमुक्त होकर रहना। जिस भारत की ललनाएँ अपने दूधमुहे शिशुओ को पालने में झुलाते हुए लोरियो भी अध्यात्मवाद के सगीत सुनाती हैं, उस भारत के समक्ष मोक्ष एव मुक्ति से ऊँचा अन कोई लक्ष हो ही नही सकता।

अव प्रश्न यह उठता है कि जिस मुक्ति की चर्चा भारत का अध्यात्मवादी दर्श जन्म-घूट्टी से लेकर मृत्यु-पर्यन्त करता रहता है जीवन के किसी भी क्षण मे वह उसे विस्मृ नही कर सकता, आखिर उसे मुक्ति का उपाय और साधन क्या है? क्योकि साधक विन साधन के सिद्धि को प्राप्त कैसे कर सकता है? कल्पना कीजिए, आपके समक्ष एक व साधक है, जिसने मुक्ति की सत्ता और स्थिति पर विश्वास कर लिया है, जिसने मुक्ति प्राप्ति का अपना लक्ष्य भी स्थिर कर लिया है, यह सव कुछ तो ठीक है—परन्तु यदि उसे य मालूम न हो कि मुक्ति का साधन और उपाय क्या है, तव उसके सामने एक वडी विक समस्या आ जाती है। साधक के जीवन मे इस प्रकार की स्थिति वडी विचित्र और वह विकट होती है। यदि कोई अकुशल नाविक नाव मे वैठकर किसी विशाल नदी को पार क रहा हो, और ऐसे ही चलते-चलते मँझधार मे पहुंच भी चुका हो, परन्तु इस प्रकार की स्थिति मे यदि सहसा झंझावात आ जाए, तूफान आ जाए, तव वह अपने को कैसे वचा सकेगा यदि उसने वचने का उपाय पहले से नही सीखा है? तो, नौका एक माध्यम है जल धार को पार करने के लिए। परन्तु नौका चलाने की कला यदि ठीक तरह नही सीखी है, त कैसे पार हो सकता है? यही स्थिति ससार-सागर को शरीर-रूपी नौका से पार करते हु अध्यात्म-साधक की होती है। मुक्ति के लक्ष्य को स्थिर कर लेना ही पर्याप्त नही है, उसर भी वढकर आवश्यक यह है कि एक साधक उसे कैसे प्राप्त कर सके? भारत के अध्यात्म-वादी दर्शन मे मात्र मुक्ति के लक्ष्य को स्थिर ही नही किया गया और न यह कहा गया कि मुक्ति एक लक्ष्य है और वह एक आदर्श है, वल्कि, उस लक्ष्य तक पहुँचन और उसे प्राप्त करने का मार्ग और उपाय भी वताया गया है। मुक्ति के आदर्श को वताक साधक से यह कभी नही कहा गया कि वह केवल तुम्हारे जीवन का आदर्श है, और जिसे तुम कभी प्राप्त नही कर सकते। क्योकि उसकी प्राप्ति का कोई अमोघ साधन नही है। इसके विपरीत उसे सतत एक ही प्रेरणा दी गई कि मुक्ति का आदर्श अपने मे वहुत ऊँचा है किन्तु वह अलभ्य नही है। तुम उसे अपनी साधना के द्वारा एक दिन अवश्य प्राप्त कर सकते हो। जिस आदर्श साध्य की सिद्धि का साधन न हो, वह साध्य ही कैसा?

आश्चर्य है, कुछ लोग आदर्श की वडी विचित्र व्याख्या करते है। उनके जीवन के शब्द-कोष मे आदर्श का अर्थ है—'मानव-जीवन की वह उच्चता एव पवित्रता, जिसकी कल्पना तो की जा सके, किन्तु जहाँ पहुँचा न जा सके।' मेरे विचार में आदर्श की यह व्या

स्या सर्वथा भ्रान्त है, बिल्कुल गलत है। भारत की अध्यात्म संस्कृति कभी यह स्वीकार नहीं कर सकती कि 'आदर्श आदर्श है, वह कभी यथार्थ की भूमिका पर नहीं उतर सकता। हम आदर्श पर न कभी पहुँचे हैं और न कभी पहुँचेंगे।'

अध्यात्मवादी दर्शन यह कैसे स्वीकार कर सकता है कि जीवन की उच्चता और पवित्रता का हम चिन्तन तो करें किन्तु जीवन में उसका अनुभव न कर सकें। मैं उस साधना को साधना मानने के लिए तैयार नहीं हूँ, जिसका चिन्तन तो आकर्षक एवं उत्कृष्ट हो, किन्तु वह चिन्तन साक्षात्कार एवं अनुभव का रूप न ले सके। मात्र कल्पना एवं स्वप्नलोक के आदर्श में भारत के अध्यात्मवादी दर्शन की आस्था नहीं है, होनी भी नहीं चाहिए। यहाँ तो चिन्तन को अनुभव बनना पड़ता है और अनुभव को चिन्तन बनना पड़ता है। चिन्तन और अनुभव यहाँ सहजन्मा और सदा से सहगामी रहे हैं। उन्हें एक-दूसरे से अलग नहीं किया जा सकता। मानवजीवन का आदर्श स्वप्नलोक की वस्तु नहीं है कि ज्यों-ज्यों उसकी ओर आगे बढ़ते जाएँ, त्यों-त्यों वह दूर से दूरतर होती जाए। आदर्श उस अनन्त क्षितिज के समान नहीं है, जो दृष्टिगोचर तो होता हो, किन्तु कभी सुलभ न हो। धरती और आकाश के मिलन का प्रतीक वह क्षितिज, जो केवल दिखलायी तो पड़ता है, किन्तु वास्तव में जिसका कोई अस्तित्व नहीं होता—मानव-जीवन का आदर्श इस प्रकार का नहीं है। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन मानव-जीवन के आदर्श को भटकने की वस्तु नहीं मानता। वह तो जीवन के यथार्थ जागरण का एक मूल-भूत तत्त्व है। उसे पकड़ा जा सकता है, उसे ग्रहण किया जा सकता है और उसे जीवन के धरातल पर शत-प्रतिशत उतारा जा सकता है। मोक्ष केवल आदर्श ही नहीं, बल्कि, वह जीवन का एक यथार्थ तथ्य है। यदि मोक्ष केवल आदर्श ही होता, यथार्थ न होता, तो उसके लिए साधन और साधना का कथन ही व्यर्थ होता। मोक्ष अदृष्ट दैवी हाथों में रहने वाली वस्तु नहीं है, जिसे मनुष्य प्रथम तो अपने जीवन में प्राप्त ही न कर सके अथवा प्राप्त करे भी तो रोने-धोने, हाथ पसारने और दया की भीख माँगने पर, अन्यथा नहीं। जैन-दर्शन में स्पष्ट रूप से यह कहा गया है कि साधक! मुक्ति किसी दूसरे के हाथों की चीज नहीं है। और न वह केवल कल्पना एवं स्वप्नलोक की ही वस्तु है, बल्कि, वह यथार्थ की चीज है, जिसके लिए प्रयत्न और साधना की जा सकती है तथा जिसे सतत अभ्यास के द्वारा प्राप्त किया जा सकता है। जैन-दर्शन ने स्पष्ट शब्दों में यह उद्घोषणा की है कि प्रत्येक साधक के अपने ही हाथों में मुक्ति को अधिगत करने का उपाय एवं साधन है। और वह साधन क्या है? वह है सम्यक् दर्शन, सम्यक् ज्ञान और सम्यक् चारित्र। इन तीनों का समुचित रूप ही मुक्ति का वास्तविक उपाय एवं साधन है।

कुछ विचारक भारत के अध्यात्मवादी दर्शन को निराशावादी दर्शन कहते हैं। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन निराशावादी क्यों है? इस प्रश्न के उत्तर में उनका कहना है कि वह वैराग्य की बात करता है, वह संसार से भागने की बात करता है, वह दुःख और क्लेश की बात करता है। परन्तु वैराग्यवाद और दुःखवाद के कारण उसे निराशावादी दर्शन कहना, कहाँ तक उचित है? यह एक विचारणीय प्रश्न है। मैं इस तथ्य को स्वीकार

करता हूँ कि अवश्य ही अध्यात्मवादी दर्शन ने दुःख, क्लेश और वन्धन से छुटकारा प्राप्त करने की वात की है। वैराग्य-रस से आप्लावित कुछ जीवन-गाथाएँ इस प्रकार की मिल सकती हैं, जिनके आधार पर अन्य विचारको को भारत के अध्यात्मवादी दर्शन को निराशावादी दर्शन कहने का दुस्साहस करना पडा। किन्तु वस्तु-स्थिति का स्पर्श करने पर ज्ञात होता है कि यह केवल विचारको का मतिभ्रम-मात्र है। भारतीय अध्यात्मवादी दर्शन का विकास अवश्य ही दुख एव क्लेश के मूल मे से हुआ है, किन्तु मैं यह कहता हूँ कि भारतीय दर्शन ही क्यो, विश्व के समग्र दर्शनो का जन्म इस दुख एव क्लेश मे से ही तो हुआ है। मानव के वर्तमान दुःखाकुल जीवन से ही ससार के समग्र दर्शनो का प्रादुर्भाव हुआ है। इस तथ्य को कैसे भुलाया जा सकता है कि हमारे जीवन मे दुःख एव क्लेश नही हैं। यदि दुख एवं क्लेश है, तो उससे छूटने का उपाय भी सोचना ही होगा। और यही सव कुछ तो अध्यात्मवादी दर्शन ने किया है, फिर उसे निराशावादी दर्शन क्यो कहा जाता है? निराशावादी तो वह तव होता, जवकि वह दुःख और क्लेश की वात तो करता, विलाप एव रुदन तो करता, किन्तु उसे दूर करने का कोई उपाय न वतलाता। पर वात ऐसी नही है। अध्यात्मवादी दर्शन ने यदि मानव-जीवन के दुख एव क्लेशो की ओर सकेत किया है, तो उसने वह मार्ग भी वतलाया है जिस पर चलकर मनुष्य सर्व प्रकार के दु.खो से विमुक्त हो सकता है। और वह मार्ग है—त्याग, वैराग्य, अनासक्ति और जीवन का शोधन।

अध्यात्मवादी दर्शन का कहना है कि—दु.ख है, और दुःख का कारण है। दुख अकारण नही है क्योकि जो अकारण होता है, उसका प्रतिकार नही किया जा सकता, किन्तु जिसका कारण होता है, यथावसर उसका निराकरण भी अवश्य ही किया जा सकता है। कल्पना कीजिए—किसी को दूध गरम करना है। तब क्या होगा? दूध को पात्र मे डालकर अँगीठी पर रख देना होगा और उसके नीचे आग जला देनी होगी। कुछ काल वाद दूध गरम होगा, उसमे उवाल आ जाएगा। दूध का उवलना तव तक चालू रहेगा, जवतक कि उसके नीचे आग जल रही है। नीचे की आग भी जलती रहे और दूध का उवलना वन्द हो जाए, यह कैसे हो सकता है? उष्णता का कारण आग है और जवतक वह नीचे जल रही है, तवतक दूध के उवाल और उफान को शान्त करना है, तो उसका उपाय यह नही है कि दो-चार पानी के छीटे दे दिए जाएँ और वस! अपितु उसका वास्तविक उपाय यही है, कि नीचे जलने वाली आग को या तो वुझा दिया जाए या उसे नीचे से निकाल दिया जाए। इसी प्रकार अध्यात्म-साधना के क्षेत्र मे दुख को दूर करने का, उस दुख को दूर करने का जो अनादिकाल से आत्मा मे रहा है, वास्तविक उपाय यही है कि उसे केवल ऊपरी सतह से दूर करने की अपेक्षा उसके मूलकारण का ही उच्छेद कर दिया जाए। मानव-जीवन मे दुख एवं क्लेश की सत्ता एव स्थिति इस तथ्य एवं सत्य को प्रमाणित करती है कि दुःख का मूल कारण अन्यत्र नही, हमारे अन्दर ही है। जवतक उसे दूर नही किया जाएगा, तवतक दुख की ज्वाला कभी शान्त नही होगी। अध्यात्मवादी दर्शन कहता है कि—दुख है, क्योकि दुःख का कारण है और वह कारण वाहर मे नही, स्वय तुम्हारे अन्दर मे है। दुख के कारण का उच्छेद कर देने पर दुख का उवाल और उफान

स्वत ही शान्त हो जाएगा। तब दु ख का अस्तित्व समाप्त होकर सहज और निर्मल आनन्द का अमृत-सागर हिलारें लेने लगेगा।

शरीर मे रोग होता है, तभी उसका इलाज किया जा सकता है। रोग होगा, तो रोग का इलाज भी अवश्य होगा। यदि कोई रोगी वैद्य के पास आए और वैद्य उसे यह कह दे कि आपके शरीर मे कोई रोग नही है, तो उसका यह कथन गलत होगा। शरीर मे यदि रोग की सत्ता और स्थिति है, तो उसे स्वीकार करने मे कोई बुराई नही है। शरीर मे रोग की सत्ता स्वीकार करने पर भी यदि वैद्य यह कहता है कि रोग तो है, किन्तु उसका इलाज नही हो सकता, तो यह भी गलत है। जब रोग है, तब उसका इलाज क्यो नही हो सकता ? ससार का कोई भी बुद्धिमान व्यक्ति इस तर्क को स्वीकार नही कर सकता कि रोग होने पर उसका प्रतिकार न हो सके। रोग को दुस्साध्य भले ही कहा जा सके, किन्तु असाध्य नही कहा जा सकता। यदि चिकित्सा के द्वारा रोग का प्रतिकार न किया जा सके, तो ससार में चिकित्सा शास्त्र का कोई उपयोग न रहेगा। विचारक लोग उसे व्यर्थ समझ कर छोड बैठेंगे। अस्तु, चिकित्साशास्त्र उपयोग एव प्रयोग के द्वारा रोग का स्वरूप निश्चित करता है, रोगोत्पत्ति का कारण मालूम करता है, रोग को दूर करने का उपाय एव साधन बतलाता है, वस्तुत यही उसकी उपयोगिता है। इसी प्रकार अध्यात्मशास्त्र मे यदि कहा जाता है कि दु ख तो है, किन्तु उसे दूर नही किया जा सकता, तो यह एक ऐसा तर्क है, जो किसी भी बुद्धिमान के गले उतर नही सकता। जब दु ख है, तो उसका प्रतिकार क्यो नही किया जा सकता ? दु ख के प्रतिकार का सबसे सीधा और सरल मार्ग यही है कि दुःख के कारण को दूर किया जाए। भारत का अध्यात्मदर्शन दु.ख की सत्ता और स्थिति को स्वीकार करके भी उसे दूर करने का प्रयत्न करता है, साधना करता है और उसमे सफलता भी प्राप्त करता है। भारत का अध्यात्मवादी दर्शन निराशावादी दर्शन नही है, वह शत-प्रतिशत आशावादी है। जीवन को मधुर प्रेरणा देने वाला दर्शन है। अध्यात्मवादी दर्शन मानव-मात्र के सामने यह उद्घोषणा करता है कि अपने को समझो और अपने से भिन्न जो पर है, उसे भी समझने का प्रयत्न करो। स्व और पर के विवेक से ही तुम्हारी मुक्ति का भव्य द्वार खुलेगा। शरीर मे रोग है, इसे भी स्वीकार करो। और, उसे उचित साधन के द्वारा दूर किया जा सकता है, इस पर भी आस्था रखो। दु.ख है, इसे स्वीकार करो, और वह दुःख दूर किया जा सकता है, इस पर भी विश्वास रखो। साधन के द्वारा साध्य को प्राप्त किया जा सकता है, इससे बढकर मानव-जीवन का और आशावाद क्या होगा ? भारत का अध्यात्मवादी दर्शन कहता है कि साधक ! तू अपने वर्तमान जीवन में ही मुक्ति प्राप्त कर सकता है, आवश्यकता है, केवल अपने जीवन की दिशा को बदलने की।

★★★★

९

अवतारवाद या उत्तारवाद

ब्राह्मण सस्कृति अवतारवाद मे विश्वास करती है, परतु श्रमण सस्कृति इस तरह का विश्वास नही रखती। श्रमण-सस्कृति का आदिकाल से यही आदर्श रहा है कि इस ससार को बनाने-बिगाडनेवाली शक्ति ईश्वर या अन्य किसी नाम की कोई भी सर्वोपरि शक्ति नही है। अत जबकि लोकप्रकल्पित सर्वसत्ताधारी ईश्वर ही कोई नही है, तब उसके अवतार लेने की बात को तो अवकाश ही कहाँ रहता है ? यदि कोई ईश्वर हो भी, तो वह सर्वज्ञ, शक्तिमान क्यों नीचे उतर कर आए ? क्यो मत्स्य, वराह एवं मनुष्य आदि का रूप ले ? क्या वह जहाँ है, वहाँ से ही अपनी अनन्त शक्ति के प्रभाव से भूमि का भार हरण नही कर सकता ?

अवतारवाद बनाम दास्यभावना :

अवतारवाद के मूल मे एक प्रकार से मानव-मन की हीन-भावना ही काम कर रही है। वह यह कि मनुष्य आखिर मनुष्य ही है। वह कैसे इतने महान् कार्य कर सकता है ? अत ससार मे जितने भी विश्वोपकारी महान् पुरुष हुए हैं, वे वस्तुत मनुष्य नही थे, ईश्वर थे और ईश्वर के अवतार थे। ईश्वर थे, तभी तो इतने महान् आश्चर्यजनक कार्य कर गए। अन्यथा बेचारा आदमी यह सब कुछ कैसे कर सकता था ?

अवतारवाद का भावार्थ ही यह है—नीचे उतरो, हीनता का अनुभव करो। अपने को पंगु, बेबस, लाचार समझो। जब भी कभी महान् कार्य करने का प्रसंग आए, देश या धर्म पर घिरे हुए संकट एव अत्याचार के बादलो को विध्वस करने का अवसर आए, तो बस ईश्वर के अवतार लेने का इन्तजार करो, सब प्रकार से दीन-हीन एव पगु मनोवृत्ति से ईश्वर के चरणो मे शीघ्र मे शीघ्र अवतार लेने के लिए पुकार करो। वही संकट-हारी है, अतः वही कुछ परिवर्तन ला सकता है।

अवतारवाद कहता है कि देखना, तुम कहीं कुछ कर न बैठना। तुम मनुष्य हो, पामर हो, तुम्हारे करने से कुछ नही होगा। ईश्वर का काम, भला दो हाथ वाला हाट-

मास का पिंजर क्षुद्र मनुष्य कैसे कर सकता है ? ईश्वर की बराबरी करना नास्तिकता है, पहले सिरे की मूर्खता है। इस प्रकार अवतारवाद अपने मूल रूप मे दास्य-भावना का पृष्टपोषक है ।

अवतारवाद की मान्यता पर खडी की गई सस्कृति, मनुष्य की श्रेष्ठता एव पवित्रता मे विश्वास नही रखती । उसकी मूल भाषा मे मनुष्य एक द्विपद जन्तु के अतिरिक्त और कुछ नही है । मनुष्य का अपना भविष्य उसके अपने हाथ मे नही है, वह एकमात्र जगन्नियता ईश्वर के हाथ मे है । वह, जो चाहे कर सकता है । मनुष्य उसके हाथ की कठ-पुतली है । पुराणो की भाषा मे वह 'कर्तुमकर्तुमन्यथाकर्तुम्' के रूप मे सर्वतन्त्र स्वतन्त्र है, विश्व का सर्वाधिकारी सम्राट् है। गीता मे कहा गया है "भ्रामयन् सर्वभूतानि यन्त्रारूढानि मायया"[1] । वह सब जगत् को अपनी माया से घुमा रहा है जैसे कुम्हार चाक पर रखे मृत्पिड को ।

मनुष्य कितनी ही ऊँची साधना करे, कितना ही सत्य तथा अहिंसा के ऊँचे शिखरो पर विचरण करे, परन्तु वह ईश्वर कभी नहीं बन सकता। मनुष्य के विकास की कुछ सीमा है, और वह सीमा ईश्वर की इच्छा के नीचे है । मनुष्य को चाहिए कि वह उसकी कृपा का भिखारी बन कर रहे, इसीलिए तो श्रमणेतर सस्कृति का ईश्वर कहता है—"मनुष्य ! तू मेरी शरण मे आ, मेरा स्मरण कर । तू क्यो डरता है ? मै तुझे सब पापो से मुक्त कर दूँगा, शोक मत कर । हाँ, मुझे अपना स्वामी मान और अपने को मेरा दास !"[2] बस इतनी-सी शर्त पूरी करनी होगी, और कुछ नही ।

अवतारवाद या शरणवाद .

कोई भी तटस्थ विचारक इस बात पर विचार कर सकता है कि यह मान्यता मानव-समाज के नैतिक बल को घटाती है, या नही ? कोई भी समाज इस प्रकार की विचार-परम्परा का प्रचार कर अपने आचरण के स्तर को ऊँचा नही कर सकता । यही कारण है कि भारतवर्ष की जनता का नैतिक स्तर बराबर नीचे गिरता जा रहा है । लोग पाप से नही बचना चाहते, पाप के फल से बचना चाहते हैं । और पाप के फल से बचने के लिए भी किसी ऊँची कठोर साधना की आवश्यकता नही मानते, बल्कि केवल ईश्वर या ईश्वर के अवतार राम, कृष्ण आदि की शरण मे पहुँच जाना ही इनकी दृष्टि मे सबसे बडी साधना है, बस इसी से बेडा पार है । जहाँ मात्र अपने मनोरजन के लिए तोते को रामनाम रटाते हुए वेश्याएँ तर जाती हो और मरते समय मोह-वश अपने पुत्र नारायण को पुकारने भर से सर्वनियन्ता नारायण के दूत दौडे आते हो एव उस जीवन-भर के पापी अजामिल को स्वर्ग मे ले पहुँचते हो, वहाँ भला जीवन की नैतिकता और सदाचरण की महत्ता का क्या मूल्य रह जाता है ? सस्ती भक्ति, धर्माचरण के महत्त्व को गिरा देती है और इस प्रकार भक्ति से पल्लवित हुआ अवतारवाद का सिद्धान्त जनता मे 'शरणवाद' के रूप मे परिवर्तित हो जाता है । पाप करो, और उनके फल से बचने के लिए प्रभु की शरण मे चले जाओ ।

---

१. श्री मद्भगवद्गीता, १८।६१
२ 'अह त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः ।'—गीता १८।६६ ।

अवतारवाद के आदर्श केवल आदर्शमात्र रह जाते हैं, वे जनता के द्वारा अपनाने योग्य यथार्थता के रूप मे कभी नही उतर पाते। अतएव जब लोग राम, कृष्ण आदि किसी अवतारी महापुरुष की जीवन-लीला सुनते हैं, तो किसी ऊँचे आदर्श की बात आने पर झट-पट कह उठते हैं कि "अहा, क्या कहना है! अजी भगवान् थे, भगवान्! भला भगवान् के अतिरिक्त और कौन दूसरा यह काम कर सकता है!" इस प्रकार हमारे प्राचीन महापुरुषो के अहिंसा, दया, सत्य परोपकार आदि जितने भी श्रेष्ठ एव महान् गुण हैं, उन सबसे अवतारवादी लोग मुँह मोड लेते हैं, अपने को साफ बचा लेते हैं। अवतारवादियो के यहाँ जो कुछ भी है, सब प्रभु की लीला है। वह केवल सुनने-भर के लिए है, आचरण करने के लिए नही। भला सर्वशक्तिमान ईश्वर के कामो को मनुष्य कही अपने आचरण मे उतार सकता है?

अवतारो का चरित्र श्रव्य या कर्त्तव्य?

कुछ प्रसग तो ऐसे भी आते हैं, जो केवल दोषो को ढँकने का ही प्रयत्न करते है। जब कोई विचारक, किसी भी अवतार के रूप मे माने जाने वाले व्यक्ति का जीवन चरित्र पढता है, और उसमे कोई नैतिक जीवन की भूल पाता है, तो वह विचारक होने के नाते उचित आलोचना करता है, अच्छे को अच्छा और बुरे को बुरा कहता है। किन्तु अवतार-वादी लोग विचारक का यह अधिकार छीन लेते हैं। ऐसे प्रसंगो पर वे प्राय: कहा करते हैं—"अरे तुम क्या जानो? यह सब उस महाप्रभु की माया है। वह जो कुछ भी करता है, अच्छा ही करता है। जिसे हम आज बुराई समझते हैं, उसमे भी कोई-न-कोई भलाई ही रही होगी! हमे श्रद्धा रखनी चाहिए, ईश्वर का अपवाद नही करना चाहिए!" इस प्रकार अवतारवादी लोग श्रद्धा की दुहाई देकर स्वतन्त्र चिन्तन एव गुणदोप के परीक्षण का सिंह-द्वार सहसा बन्द कर देते हैं। श्रीमदभागवत के दशम स्कन्ध मे जब राजा परीक्षित ने श्री कृष्ण का गोपियो के साथ उन्मुक्त व्यवहार का वर्णन सुना, तो वह चौंक उठा। भगवान् होकर इस प्रकार अमर्यादित आचरण! कुछ समझ मे नही आया! उस समय श्री शुकदेवजी ने, कैसा अनोखा तर्क उपस्थित किया है? वे कहते हैं—"राजन! महापुरुषो के जीवन सुनने के लिए हैं, आचरण करने के लिए नही।" कोई भी विचारक इस समाधान-पद्धति मे सन्तुष्ट नही हो सकता। वे महापुरुष हमारे जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी कैसे हो सकते हैं, जिनके जीवन-वृत्त केवल सुनने के लिए हो, विधि निषेध के रूप मे अपनाने के लिए नही? क्या इनके जीवन-चरित्रो से फलित होने वाले आदर्शों को अपनाने के लिए अवतारवादी साहित्यकार जनता को कुछ गहरी प्रेरणा देते हैं? इन सब प्रश्नो का उत्तर यदि ईमानदारी से दिया जाए, तो इस अवतारवाद को विचार-परम्परा मे एकमात्र नकार के अतिरिक्त और कुछ भी स्थान नही मिल सकता।

'अवतरण' नहीं, 'उत्तरण':

श्रमण-संस्कृति का आदर्श, ईश्वर का अवतार न होकर मनुष्य का उत्तार है। यहाँ ईश्वर का मानव-रूप मे अवतरण नही माना जाता, प्रत्युत मानव का ईश्वर-रूप मे उत्तरण माना जाता है। अवतरण का अर्थ है—नीचे की ओर आना और उत्तरण का अर्थ है—ऊपर की ओर जाना। हाँ, तो श्रमण-संस्कृति मे मनुष्य से बढकर और कोई दूसरा

श्रेष्ठ प्राणी नही है। मनुष्य केवल हाड-मास का चलता-फिरता पिंजर नही है, प्रत्युत वह अनन्त-अनन्त शक्तियो का पुंज है। वह देवताओ का भी देवता है, स्वयसिद्ध ईश्वर है। परन्तु जबतक वह ससार की मोह-माया के कारण कर्म-मल से आच्छादित है, तब तक वह अन्धकार मे घिरा हुआ सूर्य है, फलत प्रकाश दे तो कैसे दे? सूर्य को प्रकाश देने से पहले रात्रि के सघन अन्धकार को चीरकर बाहर आना ही होगा।

हां, तो ज्यो ही मनुष्य अपने होश मे आता है, अपने वास्तविक आत्मस्वरूप को पहचानता है, पर-परिणति को त्याग कर स्व-परिणति को अपनाता है, तो धीरे-धीरे निर्मल, शुद्ध एव स्वच्छ होता चला जाता है, और एक दिन अनन्तानन्त जगमगाती हुई आध्यात्मिक शक्तियो का पुंज बन कर शुद्ध, बुद्ध, परमात्मा, अरिहन्त, ब्रह्म तथा ईश्वर बन जाता है। श्रमण-सस्कृति मे आत्मा की चरम शुद्ध दशा का नाम ही ईश्वर है, परमात्मा है। इसके अतिरिक्त और कोई अनादि-सिद्ध ईश्वर नही है। कहा भी है—"**कर्म-बद्धो भवेज्जीव, कर्ममुक्तस्तथा जिन.।**"

यह है श्रमण-संस्कृति का उत्तारवाद, जो मनुष्य को अपनी ही आत्म-साधना के बल पर ईश्वर होने के लिए ऊर्ध्वमुखी प्रेरणा देता है। यह मनुष्य के अनादिकाल से सोये हुए साहस को जगाता है, विकसित करता है और उसे सत्कर्मों की ओर उत्प्रेरित करता है, किन्तु उसे पामर मनुष्य कहकर उत्साह भग नही करता। इस प्रकार श्रमण-सस्कृति मानवजाति को सर्वोपरि विकास-बिन्दु की ओर अग्रसर होना सिखाती है।

श्रमण-संस्कृति का हजारो वर्षों से यह उद्घोष रहा है कि वह सर्वथा परोक्ष एव अज्ञात ईश्वर मे बिल्कुल विश्वास नहीं रखती। इसके लिए उसे तिरस्कार, अपमान, लाञ्छना, भर्त्सना और घृणा, जो भी कडवे-से-कडवे रूप मे मिल सकती थी, मिली। परन्तु वह अपने प्रशस्त-पथ से विचलित नही हुई। उसका हर कदम पर यही कहना रहा कि जिस ईश्वर नामधारी व्यक्ति की स्वरूप-सम्बन्धी कोई निश्चित रूप-रेखा हमारे सामने नही है, जो अनादिकाल से मात्र कल्पना का विषय ही रहा है, जो सदा से अलौकिक ही रहता चला आया है। वह हम मनुष्यो को क्या आदर्श सिखा सकता है? उसके जीवन एव व्यक्तित्व से हमे क्या कुछ मिल सकता है? हम मनुष्यो के लिए तो वही आराध्यदेव आदर्श हो सकता है, जो कभी मनुष्य ही रहा हो, हमारे समान ही ससार के सुख-दुःख एव माया-मोह से सत्रस्त रहा हो, और बाद मे अपने अनुभव एवं आध्यात्मिक जागरण के बल से ससार के समस्त सुख-भोगो को ठुकरा कर निर्वाण-पद का पूर्ण अधिकारी बना हो, फल-स्वरूप सदा के लिए कर्म-बन्धनो से मुक्त होकर, राग-द्वेष से सर्वथा रहित होकर अपने मोक्ष-स्वरूप अन्तिम आध्यात्मिक लक्ष्य पर पहुँच चुका हो।

'जन' में 'जिनत्व' के दर्शन :

श्रमण-सस्कृति के तीर्थंकर, अरिहन्त, जिन एवं सिद्ध सब इसी श्रेणी के साधक थे। वे कोई प्रारम्भ से ही ईश्वर न थे, ईश्वर के अंश या अवतार न थे, अलौकिक देवता न थे। वे बिल्कुल हमारी तरह ही एक दिन इस ससार के सामान्य प्राणी थे। पापमल से लिप्त एव दुःख, शोक, आधि, व्याधि से सत्रस्त थे। इन्द्रिय-सुख ही एकमात्र उनका ध्येय था और उन्हीं वैषयिक वासनाओं के पीछे, अनादिकाल से नाना प्रकार से कष्ट उठाते, जन्म-

मरण के झझावात मे चक्कर खाते घूम रहे थे। परन्तु जब वे आध्यात्मिक-साधना के पथ पर आए, तो सम्यग्दर्शन के द्वारा जड-चेतन के भेद को समझा, भौतिक एवं आध्यात्मिक सुख के अन्तर पर विचार किया, फलतः ससार की वासनाओ से मुँह मोड कर सत्पथ के पथिक वन गये और आत्म-सयम की साधना मे लगातार ऐसी तपःज्योति जगाई कि दृश्य ही वदल गया। तप साधना के वल पर एकदिन उन्होंने मानव का वैसा दिव्य जीवन प्राप्त किया कि आत्म-साधना के विकास एव वरदान स्वरूप अरिहन्त, जिन एव तीर्थङ्कर के रूप मे प्रकट हुए। श्रमण-सस्कृति के प्राचीन धर्म-ग्रन्थो मे आज भी उनके पतनो-त्थान-सम्वन्धी अनेक महत्त्वपूर्ण अनुभव एवं धर्म-साधना के क्रमवद्ध चरण-चिन्ह मिलते हैं, जिनसे यह सिद्ध होता है कि प्रत्येक साधारणजन मे जिनत्व के अकुर हैं, जो उन्हें अपनी साधना के जल-सिंचन से विकसित करके महावृक्ष के रूप मे पल्लवित कर सकता है, उसे 'जिनत्व' का अमरफल प्राप्त हो सकता है। राग-द्वेप-विजेता अरिहन्तो के जीवन-सम्वन्धी उच्च आदर्श, साधक-जीवन के लिए, क्रमवद्ध अभ्युदय एव निःश्रेयस के रेखा-चित्र उपस्थित करते हैं। अतएव श्रमण-सस्कृति का उत्तारवाद केवल सुनने-भर के लिए नही है, अपितु जीवन के हर अग मे गहरा उतारने के लिए है। उत्तारवाद, मानव-जाति को पाप के फल से वचने की नही, अपितु मूलत पाप से ही वचने की प्रेरणा देता है और जीवन के ऊँचे आदर्शो के लिए मनुष्यो के हृदय में अजर, अमर, अनन्त सत्साहस की अखण्डज्योति जगा देता है।

१०

जैनधर्म की आस्तिकता

मनुष्य जब साम्प्रदायिकता के रंग में रंग कर अपने मत का समर्थन और दूसरे मतों का खण्डन करने लगता है, तब वह कभी-कभी बहुत भयंकर रूप धारण कर लेता है। किसी विषय मे मतभेद होना उतना बुरा नही है, जितना कि मतभेद मे घृणा का जहर भर जाना। भारतवर्ष मे यह साम्प्रदायिक मतभेद इतना उग्र, कटु एवं विषाक्त हो गया है कि आज हमारी अखण्ड राष्ट्रीयता भी इसके कारण छिन्न-भिन्न हो रही है।

हिन्दू, मुसलमानो को म्लेच्छ कहते हैं, और मुसलमान, हिन्दुओं को काफिर कहते हैं। इसी प्रकार कुछ महानुभाव जैन-धर्म को भी नास्तिक कहते हैं। मतलब यह कि जिसके मन मे जो आता है, वही आँख बन्द करके अपने विरोधी सम्प्रदाय को कह डालता है। इस बात का जरा भी विचार नहीं किया जाता कि मैं जो कुछ कह रहा हूं, वह कहां तक सत्य है? इसका क्या परिणाम निकलेगा? किसी पर मिथ्या दोषारोपण करना तथा किसी के प्रति घृणा का वातावरण फैलाना अनुचित ही नहीं, बल्कि एक नैतिक अपराध भी है।

क्या जैन धर्म नास्तिक है?

जैन-धर्म पूर्णतः आस्तिक धर्म है। उसे नास्तिक धर्म कहना, सर्वथा असगत है।

भारत के कुछ लोग जैन-धर्म को नास्तिक क्यों कहने लगे इसके पीछे एक लम्बा इतिहास है। ब्राह्मण धर्म मे जब यज्ञ-याग आदि का प्रचार हुआ और धर्म के नाम पर दीन-हीन मूक पशुओं की हिंसा प्रारम्भ हुई, तब भगवान् महावीर ने इस वध-विधान और हिंसा का जोरदार विरोध किया। यज्ञ-याग आदि के समर्थन मे आधार-भूत ग्रन्थ वेद थे, अतः हिंसा का समर्थन करने वाले वेदों को भी अप्रामाणिक सिद्ध किया गया। इस पर कुछ मताग्रही ब्राह्मणो मे बड़ा क्षोभ फैला। वे मन-ही-मन झुंझला उठे। जैन-धर्म की

अकाट्य तर्कों का तो कोई उत्तर दिया नहीं गया, उलटे यह कह कर शोर मचाया जाने लगा कि जो वेदो को नही मानते हैं, जो वेदो की निन्दा करते है, वे नास्तिक हैं—**'नास्तिको वेद-निन्दक ।'** तब से लेकर आज तक जैन-धर्म पर यही आक्षेप लगाया जा रहा है। तर्क का उत्तर तर्क से न देकर गाली-गलौज करना, तो स्पष्ट दुराग्रह और साम्प्रदायिक अभिनिवेश हैं। कोई भी तटस्थ बुद्धिमान विचारक कह सकता है कि यह सत्य के निर्णय करने की कसौटी कदापि नही है।

वैदिक-धर्मावलम्बी जैन-धर्म को वेदनिन्दक होने के कारण यदि नास्तिक कह सकते हैं, तो फिर जैन भी वैदिक धर्म को जैन-निन्दक होने के कारण नास्तिक कह सकते है—**'नास्तिको जैन-निन्दकः।'** परन्तु यह कोई अच्छा मार्ग नही है। यह कौन-सा तर्क है कि ब्राह्मण धर्म के ग्रन्थो को न मानने वाला नास्तिक कहलाए और जैन-धर्म के ग्रन्थो को न मानने वाला नास्तिक न कहलाए ? सच तो यह है कि कोई भी धर्म अपने से विरुद्ध किसी अन्य धर्म के ग्रन्थो को न मानने मात्र से नास्तिक नही कहला सकता। यदि ऐसा है तो फिर सभी धर्म नास्तिक हो जाएँगे, क्योकि यह प्रत्यक्ष सिद्ध है कि सभी धर्म क्रिया-काण्ड आदि के रूप मे कही न कही एक-दूसरे के परस्पर विरोधी है। दु.ख है कि आज के प्रगतिशील युग मे भी इन थोथी दलीलो से काम लिया जा रहा है और व्यर्थ ही सत्य की हत्या करके एक-दूसरे को नास्तिक कहा जा रहा है।

वेदों का विरोध क्यो ?

जैन-धर्म को वेदो से कोई द्वेष नही है। वह किसी प्रकार की द्वेष बुद्धिवश वेदो का विरोध नही करता है। जैन-धर्म जैसा समभाव का पक्षपाती धर्म भला क्यो किसी की निन्दा करे ? वह तो विरोधी से विरोधी के सत्य को भी मस्तक झुका कर स्वीकार करने के लिए तैयार है। आप कहेगे, फिर वेदो का विरोध क्यो किया जाता है ? वेदो का विरोध इसीलिए किया जाता है कि वेदो मे अजमेध, अश्वमेध आदि हिंसामय यज्ञो का विधान है और जैन-धर्म हिंसा का स्पष्ट विरोधी है। फिर धर्म के नाम पर किए जाने वाले निरीह पशुओ का वध तो तलवारो की छाया के नीचे भी सहन नही किया जा सकता।

क्या जैन परमात्मा को नहीं मानते ?

जैन-धर्म को नास्तिक कहने के लिए आजकल एक और कारण बताया जाता है। वह कारण बिल्कुल ही बेसिर-पैर का है, निराधार है। लोग कहते हैं कि 'जैन-धर्म परमात्मा को नही मानता, इसलिए नास्तिक है।'

लेकिन प्रश्न यह है कि यह कैसे पता चला कि जैन-धर्म परमात्मा को नही मानता ? परमात्मा के सम्बन्ध मे जैन-धर्म की अपनी एक निश्चित मान्यता है। वह यह कि जो आत्मा राग-द्वेष मे सर्वथा रहित हो, जन्म-मरण से सर्वथा मुक्त हो, केवल ज्ञान और केवल दर्शन को प्राप्त कर चुकी हो, न शरीर हो, न इन्द्रियाँ हो, न कर्म हो, न कर्मफल हो—वह अजर, अमर, सिद्ध, बुद्ध, मुक्त आत्मा ही परमात्मा है। जैन-धर्म इस प्रकार के वीतराग आत्मा को परमात्मा मानता है। वह प्रत्येक आत्मा मे इसी परम-प्रकाश को छुपा हुआ देखता है कहता है कि हर कोई साधक वीतराग भाव की उपासना के द्वारा परमात्मा का पद पा सकता है। इस स्पष्टीकरण के बाद यह सोचा जा सकता है कि जैन-धर्म परमात्मा को कैसे नहीं मानता है ?

वैदिक-धर्मावलम्बी विचारक कहते हैं कि 'परमात्मा का जैसा स्वरूप हम मानते हैं, वैसा जैन-धर्म नही मानता, इसलिए नास्तिक है।' यह तर्क नही, मताग्रह है। जिन्हे वे आस्तिक कहते हैं, वे लोग भी परमात्मा के स्वरूप के सम्बन्ध मे कहां एकमत हैं ? मुसलमान खुदा का स्वरूप कुछ और ही बताते हैं, ईसाई कुछ और ही। वैदिक धर्म मे भी सनातन धर्म का ईश्वर और है, आर्यसमाज का ईश्वर और है। सनातन धर्म का ईश्वर अवतार धारण कर सकता है, परन्तु आर्य समाज का ईश्वर अवतार धारण नहीं कर सकता। अब कहिए, कौन आस्तिक है और कौन नास्तिक ? केवल परमात्मा को मानने भर से यदि कोई आस्तिक हैं, तो जैन-धर्म भी अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता है, अतः यह भी आस्तिक है।

कुछ विद्वान् यह भी कहते हैं कि जैन लोग परमात्मा को जगत् का कर्त्ता नहीं मानते, इसलिए नास्तिक हैं। यह तर्क भी ऊपर के तर्क के समान व्यर्थ है। जब परमात्मा वीतराग है, रागद्वेष से रहित है, तब वह जगत् का क्यो निर्माण करेगा ? और फिर उस जगत् का जो आधिव्याधि के भयकर दुःखो से सत्रस्त है। इस प्रकार जगत् की रचना मे वीतराग भाव कैसे सुरक्षित रह सकता है ? और बिना शरीर के, निर्माण होगा भी कैसे ? अस्तु, परमात्मा के जगत्-कर्तृत्व धर्म है ही नही।

किसी वस्तु का अस्तित्व होने पर ही तो उसे माना जाए। मनुष्य के पख नही है। कल यदि कोई यह कहे कि मनुष्य के पख होना मानो, नहीं तो तुम नास्तिक हो, तब तो अच्छा तमाशा शुरू हो जाएगा। यह भी एक अच्छी बला है। इस प्रकार से तो सत्य का गला ही घोट दिया जाएगा।

नास्तिक कौन ?

वैदिक सम्प्रदाय मे मीमासा, साख्य और वैशेषिक आदि दर्शन कट्टर निरीश्वरवादी दर्शन हैं। जगत्कर्त्ता तो दूर की बात रही, ये तो ईश्वर का अस्तित्व तक स्वीकार नहीं करते। फिर भी वे आस्तिक हैं। और जैन-धर्म अपनी परिभाषा के अनुसार परमात्मा को मानता हुआ भी नास्तिक है। यह केवल अपने मत के प्रति मिथ्या राग और दूसरे धर्म के प्रति मिथ्या द्वेष नही तो और क्या है ? आज के बुद्धिवादी युग मे ऐसी बातो का कोई महत्त्व नही।

शब्दो के वास्तविक अर्थ का निर्णय व्याकरण से होता है। शब्दो के सम्बन्ध मे व्याकरण ही विद्वानो को मान्य होता है, अपनी मन कल्पना नहीं। आस्तिक और नास्तिक शब्द सस्कृत भाषा के शब्द हैं। अतः इन शब्दो को प्रसिद्ध सस्कृत व्याकरण के आधार पर विवेचित करके, इसका यथार्थ अर्थ स्पष्ट कर लेना परम आवश्यक है।

सम्प्रदाय का ही है।

महान पाणिनि के द्वारा रचित व्याकरण के अष्टाध्यायी नामक ग्रन्थ के चौथे अध्याय के चौथे पद का साठवा सूत्र है—'अस्ति नास्ति दिष्ट मतिः' ४।४।६०।

भट्टोजी दीक्षित ने अपनी सिद्धान्त कौमुदी मे इसका अर्थ किया है—

"अस्ति परलोक इत्येव मतिर्यस्य स आस्तिकः,
नास्तीति मतिर्यस्य स नास्तिकः।"

हिन्दी अर्थ यह है कि—"जो परलोक को मानता है, वह आस्तिक है। और जो परलोक को नही मानता है, वह नास्तिक है।"

कोई भी विचारक यह सोच सकता है कि व्याकरण क्या कहता है और हमारे ये कुछ पडोसी मित्र क्या कहते हैं? जैन दर्शन आत्मा को मानता है, परमात्मा को मानता है, आत्मा की अनन्त शक्तियो मे विश्वास करता है। आत्मा को परमात्मा बनने का अधिकार देता है। वह परलोक को मानता है, पुनर्जन्म को मानता है, पाप-पुण्य को मानता है, बधन और मोक्ष को मानता है, फिर भी उसे नास्तिक कहने का कौन-सा आधार शेष रह जाता है? जिस धर्म मे कदम-कदम पर अहिंसा और करुणा की गंगा बह रही हो, जिस धर्म में सत्य और सदाचार के लिए सर्वस्व का त्याग कर कठोर साधना का मार्ग अपनाया जा रहा हो, जिस धर्म मे परम वीतराग भगवान् महावीर जैसे महापुरुषो की विश्वकल्याणमयी वाणी का अमर स्वर गूंज रहा हो, वह धर्म नास्तिक कदापि नही हो सकता। यदि इतने पर भी जैन-धर्म को नास्तिक कहा जा सकता है, तब तो ससार मे एक भी धर्म ऐसा नही, जो आस्तिक कहलाने का दावा कर सके।

११

समन्वय एवं अन्य विचारधाराएँ

भारतवर्ष मे दार्शनिक विचारधारा का जितना विकास हुआ है, उतना अन्यत्र नही हुआ। भारतवर्ष दर्शन की जन्मभूमि है। यहाँ भिन्न-भिन्न दर्शनो के भिन्न-भिन्न विचार, विना किसी प्रतिवन्ध और नियन्त्रण के, फूलते-फलते रहे है। यदि भारत के सभी पुराने दर्शनों का परिचय दिया जाय, तो एक वहुत विस्तृत ग्रन्थ हो जायगा। अत यहाँ विस्तार मे न जाकर सक्षेप मे ही भारत के वहुत पुराने पाँच दार्शनिक विचारो का परिचय यहाँ दिया जाता है। भगवान् महावीर के समय मे भी इन दर्शनो का अस्तित्व था और आज भी वहुत से लोग इन दर्शनो के विचार रखते है।

पाँचो के नाम इस प्रकार हैं—

१ कालवाद, २ स्वभाववाद, ३ कर्मवाद, ४ पुरुषार्थवाद और ५ नियतिवाद। इन पाँचो दर्शनो का आपस मे भयकर सघर्ष है और प्रत्येक परस्पर मे एक-दूसरे का खण्डन कर मात्र अपने ही द्वारा कार्य सिद्ध होने का दावा करता है।

१ कालवाद :

कालवाद का दर्शन वहुत पुराना है। वह काल को ही सबसे बड़ा महत्त्व देता है। कालवाद का कहना है कि ससार मे जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, सब काल के प्रभाव से ही हो रहे है। काल के विना स्वभाव, कर्म, पुरुषार्थ और नियति कुछ भी नही कर सकते। एक व्यक्ति पाप या पुण्य का कार्य करता है, परन्तु उसी समय उसे उसका फल नहीं मिलता। समय आने पर ही कार्य का अच्छा या बुरा फल प्राप्त होता है। एक बालक, यदि वह आज ही जन्मा हो, तो आप उसे कितना ही चलाएँगे, लेकिन वह चल नहीं सकता। कितना ही बुलवाइए, बोल नहीं सकता। समय आने पर ही चलेगा और बोलेगा। जो बालक आज सेर-भर का पत्थर नही उठा सकता, वह काल-परिपाक मे बाद युवा होने पर मन-भर पत्थर को उठा लेता है। आम का वृक्ष आज बोया है, तो क्या आप आज ही उसके मधुर फलों

का रसास्वादन कर सकते है ? वर्षों के वाद कही आम्रफल के दर्शन होगे। ग्रीष्मकाल मे ही सूर्य तपता है। शीतकाल मे ही शीत पडता है। युवावस्था मे ही पुरुप के दाढी-मूँछें आती हैं। मनुष्य स्वय कुछ नही कर सकता। समय आने पर ही सव कार्य होते है। यह काल की महिमा है।

२ स्वभाववाद :

स्वभाव-वाद का दर्शन भी कुछ कम नही है। वह भी अपने समर्थन मे वडे ही पैने तर्क उपस्थित करता है। स्वभावाद का कहना है कि ससार मे जो कुछ भी कार्य हो रहे हैं, सव वस्तुओ के अपने स्वभाव के प्रभाव से ही हो रहे हैं। स्वभाव के विना काल, कर्म, नियति आदि कुछ भी नही कर सकते। आम की गुठली मे आम का वृक्ष होने का स्वभाव है, इसी कारण माली का पुरुषार्थ सफल होता है, और समय पर वृक्ष तैयार हो जाता है। यदि काल ही सव कुछ कर सकता है, तो क्या काल निवौली से आम का वृक्ष उत्पन्न कर सकता है ? कभी नही। स्वभाव का वदलना वडा कठिन कार्य है। कठिन क्या, असम्भव कार्य है। नीम के वृक्ष को गुड और घी से सीचते रहिए, क्या वह मधुर हो सकता है ? दही मथने से ही मक्खन निकलता है, पानी से नही, क्योकि दही मे ही मक्खन देने का स्वभाव है। अग्नि का स्वभाव उष्णता है, जल का स्वभाव शीतलता है, सूर्य का स्वभाव प्रकाश करना है और तारो का रात मे चमकना है। प्रत्येक वस्तु अपने स्वभाव के अनुसार कार्य कर रही है। स्वभाव के समक्ष विचारे काल आदि क्या कर सकते हैं ?

३ कर्मवाद :

कर्मवाद का दर्शन तो भारतवर्ष मे वहुत चिर-प्रसिद्ध दर्शन है। यह एक प्रवल दार्शनिक विचारधारा है। कर्मवाद का कहना है कि काल, स्वभाव, पुरुपार्थ आदि सव नगण्य हैं। ससार मे सर्वत्र कर्म का ही एकछत्र साम्राज्य है। देखिए—एक माता के उदर से एक साथ दो वालक जन्म लेते हैं, उनमे एक वुद्धिमान होता है, और दूसरा मूर्ख ! ऊपर का वातावरण रग-ढग के एक होने पर भी भेद भरा क्यो है ? मनुष्य के नाते एक समान होने पर भी कर्म के कारण भेद है। वडे-वडे वुद्धिमान चतुर पुरुप भूखो मरते हैं, और वज्र-मूर्ख गद्दी-तकियो के सहारे सेठ वनकर आराम करते हैं। एक को मांगने पर भीख भी नही मिलती, दूसरा रोज हजारो रुपये खर्च कर डालता है। एक के तन पर कपडे के नाम पर चिथडे भी नही हैं, और दूसरे के यहां कुत्ते भी मखमल के गद्दो पर लेटा करते हैं। यह सव क्या है ? अपने-अपने कर्म हैं। राजा को रक और रक को राजा वनाना, कर्म के वाएँ हाथ का खेल है। तभी तो एक विद्वान् ने कहा है—'गहना कर्मणो गतिः।' अर्थात् कर्म की गति वडी गहन है।

४. पुरुपार्थवाद :

पुरुपार्थवाद का भी संसार मे कम महत्त्व नही है। यह ठीक है कि लोगो ने पुरुपार्थवाद के दर्शन को अभी तक अच्छी तरह नही समझा है और उसने कर्म, स्वभाव तथा काल आदि को ही अधिक महत्त्व दिया है। परन्तु पुरुपार्थवाद का कहना है कि विना पुरु-षार्थ के ससार का एक भी कार्य सफल नही हो सकता। ससार मे जहाँ कही भी जो भी कार्य होता देखा जाता है, उसके मूल मे कर्त्ता का अपना पुरुपार्थ ही छिपा होता है। कालवाद

कहता है कि समय आने पर ही सब कार्य होता है। परन्तु उस समय मे भी यदि पुरुषार्थ न हो तो क्या हो जाएगा ? आम की गुठली मे आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु क्या बिना पुरुषार्थ के यो ही कोठे मे रखी हुई गुठली मे आम का पेड लग जायगा ? कर्म का फल भी बिना पुरुषार्थ के, यो ही हाथ धरकर बैठे रहने मे मिल जायगा ? ससार मे मनुष्य ने जो भी उन्नति की है, वह अपने प्रबल पुरुषार्थ के द्वारा ही की है। आज का मनुष्य हवा मे उड रहा है। जल मे तैर रहा है, पहाडो को काट रहा है, परमाणु और उद्जन बम जैसे महान् आविष्कारो को तैयार करने मे सफल हो रहा है। यह सब मनुष्य का अपना पुरुषार्थ नही तो और क्या है ? एक मनुष्य भूखा है, कई दिन का भूखा है। कोई दयालु सज्जन मिठाई का थाल भरकर सामने रख देता है। वह नही खाता है। मिठाई लेकर मुँह मे डाल देता है, फिर भी नही चबाता है, और गले से नीचे नही उतारता है। अब कहिए, बिना पुरुषार्थ के क्या होगा ? क्या यो ही भूख बुझ जायगी ? आखिर मुँह मे डाली हुई मिठाई को चबाने का और चबाकर गले के नीचे उतारने का पुरुषार्थ तो करना ही होगा। तभी तो कहा गया है—

"पुरुष हो, पुरुषार्थ करो, उठो।"

५ नियतिवाद

नियतिवाद का दर्शन जरा गम्भीर है। प्रकृति के अटल नियमो को नियति कहते है। नियतिवाद का कहना है कि—ससार मे जितने भी कार्य होते है, सब नियति के अधीन होते है। सूर्य पूर्व मे ही उदय होता है, पश्चिम मे क्यो नही ? कमल जल मे ही उत्पन्न हो सकता है, शिला पर क्या नही ? पक्षी आकाश मे उड सकते है, गधे घोडे क्यो नही उडते ? हस श्वेत क्यो है ? पशु के चार पैर होते है, मनुष्य के दो ही क्यो है ? अग्नि की ज्वाला जलते ही ऊपर को क्यो जाती है ? इन सब प्रश्नो का उत्तर केवल यही है कि प्रकृति का जो नियम है, वह अन्यथा नही हो सकता। यदि वह अन्यथा होने लगे, तो फिर ससार मे प्रलय ही हो जाए। सूर्य पश्चिम मे उगने लगे, अग्नि शीतल हो जाए, गधे, घोडे आकाश मे उडने लगें, तो फिर ससार मे कोई व्यवस्था ही न रहे। नियति के अटल सिद्धान्त के समक्ष अन्य सब सिद्धान्त तुच्छ है। कोई भी व्यक्ति प्रकृति के अटल नियमो के प्रतिकूल नही जा सकता। अत नियति ही सब से महान् है। कुछ आचार्य नियति का अर्थ होनहार भी कहते है। जो होनहार है, वह होकर रहती है, उसे कोई टाल नही सकता।

इस प्रकार उपर्युक्त पाँचो वाद अपने-अपने विचारो की खीचातान करते हुए, दूसरे विचारो का खण्डन करते है। इस खण्डन-मण्डन के कारण साधारण जनता मे भ्रान्तियाँ उत्पन्न हो गई है। वह सत्य के मूल मर्म को समझने मे असमर्थ है। भगवान् महावीर ने विचारो के इस सघर्ष का बडी अच्छी तरह समाधान किया है। ससार के सामने उन्होने वह सत्य प्रकट किया, जो किसी का खण्डन नही करता, अपितु सबका समन्वय करके जीवन-निर्माण के लिए उपयोगी आदर्श प्रस्तुत करता है।

समन्वयवाद

भगवान् महावीर का उपदेश है कि पाँचो ही वाद अपने-अपने स्थान पर ठीक है, ससार मे जो भी कार्य होता है, वह इन पाँचो के समन्वय से अर्थात् मेल से होता है।

ऐसा कभी नही हो सकता कि एक ही शक्ति अपने बल पर कार्य सिद्ध कर दे। बुद्धिमान मनुष्य को आग्रह छोड़कर सबका समन्वय करना चाहिए। बिना समन्वय किए, कार्य में सफलता की आशा रखना दुराशामात्र है। हाँ, आग्रह से कदाग्रह और कदाग्रह से विग्रह पैदा होता है। यह हो सकता है कि किसी कार्य मे कोई एक प्रधान हो और दूसरे सब गौण हों, परन्तु यह नही हो सकता कि कोई अकेला स्वतन्त्र रूप से कार्य सिद्ध करदे।

भगवान् महावीर का उपदेश पूर्णतया सत्य है। हम इसे समझने के लिए आम बोने वाले माली का उदाहरण ले सकते हैं। माली बाग मे आम की गुठली बोता है, यहां पाँचो कारणो के समन्वय से ही वृक्ष होगा। आम की गुठली मे आम पैदा होने का स्वभाव है, परन्तु बोने का और बोकर रक्षा करने का पुरुषार्थ न हो तो क्या होगा? बोने का पुरुषार्थ भी कर लिया, परन्तु बिना निश्चित काल का परिपाक हुए, आम यो ही जल्दी थोड़े ही तैयार हो जाएगा? काल की मर्यादा पूरी होने पर भी यदि शुभ कर्म अनुकूल नही है, तो फिर भी आम नही लगने का। कभी-कभी किनारे आया हुआ जहाज भी डूब जाता है। अब रही, नियति। वह सब कुछ है ही। आम से आम होना प्रकृति का नियम है, इससे कौन इन्कार कर सकता है? और आम होना होता है, तो होता है, नही होना होता है, तो नही होता है। हाँ या ना, जो होना है, उसे कोई टाल नही सकता।

पढने वाले विद्यार्थी के लिए भी पाँचो आवश्यक हैं। पढने के लिए चित्त की एकाग्रता रूप स्वभाव हो, समय का योग भी दिया जाए, पुरुषार्थ यानी प्रयत्न भी किया जाए, अशुभ कर्म का क्षय तथा शुभ कर्म का उदय भी हो और प्रकृति के नियम नियति एव भवितव्यता का भी ध्यान रखा जाए, तभी वह पढ-लिख कर विद्वान् हो सकता है। अनेकान्तवाद के द्वारा किया जाने वाला यह समन्वय ही वस्तुतः जनता को सत्य का प्रकाश दिखला सकता है।

विचारो के भँवर जाल मे आज मनुष्य की बुद्धि फँस रही है। एकान्तवाद का आग्रह लिए वह किसी भी समस्या का समाधान नही पा रहा है। समस्या का समाधान पाने के लिए उसे जैनदर्शन के इस अनेकान्तवाद अर्थात् समन्वयवाद को समझना अत्यंत आवश्यक है।

१२

जैन दर्शन की समन्वय-परम्परा

दर्शनशास्त्र विश्व की सम्पूर्ण सत्ता के रहस्योद्घाटन की अपनी एक धारणा बनाकर चलता है। दर्शनशास्त्र का उद्देश्य है, विश्व के स्वरूप को विवेचित करना। इस विश्व मे चित् और अचित् सत्ता का स्वरूप क्या है? उक्त सत्ताओ का जीवन और जगत् पर क्या प्रभाव पड़ता है? उक्त प्रश्नो पर अनुसन्धान करना ही दर्शनशास्त्र का एकमात्र लक्ष्य और उद्देश्य है। भारत के समग्र दर्शनो का मुख्य ध्येय बिन्दु है—आत्मा और उसके स्वरूप का प्रतिपादन। चेतन और परमचेतन के स्वरूप को जितनी समग्रता के साथ और जितनी व्यग्रता के साथ भारतीय दर्शन ने समझाने का सफल प्रयास किया है, उतना विश्व के अन्य किसी दर्शन ने नही। यद्यपि मैं इस सत्य को स्वीकार करता हूँ कि यूनान के दार्शनिको ने भी आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन किया है, तथापि वह उतना स्पष्ट और विशद् प्रतिपादन नही है, जितना भारतीय दर्शनों का। यूनान के दर्शन की प्रतिपादन-शैली सुन्दर होने पर भी उसमे चेतन और परमचेतन के स्वरूप का अनुसन्धान गम्भीर और मौलिक नही हो पाया है। यूरोप का दर्शन तो आत्मा का दर्शन न होकर, केवल प्रकृति का दर्शन है। भारतीय दर्शन मे प्रकृति के स्वरूप का प्रतिपादन कम है और आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन अधिक। जड प्रकृति के स्वरूप का प्रतिपादन भी एक प्रकार से चैतन्यस्वरूप के प्रतिपादन के लिए ही है। भारतीय दर्शन जड और चेतन—दोनों के स्वरूप को समझने का प्रयत्न करता है और साथ मे वह यह भी बतलाने का प्रयत्न करता है कि मानव-जीवन का प्रयोजन और मूल्य क्या है। भारतीय दर्शन का अधिक झुकाव आत्मा की ओर होने पर भी, वह जीवन-जगत् की उपेक्षा नही करता। मेरे विचार मे भारतीय दर्शन जीवन और अनुभव की एक समीक्षा है। दर्शन का आविर्भाव विचार और तर्क के आधार पर होता है। दर्शन तर्कनिष्ठ विचार के द्वारा सत्ता और परम सत्ता के स्वरूप को समझाने का प्रयत्न करता है और फिर वह उसकी यथार्थता पर आस्था रखने के लिए प्रेरणा देता है। इस प्रकार भारतीय दर्शन में तर्क और श्रद्धा का सुन्दर समन्वय उपलब्ध होता है। पाश्चात्य दर्शन मे बौद्धिक और सैद्धान्तिक दर्शन की ही प्रधानता रहती है। पश्चिमी दर्शन स्वतन्त्र चिन्तन

पर आधारित है। और आप्त प्रमाण की वह घोर उपेक्षा करता है। इसके विपरीत भारतीय दर्शन आध्यात्मिक चिन्तन से प्रेरणा पाता है। भारतीय दर्शन एक आध्यात्मिक खोज है। वस्तुत भारतीय दर्शन जो चेतन और परम चेतन के स्वरूप की खोज करता है, उसके पीछे एकमात्र उद्देश्य यही है कि मानव-जीवन के चरम लक्ष्य—मोक्ष को प्राप्त करना। एक वात और है, भारत मे दर्शन और धर्म सहचर और सहगामी रहे हैं। धर्म और दर्शन मे यहाँ पर न किसी प्रकार का विरोध है और न उन्हे एक-दूसरे मे अलग रखने का ही प्रयत्न किया गया है। दर्शन सत्ता की मीमासा करता है और उसके स्वरूप को तर्क और विचार से पकडता है, जिससे कि मोक्ष की प्राप्ति होती है। यही कारण है कि भारतीय दर्शन एक वौद्धिक विलास नही है, वल्कि एक आध्यात्मिक खोज है। धर्म क्या है? वह अध्यात्म-सत्य को अधिगत करने का एक व्यावहारिक उपाय है। भारत मे दर्शन का क्षेत्र इतना व्यापक है कि भारत के प्रत्येक धर्म की शाखा ने अपना एक दार्शनिक आधार तैयार किया है। पाश्चात्य Philosophy शब्द और पूरवीय दर्शन शब्द की परस्पर मे तुलना नही की जा सकती। Philosophy शब्द का अर्थ होता है—ज्ञान का प्रेम, जवकि दर्शन का अर्थ है—सत्य का साक्षात्कार करना। दर्शन का अर्थ है—दृष्टि। दर्शनशास्त्र सम्पूर्ण सत्ता का दर्शन है, फिर भले ही वह सत्ता चेतन हो अथवा अचेतन। भारतीय दर्शन का मूल आधार चिन्तन और अनुभव रहा है। विचार के साथ आचार की भी इसमे महिमा और गरिमा रही है।

यहाँ प्रश्न यह होता है कि भारतीय दर्शनो मे विषमता कहाँ है? मुझे तो कही पर भी भारतीय दर्शनो मे विषमता दृष्टिगोचर नही होती है। अनेकान्तवाद की दृष्टि से विचार करने पर हमे सर्वत्र समन्वय और सामञ्जस्य ही दृष्टिगोचर होता है, कही पर भी विरोध और विषमता नही मिलती। भारतीय दर्शनो का वर्गीकरण अनेक प्रकार से किया गया है, उनका वर्गीकरण किसी भी पद्धति से क्यो न किया जाए, किन्तु उनका गम्भीर अध्ययन और चिन्तन करने मे ज्ञात होता है कि एक चार्वाक दर्शन को छोडकर, भारत के शेष समस्त दर्शनो का—जिसमे वैदिक दर्शन, वौद्धदर्शन और जैन दर्शन की समग्र शाखाओ एव उपशाखाओ का समावेश हो जाता है, उन सवका मूल ध्येय रहा है, आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन और मोक्ष की प्राप्ति। अत मैं भारतीय दर्शन को दो विभागो मे विभाजित करता हूँ—भौतिकवादी और अध्यात्मवादी। एक चार्वाक दर्शन को छोडकर भारत के अन्य सभी दर्शन अध्यात्मवादी हैं, क्योकि वे आत्मा की सत्ता मे विश्वास रखते हैं। आत्मा के स्वरूप के सम्वन्ध मे भले ही सव एक मत न हो, किन्तु उसकी सत्ता से किसी को इन्कार नही है। क्षणिकवादी वौद्ध दर्शन भी आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है। जैन दर्शन भी आत्मा को अमर, अजर और एक शाश्वत तत्त्व स्वीकार करता है। जैन दर्शन के अनुसार आत्मा का न कभी जन्म होता है और न कभी उसका मरण ही होता है। न्याय और वैशेषिक दर्शन आत्मा की अमरता मे विश्वास रखते हैं, किन्तु आत्मा को वे कूटस्थ, नित्य और विभु मानते हैं। सांख्यदर्शन और योग दर्शन चेतन की सत्ता को स्वीकार करते हैं, उसे नित्य और विभु मानते हैं, मीमांसा दर्शन भी आत्मा की अमरता को स्वीकार करता है। वेदान्त दर्शन मे आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन तो अद्वैत की चरम सीमा पर पहुँच गया है।

अद्वैत वेदान्त के अनुसार यह समग्र सृष्टि ब्रह्ममय है । कहीं पर भी ब्रह्म के अतिरिक्त अन्य कुछ है ही नहीं । जैन दर्शन और सांख्यदर्शन द्वैतवादी हैं । द्वैतवादी का अर्थ है—जड़ और चेतन, प्रकृति और पुरुष तथा जीव और अजीव—दो तत्त्वों को स्वीकार करने वाला दर्शन । इस प्रकार, एक चार्वाक को छोड़कर भारत के शेष सभी अध्यात्मवादी दर्शनों में आत्मा के स्वरूप का प्रतिपादन भिन्न-भिन्न होते हुए भी उसकी नित्यता और अमरता पर सभी की आस्था है ।

भारतीय दर्शन के अनुसार यह एक सिद्धान्त है कि जो आत्मा की सत्ता को स्वीकार करता है, उसके लिए यह आवश्यक है कि वह कर्म की सत्ता को भी स्वीकार करे । चार्वाक को छोड़कर शेष सभी भारतीय दर्शन कर्म और उसके फल को स्वीकार करते हैं । इसका अर्थ यह है कि शुभ कर्म का फल शुभ होता है और अशुभ कर्म का फल अशुभ होता है । शुभ कर्म से पुण्य और अशुभ कर्म से पाप होता है । जीव जैसा कर्म करता है, उसी के अनुसार उसका जीवन अच्छा अथवा बुरा बनता रहता है । कर्म के अनुसार ही हम सुख और दुःख का अनुभव करते हैं, किन्तु यह निश्चित है कि जो कर्म का कर्त्ता होता है, वही कर्म-फल का भोक्ता भी होता है । भारत के सभी अध्यात्मवादी दर्शन कर्म के सिद्धान्त को स्वीकार करते हैं । जैन दर्शन ने कर्म के सिद्धान्त की जो व्याख्या प्रस्तुत की है, वह अन्य सभी दर्शनों से स्पष्ट और विशद् है । आज भी कर्मवाद के सम्बन्ध में जैनों के सख्याबद्ध ग्रन्थ उपलब्ध होते हैं । अध्यात्मवादी दर्शन को कर्मवादी होना आवश्यक ही नहीं, परमावश्यक भी है । प्रश्न यह है कि यह कर्म कहाँ से आता है ? और क्यों आता है ? कर्म एक प्रकार का पुद्गल ही है, यह आत्मा से एक विजातीय तत्त्व है । राग और द्वेष के कारण आत्मा कर्मों से बद्ध हो जाती है । माया, अविद्या और अज्ञान से आत्मा का विजातीय तत्त्व के साथ जो संयोग हो जाता है, यही आत्मा की बद्धदशा है । भारतीय दर्शन में विवेक और सम्यक् ज्ञान को आत्मा से कर्ममल को दूर करने का उपाय माना है । आत्मा ने यदि कर्म बाँधा है, तो वह उससे विमुक्त भी हो सकती है । इसी आधार पर भारतीय दर्शनों में कर्ममल को दूर करने के लिए अध्यात्म-साधना का विधान किया गया है ।

भारतीय दर्शन की तीसरी विशेषता है, जन्मान्तरवाद अथवा पुनर्जन्म । जन्मान्तरवाद भी चार्वाक को छोड़कर अन्य सभी दर्शनों का एक सामान्य सिद्धान्त है । यह कर्म के सिद्धान्त से फलित होता है । कर्म सिद्धान्त कहता है कि शुभ कर्मों का फल शुभ मिलता है और अशुभ कर्मों का फल अशुभ । परन्तु सभी कर्मों का फल इसी जीवन में नहीं मिल सकता । इसलिए कर्म-फल को भोगने के लिए दूसरे जीवन की आवश्यकता है । यह संसार जन्म और मरण की एक अनादि शृंखला है । इसका कारण मिथ्याज्ञान और अविद्या है । जब सम्यग्ज्ञान से अथवा समाधि योग से पूर्वबद्ध कर्मों का सर्वथा नाश हो जाता है, तब इस संसार का भी अन्त हो जाता है । संसार बंध है और बंध का नाश ही मोक्ष है, बंध का कारण अज्ञान है और मोक्ष का कारण तत्त्वज्ञान है । जब तक आत्मा अपने पूर्वकृत कर्मों को भोग नहीं लेती, तब तक जन्म और मरण का चक्र कभी परिसमाप्त नहीं होता, यही जन्मान्तरवाद है ।

भारतीय दर्शनो की सबसे महत्त्वपूर्ण विशेषता है—मोक्ष एव मुक्ति। भारतीय दर्शनो का लक्ष्य यह रहा है कि यह मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण के लिए साधक को निरन्तर प्रेरित करते रहे। मोक्ष का सिद्धान्त भारत के सभी अध्यात्मवादी दर्शनो को मान्य है। भौतिकवादी होने के कारण अकेला चार्वाक दर्शन ही इसको स्वीकार नही करता। भौतिवादी चार्वाक जब इस शरीर से भिन्न आत्मा की सत्ता को स्वीकार ही नही करता, तब उसके विचार मे मोक्ष का उपयोग और महत्त्व ही क्या रह जाता है ? बौद्ध दर्शन मे आत्मा के मोक्ष को निर्वाण कहा गया है। निर्वाण का अर्थ है—सब दुःखो के आत्यन्तिक उच्छेद की अवस्था। जैन दर्शन मे मोक्ष, मुक्ति और निर्वाण—तीनो शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है। जैनदर्शन के अनुसार, मोक्ष एव मुक्ति का अर्थ है—आत्मा की परम विशुद्ध अवस्था। मोक्ष अवस्था मे आत्मा स्व-स्वरूप मे स्थिर रहती है, उसमे किसी भी प्रकार का विजातीय तत्त्व नही रहता। साख्य दर्शन मे प्रकृति और पुरुष के सयोग को संसार कहा गया है। और प्रकृति तथा पुरुष के वियोग को मोक्ष कहा गया है। न्याय और वैशेषिक भी यह मानते हैं कि तत्त्वज्ञान से ही मोक्ष होता है। वेदान्त दर्शन तो मुक्ति को स्वीकार करता ही है, उसके अनुसार जीव का ब्रह्म स्वरूप को प्राप्त कर लेना ही मुक्ति है। इस प्रकार भारत के सभी अध्यात्मवादी दर्शन मोक्ष एव मुक्ति का प्रतिपादन करते हैं। हम देखते हैं कि मोक्ष के स्वरूप मे और उसके प्रतिपादन की प्रक्रिया मे भिन्नता होने पर भी, लक्ष्य सबका एक ही है और वह लक्ष्य है—बद्ध आत्मा को बन्धन से मुक्त करना।

भारतीय दर्शन मे एक बात और है, जो सभी अध्यात्मवादी दर्शनो को स्वीकृत है। वह है—अध्यात्मक-साधना। साधना सबकी भिन्न-भिन्न होने पर भी उसका उद्देश्य और लक्ष्य प्राय एक जैसा ही है। अध्यात्मवादी दर्शन के अनुसार इस साधना को जीवन का आचार-पक्ष कहा जाता है। जबतक विचार को आचार का रूप नही दिया जाएगा, तब तक जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नही हो सकती। प्रत्येक अध्यात्मवादी दर्शन ने अपने-अपने सिद्धान्त के अनुसार अपने विचार को आचार का रूप देने का प्रयत्न किया है। भारत मे एक भी अध्यात्मवादी दर्शन ऐसा नही है, जिसके नाम पर कोई सम्प्रदाय स्थापित न हुआ हो। यह सम्प्रदाय क्या है ? प्रत्येक दर्शन का अपने विचार-पक्ष को आचार मे साबित करने के लिए यह एक प्रयोग-भूमि है। सम्प्रदाय उन विचारो की अभिव्यक्ति है, जो उसके द्रष्टाओ ने कभी साक्षात्कार किया था। यही कारण है कि भारतीय दर्शन मे विचार और आचार तथा धर्म और दर्शन साथ-साथ चलते हैं। भारतीय दर्शनो की सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण विशेषता यही है कि उनमे धर्म और दर्शन की समस्याओ मे अधिक भेद नही किया गया है। भारत मे धर्म शब्द का प्रयोग बड़े व्यापक अर्थो मे किया गया है। वस्तुतः भारत मे धर्म और दर्शन दोनो एक ही लक्ष्य की पूर्ति करते हैं। भारत के दर्शनो मे धर्म केवल विश्वासमात्र ही नही है, बल्कि आध्यात्मिक विकास की विभिन्न अवस्थाओ और जीवन की विभिन्न परिस्थितियो के अनुरूप मानवी व्यवहार और आचार का एक क्रियात्मक सिद्धान्त है। यहाँ पर दर्शन के सिद्धान्तो का मूल्याकन जीवन की कसौटी पर किया गया है और धार्मिक सिद्धान्तो को बुद्धि की तुला पर तोला गया है। भारत के अध्यात्मवादी दर्शन की यह एक ऐसी विशेषता है, जो अतीतकाल के और वर्तमान काल के अन्य किसी देश के दर्शन मे प्राप्त नही है। धर्म और दर्शन परस्पर सम्बद्ध है।

उनमे कहीं पर भी विरोध और विषमता दृष्टिगोचर नही होती, सर्वत्र समन्वय और सामञ्जस्य ही भारतीय धर्म और सस्कृति का एक मात्र आधार रहा है।

समन्वयवाद के आविष्कार करने वाले श्रमण भगवान महावीर हैं। भगवान् महावीर के युग मे जितने भी उनके समकालीन अन्य दार्शनिक थे, वे सब एकान्तवादी परम्परा की स्थापना कर रहे थे। उस युग का भारतीय दर्शन दो भागो मे विभाजित था—एकान्त नित्यवादी और एकान्त अनित्यवादी, एकान्त भेदवादी और एकान्त अभेदवादी, एकान्त सद्वादी और एकान्त असद्वादी तथा एकान्त एकत्ववादी और एकान्त अनेकत्ववादी। सब अपने-अपने एकान्तवाद को पकड कर अपने पथ, सम्प्रदाय और परम्परा को स्थापित करने में सलग्न थे। सब सत्य का अनुसधान कर रहे थे और सब सत्य की खोज कर रहे थे, किन्तु सबसे बडी भूल यह थी कि उन्होंने अपने एकाशी सत्य को ही सर्वांशी सत्य मान लिया था। भगवान् महावीर ने अनेकान्तवाद और स्याद्वाद के वैज्ञानिक सिद्धान्त के आधार पर समग्र दर्शनो का विश्लेषण किया और कहा— अपनी-अपनी दृष्टि से सभी दर्शन सत्य हैं, परन्तु सत्य का जो रूप उन्होने अधिगत किया है, वही सब कुछ नही है, उससे भिन्न भी सत्य की सत्ता शेष रह जाती है, जिसका निषेध करने के कारण वे एकान्तवादी बन गये हैं। उन्होंने अपने अनेकान्त सिद्धान्त के द्वारा अपने युग के उन समस्त प्रश्नो को सुलझाया, जो आत्मा और परलोक आदि के सम्बन्ध मे किए जाते थे। उदाहरण के लिए, आत्मा को ही लीजिए, बौद्ध दार्शनिक आत्मा को एकान्त क्षणिक एव अनित्य मान रहे थे। वेदान्तवादी दार्शनिक आत्मा को एकान्त नित्य और कूटस्थ मान रहे थे। भगवान् महावीर ने उन सबका समन्वय करते हुए कहा—पर्याय-दृष्टि से अनित्यवाद ठीक है और द्रव्य-दृष्टि से नित्यवाद भी ठीक है। आत्मा मे परिवर्तन होता है—इस सत्य से इन्कार नही किया जा सकता, परन्तु यह भी सत्य है कि परिवर्तनो मे रह कर भी और परिवर्तित होती हुई भी आत्मा कभी अपने मूल चिर स्वरूप से सर्वथा नष्ट नही होती। इसी प्रकार उन्होंने कर्मवाद, परलोकवाद और जन्मान्तरवाद के सम्बन्ध मे भी अपने अनेकान्तवादी दृष्टिकोण के आधार पर समन्वय करने का सफल प्रयास किया था। भगवान् महावीर के इस अनेकान्तवाद का प्रभाव अपने समकालीन बौद्ध दर्शन पर भी पडा और अपने युग के उपनिषदो पर भी पडा। उत्तरकाल के सभी आचार्यो ने किसी न किसी रूप मे उनके इस उदार सिद्धान्त को स्वीकार किया ही था। यही कारण है कि भारतीय दर्शनो मे कुछ विचार भेद और साधन भेद होते हुए भी, उद्देश्य और लक्ष्य मे किसी प्रकार का विलक्षण विरोध नही है, उसमे विरोध की अपेक्षा समन्वय ही अधिक है।

भारतीय दर्शन जीवन और जगत् के साक्षात्कार का दर्शन है। भारतीय चिन्तको ने कहा कि श्रुत और दृष्ट दोनो मे से श्रुत की अपेक्षा दृष्ट का ही अधिक महत्त्व है। दर्शन शब्द का मूल अर्थ ही सत्य का दर्शन है, साक्षात्कार है। अत. भारतीय दर्शन श्रोता की अपेक्षा द्रष्टा ही अधिक है। उसने जीवन के सत्य को साक्षात्कार करने का प्रयत्न किया है और सफलता भी प्राप्त की है। भारतीय दर्शन जितना महत्त्व चिन्तन को देता है, उतना ही अधिक महत्त्व वह अनुभव को भी देता है। भारतीय दर्शनो का अन्तिम लक्ष्य जीवन को भौतिक धरातल से प्रारम्भ करके सत्य की उस चरम सीमा तक पहुँचाना है, जिसके आगे अन्य राह

नही रहती, भारतीय जीवन का लक्ष्य वर्तमान जीवन के वन्धनो से निकल कर दिव्य जीवन की ओर अग्रसर होने का है। भारतीय दर्शन के मूल मे अध्यात्मवाद है और इसी कारण वह प्रत्येक वस्तु को अध्यात्मवादी तुला पर तौलता है। उसे अध्यात्मवादी कसौटी पर कस-कर ही स्वीकार करना चाहता है। जीवन मे जो कुछ अनात्मभूत है, उसे वह स्वीकार करना नहीं चाहता, फिर भले ही वह कितना ही सुन्दर और कितना ही अधिक मूल्यवान् क्यो न हो। इसी आधार पर भारतीय दर्शन जीवन और जगत् को कसौटी पर कसता है और उसके खरे उतरने पर उसकी अध्यात्मवादी व्याख्या करके, वह उसे जन-जीवन के लिए ग्राह्य वना देता है, जिसे पाकर जनजीवन समृद्ध हो जाता है।

भारतीय दर्शन का उद्देश्य वर्तमान असन्तुष्ट जीवन से निकल कर इधर उधर भटकते रहना ही नही है, वल्कि उसकी वर्तमान व्याकुलता का लक्ष्य है, अनाकुलता प्राप्त करना। कुछ आलोचक भारतीय दर्शन पर दु खवादी और निराशावादी होने का आरोप लगाते हैं, ये प्रवृत्ति पाश्चात्य दार्शनिको मे अधिक है और उनका अनुसरण करके कुछ भारतीय विद्वान् भी उनके स्वर मे अपना स्वर मिला देते हैं। मेरे अपने विचार मे भारतीय दर्शन को निराशावादी और दु खवादी कहना सत्य से परे है। भारतीय दर्शन वर्तमान जीवन के दु ख और क्लेशो पर खडा होता तो अवश्य है, परन्तु वह उसे अन्तिम सत्य एव लक्ष्य नही मानता है। उसका एकमात्र लक्ष्य तो इस क्षणभगुर एव निरन्तर परिवर्तन-शील तथा प्रतिक्षण मरण के मुख मे जाने वाले ससार को अमृत प्रदान करना है। भारतीय दर्शन की यह विशेषता रही है कि उसने क्षणभगुरता मे भी अमरता को देखा है। उसने अन्धकार मे भी प्रकाश की खोज की है और उसने उन्माद मे भी उन्मेप को पाने का निरन्तर प्रयास किया है। उपनिषद् का एक ऋषि अपने हृदय की वाणी को शब्दो मे व्यक्त करता है—"असतो मा सद्गमय, तमसो मा ज्योतिर्गमय, मृत्योर्मा अमृत गमय"—प्रभो, मुझे असत्य से सत्य की ओर ले चलो। मुझे अन्धकार से प्रकाश की ओर ले चलो, और मुझे मरण-शीलता से अमरता की ओर ले चलो। क्या आप इसे भारत का दु खवाद एवं निराशावाद कहते हैं? मैं इसे जीवन का पलायनवाद कहने की भूल नही कर सकता। भारत के दर्शनशास्त्र मे यदि कहीं पर दुःख निराशा और पलायनवाद के विचार मिलते भी हैं, तो वे इसलिए नहीं कि वह हमारे जीवन का लक्ष्य है, वल्कि वह इसलिए होता है कि हम अपने इस वर्तमान जीवन की दीन-हीन अवस्था को छोडकर महानता, उज्ज्वलता और पवित्रता की ओर अग्रसर हो सकें। मूल मे भारतीय दर्शन निराशावादी नही है। दु खवाद को वह वर्तमान जीवन मे स्वीकार करके भी अनन्त काल तक दु खी रहने मे विश्वास नही करता। वर्तमान जीवन मे मृत्यु सत्य है, किन्तु वह कहता है, मृत्यु शाश्वत नहीं है, यदि साधक के हृदय मे यह भावना जम जाए कि मैं आज मरणशील अवश्य हूं, किन्तु सदा मरणशील नहीं रहूंगा, तो इसे आप निराशावाद नही कह सकते। यह तो उस निराशावाद को आशावाद मे परिणत करने वाला एक अमर संकल्प है। भारतीय दर्शन प्रारम्भ मे भले ही स्थूलदर्शी प्रतीत होता हो, किन्तु अन्त मे वह सूक्ष्मदर्शी वन जाता है। स्थूलदर्शी से सूक्ष्मदर्शी वनना और सूक्ष्मदर्शी से सर्वदर्शी वनना ही उसके जीवन का लक्ष्य है। हमारे दर्शन, हमारे धर्म और हमारी संस्कृति के सम्बन्ध मे जो कुछ विदेशी विद्वानो ने कहा है, उसे आंख मूंद कर

स्वीकार करने की आवश्यकता नही है। आप अपनी बुद्धि की तुला पर तोल कर ही उसे ग्रहण करने का अथवा छोडने का प्रयत्न करें, अन्यथा बहुत-सा अन्धविश्वास आप ग्रहण कर लेंगे।

प्राचीन काल मे भारतीय दर्शन उदार और विशाल दृष्टिकोण का रहा है, क्योंकि वह सत्य का अनुसधान करने के लिए चला था। सत्य-शोधक के लिए आवश्यक है कि वह अपने दृष्टिकोण को व्यापक और विशाल रखे। जहाँ भी सत्य हो, उसे ग्रहण करने की भावना रखे, और जो कुछ असत्य है, उसे छोडने का बल एव साहस भी उसमे हो। सत्य के उपासक के लिए किसी के मत का खण्डन करना आवश्यक नही है, खण्डन और मण्डन दोनो ही सत्य से दूर रहने वाले बौद्धिक द्वन्द्व हैं। दूसरे के खण्डन करने के लिए अपने मण्डन की आवश्यकता रहती है और फिर अपने मण्डन के लिए दूसरे का खण्डन आवश्यक हो जाता है। सत्य की उपलब्धि से खण्डन का किसी प्रकार का सम्बन्ध नही है, खण्डन मे दूसरे के प्रति घृणा और उपेक्षा का भाव रहता है, किन्तु सत्य को पाने का पथ, खण्डन और मण्डन से अति दूर है। दुर्भाग्य है कि मध्यकाल मे आकर भारतीय दर्शन मे खण्डन-मण्डन की परम्परा चल पडी, अपना मण्डन करना और दूसरो का खण्डन करना, यही एक मात्र उनका लक्ष्य बन गया था। प्रारम्भ मे खण्डन दूसरो का किया जाता था किन्तु आगे चल कर यह खण्डन की परम्परा सर्वग्रासी बन गई और एक ही पथ और एक ही परम्परा के लोग परस्पर एक-दूसरे का ही खण्डन करने लग गए। शकर अद्वैतवाद का खण्डन किया मध्व ने और मध्व के द्वैतवाद का खण्डन किया शकर के शिष्यो ने। शकर मत का रामानुज ने खण्डन किया और रामानुज मत का शकर मत ने खण्डन किया। मीमासक ने नैयायिक का खण्डन किया और नैयायिक ने मीमासक का खण्डन किया। इस प्रकार जिस वैदिक परम्परा ने जैन और बौद्ध के विरुद्ध मोर्चा खडा किया था, वे आपस मे ही लडने लगे। बौद्धो मे भी हीनयान और महायान को लेकर एक भयकर खण्डन-मण्डन शुरू हो गया। महायान ने हीनयान को मिटा देना चाहा, तो हीनयान ने भी महायान को कुचल देने का दृढ सकल्प किया। बुद्ध के भक्त वैदिक और जैनो मे लडते-लडते आपस मे ही लड मरे। इसी प्रकार जिन के उपासक जैन भी, जिनकी साधना का एक मात्र लक्ष्य है, राग और द्वेष से दूर होना, वे भी राग और द्वेष के झझावात मे उलझ गए। श्वेताम्बर और दिगम्बरो के सघर्ष कम भयकर नही थे। यह बहुत बडी लज्जा की बात थी कि अनेकान्त के मानने वाले परस्पर मे ही लड पडे और अपना मण्डन तथा दूसरो का खण्डन करने लगे। याद रखिए, यदि आप दूसरे के घर मे आग लगाते हैं, तो वह आग फैलकर आपके घर मे भी आ सकती है। यह कभी मत समझिए कि हम दूसरो का खण्डन कर के अपना मण्डन कर सकेंगे। प्रत्येक व्यक्ति और प्रत्येक पथ कांच के महल मे बैठा हुआ है, इसलिए उसे दूसरे को पत्थर मारकर अपने को सुरक्षित समझने की भूल नही करनी चाहिए। खेद है कि भारत का अध्यात्मवादी दर्शन अपने अध्यात्मवाद को भूलकर पथवादी बनकर लड़ने को तैयार हो गया। भारतीय दर्शन का उज्ज्वल रूप खण्डन एव मण्डन मे नही है. वह है उसके समन्वय मे और वह है उसके अनेकान्तवादी दृष्टिकोण मे। समन्वय ही भारतीय दर्शन का वास्तविक स्वरूप है और यही उसका मूल आधार है। जैनधर्म की अनेकात-दृष्टि इसी समन्वय-परम्परा को पुष्ट करती है। एक तरह से जैनदर्शन का मूल, यह समन्वय-परम्परा ही है।

★★★★

१३

जैन दर्शन की आधारशिला : अनेकान्त

अनेकान्त क्या है ? वस्तुतः विचारात्मक अहिंसा ही अनेकान्त है। बौद्धिक अहिंसा ही, अनेकान्त है। उस अनेकान्त दृष्टि को जिस भाषा के माध्यम से अभिव्यक्त किया जाता है, वही स्याद्वाद है। अनेकान्त दृष्टि है, और स्याद्वाद उस दृष्टि की अभिव्यक्ति की पद्धति है। विचार के क्षेत्र मे अनेकान्त इतना व्यापक है कि विश्व के समग्र दर्शनो का इसमे समावेश हो जाता है। क्योकि जितने वचन-व्यवहार हैं, उतने ही नय हैं। सम्यक् नयो का समूह ही वस्तुतः अनेकान्त है। अनेकान्त का अर्थ यह है कि जिसमे किसी एक अन्त का, धर्म विशेष का अथवा एक पक्ष विशेष का आग्रह न हो। सामान्य भाषा मे विचारो के अनाग्रह को ही वास्तव मे अनेकान्त कहा जाता है। धर्म, दर्शन और सस्कृति प्रत्येक क्षेत्र मे अनेकान्त सिद्धान्त का साम्राज्य है। जीवन और जगत् के जितने भी व्यवहार हैं, वे सब अनेकान्तमूलक ही हैं। अनेकान्त के बिना जीवन-जगत् का व्यवहार नही चल सकता। जीवन के प्रत्येक पहलू को समझने के लिए अनेकान्त की आवश्यकता है।' जैन धर्म समभाव की साधना का धर्म है। समभाव, समता, समदृष्टि और साम्यभावना—ये सब जैन धर्म के मूल तत्त्व हैं। श्रम, शम और सम—ये तीन तत्त्व जैन विचार के मूल आधार हैं। विचार की समता पर जब भार दिया गया, तब उसमे से अनेकान्त दृष्टि का जन्म हुआ। केवल अपनी दृष्टि को, अपने विचार को ही पूर्ण सत्य मान कर उस पर आग्रह रखना, यह समता के लिए घातक भावना है। साम्य भावना ही अनेकान्त है। अनेकान्त एक दृष्टि है, एक दृष्टिकोण है, एक भावना है, एक विचार है और है सोचने और समझने की एक निष्पक्ष पद्धति। जब अनेकान्त वाणी का रूप लेता है, भाषा का रूप लेता है, तब वह स्याद्वाद बन जाता है, और जब वह आचार का रूप लेता है, तब वह अहिंसा बन जाता है। अनेकान्त और स्याद्वाद मे सबसे बड़ा अन्तर यह है कि अनेकान्त विचार-प्रधान होता है और स्याद्वाद भाषा-प्रधान होता है। अत दृष्टि जब तक विचार रूप है, तब तक वह अनेकान्त है, दृष्टि जब वाणी का परिधान पहन लेती है, तब वह स्याद्वाद बन जाती है। दृष्टि जब आचार का रूप लेती है, तब वह अहिंसा बन जाती है।

इस प्रकार, इस विश्लेषण से यह सिद्ध होता है कि अहिंसा और अनेकान्त दोनो एक दूसरे के पूरक हैं। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर, जो विक्रम की पाँचवी शती के भारत के एक महान् दार्शनिक थे, उन्होंने अपने 'सन्मति तर्क' ग्रन्थ मे अनेकान्तवाद को विश्व का गुरु कहा है। आचार्य सिद्धसेन दिवाकर का कहना है कि "इस अनेकान्त के विना लोक का व्यवहार चल नही सकता। मैं उस अनेकान्त को नमस्कार करता हूँ, जो जन-जन के जीवन को आलोकित करने वाला गुरु है।" अनेकान्तवाद केवल तर्क का सिद्धान्त ही नही हैं, वह एक अनुभव-मूलक सिद्धान्त है। आचार्य हरिभद्र ने अपने एक ग्रन्थ मे अनेकान्तवाद के सम्बन्ध मे कहा है कि—"कदाग्रही व्यक्ति की, जिस विषय मे मति होती है, उसी विषय मे वह अपनी युक्ति (तर्क) को लगाता है। परन्तु एक निष्पक्ष व्यक्ति उस वात को स्वीकार करता है, जो युक्ति-सिद्ध होती है।" अनेकान्त के व्याख्याकार आचार्यों मे आचार्य सिद्धसेन ने अपने 'सन्मति-तर्क' ग्रन्थ मे अनेकान्त की प्रौढ भापा मे और तर्कपुष्ट-पद्धति से व्याख्या की है। आचार्य समन्तभद्र ने अपने आप्त-मीमासा ग्रन्थ मे अनेकान्त की जो गम्भीर और गहन व्याख्या की है, वह अपने ढंग की एक अनूठी है। आचार्य हरिभद्र ने अपने 'अनेकान्तवाद प्रवेश' और 'अनेकान्तजय-पताका' जैसे मूर्धन्य ग्रन्थो मे अनेकान्त का तर्कपूर्ण प्रतिपादन किया है। आचार्य अकलकदेव ने अपने 'सिद्धि विनिश्चय' ग्रन्थ मे अनेकान्त का जो उज्ज्वल रूप प्रस्तुत किया हैं, वह अपने आप में अद्भुत है। उपाध्याय यशोविजय ने नव्य न्याय की शैली मे अनेकान्त, स्याद्वाद, सप्तभगी और नयवाद पर अनेक ग्रन्थ लिखकर स्याद्वा को सदा के लिये अजेय वना दिया है। इस प्रकार, हमारे प्राचीन आचार्यों ने जिस अहिंसा और अनेकान्त को पल्लवित और विकसित किया, वह भगवान् महावीर की मूल वाणी मे, वीज रूप में पहले से ही सुरक्षित था। उक्त आचार्यों की विशेपता यही है कि उन्होने अपने-अपने युग मे अहिंसा और अनेकान्त पर तथा स्याद्वाद और सप्तभगी पर होने वाले आक्षेपो और प्रहारो का तर्कसगत एव तर्कपूर्ण उत्तर दिया है। यही उनकी अपनी विशेषता है।

आप और हम अहिंसा एव अनेकान्त के गीत तो वहुत गाते हैं, किन्तु क्या कभी आपने यह समझने का प्रयत्न किया है कि आपके व्यक्तिगत और आपके सामाजिक जीवन मे अहिंसा कितनी है और अनेकान्त कितना है? कोई भी सिद्धान्त पोथी के पन्ने पर कितना ही अधिक विकसित और पल्लवित क्यो न हो गया हो, किन्तु जवतक जीवन की धरती पर उसका उपयोग और प्रयोग नही किया जाएगा, तव तक उससे कुछ भी लाभ नही। जिस प्रकार अमृत के स्वरूप का प्रतिपादन करने से और उसके नाम की माला जपने मात्र से जीवन मे सजीवनी शक्ति नही आती है, वह तभी आ सकती है, जवकि अमृत का पान किया जाए, उसी प्रकार अहिंसा और अनेकान्त का नाम रटने से और उसकी विशद् व्याख्या करने से जीवन मे स्फूर्ति और जागरण नही आ सकता, वह तभी आएगा, जवकि अहिंसा और अनेकान्त को जीवन की धरती पर उतार कर, जिन्दगी के हर मोर्चे पर उसका उपयोग और प्रयोग किया जाएगा। खेद की वात है कि अनेकान्तवादी कहलाने वाले जैन भी अपने-अपने एकान्त को पकड कर वैठ गए हैं। श्वेताम्वर और दिगम्वरो के सघर्ष, स्थानकवासी और तेरापथियो के झगडे, इस तथ्य को प्रमाणित करते हैं, कि ये लोग केवल अनेकान्तवाद की कोरी वात भर ही करते हैं, किन्तु इनके जीवन मे अनेकान्त है नहीं। सिद्धसेन दिवाकर ने और समन्तभद्र ने अपने-अपने युग मे जिस अनेकान्तवाद के आधार पर विभिन्न दार्शनिक सम्प्रदायो

का समन्वय किया था, आश्चर्य है, उसी परम्परा के अनुयायी अपना समाधान नही कर सके। इससे अधिक उपहास्यता और विडम्बना अनेकान्त की बात अन्य क्या होगी ? श्वेताम्बरो का दावा है कि समग्र सत्य हमारे पास है और दिगम्बरो का दावा है कि समस्त तथ्य हमारे पास है। परन्तु मैं इसे एकान्तवाद कहता हूँ। एकान्तवाद, फिर भले ही वह अपना हो, या पराया हो, वह कभी अनेकान्त नही बन सकता। सम्प्रदायवाद और पथवाद का पोषण करने वाले व्यक्ति जब अनेकान्त की चर्चा करते हैं, तब मुझे बडी हँसी आती है। मैं सोचा करता हूँ कि इन लोगो का अनेकान्तवाद केवल पोथी के पन्नो का अनेकान्तवाद है, वह जीवन का जीवन्त अनेकान्त नही है। आज हमे उस अहिंसा और उस अनेकान्त की आवश्यकता है, जो हमारे जीवन के कालुष्य और मालिन्य को दूर करके, हमारे जीवन को उज्ज्वल और पवित्र बना सके, तथा जो हमारे इस वर्तमान जीवन को सरस, सुन्दर और मधुर बना सके एव समन्वय की भावना हमारे रग-रग मे भर सके।

अनेकान्तवाद जैन-दर्शन की आधारशिला है। जैन तत्त्वज्ञान का महल, इसी अनेकान्तवाद के सिद्धान्त की आधारशिला पर अवलम्बित है। वास्तव मे अनेकान्तवाद जैन-दर्शन का प्राण है। जैन-धर्म मे जब भी, जो भी बात कही गई है, वह अनेकान्तवाद की कसौटी पर अच्छी तरह जाँच परख करके ही कही गई है। दार्शनिक साहित्य मे जैन-दर्शन का दूसरा नाम अनेकान्तवादी दर्शन भी है।

अनेकान्तवाद का अर्थ है—प्रत्येक वस्तु का भिन्न-भिन्न दृष्टि-बिन्दुओ से विचार करना, परखना, देखना। अनेकान्तवाद का यदि एक ही शब्द मे अर्थ समझना चाहें, तो उसे 'अपेक्षावाद' कह सकते है। जैनदर्शन मे सर्वथा एक ही दृष्टिकोण से पदार्थ के अवलोकन करने की पद्धति को अपूर्ण एव अप्रामाणिक समझा जाता है और एक ही वस्तु मे विभिन्न धर्मों को विभिन्न दृष्टिकोणो से निरीक्षण करने की पद्धति को पूर्ण एव प्रामाणिक माना जाता है। यह पद्धति ही अनेकान्तवाद है।

अनेकान्त और स्याद्वाद

अनेकान्तवाद और स्यादवाद एक ही सिद्धान्त के दो पहलू है, जैसे एक सिक्के के दो बाजू। इसी कारण सर्वसाधारण दोनो वादो को एक ही समझ लेते हैं। परन्तु ऊपर से एक होते हुए भी दोनो मे मूलतः भेद है। अनेकान्तवाद यदि वस्तुदर्शन की विचारपद्धति है, तो स्याद्वाद उसकी भाषा-पद्धति। अनेकान्त दृष्टि को भाषा मे उतारना स्याद्वाद है। इसका अर्थ हुआ कि वस्तुस्वरूप के चिन्तन करने की विशुद्ध और निर्दोष शैली अनेकान्तवाद है, और उस चिन्तन तथा विचार को अर्थात् वस्तुगत अनन्त धर्मो के मूल मे स्थित विभिन्न अपेक्षाओ को दूसरो के लिए निरूपण करना, उनका मर्मोद्घाटन करना स्याद्वाद है। स्याद्वाद को 'कथचित्वाद' भी कहते हैं।

वस्तु अनन्त धर्मात्मक है

जैनधर्म की मान्यता है कि प्रत्येक पदार्थ, चाहे वह छोटा-सा रजकण हो, चाहे विराट् हिमालय—वह अनन्त धर्मो का समूह है। धर्म का अर्थ—गुण है, विशेषता है। उदाहरण के लिए आप फल को ले लीजिए। फल मे रूप भी है, रस भी है, गंध भी है, स्पर्श भी है,

आकार भी है, भूख बुझाने की शक्ति है, अनेक रोगो को दूर करने की शक्ति है और अनेक रोगो को पैदा करने की भी शक्ति है। कहाँ तक गिनाएँ ? हमारी बुद्धि वहुत सीमित है, अत हम वस्तु के सव अनन्त धर्मों को विना अनन्त ज्ञान हुए, नही जान सकते। परन्तु स्पष्टतः प्रतीयमान वहुत से धर्मों को तो अपने बुद्धि वल के अनुसार जान ही सकते हैं।

हाँ तो पदार्थ को केवल एक पहलू से, केवल एक धर्म से जानने का या कहने का आग्रह मत कीजिए। प्रत्येक पदार्थ को पृथक्-पृथक् पहलुओ से देखिए और कहिए। इसी का नाम अनेकान्तवाद है। अनेकान्तवाद हमारे दृष्टिकोण को विस्तृत करता है, हमारी विचार-धारा को पूर्णता की ओर ले जाता है।

'भी' और 'ही' :

फल के सम्वन्ध मे जव हम कहते हैं कि—फल मे रूप भी है, रस भी है, गध भी है, स्पर्श भी है आदि, तव तो हम अनेकान्तवाद और स्याद्‌वाद का उपयोग करते हैं और फल का यथार्थ निरूपण करते हैं। इसके विपरीत जव हम एकात आग्रह मे आकर यह कहते हैं कि फल मे केवल रूप ही है, रस ही है, गध ही है, स्पर्श ही है, आदि, तव हम मिथ्या एकान्तवाद का प्रयोग करते हैं। 'भी' मे दूसरे धर्मों की स्वीकृति का स्वर छिपा हुआ है, जवकि 'ही' मे दूसरे धर्मों का स्पष्टत निषेध है। रूप भी है—इसका यह अर्थ है कि फल मे रूप भी है और दूसरे रस आदि धर्म भी हैं। और रूप ही है, इसका यह अर्थ है कि फल मे मात्ररूप ही है, रस आदि कुछ नही। यह 'भी' और 'ही' का अन्तर ही स्याद्‌वाद और मिथ्यावाद है। 'भी' स्याद्‌वाद है, तो 'ही' मिथ्यावाद।

एक आदमी वाजार मे खडा है। एक ओर से एक लडका आया। उसने कहा—'पिताजी।' दूसरी ओर से एक वूढा आया। उसने कहा—'पुत्र।' तीसरी ओर से एक सम-वयस्क व्यक्ति आया। उसने कहा—'भाई!' चौथी ओर से एक लडका आया। उसने कहा—'मास्टर जी।' मतलव यह है कि—उसी आदमी को कोई चाचा कहता है, कोई ताऊ कहता है, कोई मामा कहता है, कोई भानजा कहता है। सव झगडते है—यह तो पिता ही है, पुत्र ही है, भाई ही है, मास्टर ही है, और चाचा, ताऊ, मामा या भानजा ही है। अव वताइए, निर्णय कैसे हो ? उनका यह सघर्ष कैसे मिटे ? वास्तव मे वह आदमी है क्या ? यहाँ पर स्याद्‌वाद को न्यायाधीश वनाना पडेगा। स्याद्‌वाद पहले लडके से कहता है—हाँ, यह पिता भी है। तुम्हारे लिए तो पिता है, चूँकि तुम इसके पुत्र हो। और अन्य लोगो का तो पिता नही है। वूढे से कहता है—हाँ, यह पुत्र भी है। तुम्हारी अपनी अपेक्षा से ही यह पुत्र है, सव लोगो की अपेक्षा से तो नहीं। क्या यह सारी दुनियाँ का पुत्र है ? मतलव यह है कि वह आदमी अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता है, अपने पिता की अपेक्षा से पुत्र है, अपने भाई की अपेक्षा से भाई है, अपने विद्यार्थी की अपेक्षा से मास्टर है। इसी प्रकार अपनी-अपनी अपेक्षा से चाचा, ताऊ, मामा, भानजा, पति, मित्र सव है। एक ही आदमी मे अनेक धर्म हैं, परन्तु भिन्न-भिन्न अपेक्षा से। यह नही कि उसी पुत्र की अपेक्षा पिता, उसी की अपेक्षा पुत्र, उसी की अपेक्षा भाई, मास्टर, चाचा, ताऊ, मामा, और भानजा हो। ऐसा नहीं हो सकता। यह पदार्थ-विज्ञान के नियमो के विरुद्ध है।

स्याद्वाद को समझने के लिए इन उदाहरणो पर और ध्यान दीजिए—एक आदमी काफी ऊँचा है, इसलिए कहता है कि मैं बडा हूँ। हम पूछते हैं—'क्या आप पहाड़ से भी बडे हैं?' वह झट कहता है—'नही साहब, पहाड से तो मैं छोटा हूँ। मैं तो इन साथ के आदमियो की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं बडा हूँ।' अब एक दूसरा आदमी है। वह अपने साथियो से नाटा है, इसलिए कहता है कि—'मैं छोटा हूँ।' हम पूछते हैं—'क्या आप चीटी से भी छोटे है?' वह झट उत्तर देता है—'नही साहब, चीटी से तो मैं बडा हूँ। मैं तो अपने इन कद्दावर साथियो की अपेक्षा से कह रहा था कि मैं छोटा हूँ।'

इस उदाहरण से अपेक्षावाद की मूल भावना स्पष्ट हो जाती है कि हर एक चीज छोटी भी है और बडी भी। वह अपने से बडी चीजो की अपेक्षा छोटी है और अपने से छोटी चीजो की अपेक्षा बडी है। इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु के दो पहलू होते हैं और उन्हे समझने के लिए अपेक्षावाद का यह सिद्धान्त उन पर लागू होता है। दर्शन की भाषा मे इसे ही अनेकान्तवाद कहते है।

सम्पूर्ण हाथी का दर्शन :

अनेकान्तवाद को समझने के लिए प्राचीन आचार्यों ने हाथी का उदाहरण दिया है। एक गाँव मे जन्म के अन्धे छह मित्र रहते थे। सयोग से एक दिन वहाँ एक हाथी आ गया। गाँव वालो ने कभी हाथी देखा न था, धूम मच गई। अन्धो ने हाथी का आना सुना तो देखने दौड पडे। अन्धे तो थे ही, देखते क्या? हर एक ने हाथ से टटोलना शुरू किया। किसी ने पूँछ पकडी तो किसी ने सूँड, किसी ने कान पकडी तो किसी ने दाँत, किसी ने पैर पकड़ा तो किसी ने पेट। एक-एक अग को पकड कर हर एक ने समझ लिया कि मैंने हाथी को देख लिया है। इसके बाद जब वे अपने स्थान पर आए, तो हाथी के सम्बन्ध मे चर्चा छिडी।

प्रथम पूँछ पकडने वाले ने कहा—"भाई, हाथी तो मैंने देख लिया, बिल्कुल मोटे रस्से-जैसा था।"

सूँड पकडने वाले दूसरे अन्धे ने कहा—"झूठ, बिल्कुल झूठ! हाथी कही रस्से-जैसा होता है। अरे, हाथी तो मूसल जैसा था।"

तीसरा कान पकडने वाला अन्धा बोला—"आँखें काम नहीं देती तो क्या हुआ, हाथ तो धोखा नही दे सकते। मैंने हाथी को टटोल कर देखा था, वह ठीक छाज (सूप) जैसा था।"

चौथे दाँत पकडने वाले सूरदास बोले—"अरे तुम सब झूठी गप्पें मारते हो। हाथी तो कुश यानी कुदाल-जैसा था।"

पाँचवें पैर पकडने वाले महाशय ने कहा—'अरे कुछ भगवान् का भी भय रखो। नाहक क्यो झूठ बोलते हो? हाथी तो खम्भे जैसा था। मैंने खूब टटोल-टटोल कर देखा है।"

छठे पेट पकडने वाले सूरदास गरज उठे—"अरे क्या बकवास करते हो? पहले पाप किए तो अन्धे हुए, अब व्यर्थ का झूठ बोल कर क्यो उन पापो की जड़ो मे पानी डालते हो? हाथी तो भाई मैं देखकर आया हूँ। वह अनाज भरने की कोठी-जैसा है।"

अब क्या था, आपस मे वाग्युद्ध ठन गया। सब एक-दूसरे की भर्त्सना करने लगे और लगे गालीगलौज करने।

सौभाग्य से वहाँ एक आँखो वाला सत्पुरुष आ गया। अन्धो की तू-तू, मैं-मैं सुनकर उसे हँसी आ गई। पर, दूसरे ही क्षण उसका चेहरा गम्भीर हो गया। उसने सोचा—"भूल हो जाना अपराध नही है, किन्तु किसी की भूल पर हँसना तो घोर अपराध है।" उसका हृदय करुणार्द्र हो गया। उसने कहा—"बन्धुओ, क्यो झगडते हो ? जरा मेरी भी बात सुनो। तुम सब सच्चे भी हो और झूठे भी। तुम मे से किसी ने भी हाथी को पूरा नही देखा है। एक-एक अवयव को लेकर हाथी की पूर्णता का बखान कर रहे हो। कोई किसी को झूठा मत कहो, एक दूसरे के दृष्टिकोण को समझने का प्रयत्न करो। हाथी रस्से-जैसा भी है, पूँछ की दृष्टि से। हाथी मूसल-जैसा भी है, सूँड की अपेक्षा से। हाथी छाज-जैसा भी है, कान की ओर से। हाथी कुदाल-जैसा भी है, दाँतो के लिहाज से। हाथी खम्भे-जैसा भी है, पैरो की अपेक्षा से। हाथी अनाज की कोठी-जैसा भी है; पेट की दृष्टि से।" इस प्रकार समझा-बुझाकर उस सज्जन ने एकान्त की आग मे अनेकान्त का पानी डाला। अन्धो को अपनी भूल समझ मे आई। और सब शान्त होकर कहने लगे—हाँ, भाई! तुमने ठीक समझाया। सब अगो को मिलाने से ही हाथी बनता है, एक-एक अलग-अलग अग से नही!

वस्तुत अन्धो ने हाथी के एक अश को देखा और उसी पर जिद्द करने लग गए। आँख वाले ने सम्पूर्ण हाथी के रूप को उन्हे समझाया, तब कही उनका विग्रह समाप्त हो पाया।

ससार मे जितने भी एकान्तवादी आग्रही सम्प्रदाय हैं, वे पदार्थ के एक-एक अश अर्थात् एक-एक धर्म को ही पूरा पदार्थ समझते हैं। इसीलिए दूसरे धर्म वालो से लडते-झगडते हैं। परन्तु वास्तव मे वह पदार्थ नही, पदार्थ का एक अश-मात्र है। स्याद्वाद आँखो वाला दर्शन है। अत वह इन एकान्तवादी अन्धे दर्शनो को समझाता है कि तुम्हारी मान्यता किसी एक दृष्टि से ही ठीक हो सकती है, सब दृष्टि से नही। अपने एक अश को सर्वथा सब अपेक्षा से सत्य, और दूसरे अशो को असत्य कहना, बिल्कुल अनुचित है। स्याद्वाद इस प्रकार एकान्तवादी दर्शन की भूल बताकर पदार्थ के सत्य स्वरूप को आगे रखता है और प्रत्येक सम्प्रदाय को किसी एक अपेक्षा से ठीक बतलाने के कारण साम्प्रदायिक कलह को शान्त करने की क्षमता रखता है। केवल साम्प्रदायिक कलह को ही नही, यदि स्याद्वाद का जीवन के हर क्षेत्र मे यदि प्रयोग किया जाए, तो क्या परिवार, क्या समाज, और क्या राष्ट्र, सभी मे प्रेम एव सद्भावना के सुखद वातावरण का निर्माण हो सकता है। कलह और सघर्ष का बीज एक-दूसरे के दृष्टिकोण को न समझने मे ही है। स्याद्वाद दूसरे के दृष्टिकोण को समझने मे सहायक होता है।

यहाँ तक स्याद्वाद को समझने के लिए स्थूल लौकिक उदाहरण ही काम मे लाए गए हैं। अब दार्शनिक उदाहरणो का मर्म भी समझ लेना चाहिए। यह विषय जरा गम्भीर है, अत यहाँ सूक्ष्म निरीक्षण-पद्धति से काम लेना अधिक अच्छा होगा।

नित्य और अनित्य :

जैन-धर्म कहता है कि प्रत्येक प्रदार्थ नित्य भी है और अनित्य भी है। साधारण लोग इस बात पर घपले मे पड जाते हैं कि जो नित्य है, वह अनित्य कैसे हो सकता है ? और जो अनित्य है, वह नित्य कैसे हो सकता है ? परन्तु जैन-धर्म अनेकान्तवाद के द्वारा सहज ही मे इस समस्या को सुलझा देता है।

कल्पना कीजिए—एक घडा है। हम देखते हैं कि जिस मिट्टी से घडा बना है, उसी से सिकोरा, सुराही आदि और भी कई प्रकार के बर्तन बनते हैं। यदि उस घडे को तोड कर हम उसी की मिट्टी से बनाया गया कोई दूसरा बर्तन किसी को दिखलाएँ, तो वह कदापि उसको घडा नही कहेगा। उसी घडे की मिट्टी के होते हुए भी उसको घडा न कहने का कारण क्या है ? कारण और कुछ नही, यही है कि अब उसका आकार घडे-जैसा नही है।

इससे यह सिद्ध हो जाता है कि घडा स्वय कोई स्वतंत्र वस्तु नही है, बल्कि मिट्टी का एक आकार-विशेष है। परन्तु वह आकार-विशेष मिट्टी से सर्वथा भिन्न नही है, उसी का एक रूप है। क्योकि भिन्न-भिन्न आकारो मे परिवर्तित हुई मिट्टी ही जब घडा, सिकोरा, सुराही आदि भिन्न-भिन्न नामो से सम्बोधित होती है, तो इस स्थिति मे विभिन्न आकार मिट्टी से सर्वथा भिन्न कैसे हो सकते हैं ? इससे स्पष्ट हो जाता है कि घडे का आकार और मिट्टी दोनो ही घडे के अपने निज स्वरूप हैं।

अब देखना है कि इन दोनो स्वरूपो मे विनाशी स्वरूप कौन-सा है और ध्रुव कौन-सा है ? यह प्रत्यक्ष दृष्टिगोचर होता है कि घडे का वर्तमान मे दिखने वाला आकार-स्वरूप विनाशी है। क्योकि वह बनता और बिगडता है। वह पहले नही था, बाद मे भी नही रहेगा। जैनदर्शन मे इसे पर्याय कहते हैं। और घडे का जो दूसरा मूल स्वरूप मिट्टी है, वह अविनाशी है, क्योकि उसका कभी नाश नही होता। घडे के बनने से पहले भी मिट्टी मौजूद थी, घडे के बनने पर भी वह मौजूद है, और घडे के नष्ट हो जाने पर भी वह मौजूद रहेगी। मिट्टी अपने आप मे पुद्गल स्वरूपेण स्थाई तत्त्व हैं, उसे कुछ भी बनना-बिगडना नही है। जैनदर्शन मे इसे द्रव्य कहते हैं।

इस विवेचन से अब यह स्पष्ट रूप से समझा जा सकता है कि घड़े का एक स्वरूप विनाशी है और दूसरा अविनाशी। एक जन्म लेता है और नष्ट हो जाता है, दूसरा सदा सर्वदा बना रहता है, नित्य रहता है। अतएव अब हम अनेकान्तवाद की दृष्टि से यो कह सकते है कि घडा अपने आकार की दृष्टि से—विनाशी रूप मे अनित्य है। और अपने मूल मिट्टी की दृष्टि से—अविनाशी रूप मे नित्य है।[1] जैनदर्शन की भाषा मे कहे तो यो

---

१. मिट्टी का उदाहरण मात्र समझने के लिए स्थूल रूप से दिया गया है। वस्तुत. मिट्टी भी नित्य नही है। नित्य तो वह पुद्गल परमाणुपुंज है, जिससे मिट्टी का निर्माण हुआ है।

कह सकते हैं कि घडा अपनी पर्याय की दृष्टि से अनित्य है और द्रव्य की दृष्टि से नित्य है। इस प्रकार एक ही वस्तु मे परस्पर विरोधी जैसे परिलक्षित होने वाले नित्यता और अनित्यता रूप धर्मों को सिद्ध करने वाला सिद्धान्त ही अनेकान्तवाद है।

त्रिपदी :

जगत् के सब पदार्थ उत्पत्ति, स्थिति और विनाश—इन तीन धर्मों से युक्त हैं। जैन-दर्शन मे इनके लिए क्रमशः उत्पाद, व्यय और ध्रौव्य शब्दो का प्रयोग किया गया है। इसे त्रिपदी भी कहा जाता है। आप कहेगे—एक वस्तु मे परस्पर विरोधी धर्मों का समन्वय कैसे हो सकता है? इसे समझने के लिए एक उदाहरण लीजिए। एक सुनार के पास सोने का कगन है। वह उसे तोडकर, गलाकर हार बना लेता है। इससे यह स्पष्ट हो गया कि कगन का नाश होकर हार की उत्पत्ति हो गई। परन्तु इससे आप यह नही कह सकते कि कगन विल्कुल ही नया बन गया। क्योकि कगन और हार मे जो सोने के रूप मे पुद्गल परमाणु-स्वरूप मूलतत्त्व है, वह तो ज्यो का त्यो अपनी उसी स्थिति मे विद्यमान है। विनाश और उत्पत्ति केवल आकार की ही हुई है। पुराने आकार का नाश हुआ है और नये आकार की उत्पत्ति हुई है। इस उदाहरण के द्वारा सोने मे कगन के आकार का नाश, हार के आकार की उत्पत्ति, और सोने की तदवस्थस्थिति—ये तीनो धर्म भली भाँति सिद्ध हो जाते हैं।

इसी प्रकार प्रत्येक वस्तु मे उत्पत्ति, स्थिति और विनाश-ये तीनो गुण स्वभावतया समन्वित रहते है। कोई भी वस्तु जब नष्ट हो जाती है, तो इससे यह न समझना चाहिए कि उसके मूलतत्त्व ही नष्ट हो गए। उत्पत्ति और विनाश तो उसके स्थूल रूप के होते हैं। स्थूल वस्तु के नष्ट हो जाने पर भी उसके सूक्ष्म परमाणु तो सदा स्थित ही रहते हैं। वे सूक्ष्म परमाणु, दूसरी वस्तु ये साथ मिल कर नवीन रूपो का निर्माण करते हैं। वैशाख और ज्येष्ठ के महीने मे सूर्य की किरणो मे जब तालाब आदि का पानी सूख जाता है, तब यह समझना भूल है कि पानी का सवथा नाश हो गया है, उसका अस्तित्व पूर्णतया नष्ट हो गया है। पानी चाहे अब भाप या गैस आदि किसी भी रूप मे क्यो न हो, पर, वह विद्यमान अवश्य है। यह हो सकता है कि उसका वह सूक्ष्म रूप हमे दिखाई न दे, परन्तु यह तो कदापि सम्भव नही कि उसकी सत्ता ही नष्ट हो जाय। अतएव यह सिद्धान्त अटल है कि न तो कोई वस्तु मूल रूप से अपना अस्तित्व खोकर सर्वथा नष्ट ही होती है और न शून्य-रूप अभाव से भावस्वरूप होकर नवीन रूप मे सर्वथा उत्पन्न ही होती है। आधुनिक पदार्थ विज्ञान भी इसी सिद्धान्त का समर्थन करता है। वह कहता है—"प्रत्येकवस्तु मूल प्रकृति के रूप मे ध्रुव है—स्थिर है, और उससे उत्पन्न होने वाले अपरापर दृश्यमान पदार्थ उसके भिन्न-भिन्न रूपान्तर मात्र है।"

नित्यानित्यवाद की मूलदृष्टि

उपर्युक्त उत्पत्ति, स्थिति और विनाश इन तीन गुणो में जो मूलवस्तु सदा स्थित रहती है, उसे जैन-दर्शन द्रव्य कहते हैं, और जो उत्पन्न एवं विनष्ट होती रहती है, उसे पर्याय कहते हैं। कगन मे हार बनाने वाले उदाहरण मे—सोना द्रव्य है और कंगन तथा हार पर्याय है। द्रव्य की अपेक्षा से हर एक वस्तु नित्य है और पर्याय की

अपेक्षा से अनित्य है। इस प्रकार प्रत्येक पदार्थ को न एकान्त नित्य और न एकान्त अनित्य माना जा सकता है, अपितु नित्यानित्य उभय रूप से ही मानना युक्तियुक्त है और यही अनेकान्तवाद है।

अस्ति-नास्तिवाद :

अनेकान्त सिद्धान्त सत् और असत् के सम्बन्ध में भी उभयस्पर्शी दृष्टि रखता है। कितने ही सम्प्रदायो मे प्राय ऐसा कहा जाता है कि—'वस्तु सर्वथा सत् है।' इसके विपरीत दूसरे सम्प्रदाय कहते हैं कि—'वस्तु सर्वथा असत् है।' और, इस पर दोनो ओर से सघर्ष होता है, वाग्युद्ध होता है। अनेकान्तवाद ही वस्तुतः इस संघर्ष का सही समाधान कर सकता है।

अनेकान्तवाद कहता है कि प्रत्येक वस्तु सत् भी है और असत् भी। अर्थात् प्रत्येक पदार्थ 'है' भी और 'नहीं' भी। अपने निजस्वरूप से है और दूसरे पर-स्वरूप से नही है। अपने पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से सत् है, और पर-पुत्र की अपेक्षा से पिता पितारूप से असत् है। यदि वह पर-पुत्र की अपेक्षा से भी पिता ही है, तो सारे संसार का पिता हो जाएगा, और यह कदापि सम्भव नही है।

कल्पना कीजिए—सौ घडे रखे हैं। घड़े की दृष्टि से तो वे सब घडे हैं, इसलिए सत् है। परन्तु घट से भिन्न जितने भी पट आदि अघट हैं, उनकी दृष्टि से असत् है। प्रत्येक घडा भी अपने गुण, धर्म और स्वरूप से ही सत् है; किन्तु अन्य घडो के गुण, धर्म और स्वरूप से सत् नही है। घड़ों मे भी आपस मे भिन्नता है न ? एक मनुष्य अकस्मात् किसी दूसरे के घडे को उठा लेता है, और फिर पहिचानने पर यह कह कर कि यह मेरा नही है, वापस रख देता है। इस दशा मे घडे मे असत् नही तो और क्या है ? 'मेरा नहीं है'—इसमे मेरा के आगे जो 'नही' शब्द है, वही असत् का अर्थात् नास्तित्व का सूचक है। प्रत्येक वस्तु का अस्तित्व अपनी सीमा मे है, सीमा से वाहर नही। अपना स्वरूप अपनी सीमा है, और दूसरो का स्वरूप अपनी सीमा से वाहर है, पर सीमा है। यदि विश्व की हर एक वस्तु, हर एक वस्तु के रूप में सत् हो जाए तो फिर ससार मे कोई व्यवस्था ही न रहे। दूध, दूध रूप मे भी सत् हो, दही के रूप मे भी सत् हो, छाछ के रूप मे भी सत् हो, पानी के रूप मे भी सत् हो, तब तो दूध के वदले मे दही, छाछ या पानी हर कोई ले-दे सकता है। किन्तु याद रखिए—दूध, दूध के रूप मे सत् है, दही आदि के रूप में वह सर्वथा असत् है। क्योंकि स्व-स्वरूप सत् है, पर-रूप असत्।

√वस्तुतः स्यादवाद सत्य-ज्ञान की कुन्जी है। आज संसार मे जो सब ओर धार्मिक, सामाजिक, राष्ट्रीय आदि वैर-विरोध का बोलवाला है वह स्याद्वाद के द्वारा दूर हो सकता है। दार्शनिक क्षेत्र मे स्याद्वाद वह सम्राट् है, जिसके सामने आते ही कलह, ईर्ष्या, अनुदारता, साम्प्रदायिकता और संकीर्णता आदि दोष भयभीत होकर भाग जाते हैं। जब कभी विश्व मे शान्ति का सर्वतोभद्र सर्वोदय राज्य स्थापित हो पाएगा, तो वह स्याद्वाद के द्वारा ही हो पाएगा—यह वात अटल सत्य है

★★★★

धार्मिक
एवं
आध्यात्मिक
दृष्टिकोण

१४
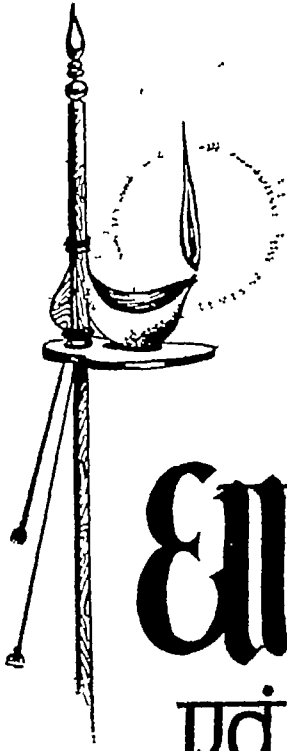
धर्म : एक चिंतन

वर्तमान युग मे धर्म के नाम पर अनेक विवाद चल रहे हैं, अनेक प्रकार के सघर्ष सामने आ रहे है। ऐसी वात नही है कि अभी वर्तमान मे ही ये विवाद और सघर्ष उभर आए हैं, प्राचीन और वहुत प्राचीन काल से ही 'धर्म' एक विवादास्पद प्रश्न रहा है, पूर्व से ही वह सघर्ष का कुरुक्षेत्र वना रहा है।

प्रत्यक्ष की वहुत-सी वातो को लेकर भी जव कभी-कभी विवाद उठ खडे होते हैं, सघर्ष की विजलियाँ कौंधने लग जाती है, तो जो अप्रत्यक्ष वस्तु है, उसके लिए विवाद खडा होना कोई आश्चर्य की वात नही। वस्तुत धर्म एक ऐसी आन्तरिक स्थिति है, जिसकी वाह्य स्थूल दृश्य पदार्थों के समान प्रत्यक्ष अनुभूति सावारण साधक को नही हो पाती। वह सिर्फ श्रद्धा और उपदेश के आधार पर ही धर्म के लिए चलता रहता है। यही कारण है कि परस्पर के मतभेदो के कारण धर्म के सागर मे विवाद के तूफान मचल उठते हैं, तर्क-वितर्क का भवर लहरा उठता है।

धर्म क्या है ?

मूल प्रश्न यह है कि धर्म क्या है ? अन्तर में जो पवित्र भाव-तरगें उठती हैं, चेतना की निर्मल धारा वहती है, मानस मे शुद्ध सस्कारो का एक प्रवाह उमडता है, क्या वही धर्म है ? या वाहर मे जो हमारा कृतित्व है, क्रियाकाड है, रीति रिवाज हैं और खाने-पीने पहनने-ओढने के तौर-तरीके है, वे धर्म है ? हमारा आन्तरिक व्यक्तित्व धर्म है या वाह्य व्यक्तित्व ?

हमारे व्यक्तित्व के दो रूप है—एक आन्तरिक व्यक्तित्व है, जो वास्तव मे, हम जैसे अन्दर मे होते है, उनसे निर्मित होता है। दूसरा रूप है वाह्य व्यक्तित्व। हम जैसा वाहर मे करते है, उसी के अनुरूप हमारा वाह्य व्यक्तित्व निर्मित होता है। हमारे समक्ष प्रश्न यह है कि 'होना' या 'करना' इनमे धर्म कौन-सा है ? व्यक्तित्व का कौन-सा रूप धर्म है ? अन्दर मे होना धर्म है अथवा वाहर मे करना धर्म है ?

'होना' और 'करना' मे वहुत अन्तर है। अन्दर में हम जैसे होते हैं, उसे वहुत कम व्यक्ति समझ पाते हैं। आन्तरिक व्यक्तित्व को पकडना उतना ही कठिन है, जितना पारे को अँगुलियो से पकडना। वाह्य व्यक्तित्व को पकड लेना वहुत सरल है, उतना ही सरल, जितना कि जल की सतह पर तैरती हुई लकडी को छू लेना। वाहर मे जो आचार-व्यवहार होता है, उसे साधारण वुद्धि वाला भी शीघ्र ही ग्रहण कर लेता है, और उसे ही हमारे व्यक्तित्व का प्रतिनिधि रूप मान लेता है। आज वाहरी व्यक्तित्व ही हमारा धर्म वन रहा है।

जितने भी विवाद उठे हैं, सघर्ष उभरे हैं, मत और पथ का विस्तार हुआ है, वे सव वाहर मे धर्म को मान लेने से ही हुए हैं। दिगम्वर-श्वेताम्वर के रूप में जैन धर्म के दो टुकडे क्यो हुए? वौद्धो के हीनयान और महायान तथा वैदिको के शैव और वैष्णव मतो की वात छोडिए, हम अपने घर की ही चर्चा करें कि आखिर कौन-सा जागीरी, जमीदारी का झगडा हुआ कि एक वाप के दो वेटे अलग-अलग खेमो मे जा डटे और एक-दूसरे से झगड़ने लग गए। श्वेताम्वर और दिगम्वर आचार्यों ने एक ही वात कही है कि मन मे निष्कामता का और निस्पृहता का भाव रहे, वीतराग दशा मे स्थिरता हो, करुणा और परोपकार की वृत्ति हो, सयम एव सदाचारमय जीवन हो, यही धर्म है। श्वेताम्वर और दिगम्वर सभी इस तथ्य को एक स्वर से स्वीकार करते हैं, कोई आनाकानी नही है। प्रश्न है, फिर झगडा क्या है? किस वात को लेकर द्वन्द्व है, सघर्ष है?

मैं सोचता हूँ, यदि एक-दूसरे को ठीक से अन्दर में समझने का प्रयत्न किया जाता तो विवाद जैसा कोई प्रसंग ही नही था। पर, विवाद हुआ धर्म को वाहर मे देखने से। श्वेताम्वर मुनि वस्त्र रखते हैं, तो क्या यह अधर्म हो गया? इसके लिए तर्क है कि वस्त्र आत्मा से भिन्न वाहर की पौदगलिक चीज है, अत. वह परिग्रह है, और यदि परिग्रह है, तो फिर साधुता कैसी? परन्तु उधर दिगम्वर मुनि भी तो कुछ वस्तुएँ रखते हैं—मोरपिच्छी, कमण्डल, पुस्तक आदि। इसके लिए कहा जाता है कि इन पर हमारी ममता नही है, जीवरक्षा एवं शरीर शुद्धि आदि के लिए ही यह सव है, इसलिए यह अधर्म नही है, तो मैं सोचता हूँ यदि यही वात वस्त्र के सम्वन्ध मे भी समझ ली जाती, तो क्या हर्ज था? श्वेताम्वर मुनि भी तो यही वात कहते हैं—"वस्त्र पर हमारी ममता नही है।" यह केवल शीतादि निवारण के लिए है, अनाकुलता के लिए है, और कुछ के लिए नही।

धर्म और उपवास :

भोजन नही करने का उद्देश्य क्या है? उपवास आदि क्यो किए जाते हैं? उनका उद्देश्य क्या है? शान्ति और समाधि की प्राप्ति ही न। और भोजन करने का उद्देश्य भी शान्ति और समाधि को वनाये रखना ही है। तव तो हमारा केन्द्र एक ही हुआ। और इस केन्द्र पर खडे होकर ही हम सोच रहे हैं कि उपवास आदि तप के समान भोजन भी अनाकुलता का साधक होने से साधना है, धर्म है। जहाँ तक मेरा अध्ययन एव अनुभव है, यह समग्र भारतीय दर्शन का मान्य तथ्य है। सत कवीर ने भी कहा है—

"कबिरा छुधा कूकरी, करत भजन में भग।
या को टुकड़ा डारिके, भजन करो नीशक॥"

भूख एक कुतिया है, यह शोर करती है, ता शान्ति भग होती है, ध्यान स्खलित

हो जाता है, अत इसे भोजन का टुकडा डाल दो और फिर शान्ति से अपनी साधना करते रहो।

धर्म का वाह्य अतिवाद :

भोजन के सम्वन्ध मे जो सर्वसम्मत विचार है, काश ! वही विचार यदि वस्त्र के सम्वन्ध मे भी किया जाता, तो इस महत्त्वपूर्ण परम्परा के दो टुकडे नही हुए होते। जिन साधक आत्माओ को वस्त्र के अभाव मे भी शान्ति रह सकती हो, आकुलता नही जगती हो, तो उनके लिए वस्त्र की वाध्यता नही है। किन्तु वस्त्र के अभाव मे जिनकी शाति भग होती है, उन्हे समभावपूर्वक वस्त्र धारण करने की अनुमति दी जाए, तो इसमे कौन-सा अधर्म हो जाता है? भगवान् महावीर के समय मे सचेलक और अचेलक (सवस्त्र और अवस्त्र) दोनो परम्पराएँ थी। तव न निर्वस्त्र होने का आग्रह था और न सवस्त्र होने का। न वस्त्र से मुक्ति अटकती थी और न अवस्त्र से। वस्त्र से मुक्ति तव अटकने लगी, जव हमारा धर्म वाहर मे अटक गया, अन्दर मे झाँकना वन्द कर दिया गया।

वैष्णव परम्परा भी इसी प्रकार जव वाहर मे अटकने लगी, तो उसका धर्म भी वाहर मे अटक गया और वह एक वुद्धिवादी मनुष्य के लिए निरा उपहास वनकर रह गया। अतीत मे तिलक को लेकर वैष्णव और शैव भक्त कितने झगड़ते रहे हैं, परस्पर कितने टकराते रहे है? कोई सीधा तिलक लगाता है तो कोई टेढ़ा, कोई त्रिशूल मार्का, तो कोई यू मार्का U और कोई सिर्फ गोल विन्दु ही। और, तिलक को यहाँ तक तूल दिया गया कि तिलक लगाए विना मुक्ति नही होती। तिलक लगा लिया तो दुराचारी की आत्मा को भी वैकुण्ठ का रिजर्वेशन मिल गया !

वैष्णव परम्परा मे एक कथा आती है—एक दुराचारी वन मे किसी वृक्ष के नीचे सोया था। वही सोये-सोये उसके हाथ-पैर ठंडे पड गए और प्राण कूच कर गए। वृक्ष की टहनी पर एक चिडिया वैठी थी, उसने दुराचारी के शिर पर वीट कर दी। इधर दुराचारी की आत्मा को लेने के लिए यम के दूत आये, तो उधर विष्णु के दूत भी पहुँचे। यमदूतो ने कहा—यह दुराचारी था, इसलिए इसे नरक मे ले जायेंगे। इस पर विष्णु के दूत वोले—चाहे कितना ही दुराचारी रहा हो, पर इसके माथे पर तिलक लगा है, इसलिए यह स्वर्ग का अधिकारी हो गया। दोनो दूतो मे इस पर खूव गर्मागर्म वहसें हुई, लडे-झगडे, आखिर विष्णु के दूत उसे स्वर्ग मे ले ही गए। दुराचार-सदाचार कुछ नहीं, केवल तिलक ही सव कुछ हो गया, वही वाजी मार ले गया। तिलक भी विचारपूर्वक कहाँ लगा? वह तो चिडिया की वीट थी। कुछ भी हो तिलक तो हो गया।

सोचता हूँ, इन गल्पकथाओ का क्या उद्देश्य है? जीवन-निर्माण की दिशा मे इनकी क्या उपयोगिता है? मस्तक पर पडी एक चिडिया की वीट को ही तिलक मान लिया गया, तिलक होने मात्र से ही दुराचारी की आत्मा को स्वर्ग का अधिकार मिल गया! धर्म की तेजस्विता और पवित्रता का इससे वडा और क्या उपहास होगा।

इस प्रकार की एक नही, सैकडो, हजारो अन्धमान्यताओ से धार्मिक-मानस ग्रस्त होता रहा है। जहाँ तोते को राम-राम पढाने से वेश्या को वैकुण्ठ मिल जाता है, सीता को चुराकर राम के हाथ से मारे जाने पर रावण की मुक्ति हो जाती है, वहाँ धर्म के आन्तरिक स्वरूप की क्या परख होगी?

धर्म के ये कुछ रूढ रूप हैं , जो बाहर मे अटके हुए है, और मानव मन इन्ही की भूल-भुलैया मे भटक रहा है। हम भी, हमारे पडोसी भी, सभी एक ऐसे दल-दल में फँस गए हैं कि धर्म का असली किनारा आँखो से ओझल हो रहा है और जो किनारा दिखाई दे रहा है, वह सिर्फ अन्धविश्वास और गलत मान्यताओं की शैवाल से ढका हुआ अथाह गर्त है।

बौद्ध परम्परा मे भिक्षु को चीवर धारण करने का विधान है। चीवर का मतलब है, जगह-जगह पर सिला हुआ जीर्ण वस्त्र, अर्थात् कन्या। इसका वास्तविक अर्थ तो यह था कि जो फटा-पुराना वस्त्र गृहस्थ के लिए निरुपयोगी हो गया हो, वह वस्त्र भिक्षु धारण करे। पर, आज क्या हो रहा है ? आज भिक्षु बिल्कुल नया और सुन्दर वस्त्र लेते हैं, बढिया रेशमी। फिर उसके टुकडे-टुकडे करते हैं, और उसे सीते है, और इस प्रकार चीवर की पुरानी व्यवस्था को कायम रखने के लिए उसे चीवर मानकर ओढ लेते हैं।

धर्म की अन्तर्दृष्टि

ये सब धर्म को बाहर मे देखने वालो की परम्पराएँ हैं। वे बाहरी क्रिया को, रीति-रिवाज, पहनाव और बनाव आदि को ही धर्म समझ बैठे है, जबकि ये तो एक सभ्यता और कुलाचार की बातें हैं।

बाहर मे कोई नग्न रहता है, या श्वेत वस्त्र धारण करता है, या गेरुआ चीवर पहनता है, तो, धर्म को इनसे नही तोला जा सकता। वेषभूषा, बाहरी व्यवस्था और बाहरी क्रियाएँ कभी धर्म का पैमाना नही हो सकती। इनसे जो धर्म को तोलने का प्रयत्न करते हैं, वे वैसी ही भूल कर रहे हैं, जैसी कि मणिमुक्ता और हीरो का वजन करने के लिए पत्थर और कोयला तोलने के काँटे का इस्तेमाल करने वाला करता है।

धर्म का दर्शन करने की जिन्हें जिज्ञासा है, उन्हे इन बाहरी आवरणो को हटाकर भीतर मे झाँकना होगा। क्रियाकाडो की बाह्य भूमिका से ऊपर उठकर मन की आन्तरिक भूमिका तक चलना होगा। आचार्य हरिभद्र ने कहा है—

"सेयंबरो य आसंबरो य,
बुद्धो व अहव अन्नो वा।
समभावभावियप्पा,
लहई मोक्ख न सदेहो॥"

कोई श्वेताम्बर हो, या दिगम्बर हो, जैन हो, या बौद्ध अथवा वैष्णव हो। ये कोई धर्म नही हैं, मुक्ति के मार्ग नहीं हैं। धर्म कोई दस हजार, या दो हजार वर्ष के परम्परागत प्रचार का परिणाम नही है, वह तो एक अखड शाश्वत और परिष्कृत विचार है और हमारी विशुद्ध आन्तरिक चेतना है। मुक्ति उसे ही मिल सकती है, जिसकी साधना समभाव से परिपूर्ण है। जो दुःख मे भी और सुख मे भी सम है, निर्द्वन्द्व है, वीतराग है। आप लोग वर्षा के समय बरसाती ओढ़कर निकलते है, कितना ही पानी बरसे, वह भीगती नही, गीली नहीं होती, पानी बह गया और बरसाती सूखी की सूखी। साधक का मन भी बरसाती के समान हो जाना चाहिए। सुख का पानी गिरे या दुःख का, मन को भीगना नही चाहिए। यही द्वन्द्वो मे अलिप्त रहने की प्रक्रिया, वीतरागता की साधना है। और यही वीतरागता हमारी शुद्ध अन्तश्चेतना अर्थात् धर्म है।

धर्म के रूप :

जैनाचार्यों ने धर्म के सम्बन्ध मे बहुत ही गहरा चिंतन किया है। वे मनन-चिन्तन की डुबकियाँ लगाते रहे और साधना के बहुमूल्य चमकते मोती निकालते रहे। उन्होंने धर्म के दो रूप बताए हैं—एक, निश्चय धर्म और दूसरा, व्यवहार धर्म। किन्तु वस्तुत धर्म दो नही होते, एक ही होता है। किन्तु धर्म का वातावरण तैयार करने वाली तथाप्रकार की साधन-सामग्रियो को भी धर्म की परिधि मे लेकर, उसके दो रूप बना दिए हैं।

व्यवहार धर्म का अर्थ है, निश्चय धर्म तक पहुँचने के लिए पृष्ठभूमि तैयार करने वाला धर्म। साधना की उत्तरोत्तर प्रेरणा जगाने के लिए और उसका अधिकाधिक प्रशिक्षण (ट्रेनिंग) लेने के लिए व्यवहार धर्म की आवश्यकता है। यह एक प्रकार का स्कूल है। स्कूल ज्ञान का दावेदार नही होता किन्तु ज्ञान का वातावरण जरूर निर्माण करता है। स्कूल मे आने वाले के भीतर प्रतिभा है, तो वह विद्वान् बन सकता है, ज्ञान की ज्योति प्राप्त कर सकता है। और यदि निरा बुद्धूराज है, तो वर्षों तक स्कूल की बैंचें तोडने के बाद भी वैसा का वैसा ही रहेगा। स्कूल मे यह शक्ति नही कि किसी को विद्वान् बना ही दे। यह बात व्यवहार धर्म की है। बाह्य क्रियाकाड किसी का कल्याण करने की गारण्टी नही दे सकता। जिसके अन्तर मे अशत ही सही, निश्चय धर्म की जागृति हुई है, उसी का कल्याण हो सकता है, अन्यथा नही। हाँ, परिस्थितियो के निर्माण मे व्यवहार धर्म का सहयोग अवश्य रहता है।

वर्तमान परिस्थितियो मे हमारे जीवन मे निश्चय धर्म की साधना जगनी चाहिए। व्यवहार धर्म के कारण जो विकट विवाद, समस्याएँ और अनेक सरदर्द पैदा करने वाले प्रश्न काँध रहे हैं, उनका समाधान सिर्फ निश्चय धर्म की ओर उन्मुख होने से ही हो सकता है।

आज का धार्मिक जीवन उलझा हुआ है, सामाजिक जीवन समस्याओंसे घिरा है, राजनीतिक जीवन तनाव और सघर्ष से अशान्त है। इन सबका समाधान एक ही हो सकता है और वह है निश्चय धर्म की साधना अर्थात् जीवन मे वीतरागता, अनासक्ति।

वीतरागता का दृष्टिकोण व्यापक है। हम अपनी वैयक्तिक, सामाजिक एव साम्प्रदायिक मान्यताओ के प्रति भी आसक्ति न रखे, आग्रह न करें, यह एक स्पष्ट दृष्टिकोण है। सत्य के लिए आग्रही होना एक चीज है और मत के लिए आग्रही होना दूसरी चीज। सत्य का आग्रह दूसरे के सत्य को ठुकराता नही, अपितु सम्मान करता है। जबकि मत का आग्रह दूसरे के अभिमत सत्य को सत्य होते हुए भी ठुकराता है, उसे लाछित करता है। सत्य के लिए सघर्ष करने की आवश्यकता नही होती, उसके लिए साधना करनी पडती है। मन को समता और अनाग्रह मे जोडना होता है।

सामाजिक सम्बन्धो मे वीतरागता का अर्थ होता है—आप अपने सुख के पीछे पागल नही रहे, धन और परिवार के व्यामोह में फँसें नही। आपका मन उदार हो और सहानुभूतिपूर्ण हो, दूसरे के लिए अपने सुख का त्याग करने को प्रस्तुत हो, तो सामाजिक क्षेत्र मे भी निश्चय धर्म की साधना हो सकती है।

राजनीतिक जीवन भी आज आसक्तियों के गन्दे जल मे कुलबुला रहा है। विचारो की आसक्ति, पद और प्रतिष्ठा की आसक्ति, कुर्सी की आसक्ति। दल और दल से मिलने

वाले फल की आसक्ति। जीवन का हर कोना आसक्तियों से जकड़ा हुआ है—फलतः जीवन संघर्षमय है।

धर्म का वास्तविक रूप यदि जीवन में आ जाए, तो यह सब विवाद सुलझ सकते हैं, सब प्रश्न हल हो सकते हैं और धर्म फिर एक विवादास्पद प्रश्न के रूप में नहीं, बल्कि एक सुनिश्चित एवं सुनिर्णीत जीवन दर्शन के रूप में हमारे समक्ष प्रस्तुत होगा।

कर्त्तव्य और धर्म :

धर्मनिष्ठ व्यक्ति वह है, जिसे कर्त्तव्य-पालन का दृढ अभ्यास है। जो व्यक्ति संकट के विकट क्षणों में भी अपने कर्त्तव्य का परित्याग नहीं करता, उससे बढ़कर इस जगती-तल पर अन्य कौन धर्मशील हो सकता है? कर्त्तव्य और धर्म में परस्पर जो सम्बन्ध है, वह तर्कातीत है, वहाँ तर्क की पहुँच नहीं है। कर्त्तव्य-कर्मों के दृढ अभ्यास से, अनुष्ठान करने से धार्मिक प्रवृत्तियों का उद्भव होता है। अभ्यास के द्वारा धीरे-धीरे प्रत्येक कर्त्तव्य, धर्म में परिणत हो जाता है। कर्त्तव्य, उस विशेष कर्म की ओर संकेत करता है, जिसे मनुष्य को अवश्य करना चाहिए। कर्त्तव्य करने के अभ्यास से, धर्म की विशुद्धि बढ़ती है, अतः यह कहा जा सकता है कि धर्म और कर्त्तव्य एक-दूसरे के पूरक हैं एक-दूसरे के विघटक नहीं। क्योंकि धर्म का कर्त्तव्य में प्रकाशन होता है और कर्त्तव्य में धर्म की अभिव्यक्ति होती है। धर्म क्या है, इस सम्बन्ध में एक पाश्चात्य विद्वान् का कथन है कि धर्म मनुष्य के मन की दुष्प्रवृत्तियों और वासनाओं को नियन्त्रित करने एवं आत्मा के समग्र शुभ का लाभ प्राप्त करने का एक अभ्यास है। धर्म चरित्र की उत्कृष्टता है। अधर्म चरित्र का कलंक है। कर्त्तव्य-पालन में धर्म का प्रकाशन होता है, इसके विपरीत पापकर्मों में अधर्म उद्भूत होता है। धर्म आत्मा की एक स्वाभाविक वृत्ति का नाम है।

१५

भक्ति, कर्म और ज्ञान

मानव जीवन की तीन अवस्थाएँ है।

(१) वचपन।

(२) जवानी। और

(३) वुढापा।

मानव का जीवन इन तीन धाराओ से गुजरता है, और प्रत्येक धारा के साथ एक विशेष प्रकार की वृत्ति जन्म लेती है और, अवस्था विशेष के साथ-साथ वह वृत्ति वदलती भी रहती है।

जीवन की प्रथम अवस्था है वचपन। शैशव। वालक की वृत्ति परापेक्षी होती है। वह सहारा खोजता है, प्रारम्भ मे चलने के लिए उसे कोई न कोई अँगुली पकडने वाला चाहिए। माँ उसे अँगुली पकडकर चलाती है, अपने हाथ से खिलाती है। वह खुद खा भी नही सकता। गन्दा हो जाए तो खुद साफ भी नहीं हो सकता। कोई सफाई करने वाला, नहलाने वाला चाहिए। अपने हाथ से नहा भी नही सकता। खडा रहेगा कि कोई नहला दे, देखता रहेगा कि कोई खिला दे। मतलव यह है कि वालक की प्राय हर प्रवृत्ति पूर्ति के लिए किसी दूसरे की अपेक्षा रखती है, माँ हो, या अन्य कोई, जव उसे सहारा मिलेगा, तभी उसकी अपेक्षा पूरी हो सकेगी।

साधना का शैशव : भक्तियोग

हमारी साधना भी इस प्रकार के एक शैशवकाल के वीच से गुजरती है, उस अवस्था का नाम है—भक्तियोग।

भक्त अपने आप को एक वालक के रूप मे समझता है। वह भगवान् के समक्ष अपने को उनके वालक के रूप मे ही प्रस्तुत करता है। भक्त अपने व्यक्तित्व का कोई स्वतन्त्र अस्तित्व नही समझता। जीवन मे स्वय के कर्त्तापन का भाव जागृत नही होने

देता। भगवान् से ही सब कुछ अपेक्षा रखता है—"प्रभु तू ही तारने वाला है, तू ही मेरा रक्षक है! जो कुछ है तू ही है।" "त्वमेव माता च पिता त्वमेव" यह भगवदाश्रित वृत्ति है, जिसे साधना की भाषा मे 'भक्तियोग' कहा जाता है।

'भक्तियोग' जीवन की प्राथमिक दशा मे अपेक्षित रहता है। बालक को जबतक अपने अस्तित्व का बोध नही होता, वह माता की शरण चाहता है। भूख लगी तो माँ के पास दौड़कर जाएगा। प्यास लगी तो माँ को पुकारेगा। कोई भय तथा कष्ट आता है, तो माँ के आचल मे छुप जाता है। भक्त का मन भी जब व्याकुल होता है, तो वह भगवान् को पुकारता है, जब कष्ट आते हैं, तो भगवान् की शरण मे जाता है, प्रार्थना करता है।

जब समस्याएँ घेर लेती हैं, तो भगवान् को हाथ जोड़ता है—"प्रभु! मेरे कष्ट मिटादो! मैं तुम्हारा अबोध बालक हूँ।" इस प्रकार की प्रार्थनाएँ भारत के प्रत्येक धर्म और सम्प्रदाय मे प्रचलित हैं। वैदिक परम्परा मे तो इसका जन्म ही हुआ है, मानव मन का सत्य तो यह है कि साधना के प्रत्येक प्रथम काल मे प्रत्येक साधक इसी भाव की ओर उन्मुख होता है, बचपन की तरह जीवन की यह सहज वृत्ति इसमे विचारो की अस्फुटता, भोलापन और एक सुकुमारता का भाव छिपा है, जो मानव-मन की सहज धारा है। इसलिए चाहे वैदिक परम्परा है, बौद्ध परम्परा है, या जैन परम्परा। सर्वत्र भक्तियोग का प्रवाह उमडा, साधक उसकी धारा मे बहे और काफी दूर तक बह गये। स्तोत्र, पाठ और प्रार्थनाएँ रची गई, विनतियाँ गाई गईं और इसके माध्यम से साधक भगवान् का आचल पकडकर चलने का आदी रहा।

जब तक साधक को अपने अस्तित्व का सही बोध प्राप्त नही हो जाता, जब तक वह यह नही समझ लेता है कि भगवान् का बिम्ब ही भक्त मे परिलक्षित हो रहा है। जो उसमे है, वह मुझ मे है, यह अनुभूति (जिसे सखाभाव कहते हैं) जबतक जागृत नही हो जाती, तब तक उसे भगवान् के सहारे की अपेक्षा रहती है। भक्ति के आलम्बन की आवश्यकता होती है। निराशा और कुण्ठा उसके कोमल मन को दबोच न ले, इसके लिए भगवान् की शरण भी अपेक्षित रहती है। हाँ, यह शरण उसे भय से भागना सिखाती है, मुकाबला करना नही, कष्ट से बचना सिखाती है, लडने की क्षमता नही जगा सकती।

साधना का यौवन कर्मयोग

युवा अवस्था जीवन की दूसरी अवस्था है। जब बचपन का भोलापन समझ मे बदलने लगता है, सुकुमारता शौर्य मे प्रस्फुरित होने लगती है, माँ का आचल पकडे रहने की वृत्ति सीना तानकर खड़ा होने मे परिवर्तित होने लगती है, तो हम कहते हैं—बच्चा जवान हो रहा है। अगर कोई नौजवान होकर भी माँ को पुकारे कि "माँ सहारा दे, मेरी अँगुली पकड कर चला, नही तो मैं गिर जाऊँगा। कुत्ता आ गया, इसे भगा दे, मक्खियाँ मुँह पर बैठ रही हैं, उडा दे। गदा हो गया हूँ, साफ कर दे, मुँह मे ग्रास देकर खिलादे"—तो कोई क्या कहेगा? अरे! यह कैसा जवान है, अभी बचपन की आदतें नही बदली और माँ-बाप भी क्या ऐसे युवा पुत्र पर प्रसन्नता और गर्व अनुभव कर सकते हैं? उन्हे चिन्ता होती है, बात क्या है? डाक्टर को दिखाओ! यह अभी तक ऐसा क्यों करता है?

तात्पर्य यह है कि यौवन वह है जो आत्मनिर्भरता से पूर्ण हो। जवानी दूसरो का मुँह नही ताकती। उसमे स्वावलम्बन की वृत्ति उभरती है, अपनी समझ और अपना साहस होता है। वह भय और कष्ट की घडी मे भागकर माँ के आचल मे नही छुपता, वल्कि सीना तानकर मुकावला करता है। वह दूसरो के सहारे पर भरोसा नही करता, अपनी शक्ति, स्फूर्ति और उत्साह पर विश्वास करके चलता है।

साधना क्षेत्र मे जीवन की यह युवा अवस्था 'कर्मयोग' कहलाती है। वचपन जवतक है, तवतक किसी का सहारा ताकना ठीक है, पर जव युवा रक्त हमारी नसो मे दौडने लगता है, तव भी यदि हम अपना मुँह साफ करने के लिए किसी और को पुकारें, तो यह वात युवा रक्त को शोभा नही देगी।

कर्मयोग हमारी युवाशक्ति है। अपना मुँह अपने हाथ से धोने की वात—"कर्मयोग की वात है। कर्मयोग की प्रेरणा है—तुझे जो कुछ करना है, अपने आप कर! अपने भाग्य का विधाता तू खुद है। जीवन में जो पीडाएँ और यातनाएँ तुझे कचोटने आती है, वे किसी और की भेजी हुई नही हैं। तेरी भूलो ने ही उन्हें निमन्त्रित किया है, अव उनसे भाग मत। उनका स्वागत कर! मुकावला कर! भूल को अनुकूल वनाना, शूल को फूल वनाना—इसी मे तो तेरा चमत्कार है। जीवन की गाडी को मोड देना, उसके चक्के वदल देना, वह सव तेरे अधिकार मे है। तू अपनी गाडी का प्रभुसत्ता सम्पन्न मालिक होकर भी साधारण-से क्रीतदास की तरह खडा देख रहा है, यह ठीक नही।" इस प्रकार कर्मयोग मन मे आत्मनिर्भरता का साहस-भाव जगाता है। अपना दायित्व अपने ऊपर लेने की वृत्ति को प्रोत्साहन देता है।

एकत्व भावना . अनाथता नहीं :

जैन सस्कृति मे मन का परिशोधन करने के लिए वारह भावनाएँ वतलाई गई है। उनमे एकत्वभावना तथा अशरणभावना भी एक है। आप एकत्व का अर्थ करते हैं—"कोई किसी का नही है, जीव अकेला आया है, अकेला जायेगा, सव जग स्वार्थी है, माता-पिता, पति-पत्नी सव स्वार्थ के सगे हैं, मतलव के यार हैं। मैं अकेला हूँ, मेरा कोई नहीं है, आदि।" मैं नही कहता कि सिद्धान्तत यह कोई गलत वात है, किन्तु इस चिन्तन के पीछे जो दृष्टि छपी है, उसे हम नही पकड सके हैं। 'मैं अकेला हूँ' इसका अर्थ यह कदापि नही कि हम ससार को स्वार्थी और मक्कार कहने लगें। अपने को असहाय और अनाथ समझ कर चलें, जीवन मे दीनता के सस्कार भरकर समाज और परिवार के कर्त्तव्य मे विमुख होकर निरीह स्थिति मे पडे रहें। यह तो समाजद्रोही वृत्ति है, इसमे अन्तर्मन मे दीनता और हीनता आती है। एकत्व का सही अर्थ यह है कि "जीवन के क्षेत्र मे मैं अकेला हूँ मेरा निर्माण मुझे ही करना है, मेरे कल्याण और अकल्याण का उत्तरदायी मैं स्वयं ही हूँ—"अप्पा कत्ता विकत्ता य" मेरी आत्मा ही मेरे सुख और दुःख का कर्त्ता-हर्ता है—दूसरा कोई नही।" इस प्रकार का चिन्तन करना ही वस्तुत एकत्व का अर्थ है। अपना दायित्व अपने ऊपर स्वीकार करके

चलना—यह एकत्व भावना है। और, यही वस्तुतः कर्मयोग है। हमारे मन मे एकत्व की फलश्रुति—आत्म-सापेक्षता के रूप मे जगनी चाहिए, असहायता एव अनाथता के रूप मे नही।

युवा संस्कृति की साधना

जैन सस्कृति साधना की युवा सस्कृति है, युवाशक्ति है, कर्मयोग जिसका प्रधान तत्त्व है। कर्मयोग के स्वर ने साधक के सुप्त शौर्य को जगाया है, मूर्छित आत्मविश्वास को सजीवन दिया है। उसने कहा है—जीवन एक विकास यात्रा है, इस यात्रा मे तुम्हे अकेला चलना है, यदि किसी का सहारा और कृपा की आकाक्षा करते रहे, तो तुम एक कदम भी नही चल सकोगे। सिद्धि का द्वार तो दूर रहा, साधना का प्रथम चरण भी नही नाप सकोगे। इसलिए अपनी शक्ति पर विश्वास करके चलो। अपनी सिद्धि के द्वार अपने हाथ से खोलने का प्रयत्न करो! अपने बन्धन, जो तुमने स्वय अपने ऊपर डाले हैं, उन्हे स्वय अपने हाथो से खोलो। इसी भावना से प्रेरित साधक का स्वर एक जगह गूंजता है—

"सखे! मेरे बन्धन मत खोल,
स्वय बंधा हूँ, स्वय खुलूँगा।
तू न बीच में बोल!
सखे! मेरे बन्धन मत खोल॥"

साधक अपने पडोसी मित्र को ही सखा नही कहता, बल्कि अपने भगवान् को भी सखा के रूप मे देखता है और कहता है—"हे मित्र, मेरे बीच मे तुम मत आओ! मैं स्वयं अपने बन्धनो को तोड डालूँगा! अपने को बन्धन मे डालने वाला जब दूसरा कोई नही, मैं ही हूं, तो फिर बन्धन तोडने के समय दूसरो को क्यो पुकारू? मैं स्वय ही अपने बन्धन खोलूँगा और निरजन निराकार रूप को प्राप्त करूँगा।"

आत्मसापेक्षता, निरीश्वरवाद नहीं :

अपना दायित्व अपने ऊपर लेकर चलने की प्रेरणा जैनदर्शन और जैन सस्कृति की मूल प्रेरणा है। वह ईश्वर के भरोसे अपनी जीवन की नौका को अथाह समुद्र मे इसलिए नही छोड देता—कि "बस, भगवान् मालिक है। वह चाहेगा तो पार लगाएगा, वह चाहेगा तो मँझधार मे गर्क कर देगा।" कुछ दार्शनिक इसी कारण जैन-दर्शन को निरीश्वरवादी कहते हैं। मैं कहता हूँ यदि यही निरीश्वरवाद है, तो उस ईश्वरवाद से अच्छा है, जो आदमी को पगु और परापेक्षी, दीन-हीन बना देता है। जैन दर्शन मानव को इस मानसिक अक्षमता से मुक्त करके आत्मनिर्भर बनाता है। आत्मबल पर विश्वास करने की प्रेरणा देता है। ऐसे मे, जैनदर्शन निरीश्वरवादी कहाँ है? उसने जितने ईश्वर माने हैं, उतने तो शायद किसी ने नही माने। कुछ लोगो ने ईश्वर एक माना है, कुछ ने किसी व्यक्ति और शक्ति विशेष को ईश्वर मान लिया है। कुछ ने ईश्वर को व्यापक मानकर सर्वत्र उसका अश माना है, सम्पूर्ण रूप नही। किन्तु जैनदर्शन की यह विशिष्टता है कि यह प्रत्येक आत्मा मे ईश्वर का दर्शन करता है। वह ईश्वर को शक्ति विशेष नही, गुण विशेष मानता है। वह गुण सत्ता रूप मे प्रत्येक आत्मा मे है—एक सत की आत्मा मे भी है और दुराचारी की आत्मा में भी। एक आत्मा मे वे

गुण व्यक्त हो रहे हैं, एक मे अभी गुप्त हैं । रावण मे जब राम प्रकट हो जाता है, तो फिर रावण नही रहता, वह भी राम ही हो जाता है । जैन दर्शन की आध्यात्मदृष्टि इतनी सूक्ष्म है कि वह राम मे ही राम को नही, अपितु रावण मे भी राम को देखती है, और उसे व्यक्त करने की प्रेरणा देती है । यदि रावण मे राम को जगाना राम की सत्ता का विरोध या अस्वीकार माना जाएगा, तो यह गलत बात होगी, ऐसा दर्शन हमे नही चाहिए।

जैनदर्शन प्रत्येक आत्मा मे ईश्वर की सत्ता को स्वीकार करता है और उस सत्ता को व्यक्त करने के लिए ही प्रेरणा देता है । यह प्रेरणा ही सच्चा कर्मयोग है । वह भक्तियोग से इन्कार नही करता, पूजा-पाठ, जय, स्त्रोत आदि के रूप मे भक्तियोग की सभी साधनाएँ वह स्वीकार करके चलता है, किन्तु केवल भक्तियोग तक ही सीमित रहने की बात वह नहीं कहता । इसके आगे कर्मयोग को स्वीकार करने की बात भी कहता है । वह कहता है—बचपन, बचपन मे सुहावना है, जवानी मे बचपन की आदतें मत रखो । अब जवान हो, जवानी का रक्त तुम्हारी नसो मे दौड रहा है, तो फिर दूसरो का सहारा ताकने की बात, भूख लगने पर माँ का आँचल खीचने की आदत और भय सामने आने पर छुप जाने की प्रवृत्ति ठीक नहीं है । रोने से बालक का काम चल सकता है, किन्तु युवक का काम नही चलेगा । प्रभु के सामने रोने-धोने से मुक्ति नही मिलेगी, केवल प्रार्थनाएँ करने से ये बन्धन नही टूटेंगे, प्रार्थना के साथ पुरुषार्थ भी करना होगा । भक्ति के साथ सत्कर्म भी करना होगा ।

कर्म ही देवता है :

भगवान् महावीर की धर्म-क्रान्ति की यह एक मुख्य उपलब्धि है कि उन्होंने ईश्वर की जगह कर्म को प्रतिष्ठा दी । भक्ति के स्थान पर सदाचार और सत्कर्म का सूत्र उन्होंने दिया । उन्होंने कहा—

"सुचिण्णा कम्मा सुचिण्णफला हवन्ति ।
दुचिण्णा कम्मा दुचिण्णफला हवन्ति !"[1]

'अच्छे कर्म अच्छे फल देने वाले होते हैं, बुरे कर्म बुरे फल देने वाले होते हैं ।' यदि आप मिश्री खाते हैं, तो भगवान् से प्रार्थना करने की आवश्यकता नही कि वह आपका मुँह मीठा करें । और मिर्च खाकर यह प्रार्थना करने की भी जरूरत नहीं—कि प्रभो ! मेरा मुँह न जले । मिश्री खाएँगे, तो मुँह मीठा होगा ही, और मिर्च खाएँगे, तो मुँह जलेगा ही । जैसा कर्म होगा वैसा ही तो फल मिलेगा । भगवान् इसमे क्या करेगा? भगवान् इतना बेकार नही है कि वह आपका मुँह मीठा करने के लिए भी आए और आपके मुँह को जलाने से बचाने के लिए भी आए । मार्ग मे चलते हुए यदि धूप लग रही है, और छाया की आवश्यकता है तो आपको छाया मे जाना चाहिए । यदि आप छाया मे न जाकर वृक्ष से प्रार्थना करने लगें कि—हे तरुराज ! हमें छाया दीजिए ! तो क्या वह छाया देगा ? छाया तो तभी मिलेगी जब आप छाया मे जाकर बैठेंगे ।

---

१. औपपातिक सूत्र, ५६

"छाया तरु सश्रयित स्वतः स्यात्
किं छायया याचितयात्मलाभ ?"

कर्मयोग भी यही बात कहता है कि—"वृक्ष से छाया की याचना मत करो। छाया मे जाकर बैठ जाओ, छाया स्वयं मिल जाएगी ।" यही स्वर भगवान् महावीर की वाणी का है-"यदि अच्छे फल चाहते हो, तो अच्छे कर्म करो, यदि मुक्ति चाहते हो तो सयम, तप, तितिक्षा का आचरण करो । केवल प्रार्थना से मुक्ति नही मिलेगी । इस संसार में तुम्हे पडे-पडे मुक्त कर देने वाला कोई भगवान् या देवता नही है । तुम्हारा सत्कर्म ही तुम्हारा देवता है, वही तुम्हे मुक्ति के द्वार तक ले जायेगा।"

तथागत बुद्ध से जब पूछा गया कि मनुष्य की आत्मा पवित्र कैसे होती है, तो उन्होने बडे गम्भीर स्वर से कहा—

"कम्म विज्जा च धम्मो च सील जीवितमुत्तम ।
एतेन मच्चा सुज्झंति न गोत्तेन धनेन वा ?"[1]

कर्म, विद्या, धर्म, शील (सदाचार) एव उत्तम जीवन इनसे ही मनुष्य की आत्मा परिशुद्ध होती है, धन या गोत्र से नही ।

गुरु एक मार्गदर्शक :

भक्तियोग मे अहकार को तोडने एव समर्पित होने की भावना का महत्त्व तो है, किन्तु जब समर्पण के साथ पराश्रित वृत्ति का सयोग हो जाता है, साधक भगवान् गुरु को ही सब कुछ मानकर कर्मयोग से विमुख होने लगता है, तब भक्तियोग मे निष्क्रियता एव जडता आ जाती है । यह जडता जीवन के लिए खतरनाक है ।

हम एक बार दिल्ली से विहार करके आगरा की ओर आ रहे थे । एक गांव मे किसी महत के मठ मे ठहरे । बडे प्रेम से उन्होने स्वागत किया । रात को जब बातचीत चली, तो उनके शिष्य ने कहा—"गुरु ! मुझे गुस्सा बहुत आती है, इसको समाप्त कर दो न ।"

मैं जब कुछ साधना बताने लगा, तो बोला—"यह साधना-बाधना मुझ से कुछ नही होती, मेरे इस विष को तुम चूस लो ।"

मैंने कहा—"भाई ! मैं तो ऐसा गारुडी नही हूँ, जो दुनियाँ के विष को चूसता फिरूँ ।"

वह बोला—"गुरु तो गारुडी होता है । तुम मेरे गुरु हो, फिर क्यो नही चूस लेते ?"

मैंने पूछा—"क्या आज तक कोई ऐसा गुरु मिला ?" बोला—"अभी तक तो मिला नही ।" मैंने कहा— भले आदमी ! अब तक मिला नही, तो क्या अब मिल जाएगा ? गुरु तो सिर्फ विष को दूर करने का साधन मात्र बताता है, चेलो का विष चूसता नही फिरता । मैं रास्ता बता सकता हूँ, चलना चाहो, तो चल सकते हो । हमारा भगवान् तो मार्ग दिखाने वाला 'मग्गदयाण' है, घसीट कर ले जाने वाला नही है । वह तुमको दृष्टि दे सकता है, 'चक्खुदयाण' उसका विरुद है, किन्तु यह नहीं कि अँगुली पकडकर घुमाता फिरे । आँख की

१ मज्झिम निकाय, ३।४३।३

ज्योति खराब हो गई है, तो डाक्टर इतना ही कर सकता है कि दवा देदे, आपरेशन कर दे, आँख ठीक हो जाए। यह नही कि वह आपकी लकुटिया पकड कर घिसटता रहे। मैंने कहा—"भाई, हम तो दृष्टि देने वाले हैं, आँख की दवा देने वाले हैं। आँख ठीक हो जाए, तो फिर चलना या न चलना, यह काम तुम्हारा है।"

बालक ज्यो-ज्यों युवक एव योग्य होता जाता है, त्यो-त्यो वह अपना दायित्व अपने ऊपर लेता जाता है। दायित्व को गेंद की तरह दूसरो की ओर नहीं उछालता, बल्कि अपने ही परिधान की तरह अपने ऊपर ओढता है। "मैं क्या करूँ ? मैं क्या कर सकता हूँ ?" यह युवक की भाषा नही है। दायित्व को स्वीकार करने वाले का उत्तर यह नही हो सकता। वह हर समस्या को सुलझाने की क्षमता रखता है, उसकी भुजाओ मे गहरी पकड की अप्रशक्ति होती है, बुद्धि मे प्रखरता होती है। पिता भी युवक पुत्र को जिम्मेदारी सौंप देता है। उसे स्वय निर्णय करने का अधिकार दे देता है। यदि कोई पिता योग्य पुत्र को भी दायित्व सौंपने से कतराता है, उसे आत्मनिर्णय का अधिकार नही देता है, तो वह पुत्र के साथ न्याय नही करता। उसकी क्षमताओ को विकसित होने का अवसर नही देता। ऐसी स्थिति में यदि पुत्र विद्रोही बनता है, अथवा अयोग्य रहता है, तो इसका दायित्व पिता पर ही आता है। नीतिशास्त्र ने इसीलिए यह सूत्र कहा है—

"प्राप्ते तु षोडशे वर्षे पुत्रं मित्रवदाचरेत्।"

पुत्र जब सोलह वर्ष पार कर जाता है, योग्य हो जाता है, तो उसके साथ मित्र की तरह व्यवहार करना चाहिए।

आप जानते है, अच्छा मास्टर या गुरु कैसे परखा जाता है। अच्छा मास्टर बच्चो-को पाठ पढ़ाते समय आखिर तक खुद ही नही बोलता जाता, बल्कि बीच-बीच मे उनसे पूछता है, उन्ही के मुँह से सुनता है—ताकि पता चले, बच्चे कितना ग्रहण कर रहे हैं, उनकी बौद्धिक क्षमता कितनी है ? ऐसा करने से बच्चो को सोचने का अवसर मिलता है, क्षमता को विकसित होने का मार्ग मिलता है। जो अध्यापक स्वय ही सब कुछ लिखा-पढा देता है, उसके छात्र बौद्धिक विकास मे दुर्बल रह जाते है।

इसी प्रकार गुरु या भगवान् साधक को मार्ग दिखाता है, दृष्टि देता है, किन्तु अपने आश्रित एव अधीन नही करता, उसमे आत्मनिर्भर होने का भाव जागता है। अपना दायित्व अपने कन्धो पर उठाकर चलने का साहस स्फूर्त करता है, बस यही हमारा कर्मयोग है। भक्तियोग मे जो भगवान् रक्षक के रूप मे खडा था, कर्मयोग मे वह केवल मार्गदर्शक भर रहता है।

ज्ञानयोग का प्रतीक वृद्धत्व

जीवन की तीसरी अवस्था बुढापा है। बुढापे मे शरीर बल क्षीण हो जाता है। कहा जाता है, बालक का बल माता है, युवक का बल उसकी भुजाएँ हैं और वृद्ध का बल उसका अनुभव है। बुढापे मे जब शरीर जराजीर्ण हो जाता है, इन्द्रियाँ शिथिल हो जाती हैं, तब वह न भक्ति कर सकता है और न कर्म ही। उसके पास तब केवल अनुभव अर्थात् ज्ञान ही सहारा होता है, यही उसका बल है। ज्ञानयोग की अवस्था इसीलिए साधन की तीसरी अवस्था मानी गई है।

भारतीय संस्कृति मे वृद्ध को ज्ञान का प्रतीक माना गया है। जीवन भर के अध्ययन एव अनुभव का नवनीत वृद्ध से प्राप्त हो सकता है। इसलिए महाभारत में 'वृद्ध' को धर्मसभा का प्राण बताते हुए कहा गया है—"न सा सभा यत्र न संति वृद्धाः"[1] जिस धर्म सभा मे वृद्ध उपस्थित न हो, वह सभा ही नही है। बुद्ध ने भी इसीलिए कहा कि—"जो वृद्धो का अभिवादन-विनय करता है, उसको आयु, यश, सुख एव बल की वृद्धि होती है।"[2]

तात्पर्य यह है कि वृद्ध अवस्था परिपक्व अवस्था है, जिसमे अध्ययन अनुभव का रस पाकर मधुर बन जाता है। उसकी कर्म इन्द्रियाँ भले ही क्षीण हो जाएँ, किन्तु ज्ञानशक्ति बडी सूक्ष्म और प्रबल रहती है। इसीलिए वृद्ध अवस्था को ज्ञान योग की अवस्था के रूप में माना गया है।

ज्ञान योगी जीवन्मुक्त सिद्ध :

जैन धर्म की साधना पद्धति का जिन्हें परिचय है, वे जानते हैं कि साधक कैवल्य दशा को प्राप्त करने के साथ ही 'ज्ञान योग' की अवस्था मे पहुँच जाता है। साधना काल 'कर्मयोग' है और सिद्ध अवस्था 'ज्ञान योग' है। यह स्मरण रखना चाहिए कि साधना काल मे केवलज्ञान नही हो सकता। जब साधना अपनी अन्तिम परिणति मे पहुँच जाती है, अर्थात् साधना काल समाप्त हो जाता है, तभी केवल ज्ञान प्राप्त होता है। इसलिए केवल ज्ञान प्राप्त होने के बाद आत्मा सिद्ध-कहलाती है। यह आप जानते ही हैं कि देह-मुक्त सिद्ध और सदेह सिद्ध के जो भेद हैं, वे इसी दृष्टि से हैं। केवलज्ञानी जो कि सशरीरी होते हैं, सदेह-सिद्ध कहलाते हैं। उन्ही की अपेक्षा से आगमो मे एक स्थान पर यह प्रयोग आया है—"**सिद्धा एव भासंति**' सिद्ध ऐसा कहते हैं, अर्थात् केवलज्ञानी ऐसा कहते हैं। इसका अभिप्राय यह है कि सिद्ध अवस्था ज्ञानयोग की अवस्था है, जहाँ कर्त्तव्य एव कर्म की सम्पूर्ण सीमाएँ समाप्त हो जाती हैं, विधि-निषेध के बंधन टूट जाते हैं। आत्मा केवल अपने स्वभाव मे, ज्ञान योग मे ही विचरण करती है।

एक प्रश्न यहाँ उठ सकता है और उठता भी है कि जब केवल दशा में कुछ भी कर्त्तव्य अवशेष नहीं रहता, साधना काल समाप्त हो जाता है तो फिर केवलज्ञानी उपवास आदि किसलिए करते हैं? चूँकि उनके सामने न इच्छाओ को तोडने का प्रश्न है और न कर्मक्षय करने का।

बात ठीक है। इच्छाएँ जबतक रहती हैं, तबतक तो कैवल्य प्राप्त हो नही पाता, अतः इच्छा-निरोध का तो प्रश्न ही नही हो सकता। चूँकि घातिकर्म को क्षय करने के लिए ही साधना होती है, घातिकर्म वहाँ समाप्त हो चुके हैं, अवशिष्ट चार अघाति कर्म हैं, और अघाति कर्म को क्षय करने के लिए बाहर मे किसी भी तप आदि की अपेक्षा नही रहती। उपवास आदि तप अघातिकर्म को क्षय करने के लिए कभी नही हो सकता। अघाति कर्म काल परिपाक से स्वतः ही क्षीण हो जाते हैं। यदि कोई आयु कर्म को क्षीण करने के लिए, यदि उपवास आदि करता है, तो यह गलत बात है।

---

१ महाभारत, ३५।५८
२. धम्मपद, ८।१०

उपवास को जैन दर्शन मे यह कहा गया है कि यह एक काल स्पर्शना है पुद्गल स्पर्शना है। कैवल्य अवस्था निश्चय दृष्टि की अवस्था होती है, केवलज्ञानी जब जैसी स्थिति एव स्पर्शना का होना देखते हैं, तब वे वैसा ही करते हैं। उनके लिए उदय मुख्य हैं—'विचरे उदय प्रयोग।' जब भोजन की पुद्गल स्पर्शना नही देखते है, तो सहज उपवास हो जाता है। और जब भोजन की पुद्गल-स्पर्शना आती है, तब भोजन हो जाता है। न उपवास मे कोई विकल्प है और न भोजन मे। सर्वविकल्पातीत दशा, जिसे हम कल्पातीत अवस्था कहते हैं, उस अवस्था मे विधि-निषेध, अर्थात् विहित-अविहित जैसी कोई मर्यादा नही रहती। इसी को वैदिक सस्कृति मे त्रिगुणातीत अवस्था कहा है—"निस्त्रैगुण्ये पथि विचरता को विधिः को निषेधः ?" यह ज्ञानयोग की चरम अवस्था है, जहाँ न भक्ति की जरूरत है, न कर्म की। आत्मा अपने विशुद्ध रूप मे स्वत ही परिणमन करती रहती है, जैन परिभाषा मे यह आत्मा की स्वरूप अवस्था—अर्थात् सिद्ध अवस्था है। जीवनमुक्त सिद्ध अवस्था से ही अन्त मे देह मुक्त सिद्ध अवस्था प्राप्त हो जाती है। और, इस प्रकार ज्ञानयोग अपनी अन्तिम परिणति मे पहुँच जाता है।

तीनों का समन्वय :

बचपन से यौवन और यौवन से वार्द्धक्य जिस प्रकार जीवन का आरोहण क्रम है, उसी प्रकार साधना का भी, भक्तियोग से कर्मयोग और कर्मयोग से ज्ञानयोग के रूप मे ऊर्ध्वमुखी आरोहण-क्रम है। एक दृष्टि से भक्तियोग मे साधना की कोई विशिष्टता नही रहती, और अन्तिम ज्ञानयोग में भी उसकी कोई आवश्यकता नही रहती, इसलिए कर्मयोग ही साधना का मुख्य केन्द्र रहता है। किन्तु एक बात भूल नहीं जानी है कि हमे कर्मयोग मे भक्तियोग तथा ज्ञानयोग का उचित आश्रय लेना पडता है, इसलिए साधनास्वरूप कर्मयोग के केन्द्र पर खडा होकर हमे भक्ति एव ज्ञान का सहारा लेकर चलना होता है। भक्ति हमारा हृदय है, ज्ञान हमारा मस्तिष्क है और शरीर, हाथ पैर, कर्म हैं। तीनो का सुन्दर समन्वय ही स्वस्थ जीवन का आधार है, बस इसे भूलना नही है।

१६

प्रेम और भक्तियोग

जब आत्मा का परमात्मा के साथ योग होता है, तो उसे हम साधना कहते है। यह साधना जीवन को ऊर्ध्वमुखी बनाती है, परम शान्ति और आनन्द की ओर ले जाती है।

हमारी आत्मा अनन्त-अनन्त काल से परमात्मतत्त्व से पराङ्मुख होकर चल रही है, इसलिए वह अनेक पीडाओ और यातनाओ से सत्रस्त हुई भटकी-भटकी इधर-उधर दौड रही है। ससार में उसे जो सुख और आनन्द की यत्किंचित् अनुभूति हो रही है, वह वास्तविक और सही नही है। विषमिश्रित मिठाई की तरह वह देखने मे सुन्दर और खाने मे मधुर भले ही लगे, पर उसका अन्तिम परिणाम मृत्यु के द्वार पर पहुँचाने वाला होता है। वास्तविक सुख की अनुभूति सत्य मे है, करुणा मे है, प्रेम और सद्भाव मे है।

जब आत्मा अपनी गति का मोड बदलेगी, ससार से हट कर परमात्मतत्त्व की ओर उन्मुख होगी, तो उसे अखण्ड आनन्द के दर्शन होगे। अनेक स्थानो पर परमात्म के दर्शन की बात आती है, पर उसका भावार्थ क्या है ? यही न कि आत्मा का अनन्त, अक्षय स्वरूप ही परमात्मतत्त्व है। अत परमात्मा की ओर उन्मुख होने का मतलब है—अनन्त सत्य की ओर उन्मुख होना, विराट् अहिंसा की ओर उन्मुख होना और विराट् प्रेम का रसास्वादन करना। जब अनन्त सत्य के दर्शन हो जाएँगे तो मन मे प्रकाश भर जाएगा। आकाश मे जब सूर्य की हजार-हजार किरणें खेल रही हो, तब क्या कही अन्धकार रह सकता है ?

प्रेमयोग क्या है ?

साधना का अर्थ है—योग। और योग का अर्थ है जुडना, संयुक्त होना। ज्ञानयोग, कर्मयोग, भक्तियोग—ये सब योग है। जब आत्मा ज्ञान की ओर उन्मुख होती है, उसके साथ जुडती है, तो वह ज्ञानयोग होता है। कर्म के साथ जब आत्मा का सम्बन्ध होता है, तो वह कर्मयोग कहलाता है। जब आत्मा किसी दिव्य आत्मा के एव

उसके दिव्यगुणो के प्रेम मे तन्मय हो जाती है, तो वह भक्तियोग अथवा प्रेमयोग कहलाता है।

आचार्यों ने प्रेमयोग को सबसे अधिक महत्त्व दिया है। प्रेम है तो पिता-पुत्र का सम्बन्ध है, माता-पुत्र का रिश्ता है, पति-पत्नी का नाता है। गुरु और शिष्य को, भक्त और भगवान् को परस्पर जोडने वाला सूत्र क्या है? प्रेम ही तो है। प्रेम नही है, तो माता-पुत्र, पति-पत्नी सिर्फ दो शरीर हैं, जिनमे हलन-चलन अवश्य है, परन्तु आत्मा का दिव्य स्पन्दन नही है। हाथ-पाँव मे चचलता है, पर हृदय की धडकन नही है। संसार और अध्यात्म के समस्त सम्बन्ध प्रेम की भूमिका पर टिके हुए हैं।

प्रेम की साधना तब होती है, जब अहकार और स्वार्थ का बलिदान किया जाए। जहाँ अहकार, कामना या स्वार्थ है, वहाँ प्रेम नही टिक सकता। सत कबीर ने कहा है—

"प्रेम गली अति साँकरी, तामें दो न समाय"

पूर्व और पश्चिम के यात्री जिस प्रकार एक साथ नही चल सकते, उसी प्रकार प्रेम और अहकार एक साथ यात्रा नही कर सकते। प्रेम की गली मे या तो प्रेम चलेगा या अहकार। अहकार आएगा तो प्रेम अपने आप रास्ता छोड कर किनारा हो लेगा और जब प्रेम चलेगा, तो अहकार उसके सामने आने का साहस भी नही कर सकेगा। प्रकाश और अन्धकार की तरह प्रेम (भक्ति) और अहकार मे जन्मजात विरोध है।

भक्त भगवान् से तभी मिल सकेगा, दूसरे शब्दो मे भक्त तभी तन्मय अर्थात् भगवान्मय बन सकेगा, जब वह अपने आप को उसके समर्पण कर देगा, उसके दिव्य गुणा की साधना मे अपने का एकतानता से लीन कर देगा। परन्तु यह समर्पण कब होता है? तभी न, जब अहकार टूटता है। तू और मैं का द्वैत समाप्त हो जाता है। पति-पत्नी अपने-अपने अहकार मे अडे रहे, तो क्या वे एक-दूसरे को प्रेम कर सकते हैं? एक-दूसरे के लिए समर्पित हो सकते हैं? प्रेम जब अपना विराट् रूप लेकर आता है। जब 'तू-ही-तू' की आवाज गूँजती है, तो 'मैं' वहाँ समाप्त हो जाता है, द्वैत विलीन हो जाता है। यही प्रेमयोग का स्वरूप है।

धर्म प्रेम का द्वार :

धर्म की लौ जब जल उठती है, तो प्रकाश जगमगाता है, जीवन मे प्रेम का द्वार खुल जाता है। मेरी बात पर ध्यान दीजिए कि धर्म हमारे जीवन मे प्रेम का द्वार खोल देता है, भेद की दीवार मिटा देता है। आत्मा के केन्द्र पर जो टिक गया, वह अन्य आत्माओ मे भेद नही करता। वह परिवार, समाज और देश मे भेद नही करता। धर्मो और पथो मे भेद नही मानता। उसकी दृष्टि सर्वत्र अन्दर के अखण्ड सत्य पर रहती है, वह बाहर के भेद-प्रभेदो मे नही, खण्डो और टुकडो मे नही टिकता। वह सत्य का आदर करता है, फिर भले ही वह कही से भी और किसी से भी मिले। भेद देखने की जो दृष्टि है, वह इन्सानियत की ज्योति को बुझा देती है। मानवता के अखण्ड प्रवाह को सकुचित बना देती है। वह मानवता का अपमान करती है, सम्मान नहीं।

★★★★

१७

धर्म का तत्त्व

आज हर गली, हर बाजार और हर द्वार पर धर्म की चर्चाएँ हो रही हैं, धर्म का शोर मचाया जा रहा है, धर्म की दुहाई दी जा रही है, और धर्म के नाम पर लडाई भी लड़ी जा रही है। किन्तु पता नही, वे इस प्रश्न पर भी कभी सोचते हैं या नही कि यह धर्म है क्या चीज ? उसके क्या लक्षण हैं ? क्या स्वरूप है उसका और उसके अर्थ क्या हैं ? जो हमेशा धर्म की बातें करते हैं, क्या उन्होने कभी इस प्रश्न पर भी विचार किया है ?

धर्म की गहराई

सैकडो-हजारो वर्ष पहले इस प्रश्न पर चिंतन चला है, इस गुत्थी को सुलझाने के लिए चिन्तन की गहराइयो मे पैठने का प्रयत्न भी किया गया है और धर्म के सम्बन्ध मे अनेक प्रकार के निर्णय एव निष्कर्ष प्रस्तुत किए गए हैं। यह निश्चय है कि सागर के ऊपर तैरने से कभी मोहर नही मिलते। मोतियो और रत्नो के लिए तो उसकी गहराइयो मे डुबकियाँ लगानी पडती हैं। तो फिर ज्ञान और सच्चाई को पाने के लिए क्यो न हम उसकी गहराई मे उतरने का प्रयत्न करें। चिंतन-मनन ऊपर-ऊपर तैरते रहने की वस्तु नही है, वह तो गहराई मे और बहुत गहराई मे पैठने से ही प्राप्त होगा। जो जितना गहरा गोता लगाएगा, वह उतने ही मूल्यवान मणि-मुक्ता प्राप्त कर सकेगा। तभी तो हमारे यहाँ कहा जाता है—

"जिन खोजा तिन पाइयाँ, गहरे पानी पैठ।"

अत सत्य के दर्शन के लिए आत्म-सागर की अतल गहराइयो को नापना होगा; तभी चिंतन-मनन के महार्घ मोती पा सकेंगे। हाँ इतना अवश्य हो सकता है कि समुद्र के किनारे-किनारे घूमने वाले उसके लुभावने सौंदर्य का दर्शन कर सकते है और शीतल-मद समीर का आनन्द लूट सकते हैं, किन्तु सागर के तट पर घूमने वाला व्यक्ति कभी भी उसकी अतल गहराई और उसके गर्भ मे छिपे मोतियो के बारे मे कुछ नही जान सकता।

वैदिक सम्प्रदाय के एक आचार्य मुरारि ने कहा है कि—भारत के तट से लका के तट तक पहुँचने के लिए मर्यादा पुरुषोत्तम राम की सेना के बहादुर वानरो ने लका तक के सागर को लांघा तो जरूर, पर, उन्हें समुद्र की गहराई का क्या पता कि वह कितनी है ? सागर की सही गहराई को तो वह मदराचल पर्वत ही बता सकता है, जिसका मूल पाताल में बहुत गहरा है।

यह सही है कि सागर की गहराई और विस्तार का कोई सीमाकन नही हो सकता, किन्तु जीवन की, सत्य की गहराई उससे भी कई सौ गुनी है। यदि महावीर के शब्दो मे कहा जाए, तो वह महासमुद्र से भी गम्भीर है।[1]

अनन्त काल पूर्व यह जीवन यात्री जीवन के लहराते समुद्र को पार करने चला था, अनन्त काल बीत गया, किन्तु अभी उसने यह नही जान पाया कि यह जीवन क्या है ? मैं कौन हूँ ? क्यो भटक रहा हूँ ? मेरा क्या धर्म है ? यात्री के सामने इन सारे प्रश्नो का अपना एक विशिष्ट महत्त्व है ? इनकी गहराई मे जाना, उसके लिए अनिवार्य है।

इस धरती पर जो भी महापुरुष हुए हैं, जिन्होने इस सत्य के सागर की गहराइयो का थाह पाया है, उन्होने अवश्य इस पर विचार किया है। सत्य के इस मर्म को उघाडा है, जीवन की गहराई की परत उठाकर उसका वास्तविक दर्शन कराने का प्रयास किया है। धर्म का स्वरूप स्पष्ट करते हुए उन्होंने कहा है—'वत्थुसहावो धम्मो।'

वस्तु (द्रव्य, पदार्थ) का जो मूल रूप है, अपना भाव है, वही तो वस्तु का धर्म है। प्रत्येक वस्तु का एक निश्चित रूप होता है, और वही उसका धर्म होता है। इस दृष्टि से धर्म का अर्थ हुआ—वस्तु का अपना स्वभाव। आत्मा भी एक वस्तु है और संसार के समस्त पदार्थो मे एक विशिष्ट शक्ति-सपन्न, चेतना-पुज है। तो फिर दूसरो से पूछने की अपेक्षा अपने मे ही पूछे कि तेरा धर्म क्या है ? इस ससार के चौराहे पर तेरे घूमने का क्या उद्देश्य है ? क्या तू आकाश, जल, अग्नि, मिट्टी और वायु— इन पंचभूतो का सम्मिश्रण मात्र है ? अथवा अन्य कुछ है ? आत्मा को पहचानने वालो ने इस सम्बन्ध मे अपना उत्तर दिया है कि—इन पचभूतो के अस्थिपजर, हाड-मांस, रक्त और मज्जा से निर्मित शरीर से परे तू कुछ और सत्ता है, तू महान् है, विराट् है, ससार के समस्त पदार्थो मे तेरा सर्वोपरि स्थान है।

आश्चर्य तो यह है कि अन्य जड वस्तुओ की भांति यह आत्मा भी स्वयं अपना मूल्य नही समझ पा रहा है। मूल्य की दृष्टि से संसार मे हीरे का मूल्य बहुत आंका जाता है। कोहेनूर हीरे के बारे मे कहा जाता है—वह महाभारत काल मे धर्मराज युधिष्ठिर के पास था। तब से संसार के सम्राटो के पास घूम रहा है। उसका एक विशिष्ट मूल्य है। किन्तु लाखो कोहेनूर हीरो का ढेर लगा कर उनसे पूछा जाय कि तुम्हारा क्या मूल्य है ? तो क्या वे बता सकेंगे ? उन्हे स्वय अपना कुछ पता नही है, क्योकि वे जड हैं। यही दशा एक मिट्टी के ढेले की है। दोनो ही जड हैं। इस अर्थ मे दोनो ही समान हैं। किन्तु फिर कोहेनूर का मूल्य आया कहाँ से ? उसका मूल्यांकन करने वाला कौन है ? कहना होगा—

---

१ "गंभीरतर समुद्दाओ।"—प्रश्न व्याकरण २।२

उसको परखने की शक्ति इन्सान की आँखो मे है। मान लीजिए, यदि कोहेनूर रास्ते मे पडा हो और एक अन्धे के पैर मे चुभे, तो क्या उसे ज्ञान हो सकेगा कि यह कोहेनूर है। उसकी दृष्टि मे तो वह कोई कंकर है, पत्थर का टुकडा मात्र है।

अन्तर् का शास्ता :

ऊपर की चर्चा से यह निष्कर्ष निकलता है कि कोहेनूर का मूल्य-निर्धारण स्वयं उसमे नही है, बल्कि इन्सान की आँख मे है। एक प्रश्न फिर उठ सकता है कि तो जब मूल्य निर्धारण का मापदण्ड आँख ही हुई और आँख जब स्वय ही सीमाबद्ध है, तथा जो अपने आपको भी नही देख सकती, वह दूसरे का मूल्याकन कैसे करेगी ? कोहेनूर भी मौजूद है, आँख भी मौजूद है, किन्तु आँख की खिडकी से झांकने वाला चैतन्य यदि नही है, तो उसका क्या मूल्य ? आँख, कान आदि शरीर की प्रत्येक इन्द्रिय का, ज्ञात-अज्ञात प्रत्येक चेष्टा का जो सचालक है, शास्ता है, यदि उसका अस्तित्व ही नही है, तो न आँख का मूल्य है और न कोहेनूर का ही। हमारी आँख, कान, नाक, जिह्वा आदि इन्द्रिय-शक्तियाँ तो उसी महाशास्ता से शासित है। यदि वह शास्ता नही रहती है, तो फिर सबका मूल्य शून्य हो जाता है। इसलिए आँख के प्रकाश से जो देखने वाला तत्त्व है, वही अन्दर का शास्ता है, सभी शक्तियो का अधिष्ठाता है। इसी पवित्र सत्ता, दिव्य शक्ति, एव चेतना-पु ज का जो साक्षात्कार है, वीतराग भाव की अनुभूति है, वही धर्म है। उसकी जो व्याख्या करे, वही शास्त्र है। हमारी साधना उसी अनन्त चैतन्य प्रकाश को खोजने की है, पाने की है, जो साधना ऐसा नही करती है, वह साधना कदापि नही है।

यहाँ पर एक प्रश्न और खडा हो जाता है कि जो स्वय प्रकाश का स्रोत है, उसकी खोज हम क्या करें ? कैसे करें ? प्रश्न ठीक है, किन्तु यह भी तो आप न भूलें कि दियासलाई में अग्नि तत्त्व के बीज विद्यमान होते हुए भी प्रकाश के लिए उसे रगडना नही होता है क्या ? ठीक उसी प्रकार, अन्तर मे जो यह महाप्रकाश का पु ज है, वह आवरणो से ढँका हुआ है, अन्तर् का वह शास्ता अपने आपको भुला बैठा है, अत उसे सिर्फ अपने निज स्वरूप का, अपनेपन का भान हो सके, ऐसी एक उदात्त प्रेरणा की आवश्यकता है। आप जानते हैं, सामायिक, सवर, व्रत, प्रत्याख्यान आदि का क्या अर्थ है ? क्या इनसे आत्मशक्ति के अभिवर्धन की आकांक्षा है ? ये सब तो केवल उस शक्ति को जागृत करने के साधन मात्र है, प्रेरणा की एक चिनगारी मात्र हैं, जिनके माध्यम से आत्मा निज स्वरूप का ज्ञान कर सके।

प्रेरणा की चिनगारी :

भारत के प्राचीन इतिहास मे वर्णन आता है कि जब एक बहुत बडा धनुर्धर राजा जब मैदान मे लडता-लडता शिथिल हो जाता था, अपना-आपा भूल जाता था, तो पीछे से एक बुलन्द आवाज आती थी—लडो, लडो। यह आवाज सुनकर वह पुन चैतन्य हो उठता था और तब पुन उसके हाथो मे तलवार चमक उठती थी। प्राचीन समय के युद्धक्षेत्रो मे जो चारणो की व्यवस्था रहती थी, उसके पीछे भी यह भावना निहित थी। वे समय-समय पर वीरो के ठडे पडते खून मे उफान ला देते थे। सोते हुए पुरुषार्थ को जगा कर मैदान मे रणचण्डी के समक्ष ढकेल देते थे। महाभारत मे अर्जुन को श्रीकृष्ण से निरतर प्रेरणा मिलती रही कि यह जीवन युद्ध के

लिए है, इससे मुँह मोडकर अपनी क्लीवता प्रकट मत कर। इसी प्रकार इस जीवन-संग्राम मे प्रत्येक साधक अर्जुन हैं, और प्रत्येक गुरु श्रीकृष्ण। गुरु साधक को विकारो से लडने के लिए निरंतर प्रेरित करते हैं—जब जब काम, क्रोध, मान, माया, लोभ, प्रमाद, मोह का आवरण आत्मा पर पडता है, तब तब गुरु उसे सावधान करते रहते हैं। ज्ञान की उस शुभ चिनगारी पर जब जब विकारो की राख जमने लगती है, तो व्रत, उपवास, प्रत्याख्यान आदि के द्वारा उसे हटाने का प्रयत्न होता है। ये सब विकारो के लौह-आवरणो को तोडकर आत्मा के शुद्ध स्वरूप का दर्शन कराने के लिए ही साधना के क्रम हैं।

आत्म-दर्शन ·

आत्मस्वरूप का सम्यक् ज्ञान होने के बाद विभाव के बधन टूटने में कोई समय नही लगता। जिस प्रकार काली घटाओ से आच्छादित अमावस की कालरात्रि का सघन अधकार दीपक के जलते ही दूर भाग जाता है। पर्वतो की कन्दराओ मे हजारो वर्षों से रहने वाले उस गहन अधकार को प्रकाश की एक किरण एक क्षण मे ही समाप्त कर डालती है, सब ओर आलोक की पुनीत रश्मियाँ जगमगा उठती हैं। जैन दर्शन के अनुसार, उत्पत्ति और व्यय का क्रम बिल्कुल सयुक्त रहता है। सृष्टि और सहार का काल एक ही होता है। ठीक वैसे ही आत्मा पर चिपके हुए बाह्य आवरणो के टूटने का और आत्म स्वभाव के प्रकट होने का कोई अलग-अलग समय नही है। आत्मा के जागते ही धर्म के द्वार खुल जाते हैं। घर मे प्रकाश फैलते ही अधकार दूर हो जाता है, समस्त वस्तुएँ अपने आप प्रतिभासित हो जाती हैं।

सवाल यह है कि हमने धर्म को जानने का एक अभिनय मात्र ही किया है या वास्तव मे जाना भी है? जिस व्यक्ति ने अपने को पहचान लिया है, उसने धर्म को भी पहचान लिया है। वह भटकता नही। जिसे आत्मा की अनन्तानन्त शक्तियो का पता नही, वह वासनाओ और विकारो के द्वार पर ही भटकता होता है। यदि आप एक चक्रवर्ती के पुत्र को गली-कूचे मे भीख माँगते देखेंगे, तो सम्भव है, पहले क्षण आप अपनी आँखो पर भरोसा न करें, किन्तु सही तथ्य को जानने पर तो अवश्य ही सोचेंगे कि इसमे कही कोई गडबडी है क्या? दाल मे काला है क्या? या तो यह चक्रवर्ती का पुत्र नही है, या अपनी स्थिति को भूल कर पागल एव विक्षिप्त हो गया है। इसी प्रकार राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध आदि महापुरुषो की सतान तथा महान् आत्माओ के उत्तराधिकारी हम यदि वासनाओ, इच्छाओ और कामनाओ के द्वार पर भीख माँगते फिरते है, विषयो के गुलाम हुए बैठे हैं, तो यह प्रश्न उठना स्वाभाविक ही है कि कही हम उन महापुरुषो के नकली उत्तराधिकारी तो नही हैं? आज हमे भान नही रहा है कि हम कौन हैं? और हमारी मर्यादाएँ क्या हैं? यदि हम सच्चे अर्थ मे उन महान् आत्माओ के उत्तराधिकारी हैं, तो हममे करुणा क्यो नही जगती है? सत्य का प्रकाश क्यो नही होता है? विकारो को ध्वस्त करने के लिए वीरत्व क्यो नही उछालें मारता है? आत्मस्वरूप को भुलाकर हम दीन-हीन हुए क्यो दर-दर की ठोकरें खा रहे हैं? हमारे उत्तराधिकार के दावे पर वास्तव में यह एक प्रश्न-चिन्ह है।

आत्मशक्ति की बात पर हमे यह भी नहीं भूलना है कि सिर्फ पाँच-छह फुट के शरीर की शक्ति ही आत्मशक्ति नही है। उसकी छोटी-सी परिधि ही आत्मा की परिधि नही है। शरीर, इन्द्रिय और मन की शक्ति या चेतना तो मात्र औपचारिक है, वास्तविक

शक्ति का स्रोत तो हमारी आत्मा ही है। कुछ लोग अवधिज्ञान के विषय मे पूछते रहते हैं, उसकी प्राप्ति के लिए बहुत लालायित रहते हैं किन्तु मैं पूछता हूं कि अवधिज्ञान प्राप्त करने से क्या होगा ? अवधिज्ञान के द्वारा यदि स्वर्ग, नरक आदि का ज्ञान हो गया, मेरु पर्वत की स्थिति का पता,चल गया, ससार की हरकतो और हलचलो का लेखा-जोखा करने की ही यदि शक्ति मिल गई, तो क्या हुआ ? आत्मदर्शन के बिना उस अवधिज्ञान का क्या महत्त्व है ? इसी प्रकार मन पर्यव ज्ञान की प्राप्ति से यदि अपने एव जगत् के अन्य प्राणियो के मन की उछल कूद का ज्ञान हो गया, भूत-भविष्य की जानकारी हो गई, मनरूपी बदर के खेल देखने और जानने की शक्ति मिल गई, तो इससे लाभ क्या हुआ ? यही कारण है कि केवल ज्ञान की प्राप्ति के लिए और उसकी भूमिका मे आने के लिए बीच मे अवधिज्ञान और मन - पर्यव ज्ञान प्राप्त करने की कोई शर्त नही रखी गई है। महत्त्व तो श्रुतज्ञान का है कि जिसके सहारे आत्मा के वास्तविक स्वरूप की झाँकी मिले, भले ही वह परोक्ष रूप मे हो, किन्तु उसी के सहारे बढती हुई आत्मा एकदिन केवल ज्ञान के द्वारा अमूर्त अनन्त आत्मा का साक्षात् बोध कर सकती है।

मुक्ति का मर्म

आप लोग जानते हैं कि हम जो इतने क्रियाकाड करते हैं, उपवास, सवर, सामायिक आदि करते हैं, खाने-पीने, भोग-विलास आदि इन्द्रियजन्य सुख की वस्तुओ का त्याग करते हैं, वह सब किसके लिए है ? शरीर के साथ हमारी कोई लडाई नही है कि हम उसे बेदर्दी के साथ सुखा डालें, उसको यो ही सडने-गलने दें। जैन दर्शन की विशिष्टता यही तो है कि उसकी लडाई न तो ससार के पदार्थों के साथ है और न शरीर के साथ। उसकी लडाई तो है—आसक्तियो के साथ, राग-द्वेष के साथ। व्रत-उपवास आदि साधन इसीलिए तो हैं कि उनके द्वारा राग-द्वेष को कम किया जाए, आसक्ति को मिटाया जाय। यदि त्याग करने पर भी आसक्ति नही हटी, तो वह एक प्रकार का मायाचार होगा। गीता के शब्दो मे 'मिथ्याचार' होगा। जिस चोर को निकालने के लिए हमने लडाई की, यदि वह घर के भीतर और गहरा जा छुपा, तो यह और भी भयकर स्थिति होगी। इसीलिए जैन दर्शन वस्तुओ से हटने का उतना उपदेश नही करता, जितना कि आसक्ति से दूर हटने का उपदेश करता है। रागद्वेष, मोह और आसक्ति के बधन जितने परिमाण मे टूटते हैं, उतने ही परिमाण मे हम आत्मा के निकट आते हैं और मुक्ति के निकट आते हैं। लोग कहते हैं, भगवान् महावीर की मुक्ति दिवाली के दिन हुई। जैन दर्शन की दृष्टि मे यह कहना पूर्णत सही नही है। उनकी मुक्ति तो उसके बहुत पहले वैशाख शुक्ला दशमी को ही हो चुकी थी। अनुयोग द्वार सूत्र के अनुसार सिद्ध का एक अर्थ केवल ज्ञानी भी है। भगवान् महावीर सिद्ध थे, जीवन्मुक्त थे, शरीर मे रह कर भी शरीर के घेरे से परे थे, इसीलिए वे इन्द्रियो के रहते हुए भी तो इन्द्रिय से परे थे। चूंकि वे इन्द्रियजन्य राग-द्वेष से मुक्त थे। एक आचार्य ने कहा है—

'कषाय-मुक्तिः किल मुक्तिरेव'।

कषाय से मुक्ति ही वास्तविक मुक्ति है। इसी दृष्टि से अनुयोग द्वार सूत्र मे कहा है—सिद्ध भगवान् ने ऐसा कहा है। देह से मुक्त होने पर ही यदि सिद्ध होता है, पहले नही,

तो प्रश्न है— वे कहते कैसे हैं ? कहना तो शरीरधारी का ही होता है। अत स्पष्ट है कि मोह और क्षोभ से रहित वीतराग आत्मा शरीर के रहते हुए भी सिद्ध हो जाती है। मुख्य प्रश्न देहत्याग का नही, कषायत्याग का है। वास्तविक मुक्ति भी देहमुक्ति नहीं है, कषायमुक्ति है। जो आत्मा कषाय से मुक्त है, राग-द्वेष से रहित है, वही सच्चे अर्थ मे मुक्त है।

इसलिए जब हम मुक्ति की खोज मे निकलते हैं, तो हमे अपनी खोज करनी पडती है। मुक्ति कही बाहर नही है, अपने मे ही है। और, उस अपनी खोज का, अर्थात् आत्मा की खोज का जो मार्ग है, वही धर्म है। हमे उसी धर्म की आराधना करनी है, साधना करनी है जो आत्मा का ज्ञान कराए।

स्पष्ट है कि धर्म का तत्त्व आत्मानुसधान है, आत्मावलोकन है। आत्मावलोकन अर्थात् जिसने अपने अन्तर का अवलोकन कर लिया, अपने अन्तर्देव का दर्शन कर लिया, जिसने अपनी आत्मा की आवाज— सच्ची, विश्व कल्याणी आवाज--का श्रवण कर लिया, उसने धर्म का सार पा लिया। आत्मस्वरूप को समझ लेने पर व्यक्ति के अन्दर विश्वभाव की उदात्त भावना जागृत हो जाती है, उसकी आवाज विश्वजनीन आवाज होती है। उसका चितन विश्वार्थ चितन होता है। उसका कार्य-विश्वहितकर कार्य होता है। अत निष्कर्षत हम कह सकते हैं कि धर्म का वास्तविक रूप अपने-आप को पहचानना है, अपने अन्तर का सम्यक् अवलोकन करना है, जिसके अन्दर प्रेम, मैत्री, करुणा एव दया का अक्षय निर्झर झरा करता है।

१८

धर्म का अन्तर्हृदय

मानव जीवन एक ऐसा जीवन है, जिसका कोई भौतिक मूल्य नही आंका जा सकता। वाहर मे उसका जो एक रूप दिखाई देता है, उसके अनुसार वह हड्डी, माँस और मज्जा का एक ढाँचा है, गोरी या काली चमडी से ढँका हुआ है, कुछ विशिष्ट प्रकार का रग-रूप है, आकार-प्रकार है। किन्तु यही सब मनुष्य नही है। आंखो से जो दिखाई दे रहा है, वह तो केवल मिट्टी का एक खिलौना है, एक ढाँचा है, आखिर कोई न कोई रूप तो इस भौतिक शरीर का होता ही। भौतिक तत्त्व मिलकर मनुष्य के रूप मे विकसित हो गए। आँखें स्वय भौतिक हैं। अत वे मानव के शरीर से सम्वन्धित भौतिक रूप को ही देख पाती हैं। अन्तर की गहराई मे देखने की क्षमता आँखो मे नही है। ये चर्म-चक्षु मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन और परिचय नही करा सकती।

शास्त्र मे ज्ञान दो प्रकार के वताए गए हैं, एक ऐन्द्रिक ज्ञान और दूसरा अतीन्द्रिय ज्ञान। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयो का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है। जो भौतिक है, उसे भौतिक इन्द्रियाँ देख सकती हैं। पर, इस भौतिक देह के भीतर जो चैतन्य का विराट् रूप छिपा है, जो एक अखण्ड लौ जल रही है, जो परम देवता कण-कण मे समाया हुआ है, उसे देखने की शक्ति आँखो मे कहाँ है? मनुष्य का जो सही रूप है, वह इतना ही नही है कि वह शरीर से सुन्दर है और सुगठित है। एक आकृति है, जो सजी-सँवरी है। यदि हीय कुछ मनुष्य होता, तो रावण दुर्योधन और जरासघ भी मनुष्य थे। उनका शरीर भी वाड वलिष्ठ था, सुन्दर था। पर, ससार ने उन्हे वडे लोगो मे गिनकर भी सत्पुरुष नही माना, श्रेष्ठ मनुष्य नही कहा। पुराणो मे रावण को राक्षस वताया गया है। दुर्योधन और जरासंध को भी उन्होंने मानव के रूप मे नही गिना। ऐसा क्यो? इसका कारण है, उनमे यात्मिक सौन्दर्य का अभाव। देह कितनी सुन्दर हो, पर, जवतक उसके अन्दर सोई हुई आत्मा नही जागती है, आत्मा का दिव्य रूप नही चमकता है, तवतक वह देह सिर्फ मिट्टी का घरौंदा भर है, वह सूना मन्दिर मात्र है, जिसमे अब तक देवता की प्रतिष्ठा नही हुई है।

इस देह के भीतर आत्मा अँगडाई भर रही है या नही ? जागृति की लहर उठ रही है या नही ? यही हमारी इन्सानियत का पैमाना है। हमारे दर्शन की भाषा मे देवता वे ही नही हैं जो स्वर्ग मे रहते हैं, बल्कि इस धरती पर भी देवता विचरण किया करते हैं, मनुष्य के रूप मे भी देव हमारे सामने घूमते रहते हैं। राक्षस और दैत्य वे ही नही हैं, जो जगलो, पहाडो मे रहते है और रात्रि के गहन अन्धकार मे इधर-उधर चक्कर लगाते फिरते हैं, बल्कि मनुष्य की सुन्दर देह मे भी बहुत से राक्षस और पिशाच छुपे बैठे हैं। नगरो और शहरो की सभ्यता एवं चकाचौंध मे रहने वाला ही इन्सान नहीं है, हमारी इन्सानियत की परिभाषा कुछ और है। तत्त्व की भाषा मे, इन्सान वह है, जो अन्दर की आत्मा को देखता है और उसकी पूजा करता है। उसकी आवाज सुनता है और उसकी बताई राह पर चलता है।

'जन' और 'जिन' :

जिस हृदय मे करुणा है, प्रेम है, परमार्थ के सकल्प हैं और परोपकार की भावनाएँ हैं, वही इन्सान का हृदय है। आप अपने स्वार्थों की सडक पर सरपट दौडे चले जा रहे हैं, पर चलते-चलते कही परमार्थ का चौराहा आ जाए, तो वहाँ रुक सकते हैं या नही ? अपने भोग-विलास की काली घटाओ मे घिरे बैठे हैं, पर क्या कभी भी इन काले बादलो के बीच परोपकार और त्याग की बिजली भी चमक पाती है या नही ? यदि आपकी इन्सानियत मरी नही है, तो वह ज्योति अवश्य ही जलती होगी।

आपको मालूम है कि हमारा ईश्वर कहाँ रहता है ? वह कहीं आकाश के किसी वैकुण्ठ मे नही बैठा है, बल्कि वह आपके मन के सिंहासन पर बैठा है, हृदय मन्दिर मे विराजमान है वह। जब बाहर की आँख मूँदकर अन्तर मे देखेंगे, तो उसकी ज्योति जगमगाती हुई पाएँगे, ईश्वर को विराजमान हुआ देखेंगे।

ईश्वर और मनुष्य अलग-अलग नही हैं। आत्मा और परमात्मा दो तत्त्व नही हैं। नर और नारायण दो भिन्न शक्तियाँ नही हैं। जन और जिन मे कोई अन्तर नही है, कोई बहुत बडा भेद नही है। उपनिषद के दर्शन की भाषा मे कहूँ, तो सोया हुआ ईश्वर जीव है, ससारी प्राणी है और जागृत जीव ईश्वर है, परमात्मा है। मोह माया की निद्रा मे मनुष्य जबतक अन्धा हो रहा है, वह जन है, और जब जन की, अनादि काल की तन्द्रा टूट गई, जन प्रबुद्ध हो उठा, तो वही जिन बन गया। जीव और जिन मे और क्या अन्तर है ? जो कर्म दशा मे जीव है, कर्म मुक्त दशा मे वही जिन है।

"कर्मबद्धो भवेज्जीव. कर्ममुक्त स्तथा जिन"

बाहर मे बिन्दु की सीमाएँ हैं, एक छोटा-सा दायरा है। पर, अन्तर मे वही विराट् सिन्धु है, उसमे अनन्त सागर हिलोरें मार रहा है, उसकी कोई सीमा नहीं, कोई किनारा नही। एक आचार्य ने कहा है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्त चिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय, नम शान्ताय तेजसे।"

जब तक हमारी दृष्टि देश काल की क्षुद्र सीमाओ में बँधी हुई है, तबतक वह अनन्त सत्य के दर्शन नही कर पाती और जब वह देश काल की सीमाओ को तोड देती है,

१८

धर्म का अन्तर्हृदय

मानव जीवन एक ऐसा जीवन है, जिसका कोई भौतिक मूल्य नही आंका जा सकता। बाहर मे उसका जो एक रूप दिखाई देता है, उसके अनुसार वह हड्डी, मांस और मज्जा का एक ढाँचा है, गोरी या काली चमडी से ढँका हुआ है, कुछ विशिष्ट प्रकार का रंग-रूप है, आकार-प्रकार है। किन्तु यही सब मनुष्य नही है। आंखो से जो दिखाई दे रहा है, वह तो केवल मिट्टी का एक खिलौना है, एक ढाँचा है, आखिर कोई न कोई रूप तो इस भौतिक शरीर का होता ही। भौतिक तत्त्व मिलकर मनुष्य के रूप मे विकसित हो गए। आँखें स्वय भौतिक हैं। अत वे मानव के शरीर से सम्वन्धित भौतिक रूप को ही देख पाती हैं। अन्तर की गहराई मे देखने की क्षमता आँखो मे नही है। ये चर्म-चक्षु मनुष्य के आन्तरिक स्वरूप का दर्शन और परिचय नही करा सकती।

शास्त्र मे ज्ञान दो प्रकार के वताए गए हैं, एक ऐन्द्रिक ज्ञान और दूसरा अतीन्द्रिय ज्ञान। रूप, रस, गन्ध, स्पर्श आदि विषयो का ज्ञान इन्द्रियो के द्वारा होता है। जो भौतिक है, उसे भौतिक इन्द्रियाँ देख सकती हैं। पर, इस भौतिक देह के भीतर जो चैतन्य का विराट् रूप छिपा है, जो एक अखण्ड लौ जल रही है, जो परम देवता कण-कण मे समाया हुआ है, उसे देखने की शक्ति आँखो मे कहाँ है? मनुष्य का जो सही रूप है, वह इतना ही नही है कि वह शरीर से सुन्दर है और सुगठित है। एक आकृति है, जो सजी-सँवरी है। यदि हीय कुछ मनुष्य होता, तो रावण दुर्योधन और जरासध भी मनुष्य थे। उनका शरीर भी वाड वलिष्ठ था, सुन्दर था। पर, संसार ने उन्हे वडे लोगो मे गिनकर भी सत्पुरुप नही माना, श्रेष्ठ मनुष्य नही कहा। पुराणो मे रावण को राक्षस वताया गया है। दुर्योधन और जरासध को भी उन्होंने मानव के रूप मे नही गिना। ऐसा क्यो? इसका कारण है, उनमे आत्मिक सौन्दर्य का अभाव! देह कितनी सुन्दर हो, पर, जवतक उसके अन्दर सोई हुई आत्मा नही जागती है, आत्मा का दिव्य रूप नही चमकता है, तवतक वह देह सिर्फ मिट्टी का घरौंदा भर है, वह सूना मन्दिर मात्र है, जिसमे अव तक देवता की प्रतिष्ठा नही हुई है।

इस देह के भीतर आत्मा अँगडाई भर रही है या नही ? जागृति की लहर उठ रही है या नही ? यही हमारी इन्सानियत का पैमाना है। हमारे दर्शन की भाषा मे देवता वे ही नही हैं जो स्वर्ग मे रहते है, वल्कि इस धरती पर भी देवता विचरण किया करते हैं, मनुष्य के रूप मे भी देव हमारे सामने घूमते रहते हैं। राक्षस और दैत्य वे ही नही हैं, जो जगलो, पहाडो मे रहते हैं और रात्रि के गहन अन्धकार में इधर-उधर चक्कर लगाते फिरते हैं, वल्कि मनुष्य की सुन्दर देह मे भी वहुत से राक्षस और पिशाच छुपे वैठे हैं। नगरो और शहरों की सभ्यता एव चकाचौंध मे रहने वाला ही इन्सान नही है, हमारी इन्सानियत की परिभाषा कुछ और है। तत्त्व की भाषा मे, इन्सान वह है, जो अन्दर की आत्मा को देखता है और उसकी पूजा करता है। उसकी आवाज सुनता है और उसकी वताई राह पर चलता है।

'जन' और 'जिन' :

जिस हृदय मे करुणा है, प्रेम है, परमार्थ के सकल्प हैं और परोपकार की भावनाएँ हैं, वही इन्सान का हृदय है। आप अपने स्वार्थों की सडक पर सरपट दौडे चले जा रहे हैं, पर चलते-चलते कही परमार्थ का चौराहा आ जाए, तो वहाँ रुक सकते हैं या नही ? अपने भोग-विलास की काली घटाओ मे घिरे वैठे हैं, पर क्या कभी भी इन काले वादलो के वीच परोपकार और त्याग की विजली भी चमक पाती है या नही ? यदि आपकी इन्सानियत मरी नही है, तो वह ज्योति अवश्य ही जलती होगी।

आपको मालूम है कि हमारा ईश्वर कहाँ रहता है ? वह कही आकाश के किसी वैकुण्ठ मे नही वैठा है, वल्कि वह आपके मन के सिहासन पर वैठा है, हृदय मन्दिर मे विराजमान है वह। जव वाहर की आँख मूँदकर अन्तर मे देखेंगे, तो उसकी ज्योति जगमगाती हुई पाएँगे, ईश्वर को विराजमान हुआ देखेंगे।

ईश्वर और मनुष्य अलग-अलग नही है। आत्मा और परमात्मा दो तत्त्व नहीं हैं। नर और नारायण दो भिन्न शक्तियाँ नही हैं। जन और जिन मे कोई अन्तर नही है, कोई वहुत वडा भेद नही है। उपनिषद् के दर्शन की भाषा मे कहूँ, तो सोया हुआ ईश्वर जीव है, ससारी प्राणी है और जागृत जीव ईश्वर है, परमात्मा है। मोह माया की निद्रा मे मनुष्य जवतक अन्धा हो रहा है, वह जन है, और जव जन की, अनादि काल की तन्द्रा टूट गई, जन प्रवुद्ध हो उठा, तो वही जिन वन गया। जीव और जिन मे और क्या अन्तर है ? जो कर्म दशा मे जीव है, कर्म मुक्त दशा मे वही जिन है।

"कर्मवद्धो भवेज्जीव. कर्ममुक्त स्तथा जिन"

वाहर मे विन्दु की सीमाएँ है, एक छोटा-सा दायरा है। पर, अन्तर में वही विराट् सिन्धु है, उसमे अनन्त सागर हिलोरें मार रहा है, उसकी कोई सीमा नही, कोई किनारा नही। एक आचार्य ने कहा है—

दिक्कालाद्यनवच्छिन्नाऽनन्त चिन्मात्रमूर्तये।
स्वानुभूत्येकमानाय, नम शान्ताय तेजसे!"

जब तक हमारी दृष्टि देश काल की क्षुद्र सीमाओं में वँधी हुई है, तवतक वह अनन्त सत्य के दर्शन नही कर पाती और जव वह देश काल की सीमाओं को तोड देती है,

तो अन्दर मे अनन्त, अखण्ड ज्योति के दर्शन होते हैं। एक दिव्य, शान्त, तेज का विराट् पुंज प्रकट हो जाता है। आत्मा की अनन्त शक्तियाँ विकसित हो जाती हैं। हर साधक उसी शान्त तैजस् रूप को देखना चाहता है, प्रकट करना चाहता है।

चैतन्य कैसे जगे ?

हमे इस बात पर भी विचार करना है कि जिस विराट् चेतना को हम जगाने की बात कहते हैं, उसकी प्रक्रिया क्या है ? उस साधना का विशुद्ध मार्ग क्या है ? हमारे जो ये क्रियाकाण्ड चल रहे हैं, बाह्य तपस्याएँ चल रही हैं, क्या उससे ही वह अन्तर का चैतन्य जाग उठेगा ? केवल बाह्य साधना को पकड कर चलने से तो सिर्फ बाहर और बाहर ही घूमते रहना होता है, अन्दर मे पहुँचने का मार्ग एक दूसरा है और उसे अवश्य टटोलना चाहिए। आन्तरिक साधना के मार्ग से ही अन्तर के चैतन्य को जगाया जा सकता है। उसके लिए आन्तरिक तप और साधना की जरूरत है। हृदय मे कभी राग की मोहक लहरें उठती हैं, तो कभी द्वेष की ज्वाला दहक उठती है। वासना और विकार के आँधी-तूफान भी आते हैं। इन सब द्वन्द्वो को शान्त करना ही अन्तर की साधना है। आँधी और तूफान से अन्तर का महासागर क्षुब्ध न हो, समभाव की जो लौ जल रही है, वह बुझने नही पाए, बस यही चैतन्य देव को जगाने की साधना है। यही हमारा समत्व योग है। समता आत्मा की मूल स्थिति है, वास्तविक रूप है। जब यह वास्तविक रूप जग जाता है, तो जन से जिनत्व प्रकट हो जाता है। नर से नारायण बनते फिर क्या देर लगती है। इसलिए अन्तर की साधना का मतलब हुआ समता की साधना। रागद्वेष की विजय का अभियान।

क्या कर्म ने बाँध रखा है ?

साधकों के मुँह से बहुधा एक बात सुनने मे आती है कि हम क्या करें ? कर्मों ने इतना जकड रखा है कि उनसे छुटकारा नही हो पा रहा है। इसका अर्थ है कि कर्मों ने बेचारे साधक को बाँध रखा है। किन्तु प्रश्न यह है कि क्या कर्म कोई रस्सी है, साँकल है, जिसने आपको बांध लिया है? यह प्रश्न गहराई से विचार करने का है कि कर्मों ने आपको बाँध रखा है या आपने कर्मों को बाँध रखा है ? यदि कर्मों ने आपको बाँध रखा है, तो फिर आपकी दासता का निर्णय कर्मों के हाथ मे होगा और तब मुक्ति की बात तो छोड ही देनी चाहिए। ऐसी स्थिति मे जप, तप और आत्मशुद्धि की अन्य क्रियाएँ सब निरर्थक हैं। जब सत्ता कर्मों के हाथ मे सौंप दी है, तो उनके ही भरोसे रहना चाहिए। कोई प्रयत्न करने की क्या आवश्यकता है ? वे जबतक चाहेंगे, आपको बाँधे रखेंगे और जब मुक्त करना चाहेंगे, आपको मुक्त कर देंगे। आप उनके गुलाम हैं। आप का स्वतन्त्र कर्तृत्व कुछ अर्थ नही रखता। और जब यह माना जाता है कि आपने कर्मों को बाँध रखा है, तो बात कुछ और तरह से विचारने की हो जाती है। इस से यह तो सिद्ध हो जाता है कि कर्म की ताकत से आपकी ताकत ज्यादा है। बँधने वाला गुलाम होता है, बाँधने वाला मालिक। गुलाम से मालिक बडा होता है। तो, जब हमने कर्म को बाँधा है, तो फिर छोडने की शक्ति किस के पास है ? जिसने बाँधा है उसी के पास ही है न। कर्मों को जोडने की शक्ति इस आत्मा के पास है, चैतन्य के पास है, मतलब यह कि आपके

अपने हाथ मे ही हैं। हमारा अज्ञान इस शक्ति को समझने नही देता है, अपने आपको पहचानने नही देता है, यही हमारी सबसे बडी दुर्बलता है।

दर्शन ने हमे स्पष्ट बतला दिया है कि जो भी कर्म हैं, वे सब तुमने बांधे है, फलतः तुम्ही उन्हे छोड भी सकते हो—'बंधप्पमोक्खो तुज्झत्थमेव' बन्धन और मुक्ति तुम्हारे अन्तर मे ही है।

बन्धन क्या है?

कर्म के प्रसग मे हमे एक बात और विचार लेनी चाहिए कि कर्म क्या है और जो बन्धन होता है वह क्यो होता है?

अन्य पुद्गलो की तरह कर्म भी एक पुद्गल है, परमाणुपिंड है। कुछ पुद्गल अष्टस्पर्शी होते है, कुछ चतुःस्पर्शी। कर्म चतुःस्पर्शी पुद्गल है। आत्मा के साथ चिपकने या बँधने की स्वतन्त्र शक्ति उसमे नहीं है, न वह किसी दूसरे को बांध सकता है और न स्वय ही किसी के साथ बँध सकता है।

हमारी मन, वचन आदि की क्रियाएँ प्रतिक्षण चलती रहती हैं। खाना-पीना, हिलना-डोलना, बोलना आदि क्रियाएँ महापुरुषो के जीवन मे भी चलती रही हैं। जीवन मे क्रियाएँ कभी बन्द नही होती। यदि हर क्रिया के साथ कर्म बन्ध होता हो, तब तो मानव की मुक्ति का कभी प्रश्न ही नही उठेगा। चूंकि जबतक जीवन है, संसार है, तबतक क्रिया बन्द नही होती, पूर्ण अक्रियदशा (अकर्म स्थिति) आती नही। और जबतक क्रिया बन्द नही होती, तब तक कर्म बँधते रहेगे, तब तो फिर यह कर्म एक ऐसा सरोवर हुआ, जिसका पानी कभी सूख ही नही सकता, कभी निकाला ही नही जा सकता। ऐसी स्थिति में मोक्ष क्या होगा? और कैसे होगा?

सिद्धान्त यह है कि क्रिया करते हुए कर्मबंध होता भी है और नही भी। जब क्रिया के साथ राग-द्वेष का सम्मिश्रण होता है, प्रवृत्ति मे आसक्ति की चिकनाई होती है, तब जो पुद्गल आत्मा के ऊपर चिपकते है, वे कर्म रूप मे परिणत हो जाते हैं। जिस-जिस विचार और अध्यवसाय के साथ वे कर्म-ग्रहण होते है, उसी रूप मे वे परिणत होते चले जाते हैं। विचारो के अनुसार उनकी अलग-अलग रूप में परिणति होती है। कोई ज्ञानावरण रूप मे, तो कोई दर्शनावरण आदि के रूप मे। किन्तु जब आत्मा मे राग-द्वेष की भावना नहीं होती, प्रवृत्ति होती है, पर, आसक्ति नही होती, तब कर्म-क्रिया करते हुए भी कर्म बँध नही होता।

भगवान् महावीर से जब पूछा गया कि इस जीवनयात्रा को किस प्रकार चलाएँ कि कर्म करते हुए, खाते-पीते, सोते-बैठते हुए भी कर्म बन्ध न हो, तो उन्होंने कहा—

"जयं चरे जयं चिट्ठे जयमासे जयं सए।
जयं भुंजन्तो भासन्तो, पावकम्मं न बंधइ।"

तुम सावधानी से चलो, खड़े रहो तब भी सावधान रहो, सोते बैठते भी प्रमाद न करो। भोजन करते और बोलते हुए भी उपयोग रखो कि कहीं मन में अनुराग और आक्रोश

की लहर न उठ जाए। यदि जीवन मे इतनी सावधानी है, अनासक्ति है, तो फिर कही भी विचरण करो, कोई भी क्रिया करते रहो, पाप कर्म का बंध नही हो सकेगा।

इसका मतलब यह हुआ कि कर्म बध का मूल कारण प्रवृत्ति नही, बल्कि रागद्वेष की आसक्ति है। आसक्ति का गोलापन जब विचारो मे होता है, तब कर्म की मिट्टी, कर्म का गोला आत्मा की दीवार पर चिपक जाता है। यदि विचारो मे सूखापन है, निस्पृह और अनासक्त भाव है, तो सूखे गोले की तरह कर्म की मिट्टी आत्मा पर चिपकेगी ही नही।

वीतरागता ही जिनत्व है :

एक बार हम विहार काल मे एक आश्रम मे ठहरे हुए थे। एक गृहस्थ आये और गीता पढने लगे। आश्रम तो था ही। इतने मे एक सन्यासी आए, और बोले—"पढी गीता तो घर काहे को कीता ?" मैंने पूछा—"गीता और घर मे परस्पर कुछ वैर है क्या ? यदि वास्तव मे वैर है, तब तो गीता उपदेष्टा श्रीकृष्ण का भी गीता से वैर होना चाहिए और तब तो आप दो-चार साधुओ के सिवाय अन्य किसी की गीता के उपदेश से मुक्ति ही नही होगी।' साधु बोला—हमने तो घर छोड दिया है। मैंने कहा—घर क्या छोडा है, एक घोसला छोडा तो दूसरे कई घौंसले बसा लिए। कही मन्दिर, कही मठ और कही आश्रम खडे हो गये। फिर घर कहाँ छूटा है ? सन्यासी ने कहा कि—हमने इन सब का मोह छोड रखा है। मैंने कहा कि—हाँ, यह बात कहिए। असली बात मोह छोडने की है। घर मे रहकर भी यदि कोई मोह छोड सकता है, तो बेडा पार है। घर बन्धन नही है, घर का मोह बन्धन है। कभी-कभी घर छोडने पर भी घर का मोह नही छूटता है और कभी घर नही छोडने पर भी, घर मे रहते हुए भी, घर का मोह छूट जाता है।

बात यह है कि जब मोह और आसक्ति छूट जाती है, तो फिर कर्म मे ममत्व नही रहता। अहकार नही रहता। उसके प्रतिफल की वासना नही रहती। जो भी कर्म, कर्त्तव्य करना है, वह सिर्फ निष्काम और निरपेक्ष भाव से करना चाहिए। उसमे त्याग और समर्पण का उच्च आदर्श रहना चाहिए। सच्चा निर्मल, निष्काम कर्मयोगी जल मे कमल की तरह ससार से निर्लिप्त रहता है। वह अपने मुक्त जीवन का सुख और आनन्द स्वय भी उठाता है और ससार को भी बाँटता जाता है। मनुष्यता का यह जो दिव्य रूप है, वही वास्तव मे नर से नारायण का रूप है। इसी भूमिका पर जन मे जिनत्व का दिव्य भाव प्रकट होता है। इन्सान के सच्चे रूप का दर्शन इसी भूमिका पर होता है। इस मांसपिण्ड के भीतर जो सुप्त ईश्वर और परमात्म तत्त्व है, वह यही आकर जागृत होता है।

१९

साधना का मार्ग

भारतीय दर्शनशास्त्र मे एक बहुत ही उलझा हुआ प्रश्न है कि आत्म-साधना के लिए कौनसा मार्ग श्रेष्ठ है—साधु जीवन या गृहस्थ जीवन ? अनेक ऋषियो, मनीषियो एवं विचारको ने अपना-अपना चिंतन इस विषय पर दिया है। जिस मार्ग से जिन्होंने साधना की, अपने स्वरूप का भान प्राप्त किया, उन्होंने उसी मार्ग को श्रेष्ठ बतला दिया। किसी ने मुनि जीवन को श्रेष्ठ बतलाया, तो किसी ने गृहस्थ जीवन को। वैष्णव सम्प्रदाय के एक महान् आचार्य ने गृहस्थ जीवन की प्रशसा मे मुक्तकण्ठ से कहा है—

"गृहस्थाश्रम समो धर्मो, न भूतो न भविष्यति।"

इस विचार को बहुत से व्यक्तियो ने माना भी है, और इस पर चले भी हैं। आज गृहस्थ जीवन की साधना का बडे घटाटोप से मण्डन किया जाता है।

दूसरी ओर, भारतीय चिंतन की एक प्रमुख धारा है कि—गृहस्थ जीवन का प्राणी बहुत पामर प्राणी है। वह रात-दिन वासनाओं की गन्दगी मे पडा रहता है, सघर्षों और स्वार्थों के अँधेरे मे इधर-उधर भटकता रहता है। पत्नी और बच्चो की उलझन मे ही जीवन के महत्त्वपूर्ण क्षण गँवाता रहता है।

सन्त कबीर ने इसी सन्दर्भ मे कहा है कि—

"यह ससार काँटों की बाड़ी, उलझ-पुलझ मरि जाना है।"

यह गृहस्थ जीवन केवल काँटो से भरा हुआ ही नही है, अपितु काँटो की ही बाडी है, जिसमे एक बार कोई प्राणी उलझ गया तो बस फिर त्राण नही है। वलगम (खंखार) मे फँसी मक्खी की तरह तडप-तडप कर ही प्राण गवा बैठता है। इसके दूसरे पहलू पर कबीर ने साधु जीवन का भी बडा ही रगीन चित्र उपस्थित किया है—

"मन लागो मेरो यार फकीरी में,
जो सुख पायो राम भजन में,
सो सुख नहीं अमीरी में।"

इस वर्ग के विचारको ने साधु जीवन को बहुत अधिक महत्त्व दिया है। कुछ विचारको ने तो इसे जीते जी मृत्यु तक की सज्ञा दे दी है। हाँ, वास्तव मे जीते जी मरना भी एक बहुत वडी कला है, वह तो जीवन्मुक्ति की कला है। वहाँ त्याग, वैराग्य की भट्टी मे निरतर जलते रहना पडता है।

मध्य-मार्ग

भगवान् महावीर के सामने भी यह प्रश्न उठा था। ससार के हर महापुरुष के समक्ष यह प्रश्न आया है। हर साधारण व्यक्ति के समक्ष भी यह प्रश्न आता है। चूँकि ससार का हर प्राणी राहगीर है, पथिक है, अतः उसके समक्ष पहला प्रश्न राह का आता है। वह कौनसी राह पर चले, जिससे जीवन मे आनन्द, का उल्लास का वातावरण मिले। भगवान् महावीर ने इसका बहुत ही सुन्दर समाधान दिया है। उन्होने दोनो 'अति' से वचकर बीच का मार्ग दिखाया है। जीवन के दोनो किनारो से वचकर उनकी विचार-गगा जीवन के बीचो-बीच प्रवाहित हुई है। स्पष्टवाद या अनेकान्तवाद की सुन्दर नौका जब चिन्तन के सागर मे वहने को हो, तव डूवने का तो कोई प्रश्न ही नहीं रहता। इनकी अनेकान्तप्रधान वाणी से सत्य की उपलब्धि होती है। भगवान् की उसी वाणी को गणधरो ने इस रूप मे प्रकट किया है—

"सन्ति एगेहिं भिक्खूहिं, गारत्था संजमोत्तर।
गारत्थेहि सव्वेहिं, साहवो सजमुत्तरा॥"

कुछ साधु और भिक्षु ऐसे हैं कि साधना के मार्ग पर लडखडाते चल रहे हैं, उन्हें दृष्टि नही मिली, किंतु फिर भी चले जा रहे हैं। जीवन के अन्तर्लक्ष्यो को नही पाकर ओघ सज्ञा से ही चले जा रहे है—एक के पीछे एक। दृष्टि तो किसी एक को मिली, जिसे मार्ग का ज्ञान प्राप्त हुआ। वह चला उस मार्ग पर। वाकी साधक तो उस महान् साधक के पीछे चलते रहे, केवल उसकी वाणी के सहारे। और, कालान्तर मे आगे आने वाले, उसकी वाणी को भी भूलते चले गये। उनकी दशा गाँव के उस कुत्ते के समान है कि—गाँव मे चोर आया। जिस घर पर वह गया, उस घर का कुत्ता चोर को देखते ही भोकने लग गया। अव क्या था, आसपास में दूसरे घरो के कुत्ते भी उस घर के कुत्ते की भौंकने की आवाज सुनकर भौंकने लग गए। इन भौंकने वाले कुत्तो मे से चोर को तो देखा उस पहले कुत्ते ने, परन्तु भौंकना अन्य सारे कुत्तो ने शुरू कर दिया। इस प्रकार चोर को देखने वाला द्रष्टा कुत्ता तो एक ही है, भौंकना सुन कर केवल भौंकने वाले हैं, द्रष्टा नही हैं। यदि दूसरे कुत्तो से भौंकने का कारण पूछा जाए तो यही कहेंगे कि मालूम नही, क्या वात है? उधर से भौंकने की आवाज आई, इसलिए हम भौंक रहे हैं। परन्तु उनसे पूछा जाए कि क्या तुमने चोर को देखा है, वह चोर कैसा है, तो वे क्या वता सकेंगे। चूँकि वे तो सिर्फ उस द्रष्टा कुत्ते को आवाज पर ही भौंके जा रहे हैं। वात यह जरूर कडवी है, जो सभवत कुछ साथियो के मन को चोट कर सकती है, किन्तु सत्य यही है कि हजारो साधको के झुंड मे कोई एक ही ऐसा गुरु था, जो द्रष्टा था और जिसे आत्मा-परमात्मा के उस दिव्य स्वरूप का साक्षात्कार हुआ था। सत्य की भूमिका को छूने वाला वह एक ही था, और वह भी ससार का एक ही जीव था। ससार के वाकी गुरु-चेले तो वस देखा-देखी

भौंकने वाले हैं। सत्य का साक्षात्कार और चीज है, और सत्य के साक्षात्कार का दम और चीज। देखा-देखी का योग योग नही, रोग है। और वह रोग साधक को गला देता है। कहा भी है— 'देखादेखी साधे जोग, छीजे काया बाढ़े रोग।'

साधना का मानदण्ड :

ससार मे एक दिन भगवान् पार्श्वनाथ और भगवान् महावीर आए। उन्होंने देखा कि चारो ओर ये भौंकने वाले ही शोर मचा रहे हैं—कुछ गृहस्थ के वेष में, तो कुछ साधु के वेष मे। उन्होंने पूछा—"क्यो भाई, तुम किसलिए भौंक रहे हो? क्या तुम्हें कुछ दिखाई पडा? वासना, लोभ, क्रोध, राग-द्वेष का चोर तुमने कही देखा है?" तो वे सब चुप हो गये। जो अपनी आंख बन्द कर सिर्फ एक-दूसरे के अनुकरण पर चल रहे थे, उन्हें टोका—"ऐ भौंकने वालो! पहले देखो कि तुम किसके लिए भौंक रहे हो। उस चोर की सत्ता कहाँ है? किस रूप मे है वह?"

बात यह है कि जो साधना के मार्ग पर दौडते तो जा रहे हैं, किन्तु जिन्हे अपनी मजिल के बारे मे कोई ज्ञान नही है, उन्ही साधुओं के लिए भगवान् महावीर के दर्शन मे कहा गया है कि वे जन्मजन्मान्तर मे साधु का बाना कितनी ही बार ले चुके हैं। यदि उन सब बानो को एकत्र किया जाए, तो मेरु पर्वत के समान एक गगनचुम्बी ऊँचा ढेर हो सकता है। परन्तु आत्मा के अन्तर्तम मे एक इच भी परिवर्तन नही आया। इस प्रकार के अध साधु जीवन से तो गृहस्थ ही अच्छा है, जो सेवा, अहिंसा और करुणा के मार्ग पर चल रहा है। गृहस्थ जीवन मे अनेक सघर्ष आते हैं। उस पर परिवार, समाज आदि के रूप मे विभिन्न प्रकार के उत्तरदायित्वो का बोझ रहता है। परन्तु यदि उसमे भी ईमानदारी है, सेवा है, त्याग है और दृष्टि मे निर्लिप्तता है, तो वह वेषधारी साधु से अच्छा है, बहुत अच्छा है। भगवान् महावीर ने साधना का मानदण्ड वेष को कभी नही माना है, भावना को माना है। अगर मानव सच्चे अर्थ मे साधु बना, सही दृष्टि मिली, जीवन मे त्याग और वैराग्य उतरा, लक्ष्य की झाँकी मिली, तो उन गृहस्थो से वह बहुत ऊँचा है, बहुत महान् है, जोकि काम, क्रोध, मोह, लोभ आदि के सघन अंधकार मे जीवन गुजार रहा है। अतः निष्कर्ष यह निकला कि चाहे साधु हो या गृहस्थ, यदि प्रामाणिकता और ईमानदारी से अपने लक्ष्य की ओर चल रहा है, तो ठीक है, अन्यथा दोनो की ही स्थिति कोई महत्त्व की नही है। हम कह चुके हैं कि साधना का मूल्याकन साधु या गृहस्थ के नाम से नही होता, वेष से नहीं होता, आत्मा से होता है। चाहे छोटा हो या बड़ा, जिसमे ईमानदारी है, प्रामाणिकता है, वही श्रेष्ठ है वही ऊँचा है।

दो समानान्तर रेखाएँ

साधु और गृहस्थ जीवन की तरह ही एक प्रश्न यह उपस्थित होता है कि बड़ा भाई बनना अच्छा होता है या छोटा भाई? दोनों में कौन बड़ा है, कौन छोटा? कौन अच्छा है, कौन बुरा? महाभारत में पाण्डवों का उदाहरण है—युधिष्ठिर बड़े थे और दुर्योधन छोटा। एक ओर बलदेव बड़े थे और दूसरी ओर श्रीकृष्ण छोटे। यदि बड़ा बनना हो तो युधिष्ठिर का आदर्श अपनाओ और यदि छोटा बनना हो तो श्रीकृष्ण का। कृष्ण ने छोटे होकर भी जो महत्त्वपूर्ण कार्य किये, वे उन्हें महान् बना देते हैं। बड़ा भाई बनना चाहें तो

राम का उदाहरण भी सम्मुख है। बड़ा वनने के साथ उसका उत्तरदायित्व भी वहुत वडा हो जाता है। छोटे भाई के रूप मे लक्ष्मण और भरत का चरित्र भी वहुत अनुकरणीय है। इन उज्ज्वल आदर्श परम्पराओं का एक दूसरा मलिन पक्ष भी हमारे समक्ष आता है। मुगल इतिहास मे ऐसे अनेक उदाहरण भरे पडे हैं—जहाँ छोटे भाई ने वडे भाई को और वडे भाई ने छोटे भाई को खून से नहलाया है। राजा श्रेणिक का भी उदाहरण सामने आता है कि जहाँ पुत्र ने पिता को कारागृह मे बन्दकर दिया। इधर राम का भी आदर्श है कि जिसने सिर्फ पिता के आदेश का पालन करने के लिए ही चौदह वर्ष का वनवास स्वीकार किया। पिता-पुत्र के आदर्श, भाई-भाई के आदर्श और पति-पत्नी के आदर्श की सार्थकता इसी मे है कि उन्हे जीवन मे प्रामाणिकता के साथ उतारा जाय। आदर्श की श्रेष्ठता देश और काल से, जाति और वंशपरम्परा से नही नापी जाती, वल्कि वह नापी जाती है अन्दर की सचाई से, अन्दर की प्रामाणिकता से।

इन आदर्शों का पालन तभी हो सकता है, जव जीवन मे भय और प्रलोभनो पर विजय पाने की शक्ति हो। प्राणी मात्र इन्ही दो पाटो के वीच पिसता आ रहा है। जितने विग्रह हुए हैं, लडाइयाँ हुई हैं, उन सवके मूल मे ये ही दो कारण रहे हैं। जिस साधक ने इन पर विजय प्राप्त करली, वह निश्चय ही अपनी साधना के लक्ष्य को सफल कर चुका है। ससार के बडे-वडे सम्राट् उसके चरणो मे नतमस्तक हो जाते हैं। यह त्यागियो का शासन अजेय शासन है। वह कभी समाप्त नही हो सकता। वहाँ छोटे-वडे की प्रतिष्ठा नही, त्याग की प्रतिष्ठा होती है। जिसका त्याग अधिक तेजस्वी होता है, वही महान् होता है। यदि साधना का वह तेज गृहस्थ जीवन मे निखर सकता है तो वह जीवन भी महान् हो सकता है। और साधु का वेप पहन कर भी यदि साधुता का स्पर्श नही हुआ, तो उस वेप से कुछ भी लाभ नही हो सकता।

दो आदर्श :

वाराणसी मे सत कवीर साधना में लगे थे। वह बाहर मे वस्त्रो का ताना-बाना वुन रहे थे। किन्तु अन्दर मे साधना का ताना-वाना बुनने मे सलग्न थे। एक ब्राह्मण का पुत्र अनेक विद्याओं का अध्ययन करके पच्चीस वर्ष की अवस्था मे जव जीवन के नए मोड पर आया, तो उसने विचार किया कि वह कौन से जीवन मे प्रवेश करे, साधु वने या गृहस्थाश्रम मे जाए ? अपनी इस उलझन को उसने कवीर के समक्ष रखा। कवीर उस समय ताना पूर रहे थे। प्रश्न सुनकर भी उन्होंने कोई उत्तर नहीं दिया। युवक ने कुछ देर तक चुप रहकर प्रतीक्षा की, किन्तु कोई उत्तर नहीं मिला। उसने फिर अपना प्रश्न दुहराया, लेकिन कवीर ने फिर भी जवाव नही दिया। तभी कवीर ने पत्नी को पुकारा—"जरा देखो तो ताना साफ करने का झब्बा कहाँ है ?" इतना कहना था कि कवीर की पत्नी उसे खोजने लगी। दिन के सफेद उजाले मे भी कवीर ने बिगडते हुए कहा—"देखती नहीं हो, कितना अधकार है ? चिराग लाकर देखो, पत्नी दौडती हुई चिराग लेकर आई, और लगी खोजने। झब्बा तो कवीर के कन्धे पर रखा था। किन्तु फिर भी कवीर की पत्नी पति की इतनी आज्ञाकारिणी थी कि जैसा उसने कहा वैसा ही करने लग गई। युवक को यह देखकर वडा आश्चर्य हुआ। वह सोच ही रहा था कि आखिर यह क्या माजरा है ? इतने मे कवीर ने अपने लडके और लड़की को आवाज दी। जब वे आए तो

उन्हें भी वही सब्बा खोजने का आदेश दिया। और वे भी चुपचाप खोजने लग गए। कुछ देर तक खोजने के बाद कबीर ने कहा—'अरे यह तो कंधे पर रहा। अच्छा जाओ, अपना-अपना काम करो।" सभी लौट गए। युवक बड़ा परेशान था कि "यह कैसा मूर्ख है ? कैसी विचित्र बातें करता है ? मेरे प्रश्न का क्या खाक उत्तर देगा ?" तभी कबीर ने उसकी ओर देखा, युवक ने फिर अपना प्रश्न दुहराया। कबीर ने कहा मैं तो उत्तर दे चुका हूं, तुम अभी समझे नही। अभी जो दृश्य तुमने देखा था, उससे सबक लेना चाहिए। यदि गृहस्थ बनना-चाहते हो तो, ऐसे बनो कि तुम्हारे कहे पर घर वाले दिन को रात और रात को दिन मानने को भी तैयार हो जाएँ। तुम्हारे व्यवहार मे इतना आकर्षण हो कि परिवार का प्रत्येक सदस्य तुम्हारे प्रति अपने आप खिंचा रहे, तब तो गृहस्थ जीवन ठीक है। अन्यथा यदि घर कुरुक्षेत्र का मैदान बना रहे, आये दिन टकराहट होती रहे, तो इस गृहस्थ जीवन से कोई लाभ नही। और यदि साधु बनना हो, तो चलो एक साधु के पास, तुम्हारा मार्ग दर्शन करा दूँ।

कबीर युवक को लेकर एक साधु के पास पहुँचे, जो एक बहुत ऊँचे टीले पर रहता था। कबीर ने उन्हे पुकारा तो वह वृद्ध साधु लडखडाता हुआ धीरे-धीरे नीचे उतरा। कबीर ने कहा—"बस आपके दर्शनो के लिए आया था, दर्शन हो गए।" साधु फिर धीरे-धीरे ऊपर चढा, तो कबीर ने फिर पुकारा और साधु फिर नीचे आया और पूछा—"क्या कहना है ?" कबीर ने कहा—"अभी समय नहीं है, फिर कभी आऊँगा, तब कहूँगा।" साधु फिर टीले पर चढ गया। कबीर ने तीसरी बार फिर पुकारा और साधु फिर नीचे आया। कबीर ने कहा—"ऐसे ही पुकार लिया, कोई खास बात नही है।" साधु उसी भाव से, उसी प्रसन्न मुद्रा से फिर वापिस लौट गया। उसके चेहरे पर कोई शिकन तक न आई।

कबीर ने युवक की ओर प्रश्न भरी दृष्टि डाली और बोले—"कुछ देखा ? साधु बनना हो तो ऐसा बनो। इतना अशक्त वृद्ध शरीर आँखो की रोशनी कमजोर, ठीक तरह चला भी नही जाता। इतना सब कुछ होने पर भी, तुमने देखा, मैंने तीन बार पुकारा और तीनो बार उसी शान्त मुद्रा मे नीचे आए और वैसे ही लौट गए। मुझ पर जरा भी क्रोध की झलक नहीं, शिकन तक नही। साधु बनना चाहते हो, तो ऐसे बनो कि तुममे इतनी सहिष्णुता रहे, इतनी क्षमा रहे। जीवन मे प्रसन्नता के साथ कष्टो का सामना करने की क्षमता हो, तो साधु की ऊँची भूमिका पर जा सकते हो।"

इसी घटना के प्रकाश मे हम भगवान् महावीर की वाणी का रहस्य समझ सकते हैं कि साधु जीवन हो या गृहस्थ जीवन, जबतक जीवन मे तेज नहीं जग पाए, प्रामाणिकता और सच्ची निष्ठा का अभाव विद्यमान रहे, तो दोनो ही जीवन बदतर हैं। और यदि इन सद्गुणो का समावेश जीवन मे हो गया, तो दोनो ही जीवन अच्छे हैं, श्रेष्ठ हैं, और उनसे आत्मकल्याण का मार्ग सुगमता से प्रशस्त हो सकता है।

★ ★ ★ ★

२०

राग का ऊर्ध्वीकरण

आध्यात्मिक साधना के सम्बन्ध मे, धर्म की विधि एव मर्यादा के सम्बन्ध मे सोचते हुए हमने कुछ भूलें की हैं। अनेक प्रकार की भ्रातियो से हमारा चिंतन दिग्मूढ-सा हो गया है, ऐसा मुझे कभी-कभी लगता है। साधना का प्रवाह उस झरने की भाँति अपने मूल उद्गम पर बहुत ही निर्मल और स्वच्छ था, किंतु ज्यो-ज्यो वह आगे बढ़ता गया, उसमें भ्रातियो का कूडा-कचरा मिलता गया और प्रवाह मे एक प्रकार की मलिनता आती गई। आज उसका गँदला पानी देख कर कभी-कभी मन चौंक उठता है और सोचने को विवश हो जाता है कि क्या यह कूडा-कचरा निकाला नही जा सकता ? इस प्रवाह की पवित्रता और निर्मलता को कचरा कब तक ढँके रखेगा ?

इस सम्बन्ध मे समय-समय पर बहुत कुछ कहता रहा हूँ। इसके लिए पास-पडोस की दूसरी परम्पराओ और चिंतन-शैलियो की टीका-टिप्पणी भी मैं करता रहा हूँ, उनकी मलिनता पर चोट करने से भी मैं नही हिचकता। परन्तु इसकी पृष्ठभूमि मे मेरी कोई साप्रदायिक आग्रह या दुराग्रह की मनोवृत्ति नही है। यही कारण है कि भूलो एव भ्रान्तियो के लिए अपनी साम्प्रदायिक परम्परा और विचारधारा पर भी मैंने काफी कठार प्रहार किए हैं। विचार-प्रवाह मे जहाँ मलिनता हो, उसे छिपाया नही जाए, फिर यह चाहे अपने घर मे हो या दूसरे घर मे ! मैं इस विषय मे बहुत ही तटस्थता से सोचता हूँ और मलिनता के प्रक्षालन मे सदा उन्मुक्त भाव से अपना योग देता रहा हूँ।

साधना में द्वैध क्यों ?

हमे सोचना है कि जिसे हम साधना कहते हैं, वह क्या है ? जिसे हम धर्म समझते हैं, वह क्या है ? वह कहाँ है ? किस रूप मे चल रहा है और उसे किस रूप मे चलना चाहिए ?

एक सबसे विकट बात तो यह है कि हमने साधना को अलग-अलग कठघरो मे खड़ा कर दिया है। उसके व्यक्तित्व को, उसकी आत्मा को विभक्त कर दिया है। उसके

समान रूप को हमने नही देखा । टुकडो मे देखने की आदत बन गई है । लोग घर मे कुछ अलग तरह की जिन्दगी जीते हैं, परिवार मे कुछ अलग तरह की । घर के जीवन का रूप कुछ और है और मदिर, उपाश्रय, धर्म-स्थानक के जीवन का रूप कुछ और ही है । वे अकेले मे किसी और ढंग से जीते हैं और परिवार एव समाज के बीच किसी दूसरे ढग से । मैंने देखा है, समाज के बीच बैठकर जो व्यक्ति फूल की तरह मुस्कराते हैं, फव्वारे की तरह प्रेम की फुहारें बरसाते हैं, वे ही घर मे आकर रावण की तरह रौद्र बन जाते हैं । क्रोध की आग उगलने लगते हैं । धर्म स्थानक मे या मदिर मे जिन्हे देखने से लगता है कि ये बडे त्यागी-वैरागी हैं, भक्त हैं, ससार से इन्हें कुछ लेना-देना नही, निस्पृहता इतनी है कि जैसे अभी मुक्ति हो जाएगी, वे ही व्यक्ति जब वहां से बाहर निकलते हैं, तो उनका रूप बिल्कुल ही बदल जाता है, इस धर्म की छाया तक उनके जीवन पर दिखायी नही देती ।

मैं सोचता हूं, यह क्या बात है ? जीवन पर इतना द्वैध क्यो आ गया ? साधना मे यह बहुरूपियापन क्यो चल पडा ? लगता है, इस सम्बन्ध मे सोचने-समझने की कुछ भूलें हुई हैं, वे भूलें शायद आपने नही, हमने की होगी और नई नही, वे बहुत पुरानी होगी । वे काफी पहले से चली आ रही हैं ।

धर्म : केवल परलोक के लिए ?

मैं जब इन बंधी-बंधाई मान्यताओ और चली आ रही परम्पराओं की ओर देखकर पूछता हूँ—"धर्म किसलिए है ?" तो एक टकसाली उत्तर मिलता है—धर्म परलोक सुधारने के लिए है ? "यह सेवाभक्ति, दान-पुण्य किसलिए ? परलोक के लिए ?" हम बराबर कहते आये हैं—"परलोक के लिए कुछ जप तप कर लो, अगले जीवन के लिए कुछ गठरी बांध लो ।" मदिर के घंटे-घडियाल—केवल परलोक-सुधार का उद्घोष करते है, हमारे ओघेमुखपत्ती जैसे परलोक-सुधार की नामपट्टियां बन गये हैं । जिधर देखो, जिधर सुनो, परलोक की आवाज इतनी तेज हो गई है कि कुछ और सुनाई ही नहीं देता । एक अजीब कोलाहल, एक अजीब भ्राति के बीच हम इस जीवन को जी रहे हैं, केवल परलोक के लिए ।

हम आस्तिक हैं, पुनर्जन्म और परलोक के अस्तित्व मे हमारा विश्वास है, किन्तु इसका यह मतलब तो नही कि इस परलोक की बात को इतने जोर से कहें कि इस लोक की बात कोई सुन ही नही सके । परलोक की आस्था मे इस लोक के लिए आस्थाहीन होकर जीना, कैसी आस्तिकता है ?

मेरा विचार है, यदि परलोक को देखने-समझने की ही आपकी दृष्टि बन गई है, तो इस जीवन को भी परलोक क्यों नही समझ लिया जाए ? लोक-परलोक सापेक्ष शब्द है । पुनर्जन्म में यदि आपका विश्वास है, तो पिछले जन्म को भी आप अवश्य मानते है । उस पिछले जीवन की दृष्टि से क्या यह जीवन परलोक नहीं है ? पिछले जीवन में आपने जो कुछ साधना-आराधना की होगी, उस जीवन का यह परलोक ही तो है । फिर आप इस जीवन को भूल क्यों जाते है ? परलोक के नाम पर इस जीवन की उपेक्षा, अवगणना क्यों कर रहे है ?

लोकातीत साधना :

भगवान् महावीर ने साधको को सम्बोधित करते हुए कहा था—'**आराहए लोगमिण तहा परं**"—साधको ! तुम इस लोक की भी आराधना-साधना करो, परलोक की भी। लोक और परलोक मे कोई दो भिन्न सत्ता नही है। जो आत्मा इस लोक में है, वही परलोक मे भी जाती हैं, जो पूर्व जन्म मे थी, वही इस जन्म में आई है। इसका मतलव है—पीछे भी तुम थे, यहाँ भी तुम हो और आगे भी तुम रहोगे। तुम्हारी सत्ता अखण्ड और अनत है। तुम्हारा वर्तमान इहलोक है, तुम्हारा भविष्य परलोक है। जिन्दगी जो नदी के एक प्रवाह की भाँति क्षण-क्षण मे आगे वहती जा रही है, वह लोक-परलोक के दो तटो को अपनी करवटो मे समेटे हुए है। जरा सूक्ष्मदृष्टि एव तत्त्वदृष्टि से विचार किया जाए, तो जीने-मरने पर ही लोक-परलोक की व्यवस्था नही है। वर्तमान जीवन मे ही लोक-परलोक की धारा वह रही है। जीवन का हर पहला क्षण लोक है, और हर दूसरा क्षण परलोक। लोक-परलोक इस जिन्दगी मे क्षण-क्षण में आ रहे हैं। हमने लोक-परलोक को वाजारू शब्द वना दिये और यो ही गोटी की तरह फेंक दिया है खेलने के लिए। यदि इन शब्दो का ठीक-ठीक अर्थ समझा जाए, लोक-परलोक की सीमाओ का सही रूप समझा जाए, तो जो भ्रांतियाँ आज हमारी बुद्धि को गुमराह कर रही हैं, वे नही कर पाएँगी।

हम जो लोक-परलोक को सुधारने की वात कहते हैं, उसका अर्थ है, वर्तमान और भविष्य—दोनो ही सुधरने चाहिए। यदि वर्तमान ही नहीं सुधरा, तो भविष्य कैसे सुधरेगा ?

> "लोक नहीं सुधरा है यदि तो,
> कैसे सुधरेगा परलोक ?"

भगवान् महावीर ने—'*आराहए लोकमिणं तहा पर*' की जो घोपणा की, वह न परलोकवादियो को चुनौती थी और न लोकवादियो को ही चुनौती थी, वल्कि एक स्पष्ट, अभ्रात दृष्टि थी, जो दोनो तटो को एक साथ स्पर्श करती हुई चल रही थी।

कितनी वार हमारे सामने वीतरागता का प्रश्न आता है, उसकी पर्याप्त चर्चाएँ होती हैं; किन्तु प्रश्न यह है कि हैं, यह वीतरागता क्या है ? यह लोक है, या परलोक है ? इसका सम्वन्ध किससे है ? किसी से भी तो नही है। वीतरागता लोक-परलोक से परे है, वह लोकातीत है। भगवान् महावीर ने इस सदर्भ में कहा है—"तुम लोक-परलोक की दृष्टि से ऊपर उठ कर 'लोकातीत' दृष्टि से क्यो नही सोचते ? काल प्रवाह मे अपनी अखण्ड सत्ता की अनुस्यूति को क्यो नही अनुभव करते ? वर्तमान और भविष्य मे तुम्हारी सत्ता विभक्त नही है, वह एक है, अखण्ड है, अविच्छिन्न है। फिर अपने को टुकडो मे क्यो देखते हो ?"

जैन दर्शन एक ओर लोक-परलोक की आराधना की वात कहता है, दूसरी ओर लोक-परलोक के लिए साधना करने का निषेध भी कर रहा है। वह कहता है—"**नो इह लोगट्ठयाए, नो परलोगट्ठयाए**..." न इस लोक के लिए साधना करो, न परलोक के लिए ही। लोक-परलोक—यह रागद्वेप की भाषा है, आसक्ति का रूप है, ससार है। सुख-दुःख का

बंधन है। हमे लोक-परलोक से ऊपर उठकर 'लोकातीत' दृष्टि से सोचना है। और, वह लोकातीत दृष्टि ही वीतराग दृष्टि है।

वीतराग का जब निर्वाण होता है, तो हम क्या कहते हैं ? परलोकवासी हो गए ' ? नही, परलोक का अर्थ है, पुनर्जन्म : और पुनर्जन्म तभी होगा जब आत्मा मे राग-द्वेष के सस्कार जगे होगे। वीतराग की मृत्यु का अर्थ है—लोकातीत दशा को प्राप्त होना। यदि हम लोक-परलोक के दृष्टिमोह से मुक्त हो जाते हैं, तो इस लोक मे भी लोकातीत दशा की अनुभूति कर सकते हैं। देह मे भी विदेह स्थिति प्राप्त कर सकते हैं। श्रीमद्रामचन्द्र के शब्दो मे—

> "देहछता जेहनी दशा वर्ते देहातीत ।
> ते ज्ञानी ना चरणमां वन्दन हो अगणीत ॥"

राग का प्रत्यावर्तन .

लोक-परलोक के सम्बन्ध मे जैसी कुछ भ्रान्त धारणाएँ हैं, वैसी ही वीतरागता के सम्बन्ध मे भी है। वीतरागता एक बहुत ऊँची भूमिका है। उसके लिए अत्यन्त पुरुषार्थ जगाने की आवश्यकता है। परन्तु हम देखते हैं, नीचे की भूमिकाओ मे क्षुद्रमन उसका प्रदर्शन करते है और कर्त्तव्य से च्युत होते हैं। अत आज के सामान्य साधक के समक्ष प्रश्न यह है कि जबतक यह लोकातीत स्थिति प्राप्त न हो जाए, तबतक इस लोक मे कैसे जिएँ ? जब तक देहातीत दशा न आए तबतक देह को किस रूप मे सँभालें ? जब तक वीतराग दृष्टि नही जगती है, तबतक राग को किस रूप में प्रत्यावर्तित करें कि वह कोई खास बन्धन नही बने। यदि बन्धन भी बनें तो कम से कम लोहे की बेडी तो न बने ! जब तक आत्मा के ज्योतिर्मय स्वरूप का दर्शन न हो, तब तक इतना तो करें कि कम से कम अन्धकार मे भटक कर ठोकरें तो न खाएँ ?

साधक के सामने यह एक उलझा हुआ प्रश्न खडा है। वह समाधान चाहता है और समाधान खोजना ही होगा। आचार्यों ने इसका उत्तर दिया है—जबतक वीतरागता नही आए, तबतक राग को शुभ बनाते रहो। राग अशुभ भी होता है, शुभ भी। अशुभ राग अपवित्र है, लोहे की बेडी है, शुभ राग पवित्र है, सोने की बेडी है।

भगवान् महावीर ने लोक-परलोक की आराधना करने का जो उद्घोष दिया है, वह राग को शुभ एवं पवित्र बनाने की एक प्रक्रिया है। जैसा मैंने आपसे कहा—वीतराग दशा तो लोकातीत दशा है। वह लोक-परलोक को सुधारने की बात ही कहाँ है ? जो शुद्ध दशा है वहाँ फिर सुधार की क्या बात ? अशुद्ध को ही सुधारा जाता है, इसलिए सामान्य साधक के लिए शुद्ध से पहले शुभ की भूमिका रखी गयी है, वीतरागता से पूर्व शुभराग का मार्ग बताया गया है।

साधु का जो विधिनिषेधात्मक क्रियारूप आचार धर्म है, वह क्या है ? दान, दया, सेवा, उपासना और भक्ति-पूजा के विधिविधान क्या है ? क्या यह वीतराग धर्म है ? किन्तु वीतरागता में जो सहज दशा होती है, वहाँ विधिनिषेधों के विकल्पों की कोई गुंजा-इश नहीं। आत्मा अपने शुद्ध स्वरूप में विचरण करती है। वहाँ इन्द्रियजनित क्रिया नहीं

जाता, स्वत हो जाता है। इसलिए वह इन्द्रियातीत (नो इन्द्रिय) दशा है। फिर इन्द्रिय-सयम, मनोनिग्रह, देव, गुरु, धर्म की भक्ति और पूजा-प्रार्थना आदि के विकल्प वीतराग दशा कैसे हो सकते हैं? आचार्य कुन्दकुन्द जैसे आध्यात्मवादी चिंतको ने तो इन सब क्रियाओ को शुभराग माना है। इसका अर्थ यह है कि यह सब राग का ऊर्ध्वीकरण है, राग की शुभदशा है। अहिंसा पर किसी को तभी स्थिर किया जा सकेगा, जब उसके मन मे स्नेह एव करुणा की धारा बहती होगी। सत्य और अचौर्य की प्रेरणा तभी काम कर सकेगी, जब आत्म-विश्वास और नैतिक-निष्ठा जागृत होगी। मानव जाति का आज जो विकास हुआ है, उसके चिंतन मे जो उदात्तता आई है, वह निश्चित ही उसके स्नेह, करुणा और शुभराग की परिणतियां हैं। यदि मनुष्य के हृदय मे शुभराग की वृत्ति नही होती, तो शायद मनुष्य मनुष्य भी नही रह पाता। फिर आप कहाँ होते? हम कहाँ होते? कौन किसके लिए होता?

एक बार मैंने देखा—एक चिडिया घोसले मे बैठी अपने बच्चो की चोच मे दाना दे-देकर उन्हें खिला रही थी। इधर-उधर से बडी मेहनत करके वह दाना लाती और बच्चो के मुँह मे बडे प्यार से डालती। मेरे पास ही खड़े एक मुनिजी ने पूछा—यह ऐसा क्यो करती है? क्या मतलब है इसका?

मैंने हँसकर कहा—मतलब चिडिया से मत पूछो, इन्सान से पूछो। मतलब की भाषा उसी के पास है, वहाँ तो एक प्राकृतिक स्नेह-राग है, जो प्रत्येक जीवधारी को एक-दूसरे के लिए उपकृत करता है। यह स्नेह ही प्राणी को एक-दूसरे के निकट लाता है, एक से अनेक बनाता है, परिवार और समाज के रूप मे उसे एक रचनात्मक व्यवस्था से बांधता है। यह स्नेह भले ही मोह का रूप है, पर मोह से हम कहाँ मुक्त हुए हैं? जहाँ पारिवारिक जीवन है, एक-दूसरे के साथ रागात्मक सम्बन्ध है, वहाँ मोह तो है ही। परिवार, समाज, सघ और सप्रदाय सभी इस मोह से बंधे हैं। हां, जहाँ यह मोह उदात्त बन जाता है, स्नेह व्यापक बन जाता है, वहाँ उसकी अपवित्रता कम हो जाती है, वह मोह, वह राग शुभ के रूप मे बदल जाता है।

वीतरागता का नाटक :

वीतरागता हमारा मुख्य धर्म है, महान् ध्येय है। किन्तु जब तक वह वीतरागता नही आती है, तब तक हमे राग को अधिकाधिक पवित्र एवं उदात्त बनाने का प्रयत्न करना चाहिए। अपने निज के दैहिक स्वार्थ और मोह से ऊपर उठकर उसको मानव चेतना और समग्र जीव-चेतना तक व्यापक बनाना चाहिए। अन्यथा साधक की यह महान् भूल होगी कि वह वीतरागता का नाटक तो खेलता रहे, पर न तो वह उसे प्राप्त कर सके और न इधर राग को पवित्र बनाकर दूसरो की सेवा-सहयोग ही करने का प्रयत्न करे। यह स्थिति बडी दुविधापूर्ण होगी।

एक बार सुदूर प्रान्त के कुछ साधु लुधियाना (पजाब) मे पधारे। एक मुनिजी ने, जो अपने को बडे वैरागी और अध्यात्मवादी बताते थे, व्याख्यान में आत्मा और पुद्गल की बडी लबी-चौडी बातें कही। कहा—"पुदगल परभाव है, आत्मा का शत्रु है। इसे लात मार दो! तभी मुक्ति होगी।"

व्याख्यान देकर उठे, पात्र सभाले और पहले से विराजित एक स्थानीय बुजुर्ग सत

से बोले—तपसीजी ! कुछ ऐसे घरो में ले चलो, जहाँ पुद्गल की साता हो । (मतलब कि आहार पानी अच्छा साता का ही मिल सके) ।"

तपसीजी मुस्करा कर बोले—"भाई ! अभी तो आप पुद्गल को लात मार रहे थे, अब पुद्गल की साता की बात करने लगे, यह क्या ?"

यही तो वीतरागता का नाटक है। जब हम जीवन मे अपने लिए वीतरागी नही बन सकते, अपने शरीर की साता और मोह को नही छोड सकते, तो फिर केवल दूसरो के प्रति उदासीन और निस्पृह होने की बात कहने से क्या लाभ है ? जीवन-व्यवहार मे सरलता आनी चाहिए, सचाई को स्वीकार करने का साहस होना चाहिए। और, यह मानना चाहिए कि जिन आदर्शों तक पहुँचने मे हमे अभी तक कठिनाई अनुभव होती है, तो दूसरो को भी अवश्य ही होती होगी । फिर उस कठिनाई के बीच का मार्ग क्यों नही अपनाया जाए ?

धर्म का मुख्य रूप वीतरागता है, वह लक्ष्य मे रहना चाहिए। उस ओर यात्रा चालू रखनी चाहिए। परन्तु जब तक वह सहज भाव मे जीवन मे न उतरे, तबतक धर्म का गौण रूप शुभभाव भी यथाप्रसग होता रहना चाहिए। निर्विकल्पता न आए, तो शुभ विकल्प का ही आश्रय लेना चाहिए, अशुभ विकल्प से बचना चाहिए।

गणधर गौतम की बात अभी हमारे सामने है। इतना बडा साधक, तपस्वी जिसके लिए भगवती सूत्र मे कहा है—'उग्गतवे घोरतवे दित्ततवे'—तपस्वियो मे भी जो उत्कृष्ट थे और ज्ञानियो मे भी ! उन्होंने जब अपने ही शिष्यों को केवली होते देखा, तो वे मन मे क्षोभ और निराशा से क्लांत हो गए और सोचने लगे कि—यह क्या ? मुझे अभी भी केवल ज्ञान नही हो रहा है और मेरे शिष्य केवली हो रहे हैं, मुक्त हो रहे हैं ?

भगवान् महावीर ने गौतम के क्षोभ को शान्त करते हुए कहा—"गौतम ! तुम्हारे मन मे अभी तक मोह और स्नेह का बधन है।"

गौतम ने पूछा—"किसके साथ ?"

भगवान् ने कहा—मेरे प्रति, मेरे व्यक्तित्व के प्रति तुम्हारे मन मे एक सूक्ष्म अनुराग, जो जन्म-जन्मान्तर से चला आ रहा है, वह राग-स्नेह ही तुम्हारी मुक्ति मे बाधक बन रहा है। गौतम यह सब कुछ जानकर भी भगवान् के प्रति अपना प्रेमराग छोड नही पाए। और, आप देखते हैं कि गौतम का यह अनुराग भगवान् के निर्वाण के समय इतना प्रबल हो जाता है कि आँसुओ के रूप मे बाहर बह आता है। इसे हमारे कुछ साथी मोह बताकर एकान्त अशुभ एवं दूषित कह सकते है, परन्तु मैं तो इसे मोह मान कर भी एकान्त अशुभ नही मान सकता। यह भक्ति-विभोर भक्त-हृदय की अमुक अश मे शुभ परिणति है। यह मानव हृदय की एक स्नेहात्मक स्थिति है, गुणानुराग की वृत्ति है। आँसू केवल शोक के ही आँसू नहीं होते, भक्ति और प्रेम के भी आँसू होते है, करुणा के भी आँसू होते हैं।

मनुष्य समाज मे अकेला नही जीता, उसके साथ परिवार होता है, समाज होता है, राष्ट्र होता है। यह ठूंठ वृक्ष की भाँति निरपेक्ष तथा निश्चेष्ट रह कर कैसे जी सकता है ? उसके मन मे पास-पडोस की घटनाओं की प्रतिक्रिया अवश्य होती है। यदि आपनी

चेतना का ऊर्ध्वमुखी विकास हो रहा है तो आप किसी को प्रगतिपथ पर बढते देखकर, किसी के व्यक्तित्व को विकसित होते देखकर, मुस्करा उठेंगे, दूसरो की प्रसन्नता से प्रसन्न हो जाएँगे, दूसरो के गुणो पर कमल पुष्प की भाँति प्रफुल्ल हो जाएँगे और यदि आपकी चेतना कुण्ठाग्रस्त है, उसका प्रवाह अधोमुखी है, तो आप ईर्ष्या और डाह से जल उठेंगे। किसी के गुणो की प्रशंसा सुनकर मन ही मन तिलमिला उठेंगे, जैसे सौ-सौ बिच्छुओ के एक साथ डक लग गये हो। किसी को बढते देखकर उस पर व्यग्य करेंगे, उसे गिराने की चेष्टा करेंगे।

अब आप सोचिए, इन दोनो स्थितियो मे कौनसी स्थिति श्रेष्ठ है? प्रमोद से जीना, दूसरो के गुणो और विशेषताओ पर प्रसन्नता पूर्वक जीना—यह ठीक है, या रात दिन ईर्ष्या-डाह से तिलमिलाते रहना? जब तक वीतराग दशा नही आती है, तब तक इन दोनो मे से एक मार्ग चुनना होगा। पहला मार्ग है, शुभ राग का और दूसरा मार्ग है, अशुभ राग यानि द्वेष का। राग जब अधोमुखी होता है, तो द्वेष का रूप ले लेता है, इसलिए अशुभ राग या द्वेष मे कोई विशेष अन्तर नही रहता।

गुणों का आदर : प्रमोद भावना :

जैसे साहित्य मे चार भावनाएँ आती हैं, उन चार भावनाओ मे दूसरी भावना है—"**गुणिषु प्रमोद**" गुणी के प्रति प्रमोद—प्रसन्नता की भावना। जैन दर्शन की यह उच्चतम जीवन दृष्टि है। हम अपने मे, अपने परिपार्श्व मे कही भी, किसी चेतना को विकसित होते देखकर, कही भी ज्योति को चमकते देखकर, उसके प्रति प्रसन्नता अनुभव करें, प्रमोद से पुलक उठें—यह जीवन मे सबसे बडा आनन्द का मार्ग है। गुणो का स्वागत करना, उनके विकास को प्रोत्साहित करना, हमारी आध्यात्मिक चेतना की ऊर्ध्वमुखी वृत्ति है। भगवान् महावीर ने इस वृत्ति को राग तो कहा है, पर शुभ राग कहा है और इसे प्रोत्साहित किया है। आगमो मे जहाँ महावीर के श्रावको का वर्णन किया गया है, वहाँ एक विशेषण आता है, "अट्ठिमिज्ज पेमाणुराग रत्ते"—उनकी अस्थि और मज्जा तक भी धर्म के प्रेमानुराग से रजित थी। यह निश्चित है कि यह 'प्रेमानुराग' वीतराग धर्म तो नही है, फिर भी धार्मिक की उल्लेखनीय विशेषता है। अतः इसका अर्थ है—अनुराग, गुणानुराग, धर्मानुराग। और, यह जीवन का एक महत्त्वपूर्ण अग है। वीतरागता के नाम पर यदि हम किसी उभरते हुए व्यक्तित्व को देखकर भी मौन रहते हैं, किसी सद्गुणो के कल्पवृक्ष को लहलहाते देख कर भी उदासीन बने रहते हैं, तो मैं मानता हूँ, हमारी चेतना अभी कुण्ठित है, उसका प्रवाह अधोमुखी है और यह वृत्ति जीवन एव जगत् के लिए घातक है।

मैं आपसे स्पष्ट कह दूँ कि—जब भी किसी होनहार व्यक्तित्व मे विकास की अनेक सभावनाओ पर दृष्टि डालता हूँ, तो मुझे उसमे सर्जना की अनेक मौलिक कल्पनाएँ छिपी मिलती हैं। इनमे बौद्धिक विलक्षणता, तटस्थ चिंतन तथा सत्यानुलक्षी स्पष्टवादिता आदि कुछ ऐसी विशेषताएँ निहित पाता हूँ, जो मेरे मन को प्रमुदित कर देती हैं। मानव की यही महान् निष्ठा है, शुभ वृत्ति है कि वह कही किसी श्रेष्ठता को, अच्छाई को अकुरित होता देखे तो सहज सद्भाव से उसके प्रति आकृष्ट हो, उसको विकसित होता देखे, तो सहज प्रसन्नता से झूम उठे।

कभी-कभी सोचता हूँ, यदि हमारे श्रमण-श्रमणी वर्ग मे यदि व्यवहार की सरलता और पवित्रता बनी रहे, तो हम अपने आदर्शों को बहुत कुछ उजागर कर सकते हैं। ऐसे श्रेष्ठ जीवन के प्रति अनुराग होना एक सहज बात है। मैं तो कहूँगा कि यदि किसी में गुणानुराग दृष्टि है, तो वह अवश्य ही एक पवित्र अनुराग की भावना से बँध जाएगा।

जैसा कि मैंने प्रारम्भ मे कहा—धर्म और अध्यात्म की भूमिका पर खडे होकर हमने कुछ बहुत ऊँची बातें सोची हैं। जीवन मे निरपेक्षता और वीतरागता के आदर्श भी खडे किए हैं, किन्तु वह भूमिका इतनी ऊँची है कि हम यो ही छलांग लगाकर वहाँ तक नही पहुँच सकते। इस स्थिति मे, जबकि वीतराग नही हो जाते है, "राग का क्या करना ?" इसे सोचने-समझने की भूल भी हमने की है। हम अपने देह, परिवार और सम्प्रदाय के निम्न अनुरागो मे तो फँस गए हैं, किन्तु राग के जो ऊर्ध्वमुखी रूप है, गुणानुराग, देव, गुरु, धर्म की भक्ति, सेवा, करुणा और सहयोग का आदर्श है—उसे भूल गए हैं, उन वृत्तियो को राग की कोटि मे मानकर उनसे निरपेक्ष रहने की बात कहने लग गए है। चिंतन की यह एक बहुत बडी भूल है, इस भूल को समझना है, सुधारना है—तभी हम जैन धर्म के पवित्र आदर्शो को जीवन मे साकार बना सकेंगे। और, राग के ऊर्ध्वीकरण एव पवित्रीकरण की प्रक्रिया सीख सकेंगे। प्रवृत्तियो और कषायो से मुक्त होने का सही मार्ग यही है। अशुभ से शुभ और शुभ से शुद्ध—इस सोपानबद्ध प्रयाण मे सिद्धि का द्वार आसानी से मिल सकता है। हनुमान कूद तो हमे कभी-कभी निम्नतम दशा मे ही बुरी तरह से पटक दे सकती है। राग का ऊर्ध्वीकरण-सोपानबद्ध प्रयाण ही इसके लिए उचित मार्ग है।

२१

जीवन में 'स्व' का विकास

मनुष्य के मन मे राग और द्वेष की दो ऐसी वृत्तियाँ हैं, जो उसके सम्पूर्ण जीवन पर कुहरे की तरह छाई हुई हैं इनका मूल बहुत गहरा है, साधारण साधक इसका समुच्छेदन नही कर सकता। शास्त्र मे इनको 'आन्तरिक दोष' (अज्झत्थ दोस) कहा गया है, जिसका तात्पर्य यह है कि इनकी जडें हमारे मन की बहुत गहराई मे रहती हैं, वातावरण का रस पाकर विषवेली की तरह बढती हुई ये व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तक को आवृत कर लेती हैं।

बीज रूप मे ये वृत्तियाँ हर सामान्य आत्मा मे रहती हैं, किन्तु जब कभी ये प्रबल हो जाती हैं, अपनी उग्रतम स्थिति मे आ जाती हैं, तो व्यक्ति को विक्षिप्त बना देती हैं, और व्यक्ति अपने कर्त्तव्य, मर्यादा एव आदर्श को भूल बैठता है, एक प्रकार से अन्धा हो जाता है।

स्वकेन्द्रित राग :

राग वृत्ति इतनी गहरी और सूक्ष्म वृत्ति है कि उसके प्रवाह को समझ पाना कभी-कभी बहुत कठिन हो जाता है। मनुष्य का यह सूक्ष्मराग कभी कभी अपने धन से, शरीर से, भोग-विलास से, प्रतिष्ठा और सत्ता से चिपट जाता है, तो वह मनुष्य को रीछ की तरह अपने पजे मे जकड लेता है। इसलिए राग को निगड बन्धन कहा गया है।

कभी-कभी मैं सोचता हूँ, राग और द्वेष एक प्रकार का वेग है, नशा है। जब यह नशा मन-मस्तिष्क पर छा जाता है, तो फिर मनुष्य [illegible] जाता है। वह कुछ सोच नही सकता, विचार नही सकता [illegible] गे की मा[illegible] [illegible]ता जाता है, प्रवाह मे मुर्दे की तरह। यह प्रवाह अधो[illegible] मनुष्य को [illegible] की ओर धकेलता ले जाता है, और यह अंत मे किस [illegible] कर पटके [illegible] कल्पना भी नही हो सकती।

[illegible] भरे [illegible] देख [illegible] आज [illegible]

वर्तमान ज[illegible] धर्म [illegible] के [illegible]

वारिक कलह और व्यक्तिगत मनोव्यथाओ के मूल को खोजता हूं, तो वस राग और द्वेष की उथल-पुथल के सिवाय और कोई तीसरा कारण नही मिलता। कही राग की प्रवल वृत्तियां प्रताडित कर रही हैं, तो कहीं द्वेष की उग्र ज्वालाएं धधक रही हैं। किसी मे देह का राग प्रवल होता है, तो किसी मे धन का, किसी मे सत्ता का, तो किसी मे प्रतिष्ठा का।

मैं देखता हूं कि जिस सस्कृति मे पिता को परमेश्वर, माता को भगवती और पत्नी को लक्ष्मी के रूप मे पूजा गया है, उसी संस्कृति मे पिता को कैदखाने मे डाला गया, मूक पशु की तरह पिंजडे मे वन्द किया गया, माता को ठोकरें मारी गईं, पत्नी को जुए के दांव पर लगाया गया। आखिर यह सव किसलिए ? पिता की हत्या हुई, भाइयो का कत्ल हुआ, वन्धु और राष्ट्र के साथ विश्वासघात तथा द्रोह हुआ—यह सव क्यो हुआ ? आप मे यदि सामाजिक और राजनीतिक प्रतिभा है, तो आप इनके राजनीतिक कारण वता सकते हैं, किन्तु मनुष्य के मन का सूक्ष्म विश्लेपण करने वाला मनोविश्लेपक और अध्यात्म की गुत्थियां सुलझाने वाला सत, उसे मनुष्य के मन की ग्रन्थियां एव राग-द्वेष की सूक्ष्म वृत्तियां ही वतलाएगा। वस्तुत वही इसका एकमात्र मूल है।

जिन्हे आप धर्मपुत्र कहते हैं, नीति और धर्म का प्रहरी समझते हैं, वे युधिष्ठिर द्रौपदी को, जो तेजस्वी नारी है, पांच भाइयो की साझा है, उसे दांव पर लगाते हुए सकुचाए तक नही। सस्कृति की यह कितनी वडी विडम्वना है। इसका मूल कारण वही है—द्यूत का अनुराग। और उसके पीछे खडा है सत्ता और विजय का व्यामोह।

मध्यकाल के भारतीय इतिहास के विक्रमादित्य सम्राट् चन्द्रगुप्त ने जिस शौर्यशाली वाकाटक वश की परम सुन्दरी कन्या ध्रुवदेवी के साथ पुनर्विवाह किया, वह कौन थी ? चन्द्र के वड़े भाई रामगुप्त की पत्नी। जव रामगुप्त शको द्वारा वन्दी वना लिया गया, तो शकराज ने प्राणदण्ड से वचने का एक मार्ग वताया कि तुम अपनी पत्नी को हमारे चरणो मे सौंप दो, उसके अद्वितीय सौंदर्य का उपभोग करने दो। इस पर रामगुप्त ध्रुवदेवी को पत्र लिखता है, कि "मैं शकराज द्वारा वदी वना लिया गया हूं, मेरे लिए जीवन रखने का एक ही मार्ग है कि तुम शकराज की सेवा मे तन मन से समर्पित हो जाओ।"

यह घटना क्या वताती है ? एक सम्राट्, मगध और अवन्तिका के विशाल साम्राज्य का होनहार स्वामी, जिसका कर्त्तव्य था अपने धर्म की रक्षा करना, प्रजा के तन-धन और जीवन की रक्षा करना, पर वह अपनी पत्नी की भी रक्षा नही कर पा रहा है। अपने जीते जी, अपने हाथो से अपनी पत्नी को, शत्रु के चरणो मे समर्पित करना चाहता है उसके उपभोग के लिए। यह वात दूसरी है कि चन्द्रगुप्त के पराक्रम और सूझ बूझ से यह दुर्घटना होते होते वच गई। किन्तु मैं देखता हूं कि एक क्षत्रिय राजकुमार! सम्राट् समुद्रगुप्त का ज्येष्ठ पुत्र। इतने नीचे स्तर पर क्यो आ गया ? अपने प्राणो के तुच्छ मोह और राग मे अन्धा होकर ही तो।

मगध का प्रतापी सम्राट् अजातशत्रु कुणिक अपने पिता महाराज श्रेणिक को वन्दी वनाकर पिंजडे मे वन्द कर देता है। जैन आगम वताते हैं कि कुणिक के जन्म लेते ही उसकी माता महारानी चेलना भावी अनिष्ट की किसी आशका से उसे वाहर घूरे पर फिकवा देती है, किन्तु महाराज श्रेणिक पुत्रमोह के कारण उसे उठा लेते है, पशी के द्वारा काटी

गई पुत्र की उगली का रक्त अपने मुह से चूसकर ठीक करते हैं और अपने हाथो से उसकी सेवा-परिचर्या करते हैं। पिता के वृद्ध होने पर वही पुत्र शासन सत्ता के व्यामोह मे फँस जाता है, और अपने भाइयो व मत्रीगण को गाँठकर सम्राट् को पिंजडे मे ठूँस देता है। सत्ता का राग मनुष्य को कितना अधा, पागल और क्रूर बना देता है—यह इस घटना से स्पष्ट हो जाता है।

आगरा का यह विश्वविश्रुत ताजमहल, जिस मुगल सम्राट् का प्रणय-स्वप्न है, उस शाहजहाँ को जिन्दगी के अन्तिम दिन जेल मे बिताने पडे थे। वह अपने ही पुत्र औरगजेब द्वारा वन्दी बनाया गया। ऐसा क्यो ? इस्लाम के इस कट्टर अनुयायी शासक ने अपने यशस्वी और कलाप्रेमी पिता को कारागृह की चारदिवारी के अन्दर क्यो ठूँस दिया, और क्यो अपने सगे भाइयो को कत्ल करके खुश हुआ ? मैं समझता हूँ, इन प्रश्नो का उत्तर वही एक है। सत्ता, धन और प्रतिष्ठा का उग्र राग ! जिस प्रकार द्वेष की वृत्तियाँ मनुष्य को पिशाच और राक्षस बना देती हैं—वैसे ही राग की निम्न एव क्षुद्र वृत्तियाँ भी मनुष्य को क्रूर और मूढ बनाने वाली हैं। राग वृत्ति का यह अधोमुखी प्रवाह है, जिसे हम स्व-केण्द्रित राग, मोह, व्यामोह और विमूढता कहते हैं।

मैं समझता हूँ, द्वेष की अपेक्षा राग की विमूढित परिणतियो ने मनुष्य जाति का अधिक संहार एव विनाश किया है। वैसे प्रत्येक पक्ष मे राग के साथ द्वेष का पहलू जुडा ही रहता है। रामायण और महाभारत के युद्ध क्या हैं ? एक मनुष्य के काम-राग की उदग्र फलश्रुति है, तो दूसरी मनुष्य के राज्यलोभ की रोमाचक कहानी है। वैसे राम-रावण के युद्ध मे भी मनुष्य के अहकार और द्वेप के प्रवल रूप मिलते हैं, किन्तु महाभारत के युद्ध का मुख्य स्रोत तो दुर्योधन के क्षुद्र अहकार और क्रोध का एक दुष्परिपाक ही प्रतीत होता है। निष्कर्ष यह है कि मनुष्य जाति के युद्ध, सघर्ष और विनाश के इतिहास का मूल उत्स यही वृत्तियाँ हैं।

राग की वृत्तियाँ भीतरी आवरण

राग की वृत्तियाँ कभी-कभी उदात्त रूप मे भी व्यक्त होती हैं, वह मनुष्य को धर्म, समाज और राष्ट्र के लिए बलिदान होने को भी प्रेरित करती हैं और मनुष्य अपना प्राण हथेली मे लेकर मौत से पिल पडता है। राग के इस ऊर्ध्वमुखी प्रवाह के उदाहरण भी इति-हास के पृष्ठो पर चमक रहे हैं और उनसे एक आदर्श प्रेरणा प्रस्फुरित हो रही है। राग का यह ऊर्ध्वीकरण मनुष्य के राष्ट्रीय एव सामाजिक जीवन का मेरुदण्ड है, यह मानते हुए भी मैं आपसे उस भूमिका से ऊपर की एक बात और कह देना चाहता हूँ, वह है अध्यात्म की बात।

अध्यात्म के चिंतनशील आचार्यो ने द्वेप को जिस प्रकार एक बधन तथा आवरण माना है, उसी प्रकार राग को भी। उनकी दृष्टि मे ये दोनो आवरण हैं, और, मन के आवरण हैं, भीतर के आवरण हैं।

अध्यात्म की यह अद्भुत विशेपता है कि उसने कभी भी बाहरी आवरण की चिंता नही की। शरीर, इन्द्रियाँ, धन, परिवार ये सब ऐसी ही बाहरी आवरण हैं। अपने आप मे ये न बुरे हैं, न भले। ये अकेले मे कोई दुष्परिणाम पैदा नही करते, विनाश और

सहार नहीं करते और न कल्याण ही कर सकते हैं। जैन दर्शन ने इसीलिए इन आवरणो को 'अघातिया' कहा है।

आघाती कर्म :

घाती-अघाती कर्म की व्याख्या समझ लेने पर भगवान् महावीर की जीवन दृष्टि आपके समक्ष स्पष्ट हो जाएगी, ऐसा मुझे विश्वास है।

आघाती का मतलब है आत्मस्वरूप को किसी भी प्रकार की घात नही पहुँचाने वाला कर्म। आप जीवित हैं, आयुष्य का भोग कर रहे है, तो इससे यह मतलब नही कि आपकी आत्मज्योति मलिन हो रही है। आप कोई अनर्थ या बुराई कर रहे हैं। आप यदि शताधिक वर्ष भी जीवित रहते हैं, तो भी इससे कोई आत्मस्वरूप मे बाधा पहुँचने जैसी बात नही है। नाम कर्म के उदय से सुन्दर एवं दृढ शरीर मिला है, इन्द्रियो की सपूर्ण सुन्दर रचना हुई है, तो इससे भी आत्मा कोई पतित नही हो जाती। वेदनीय कर्म से सुख-दुःख की उपलब्धि होती है, किन्तु न सुख आत्मज्योति को मलिन करता है और न दुःख ही। ऊँच-नीच गोत्र मिलने से भी आत्मा कोई ऊँची नीची नही होती। इस प्रकार आप देखेंगे कि जैन दर्शन का सघर्ष बाह्य मे नही है। बाह्य से कभी वह न डरता है और न लडता है। उसका सघर्ष तो मात्र भीतर से है।

बाहर मे धन है, तो उससे क्या? धन स्वय मे न कोई बुराई है, न भलाई। बुराई-भलाई, हानि-लाभ तो उसके उपयोग मे है। उपयोग का यह तत्त्व भावना मे रहता है। यदि आप उसका सदुपयोग करते है, तो उस धन से पुण्य भी कर सकते हैं, सेवा भी कर सकते है। घर मे बच्चा भूखा है, आप दूध पी रहे हैं, और उसे दूध नही मिला है। आप सोचते है कि मैं आज नही पीऊँगा, दूध बच्चे को दे देना चाहिए। घर या पड़ोस मे कोई अस्वस्थ है, उसे आवश्यकता है, अब आप अपनी वस्तु को उसे समर्पित कर देते हैं, यह वस्तु का सदुपयोग है। यदि आप वस्तु का गलत नियोजन करते हैं, धन से शराब और वेश्या-गमन की वृत्ति को प्रोत्साहन देते हैं, तो वही वस्तु बुरी भी बन जाती है।

धर्म : एक शाश्वत दर्शन

कहने का अभिप्राय यह है कि धन मे बुराई का जन्म नही होता, बल्कि मन मे होता है। मन मैला है, बुरा है, तो वहां कुछ भी डाल दो, काँटे ही पैदा होगे। मन अगर स्वच्छ है, उर्वर खेत है, तो वहां गन्दी से गन्दी चीज भी उर्वरक बन जायेगी, फसल पुष्ट कर देगी। इसलिए धर्म कहता है—सबसे पहले मन को तैयार करो। मन को शिक्षण दो, ताकि वह समय पर सही निर्णय करने मे समर्थ हो सके, गलत काम से बच सके। धर्म का दर्शनचिंतन मन को तैयार करने का उपक्रम है।

सैद्धान्तिक चर्चाएँ, अथवा समस्त दार्शनिक विचारधाराएँ वर्तमान मे भले ही विशेष उपयोगी प्रतीत न हो, पर मन की भूमिका तैयार करने मे इनका सबसे महत्त्वपूर्ण स्थान है। इसलिए हमारा धर्म केवल धर्म ही नहीं, दर्शन भी है। धर्म जीवन व्यवहार का विधायक है, तो दर्शन उसका मार्गद्रष्टा है। साधारण लोगो के जीवन में धर्म केवल कर्म रूप ही रहता है, वह नित्य आचरण का एक सन्दर्भ मात्र रहता है, किन्तु विचारशील व्यक्ति के जीवन मे धर्म दर्शन के रूप मे प्रवेश करता है। वह सिर्फ कर्म ही नहीं, बल्कि

चिंतन भी वन जाता है, जीवन का मार्गद्रष्टा वन जाता है। मन को सही निर्णय करने की ट्रेनिंग देता है। किसी भी समय मे कैसी भी परिस्थिति मे, यदि मन भटकता है, तो दर्शन उसको सही मार्ग पर ले आता है। इस तरह धर्म वर्तमान जीवन को व्यवस्थित करता है, तो दर्शन भविष्य के लिए भी मन की भूमिका तैयार करता है। मन को किसी भी स्थिति का सामना करने के लिए निपुण एव दक्ष बनाता है।

धर्म के पहलवान !

हम एक बार ऐक गांव मे गये। वहां बहुत बडे दंगल की तैयारी हो रही थी। उस गांव मे एक पहलवान था, बडा दबदबा था उसका। गांव वालो को भी उसपर बडा नाज था। उसके लिए गांव वालो ने अलग से एक भैंस ले रखी थी। उस भैंस का मक्खन व दूध उसे रोज चटाया जाता, उसकी हर आवश्यकता की पूर्ति के लिए गांव वाले दिल खोल कर खर्च करते और वह जब गलियो से निकलता, तो बडा लम्बा-चौडा होकर निकलता! एकबार उस पहलवान को किसी बाहर के पहलवान ने चुनौती दी, और उसी के गांव मे दगल होना भी तय हुआ! समय पर सब लोग मैदान मे उसका इतजार कर रहे थे, पर वह घर से निकला तक नही। कही जाकर दुबक गया। गांव वालो ने उसकी बडी थू थू की और कहा, गांव की नांक कटा दी, इज्जत मिट्टी मे मिला दी।

धर्म के क्षेत्र मे भी ऐसे पहलवानो की कमी नही है। वे धर्म क्रिया की भैंस का दूध मक्खन चाटते रहते हैं, मदिर व धर्मस्थान मे पहलवानी करते रहते हैं, तो लोगो को लगता है, पहलवान बडा तगडा है, दगल मे सबको पछाड देगा। किन्तु जब धर्म की परीक्षा का समय आता है, निर्णायक घडी आती है, तो वे पहलवान फिसड्डी बन जाते हैं, उनका मन निस्तेज और निष्प्राण हो जाता है। वे कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का निर्णय नही कर सकते, धर्म-अधर्म का फैसला नही कर सकते, उनका मन पीछे की खिडकी से भागने का प्रयत्न करने लगता है।

अतः यह स्पष्ट है, समय पर न्यायोचित कर्त्तव्य के लिए तैयार रहना, यह मन की ट्रेनिंग है, इसके लिए केवल धर्मक्रिया की भैंस का दूध पीते रहना ही काफी नही है, सिद्धान्त और दर्शन की जिन्दादिली भी आवश्यक है। यह जिन्दादिली ही मन की तैयारी है, जो समय पर सही निर्णय देने मे समर्थ होती है।

अंतरग असगता :

मेरे कहने का तात्पर्य यह है कि मन की भूमिका ऐसी होनी चाहिए कि वह शरीर इन्द्रिय, धन आदि को सत्कर्म मे नियोजित कर सके। वृत्तियो को उदात्त रूप दे सके। शरीर, इन्द्रिय आदि तो प्रारब्ध के भोग हैं, रथ के घोडे हैं, इन्हें जहां भी जोडा जाए, वही जुड जाएंगे और जिधर भी मोडा जाए, उधर ही मुड जाएंगे। किधर मोड़ना है, यह निर्णय मन को करना होगा। यदि राग-द्वेष की ओर इनकी गति होगी, तो वह बधन का कारण होगा। यदि असगवृत्ति और आत्माभिमुखता की ओर गति होगी, तो वह मुक्ति का कारण बन जाएगी।

"बन्धाय विषयासक्ति मुक्त्यै निर्विषय मन"[1]

---

१ मैत्रायणी आरण्यक

भारतीय चिंतन कहता है कि एक चक्रवर्ती सम्राट् जितना परिग्रही हो सकता है, एक गली का भिखारी भी, जिसके पास भीख माँगने के लिए फूटा ठीकरा भी नही है, उतना ही परिग्रही हो सकता है। बाहर मे दोनो के परिग्रह की कोई तुलना नही है, आकाश-पाताल का अन्तर है, किन्तु भीतर मे उस भिखारी की आसक्ति, मोह-मुग्धता उस सम्राट् से कम नही है, बल्कि कुछ ज्यादा ही हो सकती है।

भरत चक्रवर्ती, जिसके लिए कहा गया है कि उसका जीवन जल मे कमल की भाँति था, चक्रवर्ती के सिंहासन पर बैठ कर भी उसका मन ऋषि का था, सच्चे साधक का मन था। अत वह शीशमहल मे प्रविष्ट होता है एक चक्रवर्ती के रूप मे, और निकलता है 'अर्हन्त' केवली के रूप मे। कितना विलक्षण जीवन है! यह स्थिति जीवन के अतरग चित्र को स्पष्ट करती है, मन की असगता का महत्त्व दर्शाती है। मन को राग-द्वेष से मुक्त करने के लिए इस आन्तरिक असगता का ही महत्त्व है।

स्वार्थ 'ही' या 'भी'

शरीर और इन्द्रिय, जाति और गोत्र, धन और प्रतिष्ठा—ये सब अघाति हैं, आत्मस्वरूप की घात इनसे नही होती, साधना मे किसी प्रकार की बाधा इनसे नही आती। जो बाधक तत्त्व है, वह मोह है, मन की रागद्वेषात्मिका वृत्तियाँ है। इन वृत्तियों का यदि आप उदात्तीकरण कर देते है, इनके प्रवाह को ऊर्ध्वमुखी बना देते हैं, तो ये आपके स्वरूप के अनुकूल हो जाती है, आपकी साधना मे तेजस्विता आ जाती है। आप अपनी स्थिति मे आ जाते है। आत्मा का जो ज्योतिर्मय स्वरूप है, उस स्थिति के निकट पहुँच जाते हैं। और यदि इनके प्रवाह को नही रोक पाते है, तो पतन और बंधन निश्चित है।

आप लोग 'स्वार्थ' शब्द का प्रयोग करते है। किन्तु स्वार्थ का अर्थ क्या है? स्वार्थ की परिभाषा है 'स्व' का अर्थ। 'स्व' का मतलब आत्मा है, आत्मा का जो लाभ एवं हित है, वह है स्वार्थ।' स्वार्थ की यह कितनी उदात्त परिभाषा है! जिन प्रवृत्तियों से आत्मगुणों का अभ्युदय होता है, वह प्रवृत्ति कभी भी बुरी नहीं होती, हेय नहीं होती। किन्तु 'स्वार्थ' का जब आप निम्नगामी अर्थ कर लेते हैं, अपने शरीर और अपने व्यक्तिगत भोग तक ही उसका अर्थ लेते हैं, तब वह अनुचित अर्थ मे प्रयुक्त हो जाता है। इसमें भी एक दृष्टि है—यदि आप स्वार्थ के दोनों अर्थ समझते है और अनेकांत दृष्टि से साथ इसका प्रयोग करते हैं, तो कोई बात नहीं। 'स्वार्थ' अर्थात् आत्मा के हित मे भी, 'स्वार्थ' अर्थात् इन्द्रिय व शरीर के हित मे भी। इस प्रकार आप 'भी' का प्रयोग कीजिए। शरीर व इन्द्रियों के भोग को पूरा करना 'ही' यदि स्वार्थ है तो वह बिल्कुल गलत है, किन्तु यदि इसमे 'भी' लग जाता है, तो कोई आपत्ति नहीं। शरीर के भोगों का 'भी' यथोचित पूरा करना, इसमे जैन धर्म का विरोध नही है, किन्तु इसमे 'ही' के लगते ही धर्म का केन्द्र टूट जाता है, वह एकान्तवादी दृष्टिकोण हो जाता है। जैन दर्शन के आचार्य हरिभद्र ने बतलाया है कि धर्म, अर्थ और काम ये परस्पर बाधक नहीं है, विरोधी नहीं है: धर्मानुकूल अर्थ, काम का सेवन धर्म

मे कतई विरोध नही है ।[1] इसका अभिप्राय यह है कि साधक शरीर आदि से निरपेक्ष होकर नही रह सकता, किन्तु एकात सापेक्ष भी नही हो सकता । उसे आत्मा के केन्द्र पर 'भी' रहना है, और शरीर के केन्द्र पर 'भी' । व्यक्तिगत भोग व इच्छा की भी पूर्ति करनी है, और अनासक्त धर्म की साधना भी । 'भी' का अर्थ है सन्तुलन । दोनो केन्द्रो का, दोनो पक्षो का संतुलन किए विना जीवन चल नही सकता ।

दो घोड़ों की सवारी :

एक युवक मेरे पास आया । वह कुछ खिन्न व चिंतित-सा था । वात चली तो उसने पूछा—मैं क्या करू, कुछ रास्ता ही नही सूझ रहा है ? मैंने कहा—क्या वात है ? वोला—मां और पत्नी मे वात-वात पर तकरार होती है, लडाई होती है, आप वतलाइए मैं किसका पक्ष लू ?"

मैंने हसकर कहा—"यह वात तुम मुझसे पूछते हो... ? खैर, यदि पक्ष लेना है, तो दोनो का लो, दो पक्षो का सतुलन रख कर ही ठीक निर्णय किया जा सकता है। पक्षी भी आकाश मे उड़ता है, तो दोनो पख वरावर रखकर ही उड सकता है, एक पक्ष से गति नही होती । यदि तुम पत्नी का पक्ष लेते हो, तो मां के गौरव पर चोट आती है, उसका अस्तित्व खतरे मे पडता है, और मां का पक्ष लेते हो, तो पत्नी पर अन्याय होता है, उसका स्वाभिमान तिलमिला उठता है । इसलिए दोनो का सन्तुलन वनाए विना गति नहीं है। दोनो को समाधान तभी मिलेगा, जव तुम दोनो के पक्ष पर सही विचार करोगे और इनका वरावर सन्तुलन वनाओगे ।"

आप दुकान पर जाते हैं, और घर पर भी आते हैं, यदि दुकान पर ही वैठे रहे, तो घर कौन संभालेगा, और घर पर ही वैठे रहे तो दुकान पर धन्धा कौन करेगा ? न घर पर 'ही' रहता है, न दुकान पर 'ही' । वल्कि घर पर 'भी' रहना है, और दुकान पर 'भी' । दोनो का सन्तुलन वरावर रखना है । शायद आप कहेंगे—यह तो दो घोडो की सवारी है, वडी कठिन वात है। मैं कहता हूं—यही तो घुडसवारी की कला है । एक घोडे पर तो हर कोई चढ कर चल सकता है । उसमे विशेपता क्या है ? दो घोडो पर चढ़कर जो गिरे नही, वरावर चलता रहे, सन्तुलन वनाये रखे, यही तो चमत्कार है ।

मनुष्य को जीवन मे दो क्या, हजारो घोडो पर चढकर चलना होता है । घर में माता-पिता होते हैं, उनका सम्मान रखना पडता है, पत्नी होती है, उसकी इच्छा भी पूरी करनी पड़ती है, छोटे भाई, वहन और वच्चे होते हैं, तो उनको भी खुश रखना होता है,

---

१. धम्मो अत्थो कामो, भिन्ने ते पिंडिया पडिसवत्ता ।
जिणवयण उत्तिन्ना, असवत्ता होंति नायव्वा ॥
—दशवै०, नि० २६२

तुलना करें ·
(क) भोक्ता च धर्माविरुद्धान् भोगान् । एवमुभौ लोकावभिजयति—
आप स्तम्ब० २।८।२०।२२-२३

(ख) धर्माविरुद्ध कामोस्मि —गीता
(ग) धर्मार्थाविरोधेन काम सेवेत । —कौटिल्य अर्थ० १।७

समाज के मुखिया, नेता और धर्मगुरुओं का भी आदर करना होता है—सबका संतुलन बनाकर चलना पड़ता है। यदि कहीं थोड़े से भी घबरा गए, सन्तुलन बिगड़ गया, तो कितनी परेशानी होती है, मुझसे कहीं ज्यादा आप इस बात का अनुभव करते होंगे। यह संतुलन तभी रह सकता है जब आप 'ही' के स्थान पर 'भी' का प्रयोग करेंगे। जैनधर्म, जो मनुष्य के उत्तरदायित्वों को स्वीकार करता है, जीवन से इन्कार नहीं, इकरार सिखाता है, वह जीवन को सुखी, कर्त्तव्यनिष्ठ और शांतिमय बनाने के लिए इसी 'भी' की पद्धति पर बल देता है, वह जीवन में सर्वत्र संतुलन बनाये रखने का मार्ग दिखाता है।

'स्व' का संतुलन :

मैं प्रारम्भ में आपको कुछ राजाओं की बात सुना चुका हूँ, उनके जीवन में वे विकथाएँ, और दुर्घटनाएँ क्यों पैदा हुईं? आप सोचेंगे और पता लगाएँगे तो उनमें 'स्व' का असंतुलन ही मुख्य कारण मिलेगा। मैंने आप से बताया कि 'स्व' का अर्थ आत्मा भी होता है और शरीर भी। मनुष्य का आभ्यंतर व्यक्तित्व भी 'स्व' है और बाह्य व्यक्तित्व भी! 'स्व' का भीतरी केन्द्र आत्मा है, आत्मा के गुण एवं स्वरूप का विकास करना, उसकी गुप्त शक्तियों का उद्घाटन करना, यह 'स्व' का भीतरी विकास है। 'स्व' का दूसरा अर्थ स्वयं, शरीर आदि है। 'स्वयं' का, अर्थात् परिवार, समाज तथा राष्ट्र का पोषण, संरक्षण एवं संवर्धन करना। यही 'स्व' का बाह्य-आभ्यन्तर संतुलन है। मनुष्य के इस बाह्याभ्यन्तर 'स्व' का संतुलन जब बिगड़ जाता है, तब राष्ट्रों में ही क्या, हर परिवार व घर में रावण और दुर्योधन पैदा होते हैं। कंस व कुणिक-से पुत्र जन्म लेते हैं। रामगुप्त और औरंगजेब का उद्भव होता है। और तब व्यक्ति और समाज, धर्म और राष्ट्र रसातल की ओर जाते हैं।

जैन दर्शन ने मनुष्य के 'स्व' को, स्वार्थ को बहुत विराट् रूप में देखा है और उसके व्यापक विकास की भूमिका प्रस्तुत की है। उसके समक्ष बाह्य और आभ्यंतर—दोनों प्रकार के, स्वार्थ की पूर्ति का स्वरूप रखा है, किन्तु दोनों के संतुलन के साथ। 'भी' के साथ, न कि 'ही' के साथ। आध्यात्मिक विकास की ओर भी उन्मुख होना है, जीवन में वैराग्य, निस्पृहता और आत्मलीनता का विकास भी करना है और परिवार व समाज के उत्तरदायित्वों को भी निभाना है। जीवन में दरिद्र और भिखारी रह कर धर्म-साधना का उपदेश जैन दर्शन नहीं करता। वह तो आपका आभ्यन्तर जीवन भी सुखी व संपन्न देखना चाहता है और बाह्य जीवन भी। इन दोनों का सन्तुलन बनाकर चलना—यही वृत्तियों का उदात्तीकरण है, जीवन का ऊर्ध्वमुखी स्रोत है। और, यह वह तत्त्व है, जिससे अभ्युदय और निःश्रेयस की ओर जाने वाली धाराएँ साथ-साथ बहती हैं।[1] बस, यही तो धर्म का मर्म है।

★★★★

---

१. यतोऽभ्युदय निःश्रेयससिद्धिः स धर्मः, वैशेषिक दर्शन, १

२२

सुख का राजमार्ग

यह विशाल संसार दो तत्त्वो से निर्मित है। सृष्टि का यह विशाल रथ उन्ही दो चक्को पर चल रहा है। एक तत्त्व है चेतन अर्थात् जीव। और दूसरा तत्त्व है जड अर्थात् अजीव। चेतन तत्त्व अनन्त काल से अपना खेल खेलता चला आ रहा है और जड तत्त्व उसका साथी है, जो अनन्त-अनन्त काल से इस खेल मे चेतन का साथ देता आया है। इस ससार-नाटक के ये दो ही सूत्रधार हैं। वास्तव मे इनकी क्रिया-प्रतिक्रिया और अच्छी-बुरी हलचल का ही नाम ससार है। जिस दिन यह दोनो साथी अलग-अलग बिछुड जाएँगे, एक-दूसरे का साथ छोड देंगे, उस दिन संसार नाम की कोई वस्तु ही नही रहेगी। किन्तु आज-तक कभी ऐसा हुआ नही, सभवत होगा भी नही। किसी एक जीव की दृष्टि से भले ही परस्पर सम्बन्ध विच्छेद हुआ है, परन्तु समग्र जीवो की दृष्टि से कभी ऐसा नही हुआ।

चेतन का बोध :

सामान्य मनुष्य इन दोनो साथियो को अलग-अलग छाँट नही सकता। यद्यपि इनके स्वभाव मे एकदम विपरीतता है, फिर भी इस प्रकार घुले-मिले रहते हैं कि उनका भेद जानना बडा ही कठिन होता है। हर किस्म से मानस मे यह प्रश्न उठ सकता है कि— शरीर, इन्द्रिय और मन के पुद्गल पिण्डो मे, जो स्वय की अनन्तानन्त परमाणु रूप पुद्गल पिण्डो से निर्मित है, उस आत्मतत्त्व का निवास कहाँ है ? और वह अन्दर-ही-अन्दर क्या करता रहता है ? आत्मतत्त्व को समझने के लिए इस प्रश्न का उत्तर जरूरी है। शब्दशास्त्र के माध्यम से इतना पता तो है कि वह आत्मा है। किन्तु मात्र इतने जवाब से तो जिज्ञासा शात नही होती। यह तो मिथ्यात्वी भी जानता है कि शरीर के भीतर एक आत्मा है। कोई उसे रुह, सोल या पुरुष नाम से सम्बोधित करके बतला देते हैं, तो कोई आत्मा कह-कर उसका परिचय देते हैं।

जैन शास्त्रो की गहराई मे जाने से मालूम होगा कि "मैं" शरीर नही, शरीर से भिन्न आत्मा हूँ। किन्तु इतना-सा ज्ञान तो अभव्य को भी रहता है। इस जानकारी के आधार

पर तो कोई आत्मज्ञानी नहीं बन सकता। जब इसके आगे की श्रेणी पर चढ़ेंगे, आत्मा और शरीर की भिन्नता का प्रत्यक्ष अवबोध करने की ओर अग्रसर होंगे, तब कहीं कुछ मार्ग मिलेगा।

प्रत्यक्ष और परोक्ष :

प्रारम्भिक साधक को आत्मा और शरीर की भिन्नता की प्रतीति से आत्मज्ञान होता जाता है किन्तु वह प्रत्यक्ष नहीं, बल्कि परोक्षरूप में होता है। इसमें आत्मज्ञान की एक अस्पष्ट और धुँधली-सी झाँकी मिलती है और पता चलता है कि अन्तर में जैसे शरीर से भिन्न कुछ है, किन्तु परोक्षबोध स्पष्ट परिबोध नहीं है, अतः आत्मबोध का पूर्ण आनन्द नहीं प्राप्त होता।

ज्ञान के दो प्रकार हैं—प्रत्यक्ष और परोक्ष। प्रत्यक्ष स्पष्ट होता है, और परोक्ष अस्पष्ट। इस सम्बन्ध में प्राचीन दर्शन सूत्र है—

"स्पष्टम् प्रत्यक्षम्, अस्पष्टम् परोक्षम्।"

आत्मा बिना किसी अन्य के माध्यम से सीधा ही जो ज्ञेय का परिज्ञान करती है, वह स्पष्ट है, अतः प्रत्यक्ष है। और जिस ज्ञान के होने में आत्मा और ज्ञेय वस्तु के बीच में सीधा सम्बन्ध न होकर कोई माध्यम हो, जिसके सहारे ज्ञान प्राप्त किया जा सके, उसे परोक्ष ज्ञान कहते हैं। किसी दृश्य और घटना का अपनी आंखों से साक्षात्कार किया, यह भी एक बोध है, और किसी ने अन्य व्यक्ति से सुनकर या समाचार पत्रों से पढ़कर उसी दृश्य और घटना की जानकारी प्राप्त की। इस प्रकार ज्ञान तो दोनों ही प्रकार से प्राप्त हुआ है किन्तु जो साक्षात् बोध अपनी आंखों से देखकर हुआ है, वह कुछ और है, और किसी से सुनकर या पढ़कर जो बोध प्राप्त हुआ है, वह कुछ और है। यदि हमारी आंखों के सामने अग्नि जल रही है, उसमें ज्वालाएँ धधक रही हैं, चिनगारियाँ निकल रही हैं, उसका तेज चमक रहा है, तो यह एक प्रकार से अग्नि का वह ज्ञान हुआ, जिसे हम प्रत्यक्ष या स्पष्ट ज्ञान कहते हैं। और यदि जंगल में से गुजर रहे हों, और दूर क्षितिज पर धुआँ उठता हुआ दिखाई देता हो, तो उसे देखकर कह देते हैं कि वहाँ अग्नि जल रही है, यह अग्नि का परोक्ष ज्ञान या अस्पष्ट ज्ञान हुआ। पहले उदाहरण में अग्नि का ज्ञान अपनी आंखों से स्पष्ट और प्रत्यक्ष सामने देखकर हुआ, और दूसरे उदाहरण में धुएँ को देखकर अग्नि का ज्ञान अनुमान के द्वारा हुआ। ज्ञान दोनों ही सच्चे हैं। इनमें किसी को भी असत्य करार नहीं दे सकते, किन्तु ज्ञान के जो ये दो प्रकार हैं, उनके स्वरूप में स्पष्ट अन्तर है, क्योंकि उनकी प्रतीति भिन्न-भिन्न है। दोनों के दो रूप हैं। स्पष्ट अर्थात् प्रत्यक्ष ज्ञान में दृश्य का कुछ और ही रूप दिखाई पड़ता है जबकि परोक्ष ज्ञान में अर्थात् अनुमान से कुछ दूसरा ही अनुभूति में आता है। पहले ज्ञान में अग्नि और आँख का सीधा सम्बन्ध होता है, जबकि दूसरे ज्ञान में अग्नि का सम्बन्ध धूम से होता है, और तत्पश्चात् धूम से अविनाभावी अग्नि का अनुमान लगाया जाता है।

ऊपर का विवेचन लौकिक प्रत्यक्ष को लक्ष्य मे रखकर किया गया है। सर्व-साधारण जनता मे यही प्रत्यक्ष और परोक्ष का स्वरूप है। परन्तु दर्शनशास्त्र की गहराई मे जाते हैं तो यह लोक प्रत्यक्ष भी वास्तव मे परोक्ष ही है। क्योकि दर्शन मे स्पष्टता और अस्पष्टता की परिभाषा लोक प्रचलित नही है। दर्शन मे तो जो निमित्तसापेक्ष है, वह अस्पष्ट है और जो निमित्तनिरपेक्ष है, वह स्पष्ट है। अत मति और श्रुत ज्ञान को शास्त्र-कारो ने परोक्ष माना है।

मति और श्रुत :

मतिज्ञान और श्रुतज्ञान भी परोक्ष ज्ञान हैं। क्योकि इनसे वस्तु का निमित्त-निरपेक्ष साक्षात् वोध नही होता है। मति और श्रुत मे आत्मा किसी भी ज्ञेय वस्तु को जानने के लिए इन्द्रिय और मन के निमित्त की सहायता लेती है, आत्मा से ज्ञेय का निमित्त-निरपेक्ष सीधा सम्वन्ध नही जुड पाता। रूप का ज्ञान आंखो के सहारे से होता है। आत्मा को रूप का ज्ञान तो जरूर हो जाता है, परन्तु उक्त रूप ज्ञान का वह साक्षात् ज्ञाता न होकर आँखो के माध्यम से ज्ञाता होती है। अतः यह रूप का साक्षात् का, प्रत्यक्ष ज्ञान नही क्योकि रूप और आत्मा के वीच मे आंखो का माध्यम रहता है। इसी प्रकार शब्द ज्ञान के लिए शब्द और आत्मा के वीच भी सीधा सम्वन्ध न होकर, कान के माध्यम से सम्वन्ध होता है। यही वात अन्य इन्द्रियो के सम्वन्ध मे भी है। रस का ज्ञान जिह्वा के निमित्त अर्थात् माध्यम से होता है, गन्ध का ज्ञान घ्राण से और पूरी शीतादि स्पर्श का ज्ञान स्पर्शइन्द्रिय से होता है और जो मनन, चिंतन तथा शास्त्रो के अध्ययन से ज्ञान होता है, उसमे मन निमित्त होता है। यदि आंख और कान आदि इन्द्रियाँ ठीक हैं और स्वस्थ हैं, तो उन इन्द्रियो के माध्यम से रूप आदि का वोध अनुभूति मे आता है, अन्यथा नही। यदि इन्द्रियो के माध्यम मे कोई विकार या दोष आ जाता है, तो वह रूप आदि का वोध भी अवरुद्ध हो जाता है, एक प्रकार से ज्ञान के द्वार पर ताला लग जाता है। एकेन्द्रिय, द्वीन्द्रिय, त्रीन्द्रिय तथा चतुरेन्द्रिय आदि जीवो मे जिन-जिन इन्द्रियो की हीनता होती है, उन्हें उनके माध्यम से होने वाला ज्ञान भी अनुभूत नही हो पाता। इस प्रकार आत्मा स्वय ज्ञाता होकर भी इन्द्रियो के आश्रित रहती है। इसी कारण से मतिज्ञान और श्रुतज्ञान को परोक्ष ज्ञान कहा गया है।

आत्मवोध ज्ञान की सही दिशा

आत्मा का ज्ञान, जो प्रायः सभी साधकों को हो रहा है, वह कौन-सा ज्ञान है ? उसके माध्यम मे न आंख है, न कान है, न नाक है न जिह्वा है और न त्वचा है, इस ज्ञान का माध्यम है—मन। आत्मा के सम्वन्ध मे शास्त्रो मे जो वर्णन आया है, उसे हम पढते हैं, फिर चिन्तन-मनन करते है, और तव मन के चिंतन द्वारा आत्मा के अस्तित्व का वोध होता है। यह आत्मा का वोध परोक्ष वोध है, क्योकि इसमे मन निमित्त है। आत्मा का प्रत्यक्ष वोध तो एकमात्र केवल ज्ञान से ही होता है। परन्तु वह परोक्ष वोध भी कुछ कम महत्त्व का नही है। वास्तव मे आत्मा का वोध होना ही, ज्ञान की सही दिशा है, इसी का नाम 'सम्यक्त्व' है। इसे हर कोई प्राप्त नही कर सकता। यह ज्ञान उसी को होता है, जिसकी मन की चिन्तन क्रिया स्वच्छ, निर्मल एव विशिष्ट प्रकार की होती है। स्वच्छ निर्मल मन

वाला व्यक्ति ही आत्मा के मंदिर में प्रवेश कर सकता है और उसकी झाँकी देख सकता है। हर किसी व्यक्ति के लिए यह संभव नहीं कि वह यों ही राह चलता आत्ममंदिर में प्रवेश करले और आत्म-देवता की झाँकी देख ले। इसके लिए विशिष्ट साधना एवं निर्मलता की अपेक्षा रहती है। आत्मा का यह बोध मन के माध्यम से होता है, अतः इसको परोक्ष ज्ञान अर्थात् मति ज्ञान, श्रुत ज्ञान कहते हैं। परन्तु यह परोक्ष बोध आत्मा के प्रत्यक्ष बोध की ओर ले जाता है, आज परोक्ष है, तो वह कभी न कभी प्रत्यक्ष भी अवश्य हो जाएगा।

अवधि और मन:पर्याय

एक प्रश्न है कि गणधर गौतम स्वामी आदि को जो आत्मा का ज्ञान था, वह किस प्रकार का ज्ञान था? क्या उन्हें अवधि और मन:पर्याय ज्ञान से आत्मा का ज्ञान प्राप्त हुआ था? क्या अवधि और मन:पर्याय ज्ञान से आत्मा का बोध हो सकता है?

उत्तर स्पष्ट है कि अवधि ज्ञान की पहुँच आत्मा तक नहीं है। उसके निमित्त से तो बाहर के जड़ पदार्थों का अर्थात् पुद्गलों का ज्ञान ही प्राप्त हो सकता है। आत्मा का ज्ञान नहीं हो सकता। इस अर्थ में तो अवधि ज्ञान की अपेक्षा श्रुतज्ञान ही श्रेष्ठ है, ताकि उसके सहारे कम से कम हमें आत्मा का ज्ञान तो प्राप्त होता है। भले ही यह परोक्ष बोध हो, परन्तु आत्मबोध तो होता है। अवधि ज्ञान से तो जड़ पुद्गल आत्मा का परोक्ष बोध भी नहीं होता। अवधि ज्ञान से संसार भर के जड़ पुद्गल पदार्थों का ज्ञान तो हो जाएगा, किन्तु सम्यक् श्रुत ज्ञान से उत्पन्न आत्मबोध के अभाव में वह ज्ञान रागद्वेष का ही कारण बनेगा। तब राग-द्वेष के विकल्पों के प्रवाह से आत्मा को संभाल कर रोकने वाला कोई नहीं रहेगा। अवधि ज्ञान कोई बुरा नहीं है, किन्तु उस ज्ञान को सही दिशा देने वाला सम्यक् तत्त्व श्रुत ज्ञान ही है। यदि यह नहीं है, तो अवधि ज्ञान बुरे रास्ते पर जा सकता है। अवधि ज्ञान तो देवताओं में भी होता है, परन्तु आत्मबोध के अभाव में उनकी भी स्थिति कोई अच्छी नहीं है। जिसे हम स्वर्ग कहते हैं और सुख की कल्पना का एक बहुत बड़ा आधार बनाते हैं, उस स्वर्ग में भी आत्मबोधजन्य मिथ्यादृष्टि, देवताओं में परस्पर विग्रह-चोरी आदि के दुष्कर्म होते रहते हैं। सम्यक् श्रुत के अभाव में, यह अवधिज्ञान भी अज्ञान ही माना गया है। इससे आत्मा का कोई कल्याण नहीं होता।

मन:पर्यव ज्ञान सम्यक्त्व और साधुत्व के आधार के बिना होता ही नहीं है, अतः यह श्रेष्ठ ज्ञान है। परन्तु यह भी आत्मबोध नहीं करा सकता है। इस ज्ञान में अन्य प्राणी के मानसिक विकल्पों का ज्ञान हो जाता है, परन्तु इससे भी क्या लाभ? अपने मन के विकल्पों का ज्ञान ही बहुत विकट है। मन की गति बड़ी विचित्र है। वह इतना चंचल है कि आसानी से अधिकार में नहीं आ पाता। और जब उसके ही विकल्प परेशान कर रहे हैं, अभी निर्णय नहीं हुआ है, समाधान उसे नहीं हो सका है, तो फिर संसार भर के मन के विकल्पों का भार का ढेर हम अपने सिर क्यों लें! उस भार से आत्मा को शान्ति नहीं, अशान्ति ही मिलेगी।

अपना स्वरूप :

मन के ज्ञान की उपलब्धि के पूर्व मनुष्य के राग द्वेष के विष से मुक्त रहने के लिए वीतराग भाव की आवश्यकता है। यदि वीतराग भाव है, तो मन का ज्ञान भी ठीक

है और दूसरे ज्ञान भी ठीक है, यदि वह नही है, तो कोई भी ज्ञान होगा, वह परेशानी का ही कारण वनेगा। इसीलिए मन पर्यव ज्ञान और अवधिज्ञान से पहले आत्मवोध कराने वाले सम्यक् श्रुत ज्ञान का नाम आता है।

सम्यक् श्रुत ज्ञान के द्वारा इस वात की जानकारी होती है कि मैं कौन हूँ? मेरा क्या स्वरूप है? और मेरी जीवन यात्रा की मजिल क्या है? शास्त्रो के अध्ययन एव श्रवण के द्वारा ही साधक को पता लगता है कि शरीर और आत्मा एक नही हैं। अतः मैं शरीर नही, आत्मा हूँ। आत्मा ही नही, शुद्ध आत्मा हूँ, परमात्मा हूँ। मैं अजर-अमर निर्विकार शुद्ध चैतन्य हूँ। साधारणतया आत्मा का वोध अभव्य एव मिथ्या दृष्टि को भी हो जाता है। किन्तु वह आत्मा के परमात्मभाव का वोध नही कर सकता, शुद्ध-सच्चा विश्वास नही कर सकता। उसकी धर्म क्रियाओ के पीछे भी सिर्फ भौतिक अभिलापाएँ, स्वर्ग की प्राप्ति, यश और कीर्ति आदि की आकाक्षाएँ ही अधिक रहती हैं। उसके ज्ञान के पीछे अपने शुद्ध स्वरूप का भान नही रहता कि मैं निर्मल निर्विकार ज्ञान स्वरूप आत्मा हूँ, मैं ही परमात्मा हूँ। काम, क्रोध, लोभ आदि मेरे स्वभाव नही, वल्कि विभाव है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ज्ञान स्वरूप है, शान्ति और सुख का स्वरूप है।

आत्मा के अस्तित्व को स्वीकार करके भी कुछ लोग यह सोचने लग जाते हैं कि "मैं तो पापी हूँ, क्षुद्र हूँ, मेरा कल्याण नही हो सकता।" यह अपने शुद्ध मूल स्वरूप की विस्मृति है। वास्तव मे स्वर्ण पर चाहे कितनी ही गदगी डाल दी जाए, मिट्टी की कितनी ही तह पर तह जमा करदी जाएँ, किन्तु स्वर्ण का मूल स्वरूप कभी भी गदा नही हो सकता। गदी जगह पर पडे रहने से जिस प्रकार स्वर्ण मे ऊपर से गदगी आ जाती है, उसी प्रकार वासना, मोह आदि गदी विचारधाराओ मे गोता लगाने से आत्मा पर भी गदगी की परतें चढ जाती है, जिसे देखकर हम सोचने लग जाते है, हम तो पापी है, अशुद्ध स्वरूप हैं। वास्तव मे आज के धार्मिक इन्ही दुर्वल भावनाओ के शिकार हो रहे हैं, और इसी कारण उनकी आत्मा व वोध का तेज धुँधला पड रहा है, उनकी आत्मा की शक्ति क्षीण पड रही है। अतः उन्हे साधना का रसास्वाद ठीक तरह नही मिल रहा है। एकवार आत्मा की मलिनता का वोध प्राप्त कर लो और फिर वस अव उस मलीनता को दूर करने मे जुट जाओ। हर क्षण मलिनता का रोना रोने से क्या लाभ है? मलिनता रोने के लिए नही; दृढता के साथ दूर करने के लिए है।

जैसा चाहो वैसा वनो :

जैन दर्शन इस वात पर विश्वास करता है कि आत्मा जैसा चितन-मनन करेगी, जिन लेश्या और योगो मे वर्तन करेगी, वैसा ही वन जाएगी। यदि आप के मनोयोग शुद्ध और पवित्र रहते हैं, आपकी लेश्याएँ प्रशस्त रहती हैं, तो कोई कारण नहीं कि आप गदे और निकृष्ट वनें। सस्कृत मे एक सूक्ति है—"यद् ध्यायति, तद् भवति" प्राणी जैसा सोचता है, वैसा ही वन जाता है। जो प्राणी रातदिन पाप ही पाप के विचारो मे पडा रहेगा, वह पापी वन जाएगा और जो अपने शुद्ध और निर्मल स्वरूप का चितन करेगा, वह उस ओर प्रगति करता जाएगा। आत्मा का जो मूल स्वरूप है, उसमे तो कभी कोई परिवर्तन नही आ सकता, उसके भीतर मे तो कभी अपवित्रता का कोई दाग नही वैठ सकता। जो

अपवित्रता है, जो गंदगी है, वह सिर्फ ऊपर की है। अनन्तानन्त काल बीत गया, किन्तु, अबतक उसी गंदगी में पड़ी आत्मा अपना स्वरूप भूलती रही है, और संसार का चक्कर काटती रही है। अब अपने शुद्ध स्वरूप का चिंतन करके, उसे प्रकट करने का प्रयत्न करना चाहिए। देह, इन्द्रिय और मन की वासना के नीचे छिपे उस आत्मारूपी स्वर्ण को अलग निखारना चाहिए। यही सम्यक्त्व है, यही परमज्ञान है और यही उस अनन्त प्रकाश और अनन्त सुख का राजमार्ग है।

निष्कर्षतः यह कहा जा सकता है कि सुख आत्मा की निर्वेद-निःस्पृह अवस्था है। सुख शरीर को कभी भी प्राप्त नहीं होता बल्कि आत्मा में अनुभूत होता है। अतः सुख का वास्तविक परिज्ञान करने के लिए, उसका प्रशस्त पथ, उसका राजमार्ग है—आत्मा को मल-कषायों से दूर कर, नवविकसित सौरभमय पुष्प-पखुड़ी की तरह खिला पाना है, अन्य कुछ नहीं।

२३
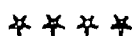
कल्याण का मार्ग

अनादिकाल से मनुष्य के सामने यह प्रश्न रहा है कि कल्याण का मार्ग क्या है ? कैसा है ? इस प्रश्न का अनेक प्रकार से समाधान करने का प्रयत्न भी किया गया है। भारतीय साहित्य मे इसके उत्तर एव समाधान भरे पडे है। अनेक चिन्तको ने, विचारको ने अपनी-अपनी दृष्टि से इसका जो समाधान करने का प्रयत्न किया, उससे हजारो शास्त्रो का निर्माण हो गया। मानव मन के इस विकट प्रश्न पर आज भी विचार उठ रहे हैं, शकाएँ और तर्कणाएँ खड़ी हो रही हैं कि आखिर कल्याण के लिए वह किस मार्ग का अवलम्बन ले।

जहाँ प्रश्न है, समाधान भी वहीं है

मुख्य बात यह है कि समाधान वही खोजना चाहिए, जहाँ समस्या खडी हुई हो, जहाँ पर समस्या का जन्म हुआ है, वही पर समाधान का भी प्रस्फुटन होगा। जहाँ से विकल्प उठकर मन को अशान्त कर रहे हैं, उद्वेलित कर रहे हैं, वही पर उनका निराकरण करने वाली शक्ति का भी उद्भव होगा। यदि प्रश्न अन्दर का है और उत्तर बाहर खोजें तो, आज क्या, अनन्त-अनन्त काल तक भी समाधान नही मिल पाएगा। शरीर मे एक जगह दर्द पैदा हो गया, वैद्यराज को दिखाया, तो उन्होंने बता दिया कि वायु का दर्द है, सर्दी का दर्द है, या अन्य किसी कारण से हुआ है। अमुक तेल की मालिश करो, आराम हो जाएगा। तेल भी बड़ा कीमती है, आप ले भी आए और मालिश भी करने बैठे। किन्तु दर्द पीठ मे है, आपने सोचा पीठ पर हाथ नही पहुँच रहा है, चलो पेट पर ही मालिश करलो, आखिर शरीर तो एक ही है न ! तो शुरू कर दी आपने मालिश, ! दो चार मिनट भी हुए नही कि पीठ मे तो दर्द छूटा नही, पेट मे और उठना शुरू हो गया। आप घबरा गए—अरे ! यह क्या ? कैसा बेवकूफ वैद्य है ? कैसी दवा बताई उसने ? उलटा दर्द और पैदा कर दिया इसने ! तो सोचिए, यह मूर्खता वैद्य की है या आपकी ? वैद्य ने तो निदान ठीक ही किया था, किन्तु आपने उसका प्रयोग गलत कर लिया, पीठ के दर्द के लिए पीठ मे ही तो मालिश करनी

पड़ेगी न ! यह तो नही होता कि दर्द कही, और दवा कही । रोग कही, और उपचार कही । गलती कही, और उसका अनुसन्धान कहीं और हो ।

मैंने एक कहानी भी इस तरह की पढी थी । एक बुढिया थी—होगी सत्तर-पचहत्तर वर्ष की, किन्तु फिर भी निठल्ली नही बैठी रहती थी वह ! यह नही कि बुढापा आ गया, अब तो जाने के दिन हैं, अब क्या काम करें ? वास्तव मे जब आदमी निकम्मा रहता है, तो उसको बुढापा और बिमारी सभी काटने दौडते हैं । यदि मन किसी प्रिय विषय मे, या काम मे जुडा रहता है, तो उसे यह अनुभव करने का अवसर ही नही आने पाता कि मैं बूढा हूं, क्या करूं ? हां, तो बुढिया काम कर रही थी सिलाई का । कुछ सी रही थी, कि सूई हाथ से गिर गई । अब वह मिल नही रही थी, ज्यादा प्रकाश भी नहीं था, सोचा बाहर सडक पर नगर महापालिका की बत्ती जल रही है, प्रकाश काफी है, चलो वही खोज ली जाए ! बाहर सडक पर आई और इधर-उधर ढूंढने लगी वह ! सुई थी तो क्या ? कितने काम की चीज थी वह, दो टुकडो को जोडने वाली थी न ! आखिर भेद को मिटा कर अभेद कराने वाली होती है न सूई ! कोई परिचित सज्जन उधर से निकला, बुढिया को सडक पर कुछ खोजते हुए देखा, तो पूछा—दादी ! आज क्या खोज रही हैं ? 'बेटा सूई गिर गई है, उसे खोज रही हूं ।' आगन्तुक ने सोचा, बेचारी बुढिया परेशान है । मैं ही क्यो न खोज दूं ! उसने इधर-उधर बहुत खोजा, पर सूई न मिली । आखिर पूछा—दादी ! कहां खोई थी वह ? किधर गिरी थी ?

बुढिया ने कहा—बेटा ! गिरी तो अन्दर थी, लेकिन अन्दर प्रकाश नही था, इसलिए सोचा, चलो प्रकाश मे खोज लूं, प्रकाश मे कोई भी चीज दिखाई पड जाती है । जब आगन्तुक ने यह सुना, तो बडे जोर से हँस पडा, कहा—दादी ! सूई घर मे खोई है, तो सडक पर ढूंढने से क्या फायदा ? जहां खोई है, वही तो मिलेगी वह !

इस उदाहरण से भी यही ज्ञात होता है कि जहां हम भूल कर रहे हैं, वही पर समाधान भी ढूंढना चाहिए । यह नही कि भूल कही, खोज कहीं ! कही हम भी बुढ़िया की तरह मूर्ख तो नही बन रहे हैं ?

मनुष्य अन्दर से अशान्त है, व्याकुलता अनुभव कर रहा है, अपने को खोया-खोया-सा अनुभव कर रहा है । अब यदि वह अशान्ति का समाधान शान्ति के द्वारा करना चाहता है, अपना जो 'निज' है, उसे पाना चाहता है, तो उसे अपने अन्तर्मन मे ही खोजना चाहिए । या बाहर मे ? घर में यदि अन्धेरा है, तो वहां दीपक जलाकर प्रकाश करना चाहिए । दूसरी जगह भटकने से तो वह भटकता ही रह जायगा । तो हमारे इस प्रश्न का, जो कि हमने प्रारम्भ मे ही उठाया है—कि कल्याण और उन्नति का मार्ग क्या है ? उसका समाधान भी अपने अन्तर मे ही ढूंढना चाहिए । थोड़ी-सी गहराई में उतर कर यदि हम देखेंगे, तो इसका उत्तर आसानी से मिल जाएगा । तुम्हारे कल्याण का मार्ग तुम्हारे अन्तर मे ही है । तुम्हारे द्वारा ही तुम्हारी उन्नति हो सकती है । गीता के शब्दो मे—'उद्धरेदात्मनात्मानं' अर्थात् अपने मे अपना उत्थान करो । और भगवान् महावीर की वाणी मे भी—'अप्पाण मेवमप्पाण'—आत्मा से आत्मा का कल्याण करना चाहिए—यही सूत्र ध्वनित होता

मे विकास पा रही थी। राजा का विचार हुआ कि एक 'चित्रशाला' बनवाई जाए, पर वह ऐसी अद्भुत हो कि ससार भर मे उसके जोड की कोई दूसरी चित्रशाला न मिले। उसमे कल्पना का कमनीय कौशल हो, रगो का सतरगी जादू हो। बस, कला की उत्कृष्टतम कृति हो वह चित्रशाला। राजा ने दो सर्वश्रेष्ठ चित्रकारो को बुलाया और अपनी इच्छा प्रकट की। साथ मे एक शर्त भी जोड दी कि दोनो के चित्र सर्वोत्कृष्ट होने चाहिए, किन्तु चित्र और शैली दोनो की हो एक समान। रगो का मिश्रण भी एक समान हो और एक-दूसरे के चित्र कोई देखने न पाए! आप कहेगे, बिल्कुल असम्भव! लेकिन असम्भव को सभव बनाने वाला ही तो सच्चा कलाकार होता है। चित्रकारो को छह महीने का समय दिया गया, और दोनो ने अपना कार्य प्रारम्भ कर दिया। बुद्धि, हृदय और शक्ति का सामञ्जस्य करके जुट गए दोनो। कला मे प्राण तभी आ पाता है, जब उसमे बुद्धि के नए-नए उन्मेष खुले हो, भावनाओ का स्पदन हो और हाथ मे कौशल एव सफाई का निखार हो। कला मे जबतक बुद्धि एव हृदय का सतुलन नही होता, तबतक वह कला नही, सिर्फ कर्म होता है, उसका कर्त्ता कलाकार नही, कर्मकार कहलाता है। जब उसमे बुद्धि का योग होता है तो वह कर्म शिल्प कहलाता है, और वह व्यक्ति शिल्पकार होता है। जब कर्म मे हृदय भी जुड जाता है, तब वह कर्म कला बन जाता है, और उस व्यक्ति को 'कलाकार' कहा जाता है। तो बात यह हुई कि उन कलाकारो ने अपना हृदय भी उस कला मे उँडेल दिया, बुद्धि का तेज भी उसमे भर दिया, तूलिका का चमत्कार तो था ही।

छह महीने तक दोनो अपने-अपने ढग से, बिना एक-दूसरे से मिले, अपने कार्य मे जुटे रहे। समय पूर्ण हुआ, तो दोनो ने ही राजा से चित्रशाला मे पधार कर कला का निरीक्षण करने की प्रार्थना की। राजा अपने महामात्य एव अधिकारियो के साथ चित्रशाला में गया। पहले चित्रकार की कला देखी, तो राजा का हृदय बाग बाग हो गया। राजा ने चित्रकार की बहुत प्रशसा की। नई शैली मे, नए रगो मे, भावो की ऐसी सुन्दर अभिव्यक्ति, राजा ने पहले कभी नही देखी थी। अब दूसरे कलाकार ने निवेदन किया—महाराज! जरा इधर भी कृपादृष्टि की जाए! राजा जब उसके कक्ष मे पहुँचा, तो दग रह गया। पूछा—चित्रकार! यह क्या? एक भी चित्र नही, भित्ति पर रग की कही एक भी रेखा नही? कहाँ हैं तुम्हारे चित्र? छह महीने तक क्या किया तुमने? खाट तोडी या डड पेले? चित्रकार ने निवेदन किया— महाराज! इसी मे है मेरे सारे चित्र, यही पर अकित हैं महाराज! राजा ने कहा—क्या मजाक तो नही है? यहाँ तो सिर्फ दीवार है, साफ, चिकनी चमकती हुई! उस पर रग का एक बिन्दु भी तो नही! बताओ कहाँ हैं तुम्हारे चित्र!

चित्रकार ने बीच का पर्दा उठा दिया। पर्दा उठाते ही उधर के सब चित्र इधर प्रतिबिम्बित हो उठे। राजा और मन्त्री लोग बडे आश्चर्य से देखते रह गये। यह कैसा चमत्कार है? सभी को बडा विस्मय हुआ। चित्रकार ने समस्या को सुलझाया—कि आपके आदेश थे कि दोनो के चित्र, शैली और रग एक समान ही होने चाहिए, और एक-दूसरे का चित्र कोई देख भी नही सके, तो इसी लिए उसने चित्र बनाए और मैंने इस दीवार को तैयार किया। छह महीने तक अथक परिश्रम करके इसे साफ किया, रगडा, चमकाया और बिल्कुल शीशे की तरह उज्ज्वल और चमकदार बना दिया। इसमे यह शक्ति पैदा कर दी कि

किसी भी वस्तु को यह अपने मे प्रतिविम्बित कर सकती है। परन्तु जवतक पर्दा वीच मे था, तवतक तो कुछ भी नही मालूम होता था। पर्दा हट गया, तो सव कुछ इसमे झलक उठा, वे ही सव चित्र प्रतिविम्बित हो गए।

राजमार्ग :

कहने का अभिप्राय यह है कि आत्मा पर मोह एवं कषाय का एक सघन पर्दा पडा हुआ है, जव तक वह पर्दा नही हटता, 'जिनत्व' जागृत नही हो सकता। आत्मस्वरूप वहाँ झलक नही सकता। दीवार की सफाई और चमकाने की तरह आत्मा की सफाई भी जरूरी है। जवतक दीवार तैयार नही तवतक चित्र कैसे प्रतिविम्वित हो सकेंगे। वह दीवार तैयार करना—साधना के द्वारा आत्मा की सफाई, स्वच्छता एव निर्मलता पैदा करना है। साधना के द्वारा यदि आत्मा स्वच्छ एव निर्मल हो गई, तो वहाँ 'जिनत्व' के प्रतिविम्वित होने मे कोई भी शका नही है। आत्मा की विकासभूमि तैयार करने के लिए साधना आवश्यक है। अतः स्पष्ट है कि साधना का मार्ग राजमार्ग है। राजमार्ग पर व्राह्मण को भी चलने का अविकार है; हरिजन एव चमार को भी। वहाँ स्त्री भी चल सकती है और पुरुष भी। गोरा आदमी भी चल सकता है और काला भी। किसी के लिए वहाँ किसी प्रकार का प्रतिवन्ध नही, कोई रुकावट नही। इस मार्ग पर चलने वाले से किसी को यह पूछने का अधिकार नही कि तुम्हारी जाति क्या है? तुम्हारा देश क्या है? पथ क्या है? तुम्हारी परम्परा क्या है? तुम वनी हो या निर्धन? काले हो या गोरे? हिन्दू हो या मुसलमान?

एक प्राचीन जैन मनीषी ने कहा है—

"अन्नोन्नदेशजाया, अन्नोन्नाहारवड्ढिय सरीरा।
जे जिणधम्मपवन्ना, सव्वे ते बंधवा भणिया॥"

अलग-अलग देशो मे, अलग-अलग प्रान्तो और अलग-अलग भूमिकाओ मे जन्म लेने वाले, खान, पान और रहन-सहन के विभिन्न प्रकारो मे पलने वाले भी यदि 'जिन धर्म' अर्थात् वीतराग भाव को स्वीकार करते हैं, तो वे परस्पर भाई-भाई हैं। उनकी सावना की भूमिका मे कोई विभेदकरेखा खडी नही खीची जा सकती। धर्म साधना के क्षेत्र मे उनका भ्रातृत्व का, समत्व का दर्जा खण्डित नही हो सकता।

यह एक दृष्टिकोण है, जो साधना के क्षेत्र मे चलने वालो के लिए अखण्ड प्रेम, स्नेह और सद्भाव का सदेश देता है। धर्म कोई जाति नही है, वश-परम्परा नही है। शरीर के रक्त सम्वन्ध से चली आने वाली कोई नस्ल नहीं है। वह तो एक आध्यात्मिक नस्ल है, जिसके आधार पर धर्म का सम्बन्ध चलता है, ज्ञान की परम्परा चलती है।

साधना . एक पावन तीर्थ :

भारत के सतो की स्पष्ट घोषणा है कि धर्म के द्वार पर आपकी जाति, आपका रंग-रूप नही पूछा जाता, वहाँ ज्ञान पूछा जाता है, आध्यात्मिक सावना की तैयारी कितनी है, वह देखी जाती है। सत कवीर ने ठीक ही कहा है—

"जाति न पूछो साध की पूछ लीजिए ज्ञान।
मोल करो तलवार का पड़ा रहन दो म्यान॥"

साधक की जाति और वेश मत पूछो। पूछना है तो यह पूछो कि उसमें ज्ञान का प्रकाश कितना है? उसकी साधना मे तेज कितना है? तलवार का अपना मूल्य है। यदि वह सोने की म्यान मे है, तब भी उसका वही मूल्य है और कपडे या लकडी की म्यान मे है, तब भी वही बात है। वीर के हाथ में जब तलवार आती है, तो वह उसकी म्यान नही देखता, उसकी धार देखता है। मेरे सामने एक पुस्तक आई, उसकी ऊपरी साज-सज्जा बडी चित्ताकर्षक थी। छपाई सफाई भी सुन्दर थी। किन्तु जब पन्ने पलट कर पढा तो सामग्री कुछ भी नही मिली। नही से मतलब यह कि उसकी रचनाओं मे कोई प्रतिभा या चमत्कार और मौलिकता नाम की कोई चीज न थी। अब यदि उसकी साज-सज्जा पर हम मुग्ध हो जाएँ, तो फिर विवेक की कसौटी क्या रही? जो विद्वान् है, वह उसका मूल्याकन छपाई सफाई से नही, अपितु सामग्री से करता है। तो बात यह है कि साधक का मूल्याकन भी उसके कुल या शरीर से नही होता, बल्कि शील और सदाचार से होता है। साधना की तेजस्विता से होता है।

जैन साहित्य मे एक 'तीर्थ' शब्द आता है। साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका—इन्हें चतुर्विध तीर्थ माना गया है। मैं पूछता हूँ कि यह तीर्थ है क्या? क्या साधु या साध्वी का शरीर तीर्थ है? श्रावक-श्राविका तीर्थ का क्या अर्थ हुआ? उनका धन, घर या शरीर? यह भी कोई तीर्थ है? यह तो तीर्थ नही, बल्कि तीर्थ तो है उनकी आध्यात्मिक साधना! जिससे कि ससार रूपी सागर को पार किया जा सकता है। वह साधना, जो व्यक्ति के अन्तर में उत्पन्न होती है, जीवन मे विकसित होती है और मोक्ष के रूप मे पर्यवसित होती है—तीर्थ उसे ही कहा जा सकता है। साधु की साधना भी तीर्थ है, साध्वी की साधना भी तीर्थ है, और श्रावक-श्राविका की साधना भी तीर्थ है। यह साधना जिस किसी व्यक्ति के हृदय मे हिलोरें ले रही है, वही तीर्थ है। शास्त्रो मे भगवान् के प्ररूपित सिद्धान्तो को भी तीर्थ कहा गया है। और आगे यह भी कहा गया है कि वह शाश्वत तीर्थ है, अनादि, अनन्त है। इसका तात्पर्य भी आपको समझ लेना चाहिए कि जो भगवान् की वाणी है, वह तो शब्दरूप है, जो लिखित आगम है, वह अक्षर रूप है। तो क्या यह शब्द और अक्षर रूप वाणी ही तीर्थ है? यह तो शाश्वत है नही! जब भी कोई तीर्थङ्कर होते हैं, सिद्धान्त की प्ररूपणा वे अपनी साधना के अनुरूप करते हैं, और गणधर उसे सूत्र रूप में गूँथते है, फिर तो यह शाश्वत कैसे? फिर भगवान् का सिद्धान्त तीर्थ क्या वस्तु है? सिद्धान्त रूप तीर्थ का अभिप्राय तो यह है कि जो सत्य का ज्ञान है, इस ससार रूपी सागर को पार करने का मार्ग जिस ज्ञान की ज्योति से दिखाई देता है, वही ज्ञान तीर्थ है। काम, क्रोध आदि कषाय की विजय का जो साधना मार्ग है, वह तीर्थ है। और यह मार्ग शाश्वत है, अनादि अनन्त है। जितने भी तीर्थंकर, महापुरुष ससार में आजतक हो चुके हैं, अभी जो हैं और भविष्य मे जो भी होंगे—वे सब यही मार्ग बताएँगे। काम, क्रोध को नाश करने का ही उपदेश वे करेंगे, मोह और माया को विजय करने का ही मार्ग वे बताएँगे। यह त्रिकाल सत्य है, शाश्वत है। इस कथन का निष्कर्ष यह है कि हमारी जो साधना है, हमारा

जो ज्ञान है, वही तीर्थ है। और वह तीर्थ कोई व्यक्ति नही होता, वल्कि आत्मा का निर्मल चैतन्य होता है। किसी प्रकार की भेद की कल्पना को उसमे प्रश्रय नही दिया जाता। जाति, सम्प्रदाय, लिग और रग की भाषा, धर्म की भाषा नही हो सकती। न वह साधना की भाषा हो सकती है, और न ही साधक की भाषा हो सकती है।

साधक : एक अपराजेय योद्धा :

साधना का क्षेत्र सवके लिए खुला है, यह वात जितनी सत्य है उतना ही सत्य यह भी है कि वह सिर्फ वीर के लिए हैं। साधना का मार्ग कंटकाकीर्ण और विकट मार्ग है। आचाराग सूत्र मे उसे महावीथि-महापथ कहा है—"पणया वीरा महावीहिं" उस पथ पर वही चल सकता है, जिसके अन्तस्तल मे अपार धैर्य उमडता हो, साहस और सहिष्णुता का ज्वार उठ रहा हो! जो विषयो और आकाक्षाओ से लडकर विजय प्राप्त कर सकता हो, वही वीर योद्धा इस क्षेत्र का अधिकारी हो सकता है। यह नही कि वेष ले लिया, आराम से मागकर खा लिया, निश्चित होकर सो गए और सुख-चैन से जिन्दगी गुजार दी! जव तक कष्ट नही आए, जीवन मे तूफान नही आए, सघर्षों के भूचाल नही उठे, तवतक जमे रहे और जव तूफानो का सामना करना पडा, तो वस भाग खडे हुए। पाँव उखड गए! वह वीर नही, जो तलवारो की चमक देखकर पसीना-पसीना हो जाए! भालो और वाणो की वौछार देखकर कलेजा धक् धक् कर उठे। वल्कि वीर वही है, जो प्राणो पर खेले, वीरता से जीए और मरे भी तो वीरता से मरे।

मुझे काश्मीर के राजा ललितादित्य की एक वात याद आ रही है। जव देश पर आक्रमण हुआ, तो वे वहुत कम उम्र के वालक थे। पिता का देहान्त हो जाने से शत्रु ने अनुकूल अवसर देखा और चढाई कर दी। इधर भी प्रधान मन्त्री ने युद्ध की तैयारियाँ शुरू कर दी। राजकुमार से उसने कहा—आप तो यही पर रहिए, अभी छोटे हैं! हमलोग युद्ध मे जा रहे हैं। सेनापति ने भी यही कहा। राजमाता और अन्य हितैपियो ने भी राजकुमार को यहीं समझाया कि तुम अभी वालक हो, अत राजमहल मे ही रहो! हम सव तुम्हारे ही तो हैं! ललितादित्य ने कहा—आप सव मेरे हैं, तो मैं भी तो आपका ही हूँ। प्रजा जव राजा की है, तो राजा भी प्रजा का है। प्रजा किस आधार पर है? उसका जनक कौन है? राजा ही न। और राजा किस पर टिका है? राजा को जन्म कौन देता है? प्रजा! लेकिन प्रजा रणक्षेत्र मे जूझती रहे और राजा राजमहल में एक चूहे की तरह छिपा-दुवका रहे, यह कौन-से क्षात्रधर्म की वात है? यह क्षात्रधर्म पर कलक नही तो और क्या है! मैं युद्धक्षेत्र मे जाऊँगा। अवश्य जाऊँगा!

राजमाता ने उसकी पीठ थपथपाई। कहा—वेटा अपने पिता के गौरव को उज्ज्वल करना, और अपने देश की यश पताका को ऊँची करना! इस पर ललितादित्य ने जो उत्तर दिया वह एक महान् वीर का उत्तर था। उसने कहा—"मेरे सामने तो सिर्फ एक वात है और वह मैं कर सकता हूँ, चाहे मैं जिन्दा रहूँ या रणक्षेत्र मे खेल जाऊँ, मुझे इसकी परवाह नही! जय और पराजय पर भी मेरा कोई अधिकार नही। मेरे वश की जो वात है, वह यह है कि शत्रु के शस्त्रों के घाव मेरी पीठ पर नही लगेंगे। मेरी मृत्यु और जीवन से भी वढकर जो वात है, वह यही है कि शत्रु के शस्त्रो के वार मेरी छाती पर ही पडेंगे वस!

पीठ पर कदापि नही पड सकते !" मतलव यह हुआ कि—जीना और मरना कोई महत्त्वपूर्ण नहीं, महत्त्वपूर्ण जो है, वह है—वीरतापूर्वक जीना और वीरतापूर्वक मरना ।

साधक के लिए भी यही वात है। वह जीवन मे साधना के जिस महापथ पर चलता है, वह पथ वडा विकट है । विकारो के तूफान उस पथ मे आएँगे, तो उसे हिमालय को तरह अचल-अकम्प वनकर सहना होगा—"मेरुव्व वाएण अकपमाणो ।" प्रलय काल के थपेडो मे भी मेरु की तरह अकम्प, अडोल, अविचल रहना होगा । और जव कषायो का दावानल उठेगा, साधक को उसे वैराग्य का पर्जन्य वनकर शान्त करना होगा ! कष्टो, अपमानो का हलाहल भी उसके सामने आएगा और तव महादेव वनकर उसे पीना होगा । राष्ट्रकवि मैथलीशरण गुप्त ने एक जगह कहा है—

"मनुज दुग्ध से, दनुज रक्त से, देव सुधा से जीते हैं ।
किन्तु हलाहल भवसागर का, शिवशंकर ही पीते हैं ।।"

तो, इस भवसागर का हलाहल पान करके ही उसे मृत्युञ्जय वनना होगा । तभी वह अपने कल्याण मार्ग की अन्तिम मजिल को पा सकेगा, जहाँ पहुँचने के वाद आत्मा अमर शान्ति, सत् चित् आनन्द और अनन्त ज्योतिरूप वन जाती है ।

कल्याण का मार्ग, इस प्रकार, जीवन और जगत् के कर्म कषायो का पान करके, उसको आत्मसात करके ही, प्रशस्त किया जा सकता है । गगा विश्व की गन्दगियो को आत्मसात् करके जितना सेमतल मे पवित्र हो सकी, उतना गगोत्तरी—उद्गम मे नही । गंदगियो को आत्मसात् करके, उसका अन्त करके ही विश्व का कल्याण सम्भव है, आत्मा का शुभ मे शुद्ध की ओर ले जाना, इसी का पर्यायविशेष है ।

२४
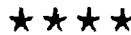
अमरता का मार्ग

संसार मे जितने भी प्राणी हैं, जितनी भी आत्माएँ हैं, सब के भीतर जो ध्वनि उठ रही है, कल्पना उभर रही है, और भावना तरगित हो रही हैं, उनमे से एक है—सुख प्राप्त करने की अभिलाषा। परिस्थितिवश जीवन मे जो भी दु:ख आ रहे हैं, विपत्तियाँ आ रही हैं, उन्हें मन से कोई नही चाहता, सब कोई उस दु:ख से छुटकारा पाना चाहते हैं।

ससार के समस्त प्राणियो की एक ही आकाक्षा है कि दुःख से छुटकारा हो, सुख प्राप्त हो।

दूसरी बात जो प्रत्येक प्राणी मे पाई जाती है, वह यह है कि प्रत्येक प्राणी शुद्ध और पवित्र रहना चाहता है। कोई भी प्राणी अपने आप को अशुद्ध या मलिन नही रखना चाहता, गन्दा नही रहना चाहता। मौलिक चीजो मे भी वह गन्दगी पसन्द नहीं करता, मकान भी साफ रखना चाहता है, कपडे भी साफ-सुथरे पसन्द करता है और शरीर को भी स्वच्छ-साफ रखता है। मतलब यह है कि अशुद्धि के साथ भी उसका सघर्ष चलता रहता है।

तीसरी बात यह है कि कोई भी प्राणी मृत्यु नही चाहता। मृत्यु के बाद फिर जन्म लेना होता है और जन्म के बाद फिर मृत्यु। इसका अर्थ यह हुआ कि जो मृत्यु नही चाहता, वह जन्म ग्रहण करना भी नही चाहता। हर प्राणी अजर अमर रहना चाहता है। यह बात दूसरी है कि कुछ विकट स्थितियो मे मनुष्य अपने मन का धैर्य खो बैठता है और आत्म-हत्या कर लेता है, किन्तु वह आत्महत्या भी दु ख से छुटकारा पाने के लिए ही करता है। उसे आगे सुख मिले या नहीं, यह बात दूसरी है।

कल्पना एक : स्वरूप एक :

इस प्रकार विश्व की प्रत्येक आत्मा मे ये तीन भावनाएँ उभरती हुई प्रतीत होती हैं। विश्व के समस्त प्राणियो का चिन्तन एक ही धारा मे बह रहा है, एक प्रकार से ही सभी सोच रहे हैं, ऐसा क्यो ? इसका उत्तर यह है कि सब आत्माएँ समान हैं। शास्त्र मे कहा गया है, 'एगे आया'। स्वरूप की दृष्टि से सबकी आत्मा एक समान है। सब की मूल स्थिति एक ही

जैसी है। जब स्वरूप की दृष्टि से आत्मा-आत्मा मे कोई अन्तर नही, तो चिन्तन की दृष्टि से भी कोई अन्तर नही होना चाहिए। अग्नि की ज्योति जहाँ भी जलेगी, वहाँ उष्णता प्रकट करेगी, चाहे वह दिल्ली में जले, या मास्को मे जले। उसकी ज्योति और उष्णता मे कही भी कोई अन्तर नही आता कि दिल्ली मे वह गर्म हो और मास्को मे ठण्डी हो। दिल्ली मे प्रकाश करती हो और मास्को मे अँधेरा करती हो। ऐसा नहीं होता, चूँकि उसका स्वरूप सर्वत्र एक समान है। जब स्वरूप समान है तो उसकी सब धाराएँ भी एक समान ही रहेंगी। प्रत्येक आत्मा जब मूल स्वरूप से एक समान है, तो उसकी चिन्तनधारा कल्पना भी समान होगी। इसलिए ये तीनों भावनाएँ प्रत्येक आत्मा मे समान रूप से पाई जाती हैं। हमारी प्रवृत्तियो का लक्ष्य एक ही रहता है कि दुःख से मुक्ति मिले। अशुद्धि से शुद्धि की ओर चलें, मृत्यु मे अमरता की ओर बढ़े।

प्रश्न यह है कि दुःख से छुटकारा क्या कोई देवता दिला सकता है? कोई भगवान् हमे मृत्यु से बचा सकता है? यदि ऐसी कोई शक्ति संसार मे मिले जो हमें सुखी, शुद्ध और अमर बना सके, तो हम उसकी खुशामद, भक्ति या प्रार्थना करें।

भारतीय दर्शन, जो वास्तव मे ही एक अध्यात्म-चेतना का दर्शन है, वह कहता है कि ससार की कोई अन्य शक्ति तुम्हे दुःख से बचा नही सकती। मृत्यु के मुँह से तुम्हारी रक्षा नही कर सकती। तुम्हारी अपवित्रता को धोकर पवित्र नही बना सकती। यह कार्य तुम स्वय ही कर सकते हो, तुम स्वय ही अपने जीवन के निर्माता हो, तुम्ही अपने भाग्य के नियामक हो।

दुःख किसने दिया?

प्रश्न यह है कि दुःख से छुटकारा तो चाहते हो, पर वह दुःख खड़ा किसने किया? भगवान् महावीर ने आज से ढाई हजार वर्ष पहले यही प्रश्न ससार से पूछा था कि तुम दुःख-दुःख तो चिल्ला रहे हो, दुःख से मुक्ति के लिए नाना उपाय तो कर रहे हो, पर यह तो बतलाओ कि यह दुःख पैदा किसने किया—

"दुक्खे केण कडे?"

इस गम्भीर प्रश्न पर जब सब लोग चुपचाप भगवान् की ओर देखने लग गए और कहने लगे कि—प्रभु! आप ही बतलाइए। तो भगवान् महावीर ने इसका दार्शनिक समाधान देते हुए कहा—'जीवेण कडे! पमाएण' दुःख आत्मा ने स्वय किये हैं। प्रश्न हो सकता है कि आत्मा ने अपने लिए दुःख पैदा क्यों किया? तो उनका उत्तर भी साथ ही दे दिया कि "पमाएण" प्रमादवश उसने दुःख पैदा किया। वह किसी दूसरे के द्वारा नहीं थोपा गया है, किन्तु अपने ही प्रमाद के कारण यह दुःख अर्जित हुआ है। यह अशुद्धि भी किसी दूसरे ने नहीं लादी है, बल्कि अपनी ही भूल के कारण आत्मा अशुद्ध और मलिन होती चली गई है। जो दाग अपने प्रमाद और भूल से हो गया है, उसे स्वय ही सुधारना पड़ेगा। कोई दूसरा तो धो नहीं सकता। इसीलिए एक आचार्य ने कहा है—

"स्वयं कर्म करोत्यात्मा, स्वयं तत्फलमश्नुते
स्वयं भ्रमति संसारे, स्वयं तस्माद् विमुच्यते॥"

—यह आत्मा स्वयं कर्म करती है और स्वय ही उसका फल भोगती है। स्वयं संसार में परिभ्रमण करती है और स्वय ही ससार से मुक्त भी होती है।

ईश्वर असत्कर्म क्यों करवाता है ?

हमारे कुछ वन्धु इस विचार को लिए चल रहे हैं कि ईश्वर ही मनुष्य को कर्म करने की प्रेरणा देता है। वह चाहे तो किसी से सत्कर्म करवा लेता है और चाहे तो असत्कर्म। उसकी इच्छा के विना सृष्टि का एक पत्ता भी नही हिल सकता।

किन्तु प्रश्न यह है कि यदि कर्म करवाने का अधिकार ईश्वर के हाथ मे है, तो फिर वह किसी से असत्कर्म क्यो करवाता है ? सव को सत्कर्म की ही प्रेरणा क्यो नही देता ? कोई भी पिता अपने पुत्र को वुराई करने की शिक्षा नही देता, उसे वुराई की ओर प्रेरित नही करता। फिर यदि ईश्वर ससार का परम पिता होकर भी ऐसा करता है, तो यह वहुत वडा घोटाला है। फिर तो जैसा यहाँ की सरकार में भी गडवड घोटाला चल रहा है, वैसा ही ईश्वर की सरकार मे भी चल रहा है। जो पहले वुराई करने की वुद्धि देता है और फिर वाद मे उस के लिए दण्ड दे, यह तो कोई न्याय नही। जैसा कि लोग कहते हैं—

"जा को प्रभु दारुण दुःख देही
ताको मति पहले हर लेही।"

मेरी समझ मे यह वात आज तक नही आई कि ऐसी ईश्वर-भक्ति से हमे क्या प्रयोजन है ? "भगवान् जिसको दु ख देना चाहता है, उसकी वुद्धि पहले नष्ट कर देता है।" मैं पूछता हूँ, वुद्धि नष्ट क्यो करता है ? उसे सद्वुद्धि क्यों नही दे देता, ताकि वह वुरे कार्य मे फँसे ही नही और न फिर दु.ख ही पाए। न रहेगा वाँस, न वजेगी वासुरी। ईश्वर किसलिए हमें असत्कर्म की प्रेरणा देता है, यह पहेली, मैं समझता हूँ, आजतक कोई सुलझा नही सका।

दूसरी वात यह है कि कुछ विचारक कर्म का कर्तृत्व तो आत्मा का स्वतन्त्र मानते हैं, किन्तु फल भोगने के वीच मे, ईश्वर का ले आते है। वे कहते हैं कि प्राणी अपनी इच्छा से सत्कर्म-असत्कर्म करता है, किन्तु ईश्वर एक न्यायाधीश की तरह उसे कर्म फल को भुगताता है। जैसा जिसका कर्म होता है, उसे वैसा ही फल दिया जाता है।

यह एक सीधी-सी वात है कि एक पिता पुत्र को वुराई करते समय तो नही रोके, किन्तु जव वह वुराई कर डाले है, तव उस पर डण्डे वरसाए। तो इससे क्या वह योग्य पिता हो सकता है ? उस पिता को आप क्या धन्यवाद देंगे जो पहले लडकों को खुला छोड देता है कि हाँ, जो जी मे आए सो करो, और वाद मे स्वयं ही उन्हे पुलिस के हवाले कर देता है। क्या यह व्यवहार किसी न्याय की परिभाषा मे आ सकता है ? हमारे यहाँ तो यहाँ तक कहा जाता है कि—

"जो तू देखे अन्ध के, आगे है इक कूप।
तो तेरा चुप वैठना, है निश्चय अघरूप॥"

अंधे को यदि आप देख रहे हैं कि वह जिस मार्ग पर चल रहा है, उस मार्ग पर आगे वडा गड्ढा है, खाई है या कुआँ है, और यदि वह चलता रहा, तो उसमे गिर पडेगा, ऐसी स्थिति मे यदि आप चुपचाप वैठे मजा देखते रहते हैं, अन्धे को वचाने की कोशिश नही करते हैं, तो आप उसे गिराने का महापाप ले रहे हैं। यह नहीं होना चाहिए कि कोई

सकट मे फँस रहा है, और आप चुपचाप उसे देखते ही रह जाएँ। और फँसने के बाद ऊपर से गालियाँ भी दें कि गधा है, वेवकूफ है! और फिर डडे भी बरसाएँ।

वात यह है कि ईश्वर जब सर्वशक्तिमान है, वह प्राणियो को शुभ-अशुभ कर्म का फल भुगताता है, तो उसे पहले प्राणियो को असत्कर्म से हटने की प्रेरणा भी देनी चाहिए और सत्कर्म मे प्रवृत्त करना चाहिए। पर यह ठीक नही कि उसे असत्कर्म से निवृत्त तो नही करे, उलटे दण्ड और देता रहे।

आत्मा ही कर्त्ता है।

ईश्वर के सम्बन्ध मे ये जो गुत्थियाँ उलझी हुई हैं, उन्हे सुलझाने के लिए हमें भारतीय दर्शन के आत्म-दर्शन को समझना पडेगा। आत्मा स्वय अपनी प्रेरणा से कार्य करती है और स्वय ही उस कर्म के अनुसार उसका फल भोगती रहती है। इसीलिए योगेश्वर श्रीकृष्ण ने गीता मे वार-वार दुहराया है।

"उद्धरेदात्मनात्मान नात्मानमवसादयेत्"

आत्मा का आत्मा से ही कल्याण किया जा सकता है और आत्मा के द्वारा ही उसका पतन हो सकता है। इसलिए अपने द्वारा अपना अभ्युत्थान करो, उद्धार करो। पतन मत होने दो। यह आत्मा की स्वतन्त्रता की आवाज है, अखण्ड चेतना का प्रतीक है। कर्म कर्तृत्व, और कर्मफल-भोग दोनो आत्मा के अधीन हैं। अत आत्मस्वरूप की पहचान कर, अपनी पथ-दिशा तय करना, शुद्धता की प्राप्ति करना ही, अमरता का एकमात्र मार्ग है।

२५

स्वरूप की साधना

यह चैतन्य का महासागर हमारे अन्तर में अनन्त-अनन्त काल से हिलोरें मारता चला आ रहा है। चेतना के इस विराट् सागर को छोटे से पिण्ड मे समाया हुआ देखकर, एक ओर आश्चर्य भी होता है, तो दूसरी ओर उसकी अनन्त शक्ति पर विश्वास भी। चेतना का जो विराट् स्वरूप हमारे भीतर प्रकाशमान है, वही स्वरूप एक चीटी और चीटी से भी असख्य गुने छोटे प्राणी के अन्तर मे प्रकाशित हो रहा है। वहाँ भी चैतन्य का वही रूप छिपा हुआ है। महासागर के तट पर जिधर भी नजर उठाकर देखो, उधर ही तूफान और लहरें मचलती हुई दीखेगी। यही बात जीवन के महासागर के किनारे खडे होकर देखने मे लगेगी कि चैतन्य के महासागर मे चारो ओर से असख्य-असख्य लहरें उछल रही हैं, उसकी कोई सीमा नही हैं, चैतन्य के अनन्त भाव इस महासागर मे तरगित हो रहे हैं।

यह बात नही है कि सिर्फ देवता और चक्रवर्ती के जीवन मे या मानव के जीवन मे ही चेतना की अनन्त धाराएँ प्रस्फुटित होती रहती हैं, बल्कि चीटी और मच्छर जैसे क्षुद्र जीवो में भी वही धारा अपने अनन्त-अनन्त रूपो मे बहती होती है, भले ही उनकी अव्यक्त चेतना के कारण हमारी समझ मे उनका सही रूप आए या नही। किन्तु जीवन के अव्यक्त या कम विकसित होने के कारण चेतना की धाराएँ लुप्त नही हो सकती। किसी के जीवन मे वे धाराएँ गलत रूप से बह रही होती हैं, तो किसी के जीवन मे सही रूप में। देखना यह है कि वे धाराएँ, वे लहरें, जीवन के निर्माण मे हाथ बँटा रही हैं, उसे अभ्युत्थान की ओर ले जा रही हैं या विनाश तथा पतन की ओर। विनाश, पतन और विध्वस की ओर जो धाराएँ बह रही हैं, उनके वेग को, उनकी दिशा को मोड देना, निर्माण की ओर लगाना, यह हमारी व्यक्त चेतना का काम है।

चेतन की मूल भावना

दर्शनशास्त्र ने जो चिन्तन, मनन और अनुभव किया है, सत्य का जो साक्षात्कार किया है, उसका निचोड़ यही है कि अन्तर मे सबका मूल चेतन समान है, उसमे कोई भेद

नही है। जो भेद दिखाई देता है, वह बाहर के स्वरूपो मे है, बाहरी धाराओ मे है। बाहर मे जो गलत धाराएँ, लहरें उछल रही हैं, उन्हे चाहे भावनाएँ कह दीजिए वृत्तियाँ या आदत कह लीजिए, और भी हजार नाम हो सकते हैं, उनका जो प्रवाह असत् की ओर है, असत् रूप मे जो वे बह रही हैं, उन्हे अलग फेंक देना है, उनका प्रवाह मोड देना है और मूल अन्तर की जो धारा है, उसी के अनुकूल प्रवाह मे उन्हे भी बदल देना है।

प्राणी मे मूलतः पाँच वृत्तियाँ पाई जाती हैं, जो उसके भीतर निरन्तर जागृत रहती हैं, हलचल मचाती रहती हैं। चैतन्य जो है, वह एक अन्तर तत्त्व है। वह न कभी जन्म लेता है, न कभी मरता है, न कभी जवान होता है न कभी बूढा। जब बूढा नही होता, पुराना नही होता, तो फिर बचपन और नयापन का प्रश्न ही नही उठता। मृत्यु उसी की होती है, जो जन्म लेता है। और, जो जन्म लेता है, वह मरता भी अवश्य है। इस चेतन ने कभी जन्म धारण नही किया, यह सदा जीवित रहता है, इसीलिए इसका नाम जीव है। जीव क्या है? जो सदा जीवित रहे। अथवा जो सदा जीने की चाहना करे वही जीव है।

जिजीविषा—जीने की इच्छा प्राणिमात्र का स्वभाव है। एक आचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि—

"अमेध्य मध्यस्य कीटस्य सुरेन्द्रस्य सुरालय।
सदृशी जीवने वाँछा तुल्यं मृत्युभय द्वयोः॥"

सुरेन्द्र, जिसके कि एक सकेत पर हजारो हजार देवता हाथ जोडे खडे रहते हैं, अपार सुख और वैभव उनके चरणो मे लोटता है, उसमे जो जीने की लालसा है, वही लालसा एक गन्दी मोरी के कीडे मे भी है। जो कीडा गन्दगी मे कुलबुला रहा है, उसे यदि छू दिया जाए, छेड दिया जाए, तो वह भी अपने शरीर को सकुचित करने की चेष्टा करता है, हलचल मचाता है और इधर-उधर बचने के लिए प्रयत्न करता है। उसमे भी जीने की उतनी ही तीव्र लालसा है, जितनी कि देवराज इन्द्र मे है। यों समझ लीजिए कि जीवन जितना आपको प्रिय है, उतना ही उस कीडे को भी प्रिय है।

जीना स्वभाव है

जीना जीव का स्वभाव है। आप और हम जीना चाहते हैं, संसार का सबसे छोटे से छोटा प्राणी—कीडे-मकोडे तक जीना चाहते है। कोई पूछे कि क्यो जीना चाहते हैं? तो उत्तर यही है कि उनका स्वभाव है। कोई मरता क्यो है? यह एक प्रश्न हो सकता है, बीमारी मे मरता है, अपघात मे मरता है, एक्सीडेंट से मरता है, इसके हजारो उत्तर हो सकते है, हजारो कारण हो सकते है, पर जीता क्यो है, इसका एक ही कारण है कि जीना उसका स्वभाव है, जीवन चाहना प्राणी का लक्षण है। लक्षण कभी बदलता नही। संसार के समस्त प्रयत्न किसलिए चल रहे है? मजदूर कडी चिलचिलाती धूप मे कठोर परिश्रम कर रहा है, उससे पूछो तो कहेगा, पेट के लिए? और पेट किसलिए भरना चाहता है? इसे खाली रहने दिया जाए तो क्या होगा? जीवन का क्या होगा? यह होगा कि दो चार दस दिन भूखे रहे, पेट मे अन्न-जल नही गया, तो दुनिया 'राम नाम सत' कहकर पहुँचा देगी उस घाट पर, जहाँ सबकी राख हो जाती है। मतलब यह है कि प्रत्येक प्रयत्न का मूल कारण यही जीने की भावना है—जिजीविषा है। जीने के लिए संघर्ष करने

होते हैं, कष्ट और द्वन्द्व झेलने होते हैं, पीडा और यातनाएँ सहकर भी कोई मरना नही चाहता। इधर-उधर की कुछ समस्याओ से घवडाकर आदमी कहता है कि मर जाएँ तो अच्छा है, पर, जब उन समस्याओ का समाधान हो जाता है, तो फिर कोई नही कहता कि मर जाएँ तो ठीक है। कहावत है "मौत मौत पुकारने वाली बुढिया को जब मौत आती है, तो पडोसी का घर बताती है।"

संसार का यह अजर-अमर सिद्धान्त है कि प्रत्येक प्राणी चाहे वह कष्ट मे जीता हो, पीडाओ मे से गुजर रहा हो, या सुख और आनन्द मे जीवन बिता रहा हो, दोनो के जीवन की इच्छा समान है—"**सदृशी जीवने वाच्छा।**"

जिजीविषा जीव का स्वभाव है और प्रत्येक प्राणी इस स्वभाव की साधना कर रहा है। हमारी साधना इसी दृष्टिकोण से पल्लवित हुई है। साधना स्वरूप की होती है, स्वभाव की होती है। अग्नि की साधना उष्ण रहने की साधना है, उसे शीतल रखने की यदि कोई साधना करे, तो वह बेवकूफी होगी। हवा की साधना अनवरत चलते रहना है, उसे यदि स्थिर रखने की साधना कोई करे, तो वह स्वरूप की विपरीत साधना होगी। हमारे जीवन की साधना अमरता की साधना है, कभी नही मरने की साधना है और हमारा साध्य भी अमरता है। मरने की साधना कोई नही करता, चूँकि वह स्वरूप नही है, हम स्वरूप के उपासक हैं।

अमरता की उपासना :

भारतीय दर्शन की अन्तिम परिणति यही है कि तुम अपने स्वरूप को समझलो, बस यही तुम्हारी साधना है। स्वरूप को जब पहचान लिया कि अमर रहना, यह हमारा—चैतन्य का स्वरूप है, तो अमरता की साधना प्रारम्भ हो जाती है। अमर रहने के लिए ही हमारी साधना चलती है, इससे आगे कहूँ तो यह कह सकता हूँ कि जीने के लिए ही हमारी साधना चल रही है। आप कहेगे कि "क्या इतने पिछले स्तर पर हमारी साधना है? सिर्फ जीने के लिए?" मैं पूछूँ—यदि जीने के लिए नही है, तो क्या मरने के लिए हैं?" जीना और मरना दो ही तो दृष्टियाँ हैं। मरना गलत दृष्टि है, जीना सही दृष्टि है। मरण नही, बल्कि अनन्त जीवन को केन्द्र मानकर ही ससार की समस्त साधनाएँ चलती हैं।

मैं अपने आपको क्यो नहीं मारता? इसीलिए कि आत्महत्या करना पाप है। पाप क्यो है? पाप यो है, कि वह स्वभाव के विरुद्ध है। अपने को मारना पाप है, तो मतलब यह हुआ कि मृत्यु ही पाप है।

कोई अपने आपको 'शूट' करले तो उसने किसी दूसरे की जान तो नही लूटी? फिर आप गुरु मे पूछें तो वे कहेंगे कि—यदि दूसरे को मारना पाप है, तो अपने को मारना महापाप। आत्महत्या करने वाला नरक मे जाता है। कानून से पूछो, तो वह कहेगा कि यह अपराध है। आत्महत्या का प्रयत्न करते हुए कोई पकडा गया, तो वह अपराधी है।

कोई जी रहा है, और वह पूछे कि क्या यह जीना भी पाप है? तो क्या कोई कहेगा कि हाँ, जीना पाप है। जीना भी पाप है, मरना भी पाप है, तो फिर ससार में धर्म क्या रह गया? धर्म कहता है कि—न तू मर! न किसी को मार! बस यही धर्म है।

भगवान् महावीर ने अहिंसा का उद्गम भी इसी जिजीविषा के अन्तर मे बताया है, उन्होंने कहा है—

"सव्वे जीवा वि इच्छन्ति, जीविउं न मरिज्जिउं।
तम्हा पाणिवहं घोरं, निग्गथा वज्जयंति णं॥"

संसार के समस्त प्राणी जीना चाहते हैं जीने की कामना, इच्छा प्रत्येक प्राणी के भीतर विद्यमान है, मरना कोई नही चाहता, इसीलिए किसी का वध करना, मारना, यह पाप है। मतलब यह है कि 'जीना' यह स्वरूप है और स्वरूप धर्म है। आप देखेंगे कि अहिंसा का स्वर किस भावना से फूटा है? जीवित रहने की भावना से ही न! हम प्रत्येक प्राणी के प्रति-सहृदय रहते हैं। सहृदय की साधना आखिर क्यों है? सभी प्राणी एक-दूसरे के प्रति सहृदय रहे। परस्पर सहृदयता, प्रेम, करुणा, सहयोग—ये सब हमारी जीवित रहने की भावना के ही विकसित रूप हैं। उसी महावृक्ष की ये अनेक शाखाएँ हैं।

सुख की भावना :

दूसरी भावना—सुख की भावना है। हम इस विश्वमंडल की अनन्त-अनन्त परिक्रमा कर चुके हैं और कर रहे है, लेकिन किसलिए? सुख के लिए ही तो! सुख की भावना और कामना से प्रेरित होकर प्रत्येक प्राणी प्रयत्नशील रहता है। निष्कर्ष यह है कि सुख आत्मा का स्वरूप है। स्वरूप की माँग, खोज आत्मा करती है। भगवान् का स्वरूप वर्णन करते हुए बतलाया गया है कि वह आनन्दमय है। इसके आगे बढ़े तो कह दिया कि वह सच्चिदानन्द रूप है। सदचिद् और आनन्द यह एक शिखर की बात कह दी है। उच्चतम आनन्द की कल्पना इसके साथ जुड़ गई है। लेकिन इससे यह तो हमने समझ ही लिया कि भगवान् का स्वरूप आनन्दमय है, सुखमय है। जो उसका स्वरूप है, वही हमारा स्वरूप है। स्वरूप, उसका और हमारा भिन्न नही है। जो भगवान् का स्वरूप है, वह प्रत्येक प्राणी का स्वरूप है। तभी हम कहते है कि प्रत्येक घट मे भगवान् का वास है। जबतक उस आनन्द की उपलब्धि नही हो जाती है, तबतक प्राणी उसे पाने के लिए प्रयत्न करता रहता है। यह बात दूसरी है कि जो सुख नही है, उसे भी हमने अज्ञानवश सुख की कल्पना से जोड लिया है। धन, परिवार और भोग का सुख, अज्ञान की कल्पना के साथ जुडा है। पर यह अज्ञान भी तो हमारा ही है। ज्ञानी को ही अज्ञान होता है। और जो अज्ञान को समझता है कि यह 'अज्ञान है' वही ज्ञानी होता है। आप अँधेरे मे चल रहे है, कोई ठूँठ खड़ा दिखाई दिया, आपने कल्पना की, शायद कोई आदमी है, पर जब प्रकाश की कोई किरण चमकी और आपने देखा कि यह आदमी नहीं, ठूँठ है, तो यह भी ज्ञान है, अपना अज्ञान वही समझ सकता है, जो ज्ञानी है। ज्ञानी का अज्ञान क्या है—विपरीत ज्ञान, या भ्रम! ज्ञान का अभाव अज्ञान नहीं है। वह अज्ञान तो जड़ के पास है, जिसे कभी भी ज्ञान नहीं हो पाता। चेतन के स्वभाव मे यह अज्ञान रह नही सकता। भले ही ज्ञान की गति विपरीत चल रही हो, परन्तु वह समय पर ठीक हो जाती है। किसी के पास बहुत-सा धन है, तो वह धनी है, फिर उस धन का गलत उपयोग करता है, तो यह बात दूसरी है, किन्तु समय पर ठीक उपयोग भी कर सकता है।

मैं यह कह रहा था कि अज्ञानवश जिसे सुख समझ लिया है और उसके पीछे दौड लगा रहे हैं, वह भी हमारी सौख्य गवेषणा का एक रूप है। इसीलिए एक दिन भगवान् महावीर ने कहा था—

'सव्वेपाणा सुहसाया, दुह पडिकूला'

भूमंडल के समस्त प्राणी सुख चाहते हैं, सुख उन्हें प्रिय है, सुख की साधना कर रहे हैं, दुःख से कतराते हैं। सुख का यह स्वर कहाँ से आया ? सुख की कामना क्यो जगी हमारे अन्दर ? इसीलिए न कि सुख हमारा स्वरूप है! स्वयं सुखी रहना, यही हमारी साधना है। आपको कोई सुखी देख कर यह पूछे कि आप सुखी क्यो है ? तो क्या उत्तर होगा आपका ? शायद आपका टेम्प्रेचर चढ जाए और आप डाँटते हुए कह उठें कि तुम्हें इसकी क्या पडी कि हम सुखी क्यो हैं ? प्रसन्न क्यो हैं ? सुखी नही तो क्या दु खी रहे ? मुहर्रमी सूरत वनाए वैठे रहे ? ससार मे मुँह लटकाए घूमते रहे ? यह जीवन सुख के लिए है, सुखी और प्रसन्न रहने के लिए है। हँसने और हँसाने के लिए है, रोने-चीखने के लिए नही।

साधना में दुःखानुभूति क्यों ?

कभी-कभी हमारे साधक कहते हैं कि सुखी रहने की वात कुछ समझ मे नही आती। मैं पूछता हूँ कि इसमे क्या आपत्ति है ? तो कहते है—"साधना करते-करते तो दु ख का अनुभव होता है, कष्ट और पीडाएँ होती हैं।" मैं कहता हूँ कि यदि साधना करते हुए दु ख की अनुभूति जगती है, मन खिन्न होता है, तो वह साधना कैसी ? ऐसी दु खमयी साधना से तो साधना न करना ही अच्छा है। साधना का तो अर्थ है--उपासना! किन्तु उपासना किसकी ? अपने स्वरूप की ही न! लेकिन स्वरूप क्या है ? आनन्दमय ? मतलव यह हुआ कि सुख की साधना करते समय दुःख का अनुभव होता है, यह तो गलत वात है। अमृत पीते हुए जहर-सी कडवी घूँट लगती हैं, तो या तो अमृत नही है, या फिर पीना नही आया है। साधना मे तो आनन्द और सुख की रसधारा वहनी चाहिए। जिस साधना के उत्स से सुख का स्रोत न फूटे, वह साधना ही क्या। वह तो परवशता की साधना है, जिसमे क्लेश और पीडा के काँटे चुभते रहते हैं। वह स्वतंत्र साधना कदापि नही है। उस साधना से, जिससे दुःख की अनुभूति होती है, क्या कर्म की निजरा हो सकेगी या नए कर्मो का वध हो पाएगा ? जहाँ मन मे दुःख है, वहाँ परवशता है, जहाँ परवशता है, वहाँ वन्धन है। तो, वह साधना तो उलटे कर्मवन्ध का कारण ही वन गई। इसलिए मैंने कहा कि इस साधना से तो साधना नही करना अच्छा है।

शरीर का दुःखी और कष्टमय होना एक अलग वात है और मन का दुःखी होना अलग वात। साधना शरीर की नही, चैतन्य की होती है।

अभिप्राय यह है कि यदि शरीर को कष्ट होता हो, तो भले ही हो, वह जड है, किन्तु चैतन्य को कष्ट नही होना चाहिए। आत्मा की प्रसन्नता वनी रहनी चाहिए। मैं तो कभी-कभी कहता हूँ कि यदि तपस्या करने से आत्मा की प्रसन्नता और मन की स्वस्थता वनी रहती है, तव तो ठीक है, और यदि आत्मा कष्ट पाती है, मन को क्लेश होता है, खिन्नता वढती है तो वह तपस्या कोई कल्याण करने वाली नही है, सिर्फ देह-दड है, अज्ञान तप है। आचार्यों ने ठीक ही कहा है—

"सो नाम अणसणं तवो जेण मणोऽमगुलं न चिंतेई।
जेण न इंदियहाणी जेण य जोगा न हायंति॥"

सयम की साधना इसलिए की जाती है कि उसमें आत्मा मे प्रसन्नता जगती है। भावनाएँ शुद्ध, पवित्र एवं शान्त रहती है। यदि सयम पालते हुए भी भावना अशान्त हो,

हृदय क्षुब्ध हो, आत्मा विषय भोग के लिए तडपती हो, वह साधना एक धोखा भर है। धोखा अपनी आत्मा के साथ भी और संसार के साथ भी, जो तुम्हें सच्चा साधक समझ रहा है।

भगवान् ने बतलाया है कि जिस साधक का मन साधना के रस मे रम गया है, उसे साधना मे आनन्द आता है। शरीर के कष्टो से उसकी आत्मा कभी विचलित नही होती। कभी मन चचल हो भी गया, यदि तो उसे पुन शान्त और समाधिस्त कर लेता है।

हमारे कुछ साधक यह भी कहते हैं कि साधना मे पहले दुःख होता है और बाद मे सुख। किन्तु यह तो बाजारू भाषा है। यह निरी सौदेबाजी की बात है कि कुछ दु ख सहो तो फिर सुख मिले। जिस साधना के आदि मे ही दुःख है, कष्ट है, उसके मध्य मे और अन्त मे सुख कहाँ से जन्म लेगा? यह साधना की सही व्याख्या नही। साधना तो वह है, जिसके आदि मे भी सुख और प्रसन्नता स्वागत के लिए खडी रहे, आनन्द की लहरें उछलती मिलें और मध्य मे भी सुख तथा अन्त मे भी सुख। वास्तव मे साधक के सामने दैहिक कष्ट, कष्ट नही होते, उन्हे मिटाने के लिए भी उसकी साधना नही होती। साधना तो होती है आत्मा की प्रसन्नता और आनन्द के लिए।

एक बार की बात है। वनवास के समय युधिष्ठिर ध्यानमग्न बैठे थे। ध्यान से उठे तो द्रौपदी ने कहा—"धर्मराज! आप भगवान् का इतना भजन करते है, इतनी देर ध्यान मे बैठे रहते हैं, फिर उनसे कहते क्यो नही कि वे इन कष्टो को दूर कर दें। कितने वर्ष से वन-वन भटक रहे है, कहीं टेढ़ेमेढ़े पत्थरो पर रात गुजरती है, तो कहीं ककरो मे। कभी प्यास के मारे गला सूख जाता है, तो कभी भूख से पेट में बल पडने लगते हैं। भगवान् से कहते क्यो नही कि इन सकटो का वे अन्त कर डालें।'

धर्मराज ने कहा—"पाचाली! मैं भगवान् का भजन इसलिए नही करता कि वह हमारे कष्टों मे हाथ बटाएँ। यह तो सौदेबाजी हुई। मै तो सिर्फ आनन्द के लिए भजन करता हूँ। उसके चिन्तन मे ही मेरे मन को प्रसन्नता मिलती है। जो आनन्द मुझे चाहिए, वह तो बिना माँग ही मिल जाता है, इसके अतिरिक्त और कुछ माँगने के लिए मैं भजन नही करता।"

साधना का यह उच्च आदर्श है कि वह जिस स्वरूप की साधना करता है, वह स्वरूप आनन्दमय है, उसके जीवन में सुख भर जाता है, चारो ओर प्रसन्नता छा जाती है। सुख की इस साधना मे अहिंसा का यह स्वर ध्वनित होता है, कि तुम स्वय भी सुखी रहो और दूसरो को भी सुखी रहने दो। स्व और पर के सुख की साधना ही अपने स्वरूप की सच्ची आराधना है।

जो स्वय ही मुहर्रमी सूरत बनाए रहता है, वह दूसरो को क्या सुख देगा? स्वय के जीवन को ही जो भार के रूप मे ढो रहा है, वह संसार को जीने का क्या सम्बल देगा? इसलिए साधना अन्तर्मुखी होनी चाहिए। स्वय जीएँ, और दूसरो को जीने दें, स्वय सुखी रहे और दूसरो को सुखी रहने दे। किसी की खुशी और प्रसन्नता को लूटने की कोशिश न करें।

स्वतन्त्रता की साधना :

आत्मा की तीसरी साधना, स्वतन्त्रता की साधना है। यह बात तो हम युग-युग से सुनते आए है कि कोई भी आत्मा बन्धन नहीं चाहती। विश्व मे बन्धन और मुक्ति की

लडाई सिर्फ साधको के क्षेत्र मे ही नही, वल्कि जीवन के हर एक क्षेत्र मे चल रही है। कोई भी गुलाम रहना नही चाहता। हर कोई स्वतन्त्र रहना पसन्द करता है। एक देश दूसरे देश की गुलामी और अधिकार मे नही रहना चाहता एक जाति दूसरी जाति के दवाव मे रहना पसन्द नही करती ।

आजादी और गुलामी के साथ यह भी वात समझ लेना आवश्यक है कि हमारी भावनाएँ अर्थात् मनुष्य की भावनाएँ गुलामी और मुहव्वत के दायरे मे, विलकुल अलग-अलग हैं। जवतक पुत्र के दिल मे पिता के प्रति प्रेम और भक्ति है, जवतक भाई का भाई के प्रति प्रेम है, तवतक वह उसकी सेवा और मिन्नतें करने को तैयार रहता है। कभी उसके मन मे इस तरह की कल्पना नही उठती कि मैं किसी की गुलामी कर रहा हूँ। किन्तु जव प्रेम का सम्वन्ध टूट जाता है, तो वह एक वात भी उसकी नही मानना चाहता। हर वात को वह गुलामी की दृष्टि से देखने लग जाता है। पति-पत्नी मे जव तक प्रेम है, दोनो एक-दूसरे की हजार-हजार सेवाएँ करने को तैयार रहते हैं, पर पत्नी के मन मे भी जव यह आ गया कि पति मुझे गुलाम समझता है, अपनी दासी समझता है, तो वह भी अकड जाती है। उसके लिए अपना वलिदान नही कर सकती। गुलामी की अनुभूति के साथ ही उसकी स्वतन्त्रता समाप्त हो जाती है और स्वतन्त्रता को कोई भी प्राणी किसी भी मूल्य पर खोना नही चाहता ।

हमारे यहाँ मानव सभ्यता के आदियुग का प्रसग आता है। भरत और वाहुवलि सगे भाई थे, वडा प्रेम था दोनो मे। वाहुवलि हर क्षण भरत की सेवा मे रहते थे, उनका सम्मान करते थे और उन्हे प्राणो से भी अधिक चाहते थे। पर, जव भरत चक्रवर्ती वनते है और वाहुवलि को कहलाते हैं कि आओ, हमारी सेवा करो, वफादारी की शपथ लो। तो वाहुवलि कहते हैं, हमारा तो प्रेम का सम्वन्ध चला ही आया है, भाई की सेवा मे सदा तत्पर रहूँगा ही, किन्तु यह नई वात क्या आ गई ? भाई के नाते हम हजार सेवा कर सकते हैं उनकी ! हाथ जोडे उनकी सेवा मे दिनरात खडे रह सकते हैं, पर यदि वह सेवक के नाते मुझे वुलाना चाहते हैं, तो, भाई तो क्या, मैं अपने वाप की भी सेवा करना स्वीकार नही करता। वस, युद्ध शुरू हो गया और जो कुछ हुआ, वह आपको मालूम ही है। उसने अपनी स्वतन्त्रता नही वेची। अन्त मे विजय प्राप्त करके भी जव देखा कि वास्तव मे भरत को चक्रवर्ती होना है, तो जीते हुए साम्राज्य को भी लात मारकर चल पडे।

स्वतन्त्रता : आत्मा का स्वभाव है :

अभिप्राय यह है कि हर आत्मा मे स्वतन्त्र रहने की वृत्ति वडी प्रवल है। प्रेम के वश वह किसी का हो सकता है, पर गुलाम वन कर किसी के वन्धन मे नही रहना चाहता। क्यो नही रहना चाहता ? इसका भी यही एक उत्तर है कि स्वतन्त्रता आत्मा का स्वभाव है, स्वरूप है और उसका अधिकार है। स्वतन्त्रता हमारा जन्मसिद्ध अधिकार है, यह नारा भारतीय सस्कृति का नारा है, धर्म और सस्कृति का स्वर है।

एक जड पदार्थ को आप किसी डिविया मे वन्द करके रख दीजिए वह हजार वर्ष तक भी रखा रहेगा, तो भी कोई हलचल नही मचाएगा, आजादी के लिए संघर्ष नही करेगा, किन्तु यदि किसी क्षुद्रकाय चूहे को भी पिंजडे मे डाल दिया जाए, तो वह भी छूटने के लिए छटपटाने लग जाता है। दो क्षण में ही वह उछलकूद मचाने लग जाता है। इससे यह स्पष्ट

होता है कि स्वतन्त्र रहना आत्मा का, चेतन का, स्वभाव है। स्वभाव से विपरीत वह कभी नही जा सकती।

हम साधना के द्वारा मुक्ति की बात क्यो करते हैं ? मोक्ष की अपेक्षा बाहर मे स्वर्ग की मोहकता अधिक है, भोगविलास है, वहाँ ऐश्वर्य का भण्डार है, फिर स्वर्ग के लिए नहीं, किन्तु मुक्ति के लिए ही हम साधना क्यो करते हैं ? मोक्ष मे तो अप्सराएँ भी नही हैं, नृत्य-गायन भी नही है ? बात यह है कि यह भौतिक सुख भी तो आत्मा का बन्धन ही है। देह भी बन्धन है, काम, क्रोध, ममता आदि भी बन्धन हैं, विकार और वासना भी बन्धन है और आत्मा इन सब बन्धनो से मुक्त होना चाहती है ? भौतिक प्रलोभनो और लालसाओ के बीच हमारी आजादी दब गई है। सुख-सुविधाओ से जीवन पंगु हो गया है, इन सबसे मुक्त होना ही हमारी आजादी की लडाई का ध्येय है। इसीलिए हमारी साधना मुक्ति के लिए संघर्ष कर रही है। मुक्ति हमारा स्वभाव है, स्वरूप है। वहाँ किसी का बन्धन नही, किसी का आदेश नहीं।

आचार्य जिनदास ने कहा है—'न अन्नो आणायव्वो' तू दूसरो पर अनुशासन मत कर। आदेश मत चला। अपना काम स्वय कर। जैसा तुझे दूसरों का आदेश और शासन अप्रिय लगता है, वैसे ही दूसरो को भी समझ। कोई किसी के हुकुम में, गुलामी मे रहना पसन्द नही करता।

कुछ लोग अमीरी के मधुर-स्वप्नो मे रहते हैं। पानी पिलाने के लिए नौकर, खाना खिलाने के लिए भी नौकर, कपडे पहनाने के लिए भी नौकर, मैंने यहाँ तक देखा है कि यदि जूते पहनने हैं, तब भी नौकर के बिना नही पहने जाते। यह इज्जत है या गुलामी ? यदि यह इज्जत है भी तो किस काम की है वह इज्जत, जहाँ मनुष्य दूसरों के अधीन होकर रहता है। आज का मानव भी स्वतन्त्रता की बात करता है, पर वह दिन प्रतिदिन यंत्रो का गुलाम होता जा रहा है। यत्रो के बिना उसका जीवन पगु हो गया है। विज्ञान का विकास अवश्य हुआ है, जीवन के लिए उसका उपयोग भी है, पर जीवन को एकदम उसके अधीन तो नहीं हो जाना चाहिए न ? इधर हम स्वतन्त्रता की बात करते हैं और उधर पराश्रित होते चले जा रहे हैं। अन्न आदि आवश्यक वस्तुओ के मामले मे भी देश आज परमुखापेक्षी हो रहा है। यद्यपि हमारा चिन्तन इन सब परवशताओ को तोडने के लिए प्रयत्न कर रहा है। क्योंकि उसे स्वतन्त्र रहना है, अपने स्वरूप मे जाना है आखिर ! राजनीतिक आजादी, सामाजिक आजादी और आर्थिक आजादी तथा इन सबके ऊपर अन्त मे आध्यात्मिक आजादी—हमारे सामने यह आदर्श है। हमे इसी ओर बढना है, अपने स्वरूप की ओर जाना है।

जिज्ञासा : चेतन का धर्म

चौथी वृत्ति है—जिज्ञासा की। ज्ञान पाने की इच्छा ही जिज्ञासा है, सुख और स्वतन्त्रता की भावना की तरह यह भी नैसर्गिक भावना है। चैतन्य का लक्षण ही ज्ञान है। 'जीवो उवओग लक्खणो' भगवान् महावीर की वाणी है कि जीव का स्वरूप ज्ञानमय है। इससे दो कदम और आगे बढकर, यहाँ तक कह दिया गया है कि जो ज्ञान है, वही आत्मा है, जो आत्मा है, वही ज्ञान है—जे आया से विन्नाया, जे विन्नाया से आया।' वैदिक परम्परा में भी यही स्वर मुखरित हुआ— प्रज्ञान ब्रह्म। मतलब यह कि ज्ञान कोई अलग वस्तु नहीं है, जो चेतन है, वही ज्ञान है।

छोटे-छोटे बच्चे जब कोई चीज देखते हैं, तो पूछते रहते हैं कि—यह क्या है ? वह क्या है ? हर बात पर उनके प्रश्नो की झड़ी लगी रहती है। आप भले उत्तर देते-देते तंग आ जाएँ, पर वह है कि पूछता-पूछता नही थकता, नही थकता ! वह सृष्टि का समस्त ज्ञान अपने अन्दर मे भर लेना चाहता है, सब कुछ जान लेना चाहता है। वह ऐसा क्यो करता है ? जानने की इतनी उत्कण्ठा उसमे क्यो जग पडी है ? इसका मूल कारण यही है कि जानना उसका स्वभाव है। जिज्ञासा प्राणिमात्र का धर्म है। भूख लगना जैसे शरीर का स्वभाव है, वैसे ही ज्ञान की भूख जगना, आत्मा का स्वभाव है।

किसी भी अनजानी नई चीज को देख-सुनकर हमारे मस्तिष्क मे 'क्या ? क्यो ? किसलिए ?' के प्रश्न खडे हो जाते हैं। हम उस नई वस्तु को, अनजानी चीज को जानना चाहते हैं। जब तक नही जान पाते, मन को शान्ति नही हो पाती, समाधान नही हो पाता। तात्पर्य यह है कि जब तक जिज्ञासा जीवित है, तब तक ही हमारा जीवन है। जब अन्न से अरुचि हुई, भूख समाप्त हुई, तो समझ लीजिए अब टिकट बुक हो गया है, अगली यात्रा शुरू होने को है। जब जानने की वृत्ति समाप्त हुई, तो ज्ञान का दरवाजा बन्द हो जाता है, जीवन की प्रगति और उन्नति रुक जाती है, आत्मा अज्ञान मे ठोकरें खाने लग जाती है, विकास अवरुद्ध हो जाता है। जानने की यह वृत्ति बच्चे मे भी रहती है, युवक मे भी जगती है और बूढो मे भी होती है। हर एक हृदय मे यह वृत्ति जगती रहती है। वह जो देखता है, सुनता है उसका विश्लेषण करना चाहता है। उसका ओर-छोर जानना चाहता है, बिना जाने उसकी तृप्ति नही होती।

जिज्ञासा : ज्ञान का भडार :

आगम मे हम पढते है कि गणधर गौतम ने अमुक वस्तु देखी, अमुक बात सुनी, तो मन मे सशय पैदा हुआ, कुतूहल पैदा हुआ **'जाय संसये, जाय कोउहले'** और इस संशय का समाधान करने तुरन्त प्रभु के चरणो मे पहुँच जाते। और पहुँचते ही यह प्रश्न कर देते कि—**'कहमेयं भन्ते !**—"प्रभो ! यह बात कैसे है ? इसमे सत्य क्या है ?" गौतम गणधर के प्रश्नो का विशाल क्रम ही जैन साहित्य और दर्शन के विकास की सुदीर्घ परम्परा है। मैं तो कभी-कभी सोचता हूँ 'महान् आगम वाङ्मय मे से यदि गौतम के प्रश्नोत्तर एव सवाद निकाल दिए जाएँ, तो फिर आगम साहित्य मे कुछ रह नही जाएगा। योरोप के अंग्रेजी साहित्य मे जो स्थान शेक्सपियर के साहित्य का है, सस्कृत साहित्य मे जो स्थान कालिदास के साहित्य का है, जैन आगमो मे वही स्थान गौतम के सम्वादो का है। गौतम के प्रश्न और सवाद जैन आगमो की आत्मा है। मैं कहना यह चाहता था कि इस साहित्य की प्रेरणा क्या है ? कहाँ से उठती है इस के निर्माण की ध्वनि ? गौतम की जिज्ञासा से, सशय से। जो सशय ज्ञानाभिमुख होता है, वह बुरा नही होता। पश्चिम के दार्शनिक तो दर्शन की उत्पत्ति और विकास सशय से ही मानते हैं। क्या ? कैसे ? किसलिए ? यह दर्शन के विकास के मूल सूत्र है, यही सूत्र विज्ञान का भी जनक है। भारतीय विचारक ने तो यहाँ तक कह दिया **'नहि संशयमनारुह्य नरो भद्राणि पश्यति'** सशय किए बिना मनुष्य कल्याण के दर्शन ही नही कर सकता। पुराने आचार्य ग्रन्थो का निर्माण करते समय सबसे प्रथम उनकी पृष्ठभूमि, जिज्ञासा पर खडी करते हैं-**'अथातो धर्म-जिज्ञासा'**,-अब धर्म की जिज्ञासा, जानने की इच्छा प्रारम्भ की जाती है। इस प्रकार दर्शन

और धर्म के साहित्य का निर्माण हुआ है जिज्ञासा से। सिर्फ साहित्य के विकास की बात मैं नहीं कहता, मानवजाति का विकास भी जिज्ञासा के आधार पर ही हुआ है। जिज्ञासा ने मूर्ख को विद्वान् बनाया है, अज्ञान को ज्ञान दिया है। हर एक आत्मा मे जिज्ञासा पैदा होती है, वह उसका समाधान चाहती है और विकास करती जाती है। बात यह हुई कि सुख की इच्छा और स्वतन्त्रता की भावना की तरह, जिज्ञासा भी, आत्मा की सहज भावना है, स्वभाव है, उससे किसी को रोका नही जा सकता।

प्रत्येक प्राणी ईश्वर है :

पाँचवी भावना—प्रभुता की है। प्रत्येक प्राणी चाहता है कि ससार मे वह स्वामी बनकर रहे, ईश्वर बनकर रहे। चूँकि आत्मा को जब परमात्मा माना गया है, ईश्वर का रूप माना गया है, तो इसका मतलब यही हुआ कि वह अपने ईश्वरत्व को विकसित करना चाहता है। ईश्वर का अर्थ ही है स्वामी, समर्थ और प्रभु। इसलिए प्रभुता चाहना, कोई गलत बात नही है, यह तो आत्मा का स्वभाव है।

घर मे एक बच्चा है, आजादी से रहता है, बादशाह बनकर रहता है, वह भी जब देखता है कि घर मे उसका अपमान किया जा रहा है, उसकी बात सुनी नही जाती है तो वह तिलमिला उठता है उसका 'मूड' बिगड जाता है। बहू भी घर मे जब आती है और देखती है कि इस घर मे उसे सम्मान नही मिल रहा है, सास, ससुर आदि उसे दासी की तरह समझ रहे हैं, तो विशाल ऐश्वर्य होते हुए भी वह घर उसके लिए 'नरक' के समान बन जाता है। वह यही कहेगी 'धन को क्या चाटू" जहाँ सम्मान नही, वहाँ जीना कैसा? सुख कैसा?

सहस्ररूपी साधना

साधना की पवित्र स्रोतस्विनी सहस्रधारा के रूप मे बहती रही है। जीवन को यदि हम एक खेत के रूप मे देखें, तो उस खेत मे हजारों-हजार क्यारियाँ हैं, हजारों-हजार नालियाँ हैं, हजारों-हजार पेड-पौधे हैं, उन्हें सरसब्ज रखने के लिए, साधना की हजारों-हजार धाराएँ बहती रहनी चाहिएँ, उनके शीतल मधुर जल का स्पर्श जीवन के खेत मे सतत होता रहना चाहिए।

जिस प्रकार खेती मे कभी एक ही चीज नही बोई जाती, सैकडों-हजारों प्रकार के बीज बोए जाते हैं, सर्वांग खेती की जाती है, उसी प्रकार जीवन की साधना कभी एकांगी नही होती, वह सर्वांगीण होती है।

हमारी आत्मा का स्वरूप अनन्त गुणात्मक है। आचार्य माघ नन्दी ने इस सम्बन्ध मे कहा है—

"अनन्तगुणस्वरूपोऽहम् ."

यह आत्मा अनन्त गुणों का अक्षय कोष है, यह बात कहने पर भी जब दार्शनिक आचार्य को लगा कि अभी बात पूरी कर नहीं सका हूँ, आत्मस्वरूप का परिचय पूर्णरूपेण नहीं दे सका हूँ, तो उन्होंने उपर्युक्त सूत्र को परिवर्तन के साथ पुनः दुहराया—

"अनन्तानन्तगुणस्वरूपोऽहम् ।"

अनन्त का, अनन्त-अनन्त गुणो का, समवाय है यह आत्मा। अनन्त को अनन्त से गुणन करने पर अनन्तानन्त होता है।

सर्वांग सुन्दरता :

अनन्त को अनन्त वार दुहराने का समय न आपके पास है और न मेरे पास। इस जीवन मे क्या, अनन्त जन्मो तक प्रयत्न करने पर भी हम उसके अनन्त स्वरूप को दुहरा नही सकते।

अभिप्राय यह है कि जीवन जो अनन्तानन्त गुणो का समवाय है, उसकी सर्वांग सुन्दरता प्रस्फुटित होनी चाहिए, उसके विभिन्न रूपो का विकास होना चाहिए। अगर जीवन का विकास एकागी रहा, जीवन मे किसी एक ही गुण का विकास कर लिया और अन्य गुणो की उपेक्षा करदी गई, तो वह विकास, वस्तुत. विकास नही होगा, उससे तो जीवन वेडोल एव अनगढ हो जाएगा।

कल्पना कीजिए, कोई ऐसा व्यक्ति आपके सामने आये, जिसकी आँखें वहुत सुन्दर हैं, तेजस्वी हैं, पर नाक वडी वेडोल है, तो क्या वह आँख की सुन्दरता आपके मन को अच्छी लगेगी ? किसी आदमी के हाथ सुन्दर हैं, किन्तु पैर वेडोल हैं, किसी का मुख सुन्दर है, किन्तु हाथ-पैर कुरूप और वेडौल हैं। तो इस प्रकार की सुन्दरता, कोई सुन्दरता नही होती, सुन्दरता वही मन को भाती है, आँखो को सुहाती है, जो सर्वांग सुन्दर होती है। जव समस्त अवयवो का, अगोपांगो का उचित रूप से निर्माण और विकास होता है, तभी वह सुन्दरता सुन्दरता कहलाती है।

जीवन की सुन्दरता :

जिस प्रकार तन की सर्वांग सुन्दरता अपेक्षित होती है, उसी प्रकार मन और जीवन की भी सर्वांग सुन्दरता अपेक्षित है। जीवन का रूप भी सर्वांग सुन्दर होना चाहिए। वह जीवन ही क्या, जिसका एक कोण सुन्दर हो और अन्य हजारो लाखो कोण असुन्दर तथा अभद्र हो।

एक मनुष्य है, सेवा वहुत करता है, रात दिन सेवा मे जुटा रहता है, सेवा के पीछे खाना-पीना सव कुछ भुला देता है, पर जव वोलता है, तो कडवा जहर। सुनने वालो के कलेजे जल जाते हैं। विचार कीजिए, वह सेवा किस काम की हुई ?

कुछ लोग वाणी से वोलते हैं तो ऐसा लगता है कि वर्फ मे चीनी घोल रहे है, वहुत मीठे, शीतल, शिष्ट और सुन्दर। किन्तु हृदय मे देखो तो, सर्वनाश की कैंची चल रही होती हैं, वर्वाद कर देने की आरा मशीन चल रही होती है। किसी भोले भाले गरीव का मिनटो मे ही सव कुछ साफ कर डालते हैं। तो, भला यह मीठी वाणी भी किस काम की ?

वात यह है कि कर्म के साथ मन भी सुन्दर होना चाहिए, वाणी भी मधुर होनी चाहिए। मन वाणी और कर्म का सम्यक् सन्तुलन होना चाहिए, तभी उनमें सर्वांगीणता आएगी और तभी वे सुन्दर लगेंगे। तीनो की सुन्दरता ही जीवन की सुन्दरता है और तीनो का वैषम्य जीवन की कुरूपता है।

नम्रता और सरलता :

एक सज्जन हैं, बड़े ही नम्र ! कभी गर्म नहीं होते, ऊँचे नहीं आते । लाख कड़वी बात कह लीजिए, झुकते ही चले जाएँगे पर झुकते-झुकते आखिरी दाव लगाएँगे कि सामने वाला चारों खाने चित्त ! बड़ी कुटिलता, धूर्तता भरी रहती है उनके मन में । नम्रता, कुटिलता छिपाने का एक कवच मात्र है, धोखे की टट्टी है ! उस नम्र व्यक्ति को आप क्या कहेंगे—चीता है, धूर्त है ! चूँकि आप जानते हैं—

"नमन नमन में फर्क है, सब सरिखा मत जान ।
दगाबाज दूनो नमें चीता चोर कमान !!"

केवल झुक जाना कोई नम्रता नहीं है । शिकार को देख कर चीता भी झुकता है, मालिक को जगा देखकर चोर भी झुक-झुक कर छछूंदर की तरह किनारे-किनारे निकल जाता है, और कमान (धनुष) भी तीर फेंकने से पहले इतना झुकता है कि दुहरा हो जाता है । पर क्या वह नम्रता है, वह कोई सद्गुण है ? जी नहीं ! मुझसे पहले ही आप निर्णय दे रहे हैं कि 'नहीं' क्योंकि वह एकांगी विनम्रता है, उसके साथ मन की सरलता नहीं है, हृदय की पवित्रता नहीं है । एकांगी विशेषता, सद्गुण नहीं हो सकती, सर्वांग वैशिष्ट्य ही सद्गुण का रूप ले पाता है ।

नम्रता के अनन्त रूप :

आप कहेंगे कि जीवन में समग्रता आनी चाहिए, यह बात तो ठीक है, पर एक साथ ही यह समग्रता एवं संपूर्णता कैसे आ सकती है ? समग्र गुणों को एक साथ कैसे अपना सकते हैं ?

मैं मानता हूँ, यह एक समस्या है, काफी बड़ी समस्या है । यदि गंगा के समूचे प्रवाह को एक ही चुल्लू में भरना चाहें, तो नहीं भर सकते, सुमेरु को एक ही हाथ से उठाकर तोलना चाहें, तो यह असंभव है । एक ही छलांग में यदि समुद्र को लांघने का प्रयत्न करते हैं, तो यह एक बुद्धिभ्रम ही कहा जाएगा । पर बात यह है कि एकांश ग्रहण के साथ हमारी बुद्धि उस एक अंश में ही केन्द्रित नहीं होनी चाहिए, सर्वांश ग्रहण का उदात्त ध्येय हमारे सामने रहना चाहिए । हमें बूँद में ही बंद नहीं हो जाना है, सुमेरु की तलहटी के एक पत्थर पर ही समाधिस्थ नहीं हो जाना है । हाथ में चाहे एक बूँद है, पर हमारी दृष्टि गंगा के सम्पूर्ण प्रवाह पर है, पैरों के नीचे सिर्फ एक फुट भूमि है, किन्तु हमारी कल्पना सुमेरु की चोटी को छू रही है, तो मैं मानता हूँ कि यह एकांश ग्रहण, सर्वांश ग्रहण की ही एक प्रक्रिया है ।

अतः जीवन की, धर्म की एवं सत्य की सर्वांगता को स्पर्श करने का व्यापक एवं सम्यक् दृष्टिकोण हमारे पास होना चाहिए । नम्रता इसका आधार है । यह एक ऐसा गुण है कि इसमें से चाहे जितने गुणों का रूप आप निखार सकते हैं । उसके अनन्त स्वरूप हैं, अनन्त धाराएँ हैं—आप चाहें जिस रूप को धीरे-धीरे जीवन में व्यक्त कर सकते हैं ।

अहिंसा : नम्रता का एक रूप

अहिंसा भी नम्रता का ही एक रूप है। मन की कोमलता हृदय की पवित्रता, वाणी की मधुरता, ये सब नम्रता के ही स्वरूप है! मन की पवित्रता के विना नम्रता अधूरी है, वाणी की मधुरता के विना नम्रता लगडी है। यदि मन मे कोमलता और सरलता नही है, तो नम्रता पिशाच का-सा वेडौल रूप है। और, ये सब गुण मिलकर ही तो अहिंसा को वनाते हैं। कोमलता और मधुरता के विना अहिंसा का अस्तित्व भी क्या है? सृष्टि के समस्त चैतन्य से साथ जवतक आत्मानुभूति नही जगती, तवतक अहिंसा के विकास का अवसर ही कहाँ है? वैयक्तिक चेतना जव समष्टि-चेतना के साथ एकाकार होती है, तो मन स्नेह, सरलता एव कोमलता से सरावोर हो जाता है और यही तो अहिंसा का समग्ररूप है, समर्वांगीण विकास है।

व्यक्ति जव अपने से ऊपर उठकर समष्टि के साथ ऐक्यानुभूति करने लगता है—'आयतुले पयासु' (आचाराग) अर्थात् सवको आत्मतुल्य समझने का सूत्र जव जीवन में साकार होने लगता है, तव अहिंसा अपने समग्र रूपो के साथ विकास पाती है।

अहिंसा के सम्वन्ध मे यह एक वडी भ्रान्ति है कि वह साधु-सतो के जीवन का आदर्श होती है, गृहस्थ जीवन मे उसका विकास नही हो सकता। किंतु मेरा विचार है कि अहिंसा के विकास और प्रयोग की सभावना जितनी गृहस्थ जीवन, पारिवारिक जीवन मे है, उतनी अन्यत्र कही है ही नही।

पारिवारिक भूमिका पर कोई भाई-वहन हैं, कोई पिता-पुत्र हैं, कोई माँ-वेटी हैं, कोई सास-वहू हैं, कोई पति-पत्नी है। इन सारे सम्वन्धो की भाषा पारिवारिक एव सामाजिक भाषा है। कहा जा सकता है कि इस भाषा मे राग है, मोह है और इसलिए वधन भी है। परन्तु मेरी दृष्टि कुछ और है। राग भाषा मे नहीं, भावना मे होता है, वधन दृष्टि मे होता है। यदि इन्ही शब्दो के साथ हमारी चेतना का विराट स्वरूप जुडा हुआ हो, हमारी समष्टिगत चेतना का स्पदन इनमे हो, तो ये ही उदात्त प्रेम, और वात्सल्य के परिचायक हो सकते हैं। इन्ही शब्दो के नाद मे कर्त्तव्य की उदात्त पुकार और प्रेरणा सुनी जा सकती है। नदी सूत्र मे जहाँ तीर्थकरो की स्तुति की गई है, वहाँ भाव विभोर शब्दो मे कहा गया है—'जयइ जगपियामहो भयव'—जगत् के पितामह भगवान् की जय हो। भगवान् को जगत का पितामह अर्थात् दादा कहा है। इस शब्द के साथ वात्सल्य की कितनी उज्ज्वल धारा है। शिष्य के लिए 'वत्स' (पुत्र) शब्द का प्रयोग आगमो में अनेक स्थान पर होता रहा है, क्या इस शब्द मे कही राग की गन्ध है? नही, इन शब्दो के साथ पारिवारिक चेतना का उदात्तीकरण हुआ है, पारिवारिक भाव विराट् अर्थ मे प्रयुक्त हुआ है।

मनुष्य जाति की विरासत :

मैं मानता हूँ, मनुष्य जाति भाग्यशाली है, जिसमे पारिवारिक चेतना का विकास है। अन्य कौन-सी जाति एव योनि है, जहाँ पारिवारिक भाव है? एक-दूसरे के प्रति समर्पित होने का सकल्प है? नरक मे असख्य-असख्य नारक भरे पडे हैं। एक पीडा से रोता है, तो दूसरा दूर खडा देख रहा होता है। कोई किसी को सात्वना देने वाला नही, किसी के आँसू पोछने वाला नही। एक प्रकार की आपाधापी, लूट-खसोट, यहीं तो नरक की कहानी है। जिस जीवन मे इस प्रकार की आपाधापी होती है, उसे यहाँ भी तो हम नरक ही कहते हैं।

किसी के दु:ख-सुख से किसी को लगाव नहीं, क्या वहाँ किसी पारिवारिक भाव का स्पन्दन सम्भव है ? पशु जाति में तो परिवार की कोई कल्पना ही नही, थोडा-बहुत है तो कुछ काल तक का मातृत्व भाव जरूर मिल जाता है, पर उसमें भी उदात्त चेतना की स्फुरणा और विकास नही है। देवताओ मे जिसे हम सुख की योनि मानते हैं, वहाँ भी कहाँ है पारिवारिकता ? वहाँ मातृत्व तो कुछ है ही नही, पति-पत्नी जरूर होते हैं, पत्नी के लिए सघर्ष भी होते हैं, परन्तु पति-पत्नी का जो उदार भाव है, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का जो उच्चतम आदर्श है, वह तो नहीं है देवयोनि में ? शारीरिक बुभुक्षा और मोह की एक तडप के सिवा और है क्या देवताओ मे ? देवियो को चुराना, उनका उपभोग करना और फिर कही छोड देना, कुछ देव तो इसी मनो रोग के शिकार हैं। इसलिए मैं मनुष्य जाति को ही एक श्रेष्ठ और भाग्यशाली जाति मानता हूँ, जिसमें विराट् पारिवारिक चेतना का विकास हुआ है, स्नेह एव सद्भाव के अमृत स्रोत बहे हैं, उदात्त और सात्विक सम्बन्धो के सुदृढ आधार बने हैं, तथा समर्पण का पवित्र सकल्प जगा है।

पारिवारिक भावना का विकास

भगवान् ऋषभदेव को हम इस युग का आदिपुरुष मानते हैं। किसलिए ? इसीलिए तो कि उन्होंने व्यष्टि केन्द्रित मानव जाति को समष्टिगत चेतना से पूर्ण किया, मनुष्य को परिवार केन्द्रित रहना सिखाया, उसे सामाजिक कर्त्तव्य व दायित्व का बोध दिया।

भगवान् ऋषभदेव के पूर्व के युग मे व्यक्ति तो थे, किन्तु परिवार नही था। यदि दो प्राणियो के सहवास को और उनसे उत्पन्न युगल सतान को ही परिवार कहना चाहें, तो भले कहें, पर निश्चय ही उसमें परिवारिकता नहीं थी। परिवार का भाव नहीं था। वे युगल पति-पत्नी के रूप मे नही, बल्कि नर-नारी के रूप में ही एक दूसरे के निकट आते थे। शारीरिक वासना के सिवाय उनमे और कोई आत्मीय सम्बन्ध नही था। वे सुख-दु:ख के साथी नही थे, पारस्परिक उत्तरदायित्व की भावना उनमे नही थी। या तो उनमे चेतना का ऊर्ध्वीकरण नही हुआ था, अथवा वह चेतना बिखरी हुई, टूटी हुई थी और अपने आप में सिमटी हुई भी थी। भगवान् ऋषभदेव ने ही उस व्यक्ति केन्द्रित चेतना को समष्टि के केन्द्र की ओर मोडा, कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व का संकल्प जगाया, एक-दूसरे की सुख-दु:खात्मक अनुभूति का स्पर्श उन्हें करवाया, कहना चाहिए, निरपेक्ष मानस को संवेदनशील बनाया, व्यक्तिगत हृदय को सामाजिकता के सूत्र मे जोडा। इसलिए जैन संस्कृति उन्हें—'प्रथमभूमिपति. प्रथमो यति'—कह कर पुकारती है, प्रथम राष्ट्र निर्माता और धर्म का आदिकर्ता कहकर अभिनन्दन करती है।

भगवान् ऋषभदेव ने जिस पारिवारिक चेतना का विकास किया, वह अहिंसा और मैत्री का विकास था। यह बात मैं मानता हूँ कि पारिवारिक चेतना में राग और मोह की वृत्ति बन जाती है, हमारा स्नेह और प्रेम दैहिक आधार पर खडा हो जाता है, किन्तु फिर भी इतना तो मानना ही होगा कि उसके अन्तस्तल मे तो अहिंसा की सूक्ष्म भावना रही अवश्य मिलेगी, करुणा और मैत्री की कोई क्षीणधारा बहती हुई अवश्य मिलेगी।

पलायनवादी मनोवृत्ति .

पारिवारिक चेतना मे मुझे अहिंसा और करुणा की झलक दिखाई देती है समर्पण और सेवा का आदर्श निखरता हुआ-सा लगता है । प्राचीन भारतीय समाजव्यवस्था मे चार प्रकार के ऋण की चर्चा मिलती है ।[1] कहा जाता है कि प्रत्येक मनुष्य पैदा होते ही ये चारो तरह के ऋण अपने साथ लेकर आता है । देव ऋण—(देवताओ का ऋण) ऋषिऋण (ऋषियो का ऋण) पितृऋण (पूर्वजो का ऋण) और मनुष्य ऋण (परिवार, समाज व पडोसी मनुष्यो का ऋण)

ऋण का अर्थ यही है कि मनुष्य जन्म लेते ही सामाजिक एव पाविारिक कर्त्तव्य व उत्तरदायित्व के साथ बँध जाता है । मनुष्य ऋण का स्पष्ट मतलब यह है कि मनुष्य का मनुष्य के प्रति एक स्वाभाविक उपकार व दायित्व होता है, एक कर्त्तव्य की जिम्मेदारी होती है, जिससे वह कभी भी किसी भी स्थिति मे भाग नही सकता । यदि उस ऋण को विना चुकाए भागता है, तो वह सामाजिक अपराध है, एक नैतिक चोरी है । इस विचार की प्रतिध्वनि जैन आचार्य उमास्वाति के शब्दो मे भी गूँज रही है—**"परस्परोपग्रहो जीवानाम्"**[2] प्रत्येक प्राणी एक दूसरे प्राणी से उपकृत होता है, उसका आधार व आश्रय प्राप्त करता है । यह प्राकृतिक नियम है । जब हम किसी का उपकार लेते हैं, तो उसे चुकाने की भी जिम्मेदारी हमारे ऊपर आ पड़ती है । यह आदान-प्रतिदान की सहज वृत्ति ही मनुष्य की पारिवारिकता एवं सामाजिकता का मूल केन्द्र है । उसके समस्त कर्त्तव्यो, तथा धर्माचरणो का आधार है । यदि कोई इस पारिवारिक एव सामाजिक भावना से मोह तथा राग की गध वताकर भागने की वात कहता है, तो मैं उसे पलायनवादी मनोवृत्ति कहूँगा । यह सिफ उथला हुआ एकागी चिंतन है । वह विकास प्राप्त व्यक्ति को पुनः गुहामानव की ओर खीचने का एक दुष्प्रयत्न मात्र है । इस राग और मोह से भागना ही अभीष्ट होता, तो भगवान् ऋषभदेव स्वयं पहल करके पारिवारिक व्यवस्था की नीव नही डालते । यद्यपि विवाह को आजतक किसी ने अध्यात्म-साधना का रूप नही दिया, किन्तु धर्म-साधना का एक सहायक कारण अवश्य माना है । गृहस्थाश्रम को साधु जीवन का आधार क्यो वताया है ? इसलिए कि उसमे मनुष्य की सामाजिक चेतना सहस्ररूपी होकर विकसित होती है । मनुष्य ने केवल वासना पूर्ति के लिए ही विवाह नही किया । वह तो आपकी चालू भाषा के अनुसार कही भी 'प्रासुक रूप' मे कर सकता था, किन्तु इस वृत्ति को भगवान् ने असामाजिक वताया, महा पाप का रूप दिया, और पति-पत्नी सम्बन्ध को एक पवित्र नैतिक आदर्श के रूप मे माना ।

इस सम्बन्ध मे एक वात और वतादूँ कि जैन आचार दर्शन ने स्त्री के प्रति राग को अपवित्र राग माना है, जबकि स्व-स्त्री के राग को पवित्र राग के रूप मे लिया है । यह वात इसलिए महत्त्व की है, चूँकि जैन दर्शन को लोगो ने वैरागियो का दर्शन समझ लिया है । कुछ लोग इसे भगोड़ो का दर्शन कहते हैं, जिसका सिद्धान्त है कि घर वार परिवार छोडकर

---

१. कुछ उत्तरकालीन ग्रन्थो मे तीन ऋण प्रसिद्ध हैं—देव ऋण, ऋषि ऋण और पितृऋण । किन्तु प्रारम्भ मे चार ऋण माने जाते थे जैसा उल्लेख प्राप्त हैं—
ऋणं ह वै जायते योऽस्ति ।
स जायमानो एव देवेभ्य ऋषिभ्य. पितृभ्यो मनुष्येभ्यः—शतपथ ब्राह्मण, १,७,२,१

२. तत्त्वार्थसूत्र

जगल में भाग जाओ। । यह एक भ्रान्ति है, महज गलत समझ है। जैन दर्शन, जिसका प्राण अहिंसा है, मनुष्य को सामाजिक, पारिवारिक और राष्ट्रीय आदर्श की बात सिखाता है; करुणा, सेवा समर्पण का सदेश देता है। नैतिक जिम्मेदारी और कर्त्तव्य को निभाने की बात कहता है। मैंने प्रारम्भ मे ही आपको बताया कि प्रत्येक विचार के हजारो-हजार पहलू है, अनन्त रूप है। जब तक उसके सर्वांग चिंतन का द्वार नही खुलेगा, उसके सम्पूर्ण रूप को समझने की दृष्टि नहीं जगेगी, तब तक हम हजारो-हजार बार जैन कुल मे जन्म लेकर भी जैनत्व का मूल स्पर्श नही कर पाएंगे।

चार भावनाएं

जैन धर्म मे चार भावनाओ की विशेष चर्चा आती है। आचार्य उमास्वाति ने, जिन्होने जैन-दर्शन को सर्वप्रथम सूत्र रूप मे प्रस्तुत किया, चार भावनाओ को व्यवस्थित रूप मे गूंथा है। बीज रूप मे आगमो मे वे भावनाएं यत्र तत्र अकुरित हुई थी, किन्तु उमास्वाति ने उन्हे एक धागे मे पिरोकर सर्वप्रथम पुष्पहार का सुन्दर रूप दिया। आचार्य अमितगति ने उन्ही भावनाओ को एक श्लोक मे इस प्रकार ग्रथित किया है—

"सत्वेषु मैत्री गुणिषु प्रमोदं,
क्लिष्टेषु जीवेषु कृपापरत्वं।
माध्यस्थ्यभावं विपरीतवृत्तौ,
सदा ममात्मा विदधातु देव!!"

मैं समझता हूँ, सम्पूर्ण जैन साहित्य मे यदि यह एक श्लोक ही आखिर तक हमारे पास बचा रहा तो सब कुछ बच रहेगा।

सत्वेषु मैत्री—यह एक ऐसा आदर्श है, जिसका स्वर वेद, उपनिषद्, आगम और पिटक-सर्वत्र गूंज रहा है। मैत्री भावना मन की वृत्तियो का बहुत ही उदात्त रूप है, प्रत्येक प्राणी के साथ मित्रता की कल्पना ही नही, अपितु उसकी सच्ची अनुभूति करना, उसके प्रति ऐकात्मभाव तथा तादात्म्य सम्बन्ध स्थापित करना, वास्तव में चैतन्य की एक विराट् अनुभूति है। मेरा तो विश्वास है कि यदि मैत्री भावना का पूर्ण विकास मानव मे हो सके तो फिर यह विश्व ही उसके लिए स्वर्ग का नन्दनकानन बन जाएगा। जिस प्रकार मित्र के घर मे हम और मित्र हमारे घर मे निर्भय और निःसकोच स्नेह और सद्भावपूर्ण व्यवहार कर सकते हैं, उसी प्रकार फिर समस्त विश्व को भी हम परस्पर मित्र के घर के रूप मे देखेंगे। कही भय, सकोच एवं आतंक की लहर नही होगी। कितनी सुन्दर और उदात्त भावना है यह! व्यक्ति व्यक्ति मे मैत्री हो, परिवार और समाज मे मैत्री हो, तो फिर आज की जितनी समस्याएं हैं, वे सब निर्मूल हो सकती हैं। चोरी, धोखा-धडी और लूट-खसोट से लेकर परमाणु शस्त्रो तक की विभीषिका इसी एक भावना से समाप्त हो सकती है।

दूसरी भावना का स्वरूप है—'गुणिषु प्रमोदं'—गुणी के प्रति प्रमोद। किसी की अच्छी बात देखकर, उसकी विशेषता और गुण देखकर मन-ही-मन हमारे मन मे एक उल्लास उमग, हर्षानुभूति होती है, हृदय मे आनन्द की एक लहर-सी उठती है, बस यह आनन्द एव

हर्ष की लहर ही प्रमोद-भावना है। किन्तु इस प्रकार की अनुभूति के अवसर जीवन मे बहुत ही कम आते होंगे—ऐसा मुझे लगता है।

मनुष्य की सबसे बडी दुर्बलता यही है कि वह दूसरो की बुराई मे बहुत रस लेता है। ईर्ष्या और डाह का पुतला होता है। दूसरे किसी का उत्कर्ष देखता है, तो जल उठता है। पडोसी को सुखी देखता है, तो स्वय बेचैन हो जाता है। किसी ने बढकर कुछ सत्कर्म कर दिया तो बस लोग व्यग्य और चुटीले शब्दो से बीध डालने की कोशिश करते हैं। जीवन की यह बडी विषम स्थिति है। मनुष्य का मन, जब देखो तब ईर्ष्या, डाह, प्रतिस्पर्धा मे जलता रहता है।

ईर्ष्या की आग कभी-कभी इतनी विकराल हो जाती है कि मनुष्य अपने भाई और पुत्र के भी उत्कर्ष को फूटी आंखो नही देख सकता। एक ऐसे पिता को मैंने देखा है, जो अपने पुत्र की उन्नति से जला-भुना रहता था। पुत्र बडा प्रतिभाशाली और तेज था, पिता के सब व्यापार को सभाल ही नही रहा था बल्कि उसको काफी बढ़ा भी रहा था। मिलनसार इतना कि जो भी लोग आते, सब उसे ही पूछते। सेठजी बैठे होते, तब भी पूछते—वह कहाँ है? बस सेठ जल उठता—"जो भी आते हैं पूछते हैं 'वह कहाँ है। कल का जन्मा छोकरा, आज बन गया सेठ। मुझे कोई पूछता ही नही। सेठ तो मैं हूँ, उसका बाप हूँ।"

मैं समझता हूँ, यह पीडा, यह मनोव्यथा एक पिता की ही नही, आज अनेक पिता और पुत्रो की यही व्यथा है, भाई-भाई की भी पीडा है। इसी पीडा से पति-पत्नी भी कसकते रहते हैं और अडोसी-पडोसी भी इसी दर्द के मरीज होते हैं। ईर्ष्या और जलन आज राष्ट्रीय बीमारी ही क्या, अन्तर्राष्ट्रीय बीमारी बन गई है। और इसीलिए कोई सुखी एव शात नही है।

इस बीमारी के उपचार का यही एक मार्ग है कि हम प्रमोद भावना का अभ्यास करें जहाँ कही भी गुण है, विशेषता है, उसे साफ चश्मे से देखें। व्यक्ति, जाति, धर्म, सम्प्रदाय और राष्ट्र का चश्मा उतार कर उसे केवल गुण-दृष्टि से देखें, उसका सही मूल्याकन करें और गुण का आदर करें। यह निश्चित समझिए कि आप यदि स्वय आदर-सम्मान पाना चाहते हैं, तो दूसरो को भी आदर और सम्मान दीजिए। अपने गुणो की प्रशसा चाहते हैं, तो औरो के गुणो की भी प्रशसा कीजिए!

मैत्री एव प्रमोद भावना का विकास, मन मे प्रसन्नता, निर्भयता एवं आनद का सचार करता है।

तीसरी और चौथी भावना है—करुणा एव माध्यस्थ्य।

करुणा मन की कोमलता वृत्ति है, दुःखी और पीडित प्राणी के प्रति सहज अनुकम्पा, मानवीय सवेदना जग उठती है और हम उसके प्रति सहानुभूति का हाथ बढ़ाते है। करुणा मनुष्य की सामाजिकता का मूल आधार है। अहिंसा, सेवा, सहयोग, विनम्रता आदि हजारो रूप इसके हो सकते हैं और उन सबका विकास करना ही जीवन को पूर्णता की ओर ले जाना है।

माध्यस्थ्य वृत्ति—एक तटस्थ स्थिति है। असफलता की स्थिति मे मनुष्य का उत्साह निराशा मे न बदले, मन उत्पीडित न हो और मोह-क्षोभ अर्थात् रागद्वेष के विकल्पो से मन परास्त न हो—इस रोग का उपचार तटस्थता है, माध्यस्थ्य भावना है।

एक में अनेक

जीवन को सर्वांग सुन्दर बनाने के लिए सर्वांगीण विकास करना आवश्यक है। जीवन मे समस्त सद्‌गुणों का उद्‌भव और पल्लवन किए बिना मानवता का मधुरतम फल नही प्राप्त हो सकते। किसी भी एक सद्‌गुण को लेकर और उसके जितने भी स्रोत हैं, जितने भी अग हैं उन सबका विकास करके ही उस मे पूर्णता और समग्रता का निखार आ सकता है।

जैन दर्शन ही क्या, समस्त भारतीय दर्शनो का यह सिद्धान्त है—एक मे अनेक और अनेक मे एक। किसी भी एक गुण को लेकर उसके अनन्त गुणो का विकास किया जा सकता है। उदाहरण मैंने आपके समक्ष प्रस्तुत किया है कि अहिंसा का एक गुण ही जीवन के समग्र गुणो का मूल बन सकता है। विनम्रता, मधुरता, कोमलता, मैत्री एव प्रमोद भावना, करुणा और माध्यस्थवृत्ति ये सब अहिंसा के ही अंग हैं। अहिंसा का सपूर्ण विकास तभी हो पाएगा, जब जीवन मे सद्‌वृत्तियो का विकास हो पाएगा। तभी हमारी साधना जो सहस्रधारा के रूप मे बहती आयी है, समग्र साधना बन सकती है और जीवन तथा जगत् के समस्त परिपार्श्वों को परिप्लावित कर सकती है।

२६
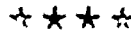
योग और क्षेम

एक बार किसी चरवाहे को जगल मे घूमते समय एक चमकीला रत्न मिला। चरवाहा बड़ा खुश हुआ। उसने रत्न को चमकदार पत्थर समझा और उससे खेलने लगा। उछालते-लपकते, ऐसा हुआ कि वह रत्न हाथ से छूटकर पास के अन्धकूप मे जा गिरा।

यह एक रूपक है। इसके द्वारा भारतीय सस्कृति का एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण विषय स्पष्ट होता है। इस रूपक पर यदि योग और क्षेम की दृष्टि से विचार करें, तो जान पाएँगे कि रत्न का मिलना एक बहुत ही महत्त्वपूर्ण योग था। लेकिन उस योग के साथ क्षेम नही रहा, फलत रत्न को गवाँ कर वह पहले की तरह खाली हाथ ही रह गया।

हमें यह जान लेना चाहिए कि योग और क्षेम का क्या अर्थ है, और उसकी क्या सीमा है ? सस्कृत और प्राकृत वाड्मय मे इन शब्दो की बहुत चर्चा हुई है। उपनिषद, गीता, जैनशास्त्र तथा बौद्धपिटक आदि मे स्थान-स्थान पर 'योगक्षेम' शब्द आया है। उस युग के ये जाने-माने शब्द थे। बीच की शताब्दियो मे जब सस्कृति-धारा का प्रवाह मन्द पडा तो इन शब्दो का स्पर्श जनता की आत्मा को उतना नही हो सका, जितना कि प्राचीन युगो मे था। अतः सम्भव है कि बहुत से सज्जन इन शब्दो की मूल भावना तक नही पहुँच पाए हो, इसलिए हम इन दोनो शब्दो का विस्तार पूर्वक चितन करेंगे।

योग का अर्थ

योग शब्द के पीछे अनेक विचार-परम्पराएँ जुडी हुई हैं। योग का एक अर्थ—'योगश्चित्तवृत्ति निरोधः' भी है। आसन, प्राणायाम आदि क्रियाओ के द्वारा चित्त के विकल्पो का निरोध करना योग है यह अर्थ योग साधना में काफी प्रसिद्ध है। किन्तु इसका एक दूसरा सर्व गाह्य अर्थ है—'अप्राप्तस्य प्राप्तिर्योगः।'

अप्राप्त वस्तु की प्राप्ति का नाम है योग, जिसे कि हम सयोग कहते भी हैं। जिसे पाने के लिए अनेकानेक प्रयत्न किए हो, अनेक आकाक्षाएँ मन मे उभरी हो, उस वस्तु का मिल जाना योग है। अथवा कभी आकस्मिक रूप से बिना प्रयत्न के अनचाहे ही किसी चीज

का मिल जाना भी योग है। यह योग प्राय. हर प्राणी को मिलता है। जो जीव जहाँ पर है, उसी गति-स्थिति के अनुसार, उसे अनुकूल या प्रतिकूल योग-संयोग मिलते रहते हैं। इसलिए मेरी दृष्टि में खाली संयोग का इतना महत्त्व नही है, जितना कि सुयोग का है। उस चरवाहे को हमेशा ही कंकर-पत्थर का सयोग मिलता था, किन्तु बहुमूल्य हीरे का सुयोग तो जीवन मे एक बार ही मिला! कुछ व्यक्ति जो सुयोग को ही महत्त्व देते हैं, उसे ही सब कुछ मान बैठते है, जीवन में कोई ख्याति या धन कमाने का कोई चान्स—संयोग मिल गया, तो बस उसे ही जीवन का श्रेष्ठतम सुयोग मान लेते है। साधारण मनुष्य की दृष्टि बाह्य वस्तुओ पर ही अधिक घूमती है, अत बाह्य रूप को ही वह अधिक महत्त्व देता है। और तो क्या, तीर्थंकरो के वर्णन मे भी स्वर्ण सिंहासन, रत्न मणिजटित छत्र और चामर आदि की चकाचौंध वाली उनकी बाह्य विभूतियो का ही प्रदर्शन करने की चेष्टा की जाती है। ससार के सभी मान-दण्डो का आधार ही आज बाह्य वस्तु, बाह्य शक्ति बन रही है।

इस प्रकार, साधारण दृष्टि मे किसी अच्छी वस्तु का प्राप्तिरूप योग का महत्त्व बहुत माना जाता है, किन्तु यदि योग के साथ क्षेम नही हुआ है तो कोरे योग से क्या लाभ ?

क्षेम का अर्थ :

योग के साथ क्षेम का होना आवश्यक है। क्षेम का अर्थ इस प्रकार किया गया है—

'प्राप्तस्य संरक्षणं क्षेमः।'

प्राप्त हुई वस्तु की रक्षा करना, उसका यथोचित उपयोग करना, क्षेम है। योग के साथ क्षेम उसी प्रकार आवश्यक है जिस प्रकार कि जन्म के बाद बच्चे का पालन-पोषण। सयोग से सुयोग श्रेष्ठ है, किन्तु सुयोग से भी बड़ा है—क्षेम, अर्थात् उचित सरक्षण, उचित उपयोग। धन कमाना कोई बड़ी बात नही है, किन्तु उसकी रक्षा करना, उसका सदुपयोग करना बहुत ही कठिन कार्य है। इसीलिए वह अधिक महत्त्वपूर्ण भी है। चरवाहे को रत्न का योग या सुयोग तो मिला, किन्तु वह उसका क्षेम नहीं कर सका। और, इसका यह परिणाम हुआ कि वह दरिद्र का दरिद्र ही रहा।

आपको मनुष्य जीवन का योग तो मिल गया। ऐसी दुर्लभ वस्तु मिली, जिसका सभी ने एक स्वर से महत्त्व स्वीकार किया है। देवता भी जिसकी इच्छा करते हैं, वह वस्तु आपको मिली। भगवान् महावीर ने तो इसको बहुत महत्त्वपूर्ण शब्द मे सम्बोधित किया है। उनके चरणो मे राजा या रंक, जब भी कोई मानव उपस्थित हुआ, तो उन्होंने उसे 'देवानुप्रिय' जैसे श्रेष्ठ सम्बोधन से पुकारा। देवानुप्रिय का अर्थ है—यह मानव जीवन देवताओ को भी प्यारा है। ऐसे देव दुर्लभ जीवन का योग मिलने पर भी यदि उसका क्षेम—सदुपयोग नही किया जा सका, तो क्या लाभ हुआ ? मनुष्य की महत्ता सिर्फ मनुष्य जन्म प्राप्त होने से ही नही होती, उसकी महत्ता है इसके उपयोग पर। जो प्राप्त मानव जीवन का जितना अधिक सदुपयोग करता है, उसका जीवन उतना ही महत्त्वपूर्ण होता है। यह जीवन तो अनेक बार पहले भी मिल चुका है, किन्तु उसका सदुपयोग नहीं किया गया। उस चरवाहे की तरह, बस उसे खेल की ही वस्तु समझ बैठे और आखिर खेल-खेल में ही उसे गवाँ भी दिया। इसलिए योग से क्षेम महान् है। सुयोग से उपयोग प्रधान है।

भारत की वैष्णव-परम्परा के सन्त अपने भक्त से कहते हैं कि तू भगवान् से धन की कामना मत कर, यहाँ तक कि अपनी आयु की कामना भी मत कर, किन्तु जीवन के सदुपयोग की कामना अवश्य कर। किन्तु जैन शास्त्रों में तो यहाँ तक कहा गया है कि जीवन-मरण की कामना भी न करो—

'जीविय नाभि कखेज्जा, मरण नाभिपत्थए।'

जीवन केवल जीने के लिए ही नही है, जीवन सदुपयोग के लिए है, अतः जीवन के सदुपयोग की कामना करो। इस प्राप्त शरीर से तुम ससार का कितना भला कर सकते हो, यह देखो। भारतवर्ष के आचार्यों का दर्शन बताता है कि तुम कभी अपने सुख की मांग मत करो, धन-वैभव की याचना मत करो, किन्तु विश्व की भलाई की कामना अवश्य करो। यदि संयोग से धन प्राप्त हो जाता है, तो उसके सदुपयोग की वृद्धि आए, यही कामना करो।

सस्कृत साहित्य मे भगवान् से प्रार्थना के रूप में कही गई एक पुरानी सूक्ति है—

"नत्वहं कामये राज्यं, न स्वर्गं नापुनर्भवम्।
कामये दु ख तप्तानां, प्राणिनामर्तनाशनम्॥"

भक्त कहता है—हे प्रभो! न मुझे राज्य चाहिए, न स्वर्ग और न अमरत्व ही ही चाहिए। किन्तु दुःखी प्राणियो की पीडा मिटा सकूँ, ऐसी शक्ति चाहिए। एक ओर आप पेट भर खाने के बाद भी आधी जूठन छोड कर उठते है, और दूसरी ओर एक इन्सान जूठी पत्तलें चाट कर भी पेट नही भर पाता है—यह विषमता जब तक मिट नही जाती, तब तक योग और क्षेम की साधना कहाँ हो सकती है? भूखा आदमी हर कोई पाप कर सकता है, पंचतन्त्रकार ने कहा है—

"बुभुक्षितः कि न करोति पापम्?"

भूखा आदमी कौनसा पाप नही कर सकता है? भूखा आदमी जैसे भी हो, क्रांति की बात करता है, अपने विद्रोह की ज्वाला से वह समाज की इन विषम-परम्पराओं को जला कर भस्म कर डालना चाहता है। अत' जिनके पास धन है, रोटी है, वे अपने योग का सही उपयोग करना सीखें, योग से क्षेम की ओर बढने की चेष्टा करें।

मान लीजिए, किसी के पास लाख रुपये है और वह अपनी आकाक्षाओं की पूर्ति के लिए उसका उपयोग करता है, अपनी वासना और अहकार की आग मे उसको झोंक देता है। तो इस प्रकार धन तो खर्च होगा, उसका उपयोग भी होगा, लेकिन वह उपयोग सदुपयोग नही है। उस स्थिति मे बाह्य दृष्टि से धन के प्रति लोभ-कषाय की मदता तो जरूर हुई, किन्तु उसी के साथ-साथ अहकार एव दुर्वासनाओ ने उसे कितना आक्रांत कर दिया है। यह तो वैसी ही बात हुई कि घर से बिल्ली को तो निकाला परन्तु ऊँट घुस आया। इसके विपरीत लोभ-कषाय की मदता से जो उदारता आई, उसके फलस्वरूप किसी असहाय की सहायता करने की स्वस्थ भावना जगी, तो वह श्रेष्ठ है। साथ ही जिस पीडित व्यक्ति को धन दिया जाता है, उसकी आत्मा को भी शान्ति मिलती है। उसके मन मे जो विद्रोह की भावनाएँ सुलग रही थी, दुर्विकल्पो का जो दावानल जल रहा था, उसमे भी सुधार होता है, उनका भी शमन होता है।

एक सन्त से किसी ने पूछा कि वह भोजन क्यों करते है ? क्या आप भूख के दास है ? उत्तर में गुरु ने कहा—भूख कुतिया है और लग जाने पर भूँकना शुरू कर देती है, परिणामस्वरूप इधर-उधर के अनेक दुर्विकल्प जमा हो जाते है। और भजन ध्यान आदि मे बाधा आने लगती है। इसीलिए उसके आगे रोटी के कुछ टुकड़े डाल देना चाहिए, ताकि भजन स्वाध्याय मे कोई विघ्न उपस्थित न हो।

तीन अवस्थाएँ :

हाँ, तो दुर्विकल्पों की सृष्टि भूख से होती है। जो दाता अपने धन से दूसरों की क्षुधा तृप्ति करता है, वह अपनी लोभ कषाय की मन्दता के साथ दूसरों की आत्मा को, शान्ति पहुँचाता है। जो धन अपने और दूसरों के काम नहीं आता, उसका उपयोग फिर तीसरी स्थिति मे होता है। धन की तीन गतियाँ मानी गई हैं—

"दानं भोगोनाशस्तिस्रोगतयो भवन्ति वित्तस्य।
यो न ददाति न भुंक्ते, तस्य तृतीया गतिर्भवति॥"

पहली गति है दान, जिनके पास जो है, वह दान करदें, जन-कल्याण मे लगाएँ। यह आदर्श है। दूसरी गति है—भोग। जिसके पास धन है वह स्वयं उनका उपभोग करके आनन्द उठाए। किन्तु जिनके पास ये दोनों ही नही है, न तो अपने धन का दान करते हैं, और न ही उपभोग। उसके लिए फिर तीसरा मार्ग खुला है विनाश का। जो अपने श्रम और अर्थ का दीन-दुखी की सेवा के लिए प्रयोग नही करके ससार की बुराई मे ही उपयोग करते है, उस धन और श्रम से उनको कोई लाभ नही होता, अपितु अकल्याण ही होता है, हानि ही होती है। एक कवि ने कहा है—

"विद्या विवादाय धनं मदाय,
शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
खलस्य साधोर्विपरीतमेतद्
ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥"

विद्या अज्ञान के अन्धकार को ध्वस्त करने के लिए है, ज्ञान के प्रकाश के लिए है। उस विद्या का उपयोग यदि पन्थों और मजहबों की लड़ाई मे किया जाए, तो उस विद्या से वातावरण पवित्र नही होता, बल्कि और अधिक कलुषित बन जाता है।

अजमेर सम्मेलन के अवसर पर एक परम्परा के किसी वृद्ध मुनि से किसी दूसरी परम्परा के मुनि ने सिद्धान्त कौमुदी के मंगल श्लोक का अर्थ पूछा। वृद्ध मुनि को उस श्लोक का अर्थ कुछ विस्मृत हो गया था। इस पर वह मुनि लोगों मे इस बात के प्रचार पर उतारू हो गया कि—ये कैसे पण्डित है ? एक श्लोक का अर्थ पूछा, वह भी नहीं बता सके ? दूसरी बार जब किसी विषय पर तत्त्व-चर्चा चल रही थी, तो मैंने उन्हें जरा गहराई में पकड़ लिया। प्रतिप्रश्न पूछा तो लगभग चुप रहे। आखिर उन्होंने स्वीकार किया कि मुझे स्मरण नहीं है। परन्तु अपनी इस विस्मृति का उन्होंने कहीं भी कोई जिक्र नहीं किया। विद्या के दंभ में आकर व्यक्ति दूसरों की गलती पर तो उसका मजाक उड़ाता है, किन्तु अपनी गलती की कभी कहीं चर्चा भी नहीं करता।

इसी प्रकार वह धन और शक्ति का दुरुपयोग करता है। तुम्हारे पास धन है तो इसका यह मतलब नहीं कि उससे दूसरो के लिए आफत खड़ी करो। धन, सम्पत्ति और

ऐश्वर्य दान के लिए होता है, न कि अहंकार के लिए। तुम्हारे पास यदि शक्ति है, तो किसी गिरते हुए को बचाओ, न कि उसको एक धक्का लगा कर और जोर से गिराने की चेष्टा करो।

शक्ति और विवेक

यह मान्यता सही नही है कि जो वस्तु मिली है उसका कुछ न कुछ उपयोग होना चाहिए, चाहे किसी भी रूप मे क्यो न हो, यह उलत धारणा है। उपभोग के साथ में विवेक का होना आवश्यक है। शक्ति तो दुर्योधन और दुःशासन मे भी थी, कंस और रावण मे भी थी, किन्तु उनकी शक्ति से विश्व को हानि ही पहुँची। इसलिए उनकी शक्ति आसुरी शक्ति कहलाई थी।

एक सेठ ने चन्दन की लकडियाँ खरीद कर अपने गोदाम भर रखे थे। सोचा था—चन्दन के भाव तेज होने पर इससे मुनाफा कमाऊँगा। इसी बीच सेठ किसी कार्यवश कही बाहर चला गया। पीछे वर्षा आने से घर मे ईंधन की कमी हुई, तो सेठानी ने इधर-उधर तलाश की। गोदाम को जब खोला, तो सेठानी लकडियो का ढेर देखकर बडी खुश हुई। सोची, वास्तव मे सेठ बडे ही बुद्धिमान हैं, जो समय पर काम आने के लिए घर में हर वस्तु का पहले से ही संग्रह कर रखते हैं। सेठानी ने धीरे-धीरे चन्दन की सब लकडियाँ जला डाली। पीछे से जब सेठ आया तो एकदिन मन में विचार किया कि चन्दन का भाव बहुत तेज हो गया है। अत अब बेचने से बहुत अच्छा लाभ मिल जाएगा। खुशी-खुशी उसने जब गोदाम खोला, तो एकदम सन्न रह गया कि यह क्या ? यहाँ तो सब चौपट हो गया ! उसने सेठानी से पूछा—चन्दन कहाँ गया ? सेठानी ने बताया—चन्दन-वन्दन तो मैं जानती नही, हाँ ! लकडियाँ थी, सो मैंने जलाने के काम मे ले ली।

सेठ ने गरज कर कहा—अरे वह तो चन्दन की थी। गजब कर दिया। तुझे कब अक्ल आएगी ? सेठानी ने तुनक कर कहा—मुझे क्या पता, कैसी लकडी हैं ? लकड़ी थी, जलाने के काम मे ले लीं। जरूरत पडे तो क्या करे कोई ? मैंने भी तो उनसे रोटी पकाई है। कोई बुरा काम तो किया ही नही।

सेठानी को बेचारा सेठ क्या समझाए कि जिन लकडियो से हजारो-लाखो रुपए कमाए जा सकते थे और जो औषधि के रूप मे हजारो-लाखो लोगो को लाभ पहुँचा सकती थी, उन्हे यो जलाकर राख कर डालना, कही कोई समझदारी है ?

यही स्थिति हमारे तन, धन और यौवन की है। जिस तन से ससार के सर्वश्रेष्ठ पद 'मुक्ति' की प्राप्ति हो सकती है, जिस जीवन से जगत् का विस्तार हो सकता है, उस तन को, उस जीवन को कीडो-मकोडो की तरह गवाँ देना, कौडी के मूल्य पर बर्बाद कर देना, क्या उस सेठानी की तरह ही बेवकूफी नही है ?

इसलिए हमे सिर्फ जो कुछ प्राप्त हुआ है उस पर ही नही इतराना चाहिए, बल्कि उसके सदुपयोग पर भी चिन्तन करना चाहिए। जब तक इन दोनो का सामंजस्य नहीं होगा, योग और क्षेम का समवतरण जीवन में नहीं होगा, तबतक मानव का कल्याण नही हो सकता। इस धरा पर जिन्हे मानव जीवन का योग मिला है, उन्हें अपने इस जीवन में क्षेम का भी ध्यान रखना चाहिए, जिससे उनका और विश्व का कल्याण हो सके।

★★★★

२७

धर्म और जीवन

एक बहुत ही पेचीदा और बहुत ही उलझा हुआ प्रश्न है कि जीवन और धर्म एक-दूसरे से पृथक् हैं या दोनो का केन्द्र एक ही है ? यह प्रश्न आज का नहीं, हजारों-हजारों साल पहले का है। साधना के क्षेत्र में बढ़ने वाले हर गुरु और हर शिष्य के सामने यह प्रश्न आया है। इस प्रश्न ने अनेक चिन्तकों के मस्तिष्कों को झकझोरा है कि जीवन और धर्म का परस्पर क्या सम्बन्ध है ?

जिस प्रकार यह प्रश्न अनादिकाल से चला आ रहा है, उसी प्रकार इसका उत्तर भी अनादिकाल से दिया जाता रहा है। हर गुरु, हर आचार्य और हर तीर्थंकर के सामने यह समस्या आई है कि जीवन और धर्म का क्या सम्बन्ध है ? और सभी ने अपनी ओर से इसका समुचित समाधान दिया है। उन्होंने बतलाया है कि जहाँ द्रव्य है, वहीं उसका स्वभाव भी है, जहाँ अग्नि है, वहीं उसका गुण—उष्णता भी है। जीवन चैतन्य स्वरूप है, धर्म उसका स्वभाव है तो फिर दोनों को पृथक्-पृथक् किस प्रकार किया जा सकता है ? जहाँ साधक है, जहाँ साधक की निर्मल चेतना की ज्योति जगमगाती है, वहीं धर्म का प्रकाश भी जगमगाता रहता है। इस प्रकार जीवन और धर्म का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है।

धर्म खिलौना नहीं है :

जब-जब धर्म का स्वरूप गढ़ना है, उसे किसी विशेष प्रकार की वेषभूषा, क्रियाकाण्ड और परम्पराओं में बाँधकर अलग रूप देने का प्रयास किया गया है, तब-तब उसे एक अमुक सीमित काल की चीज करार देकर पुकारने का प्रयत्न भी हुआ है। कुछ समय में धर्म को एक ऐसा रूप दिया गया कि वह जीवन में अलग पड़ने लगा। स्थिति यहाँ तक बन गई कि जिस प्रकार छोटा बच्चा किसी खिलौने से घड़ी-दो घड़ी खेलता रहता है, और फिर उस खिलौने को पटक देता है, खिलौना टूट-फूट जाता है और वह चल देता है। उसी प्रकार आज लोगों की, धर्म के सम्बन्ध में भी यही मनोवृत्ति बनी रही है। वे धर्म को अमुक प्रकार की क्रियाओं को—सामायिक, पौषध, प्रतिक्रमण, पूजापाठ आदि को घड़ी-दो घड़ी के लिए अपनाते हैं,

कुछ थके-से और कुछ अलसाये-से क्रियाकाण्ड के रूप मे धर्म के खिलौने से खेल लेते हैं और फिर इस कदर लापरवाही से पटक कर चल देते हैं कि ये धर्म से कोई वास्ता नही रखते। उन्हे फिर धर्म की कोई खबर नही रहती। इस प्रकार धर्म को दो-चार घड़ी की चीज मान लेने पर वह जीवन से भिन्न ही क्षेत्र की वस्तु बन गया। दैनिक जीवन के साथ उसका कोई सम्पर्क नही रहा और वह धर्म टुकडो मे विभक्त हो गया। साधना की धारा, जो सतत् अखण्ड प्रभावित होनी चाहिए थी, वह अमुक देश, काल और परम्पराओ से बँधकर अवरुद्ध एव क्षीण हो गई। जो धर्म जीवन का स्वामी था, वह उसके हाथ का खिलौना मात्र बन गया, घडी-दो घडी के मनोरजन की वस्तु बन गया। इस प्रकार धर्म की धारा खण्डित होकर जीवन मे रस और आनन्द की लहर पैदा नही कर सकी।

धर्म की फलश्रुति :

कुछ लोगों ने धर्म को इस जीवन की ही वस्तु समझा। उन्होने ऐश्वर्य, भोग और भौतिक आनन्द को ही धर्म के रूप मे देखा। सुखवादी दृष्टिकोण को लेकर वे जीवन के क्षेत्र मे उतरे और इस लोक की भौतिक सिद्धियो के क्षुद्र घेरे के भीतर ही भीतर घूमते रहे। धर्म की अनन्त सत्ता को उन्होने क्षुद्र शरीर से बाँध लिया और उसी एकागी धर्म की चर्या मे वे आये दिन परस्पर लडने-झगड़ने भी लगे। इस प्रकार धर्म का वास्तविक अन्तरग रूप उनको दृष्टि से ओझल होता गया और एक दिन शरीर से सांस की झकार के समाप्त होते ही समाप्त हो गया।

कुछ लोग धर्म का सम्बन्ध परलोक से जोडते हैं। जिसका अर्थ यह हुआ कि धर्म का प्रतिफल इस जीवन मे नही, परलोक मे है। यहाँ पर यदि तपस्या करोगे, तो आगे स्वर्ग मिलेगा, यहाँ पर दान करोगे तो आगे धन की प्राप्ति होगी। यहाँ पर हम जो भी कुछ धर्माचरण कर रहे हैं, उन सबका फल मरने के बाद परलोक मे मिलेगा। यानि दाम पहले दें और माल बाद मे। इस प्रकार क्षमा, दया, अहिंसा, त्याग, सेवा, परोपकार आदि समग्र साधना का फल वर्तमान जीवन मे न मानकर मृत्यु के बाद मान लिया गया।

वास्तव मे सच्चाई यह है कि धर्म का सस्कार जागृत होते ही उसका प्रतिबिम्ब जीवन मे झलकना चाहिए। यदि धर्माचरण की फलश्रुति एकान्त परलोक पर छोड दी जाती है, तो धर्म की तेजस्विता ही समाप्त हो जाती है। धर्म का दीपक आज यहाँ जलाएँ और उसका प्रकाश परलोक मे प्राप्त हो, यह सिद्धान्त उपयुक्त नही है। इस प्रकार तो कार्य और कारण का सिद्धान्त ही गलत हो जाएगा। ऐसा नही हो सकता कि कारण तो आज हो और उसका कार्य हजारो वर्ष बाद मे सम्पन्न हो। इस विषय मे भारतीय दर्शनो का एक ही मत है कि कार्य कारण से अलग नही रह सकता। कारण वही है, जिसके साथ ही साथ कार्य की उत्पत्ति प्रारम्भ हो जाए। दीपक अब जले और उसका प्रकाश घण्टे-दो घण्टे के बाद हो, ऐसा नही होता। जीवन मे भाव और अभाव एक ही साथ होते हैं। इधर दीपक जला, उधर तत्काल अन्धकार मिट गया, प्रकाश हो गया। प्रकाश का क्षण और अन्धकार के नाश का क्षण अलग-अलग नही होता, चूँकि दोनो एक ही क्रिया के दो पहलू हैं। जीवन मे जैसे ही सत्य, अहिंसा और सदाचार का प्रादुर्भाव होता है, असत्य, हिंसा और दुराचार का विनाश भी उसी क्षण हो जाता है। अशुद्धि के मिटते ही शुद्धि की क्रिया सम्पन्न हो जाती है। इस प्रकार,

भारतीय दर्शन उधार-धर्म को नहीं मानता। वह नगद-धर्म में विश्वास करता है। वह कहता है, यदि तुमने तपस्या की तो तुम्हारी शुद्धि अभी इसी क्षण प्रारम्भ हो गई। यदि हिंसा का त्याग किया तो जीवन मे तत्काल अहिंसा का प्रादुर्भाव हो गया। उसके एक हाथ मे कारण है, तो दूसरे हाथ मे कार्य है। दूसरे हाथ का भी अन्तर क्यों? एक ही हाथ मे सब कुछ है। जिस धर्म से जीवन मे पवित्रता, निर्मलता और प्रकाश न जगमगाए, उसमे सिर्फ भविष्य पर ही भरोसा रखना, अपने आप को धोखे मे डालना है। भगवान् महावीर ने कहा है कि साधक को धर्म की ज्योति का प्रकाश जीवन मे पग-पग पर प्राप्त करना चाहिए। जहाँ जीवन है, वहीं धर्म की ज्योति है। धर्म-स्थान, घर, बाजार, कार्यालय—जहाँ कहीं भी हो, धर्म का प्रकाश वहीं पर जगमगाना चाहिए। यह नहीं चल सकता कि आपका धर्मस्थान का धर्म अलग हो और बाजार का धर्म अलग हो। धर्मस्थल की साधना अलग हो और घर की साधना अलग हो। धर्मस्थल पर चींटी को सताते भी आपका कलेजा काँपता है और बाजार मे गरीबों का खून बहाने पर भी मन मे कुछ कम्पन न हो, यह कैसी बात रही? महावीर का धर्म इस द्वैत को बर्दाश्त नहीं कर सकता।

धर्म का स्रोत :

चिन्तकों ने कहा है कि यदि अन्तर मे धर्म का प्रकाश हो गया हो, तो कोई कारण नहीं कि बाहर मे अन्धकार रहे। अन्तर के आलोक मे विचरण करने वाला कभी बाहर के अन्धकार में नहीं भटक सकता। धर्म का सच्चा स्वरूप यही है कि यदि अन्तर मे वह प्रकट होकर आनन्द की स्रोतस्विनी बहाता है, तो वह निरन्तर ही सामाजिक, पारिवारिक एवं राष्ट्रीय जीवन के किनारों को सरसब्ज बनाएगा। नदी का, नहर का और तालाब का किनारा एवं परिपार्श्व कभी भी सूखा नहीं रह सकता। वहाँ हरी-भरी हरियाली की मोहक छटा छिटकती मिलेगी। यदि बाहर और अन्तर जीवन मे फर्क है, तो इसका मतलब यही है कि बाहर और भीतर दोनों ओर दिखावा ही दिखावा है, जीवन मे धर्म का देवता प्रकट हुआ ही नहीं है, सिर्फ उसका स्वांग ही रचा गया है। वचना और प्रतारणामात्र है।

भय और प्रलोभन :

दुर्भाग्य यह है कि धर्म और वैराग्य के कुछ ऐसे रूप बन गए हैं कि उनमें वही सबसे बड़ा साधक समझा जाता है जो जीवन में सब ओर से उदासीन रहे। वह हर समय हर क्षण मृत्यु की भयंकर यातनाओं को सामने रखता हुआ, जीवन के प्रति बिलकुल नीरसता का भाव बनाये रखे। उसकी वाणी पर हमेशा संसार के दुःख, पीड़ा एवं शोक से सम्बन्ध रखने वाली गाथाएँ मुखरित होती रहें। संसार के प्रति सदा ही उसका दृष्टिकोण घृणा, भय और अवसाद से भरा रहता है। इस प्रकार उस साधक के जीवन में सदा मुर्दनी छाई रहती है। और स्वयं मृत्यु भी मृत्यु रूप बन कर उसकी आँखों में नाचने लगती है। ऐसा साधक साधना के अन्दर रस का आस्वादन नहीं कर पाता। जीवन की रस धारा एवं निर्मलता का आनन्द नहीं ले सकता और न ही धर्म का स्वरूप इन्सान [illegible] उभार सकता है।

भारतीय दर्शनों में नरक का [illegible] और [illegible] का विस्तार [illegible] किया गया है और कहा गया है कि स्वर्ग [illegible] मुक्ति [illegible] है। किन्तु यदि नरक [illegible]

यातनाओं और पीडाओ से घबरा कर व्यक्तिगत मुक्ति पाने के लिए ही हम धर्म की शरण लेते हैं, तो यह स्थिति उस बच्चे की स्थिति के समान हुई, जो गली मे कुत्ते के डर से रोता-चिल्लाता और भागता हुआ माता की गोद मे आकर चिपक जाता है। बच्चे की इस दौड मे प्रेम का रस नही है। वह माता-पिता की गोद मे प्रेमवश नही गया है, बल्कि कुत्ते के भय से घबराकर गया है। यदि कुत्ते का भय नही होता तो वह दिन भर गली मे खेलता रहता। माता के बुलाने पर भी खेल छोडकर नही आता। आज इसी बच्चे के समान हजारो साधको की स्थिति है। वे साधक ससार के दु खो, कष्टो और यातनाओं के भय से भागकर भगवान् और धर्म की गोद मे दौड़े आ रहे हैं। भजन, ध्यान आदि का क्रम चल रहा है जरूर, किन्तु ये सब नरक आदि के दु.खरूप कुत्तो के डर से भागकर धर्म और साधना की गोद में जाने जैसी ही क्रियाएँ हैं। उनके सामने भगवान् का, धर्म का प्रेम नही है बल्कि नरक के कुत्ते का डर है। वही एक डर उनकी आँखो मे छाया हुआ है। उन्हें उस भय से, उन दु.खो और कष्टो से मुक्ति चाहिए और कुछ नहीं। किन्तु भारतवर्ष के विचारशील आचार्यों ने, सुविज्ञ मनीषियो ने कहा है कि इस प्रकार कष्टो, दु खो और पीडाओ से आतकित, भयप्रताड़ित एवं विक्षुब्ध होकर त्राण पाने की चेष्टा में धर्माराधन करने वाला व्यक्ति मुक्ति प्राप्त नही कर सकता। जो भय और पीडाओ से संत्रस्त एव व्याकुल होकर मुक्ति के लिए प्रयत्न करता है, उसे मुक्ति नही मिल पाती। भय तो स्वय कर्म विशेष के उदय भाव का द्योतक है। वह मोहनीय कार्य का एक अग है। चाहे वह व्यक्तिगत जीवन मे हो, या परलोक सम्बन्धी पीडाओ और दु खो की कल्पना से उद्‌भूत हुआ हो, अथवा भूतकाल की यातनाओ और संकटो के स्मरण से उत्पन्न हुआ हो, भय आखिर भय है। भय की जाति एक ही है। भयगर्भित धर्म एव दुःखजनित वैराग्य साधना के मार्ग को प्रशस्त नही बना सकते। इसीलिए आचार्यों ने कहा है—

"नो इहलोगाससप्पओगो।
नो परलोगाससप्पओगो॥"

वर्तमान जीवन की आशसा प्रलोभन को छोड़ो और परलोक की आशंसा प्रलोभन को भी छोडो। दु ख और सुख, जीवन और मरण के बीच का जो मार्ग है, उस पर बढ़ो। वह साधना का सही मार्ग है। जैन दर्शन ने जिस प्रकार भय, प्रताडित भावनाओ को हेय माना है, उसी प्रकार लोभाकुल विचारो को भी निकृष्ट कोटि पर रखा गया है। साधना के पीछे दोनों ही नही होने चाहिए। स्वर्ग के सुखो का प्रलोभन भी मनुष्य को दिग्मूढ कर देता है। जिस प्रकार सात भय मे परलोक का भय भी एक भय है, उसी प्रकार स्वर्गादिक प्राप्ति की कामना भी एक तीव्र आसक्ति है। दोनो ही मोहनीय कर्म के उदय का फल है! इसके पीछे मनोवैज्ञानिक पहलू यह है कि जो भय एव प्रलोभन के कारण (चाहे वह लौकिक हो अथवा पारलौकिक) साधना पथ पर चरण बढाता है, वह उस भय एव प्रलोभन की भावना के हटते ही साधना पथ को छोडकर दूर हो जाता है। चूँकि यह निश्चित है कि जो जिस कारण से प्रेरित होकर कार्य करता है, उस कारण के हटते ही वह कार्य भी अवरुद्ध हो जाएगा। इस प्रकार उस साधना के पीछे सहज निष्ठा और ईमानदारी की भावना नही रहती, प्राणार्पण की वृत्ति नही रहती, बल्कि सिर्फ सामायिक एव तात्कालिक आवेश और लाभ की भावना रहती है।

ऐसा व्यक्ति भावना के क्षेत्र में सतत आनंदित नहीं रह सकता। भावना का तेज और उल्लास उसके चेहरे पर दमकता नजर नहीं आता।

साधना की अग्नि में आत्मा की शुद्धि और उसकी पवित्रता एवं निर्मलता कुछ ऐसी हो कि वैयक्तिक, पारिवारिक, सामाजिक एवं राष्ट्रीय जीवन में उसकी निर्मल ज्योति निखरे। उसमें आनन्द एव रस का प्रवाह बहे। एक महान् आचार्य ने साधक को सम्बोधित करते हुए कहा कि तू साधना के क्षेत्र में आया है। भगवान् का स्मरण एवं जप आदि करता है, परन्तु उसके फलस्वरूप यदि किसी प्रकार के फलविशेष की मांग उपस्थित करता है, तो इस प्रकार स्वय ही आदान-प्रदान और प्रतिफल निश्चित करने का तुझे कोई अधिकार नहीं है। तू तो बस साधना कर। उसके लिए सिद्धि की लालसा क्यों करता है? उसके फल के प्रति क्यों आसक्त रहता है? फल की कामना से की गई साधना वास्तव में शुद्ध साधना नहीं कहलाती है। शास्त्रों में कहा है—

'सव्वत्थ भगवया अनियाणया पसत्था'[1]

भगवान् ने निष्काम साधना (अनिदान वृत्ति) की प्रशंसा की है। एक सुप्रसिद्ध आचार्य ने भगवान् की स्तुति करते हुए कहा है कि 'हे भगवन्! मैंने जो भी आपकी प्रार्थना एव स्तुति की है, आप श्री के चरणों मे जो भी श्रद्धा पुष्प चढ़ाए हैं, वे कोई शेर, सर्प, चोर, जल, अग्नि, व्याधि, नरक आदि दुःखों से बचने के लिए नहीं चढ़ाए हैं, बल्कि मेरे अन्तर मानस मे आपका दिव्य प्रकाश जगमगाए और मैं प्रभुमय बन जाऊँ, बस मेरी श्रद्धांजलि इतने ही अर्थ में कृतार्थ हो जाएगी।' यदि कोई चिलचिलाती धूप मे तप रहा हो, रेगिस्तान की तन झुलसती गर्मी मे जल रहा हो, और पास मे कोई हरा-भरा छायादार वृक्ष खड़ा हो तो यात्री को वृक्ष से छाया एव शीतलता प्रदान करने की प्रार्थना नहीं करनी पड़ती। बस छाया में जाकर बैठने की आवश्यकता है। बैठते ही शीतलता प्राप्त हो जाएगी। किन्तु यदि वह दूर खड़ा-खड़ा सिर्फ वृक्ष से छाया की केवल याचना करता रहे, तो वृक्ष कभी भी निकट आकर छाया नहीं देगा, ताप नहीं मिटाएगा। वृक्ष से छाया की याचना करना मूर्खता है।[2] इसी प्रकार संसार के मरुस्थल मे भटकते-भटकते अनादिकाल बीत गया। अच्छा समय आया कि सद्गुणों का धर्ता सद्गुरु मिल गया, सद्गुणों का उपदेश मिल गया, एक तरह से कल्प वृक्ष ही मिल गया और धर्मरूप कल्पवृक्ष की शीतल छाया में आप आ गए, तो बस आपका काम पूरा हो गया। उसकी छाया मे जाना आपका कर्त्तव्य है, इसके बाद फल प्राप्ति के लिए प्रार्थना करने की जरूरत नहीं। छाया मे आते का फल अपने आप प्राप्त हो जाता है। धर्म से दूर रहकर सिर्फ दुःखों से मुक्ति दिलाने के लिए प्रार्थना करता रहे, तो उसमे कुछ मिलने का नहीं है। यदि आप धर्म की शीतल छाया मे आकर बैठ गये तो फिर आपके भव-ताप को मिटाकर शान्ति प्रदान करने की जिम्मेदारी धर्म की है। अतः धर्म की छाया में निष्काम भाव से आकर बैठने की आवश्यकता है। भय एवं प्रलोभन, फल कामना की भावना को त्यागकर निष्काम भाव से धर्म की छाया मे बैठे रहो, अपने आप दुःखों से त्राण मिल जाएगा।

---

1. [illegible]
2. [illegible]
[illegible] ॥

अन्तर का देवता

एक उक्ति है कि स्वर्ग के लिए प्रयत्न करने वालो को स्वर्ग नही मिलता। देवताओ के पीछे भटकने वाले पर देवता प्रसन्न नही होते। भगवान् महावीर का जन्म जिस युग मे हुआ था, उस युग मे लोग दु खो से मुक्ति पाने के लिए देवी-देवताओ की मनौती करते थे, उनकी स्तुति, सेवा आदि करके उन्हें प्रसन्न करना चाहते थे। ऐसे युग मे भगवान् महावीर ने उन साधको को सावधान किया था, जो आँख बन्द कर देवताओ के पीछे दौड रहे थे। भगवान् महावीर ने कहा—'साधक देवताओ के लिए नही है, किन्तु देवता साधको के लिए है। 'साधक देवता के चरणो मे नही, अपितु देवता ही साधक के चरणों मे नमस्कार करते हैं।' उन्होंने आध्यात्मिक जीवन की भूमिका स्पष्ट करते हुए बतलाया कि—

'देवावि तं नमसंति जस्स धम्मे सयामणो।'

देवता उसे नमस्कार करते हैं, जिसका मन धर्म मे अर्थात् अपने स्वरूप मे रमण करता है। हमलोग देवता को बहुत बडी हस्ती समझ बैठे हैं, किन्तु मनुष्य के सामने देवता का कोई मूल्य नही है। देवता तो स्वय मनुष्य रूप मे जन्म लेकर आध्यात्मिक साधना करने के लिए लालायित रहते हैं। एक नही, कोटि-कोटि देवता आध्यात्मिक साधक की सेवा मे सलग्न रहकर अपना अहोभाग्य समझते हैं।

चाडाल पुत्र हरिकेश को अपने प्रारम्भिक जीवन मे कितनी पीडाएँ और कितनी दारुण यातनाएँ सहनी पडी थी। परन्तु धर्म मे अपने मन को उतारने के बाद वही चाडाल पुत्र हरिकेश मुनि बना और साधना का तेज बढाने लगा, तो उसका तप-तेज इतना उग्र और विशाल हुआ कि देवता भी उसकी चरण धूलि लेने को पीछे-पीछे फिरने लगे। एकदिन जिसका कोई नही था, उसी को एक दिन देवता सादर नमस्कार करने लगे। वह शक्ति, वह साधना कही बाहर से नही आई, किन्तु उसी के अन्तरतम में छिपी दिव्य शक्ति का विकास थी वह। जब अन्तर का देवता जग गया, उसकी अमिट शक्ति का परम तेज का आलोक इधर-उधर जगमगाने लग गया, तो ससार के देवता अपने आप चरणो मे दौडे आए।

जब तक प्राणी परभाव मे चलता है, तबतक उसकी गति अधोमुखी होती है। वह समझ नही पाता कि देवता बडा है या मैं बडा हूँ। अपने जीवन को पशु की तरह गुजारता हुआ वह सदा भटकता रहता है, गिडगिडाता रहता है। किन्तु जब अपना बोध होता है, अन्तर का ऐश्वर्य और तेज निखरता है, तो फिर किसी अन्य के द्वार पर जाने की जरूरत नही रहती। यहाँ तक कि भगवान् के द्वार पर भी भक्त नही जाता बल्कि भगवान् ही भक्त के पीछे-पीछे दौडता है। भारतवर्ष का एक साधक जिसमे विचित्र प्रकार का आत्म-गौरव और आत्मतेज जगा था, उसने भक्तो से कहा है कि तुम क्यो भगवान् के पीछे पडे हो? यदि तुम सच्चे भक्त हो, तुम्हारे पास सच्चा धर्म है, धर्म के प्रति अतर मे वास्तविक आनन्द और उल्लास है, तो भगवान् स्वय तुम्हारे पास आयेगा।

"मन ऐसा निर्मल भया, जैसा गगानीर।"
पीछे-पीछे हरि फिरत, कहत कबीर-कबीर॥"

यह साधक की मस्ती का गीत है। जब मन का दर्पण निर्मल हो गया, उसमें भगवत्स्वरूप प्रतिविम्बित होने लगा, तो साधक को कही दूर जाने की आवश्यकता नही है। साधना के दृढ आसन पर बैठने वाले के समक्ष ससार का समग्र वैभव, ऐश्वर्य और शासन केन्द्रित हो जाता है और तब वह अपना भगवान्, अपना स्वामी खुद हो जाता है। उसे फिर दूसरो की कोई अपेक्षा नही रहती।

अपना नाथ

भगवान् महावीर के समय मे अनाथी नाम के एक मुनि हो गए हैं। वे अपने घर मे विपुल वैभव और ऐश्वय सम्पन्न व्यक्ति थे। विशाल वैभव, माता-पिता का कोमल स्नेह, पत्नी का अनन्य प्रेम—इन सबको ठुकराकर उन्होने साधना का मार्ग स्वीकार किया और राजगृह के शैल-शिखरो की छाया मे, लहलहाते वनप्रदेश मे जाकर सजीव चट्टान की तरह साधना मे स्थिर होकर खडे हो गए। भगवान् महावीर ने उसके अन्तर मे त्याग और साधना के दिव्य सौन्दर्य को देखा। किन्तु जब राजा श्रेणिक ने उसे देखा, तो उसका दृष्टिकोण उसके वाह्य रूप एव यौवन के सौन्दर्य पर ही अटका रह गया और उसी पर मुग्ध हो गया। श्रेणिक के मन में विचार आया कि यह युवक साधना के मार्ग पर क्यो आया है? उसने युवक से साधु बनने का कारण पूछा, तो युवक ने नम्र भाव से उत्तर दिया "राजन्! मैं अनाथ हूँ! मेरा कोई सहारा नही था। इसलिए मुनि बन गया।"

श्रेणिक ने इस उत्तर को अपने दृष्टिकोण से नापा कि युवक गरीब होगा, अत-एव अभावो और कष्टो मे प्रताडित होकर गृहस्थ जीवन से भाग आया है। राजा के मन मे एक सिहरन हुई कि न जाने इस प्रकार कितने होनहार युवक अभावो से ग्रस्त होकर साधु बन जाते हैं और ये उभरती तरुणाइयाँ, जिनमे जीवन का भविष्य उज्ज्वल हो सकता है, यो ही वर्बाद हो जाती हैं। श्रेणिक इन विचारो की उधेड़ बुन मे कुछ देर खोया-खोया-सा रहा और फिर युवक की आँखो में झाँकता हुआ-सा बोला—"यदि तुम अनाथ हो और तुम्हारा कोई सहारा नहीं है, तो मैं तुम्हारा नाथ बनने को प्रस्तुत हूँ।" इस पर उस युवक साधक ने, जिसको साधना के अनन्त सागर की कुछ बूँदो का रसास्वाद प्राप्त हुआ था, बडे ओजस्वी और निर्भय शब्दो मे कहा—"राजन्! तुम तो स्वय अनाथ हो, फिर मेरा नाथ बनने की बात कैसे कर सकते हो? जो स्वय अनाथ हो, भला वह दूसरो के जीवन का नाथ किस प्रकार हो सकता है?"

युवक साधक ने यह बहुत बडी बात कही थी। यह बात केवल जिह्वा से नहीं बल्कि अन्तर्हृदय से कही गई थी। उसके शब्द अन्तर से उठकर आ रहे थे, तभी ये इतने वजनदार और इतने सच्चे थे। राजा श्रेणिक के ज्ञानचक्षु पर फिर भी पर्दा पड़ा रहा। उसने सोचा, शायद युवक को मेरे ऐश्वर्य और वैभव का पता नहीं है, अतः थोड़ा आत्म परिचय दे देना चाहिए। राजा ने कहा—"मुझे जानते हो, मैं कोई साधारण आदमी नही हूँ। मगध का सम्राट् हूँ। मेरा विशाल वैभव एव अपार ऐश्वर्य मगध के कण-कण मे बोल रहा है।" इसके उत्तर मे युवक मुनि (अनाथी) ने कहा—"तुम मेरे भाव को न समझे, मेरी भाषा में नहीं समझे। शब्दो के चक्कर मे उलझ कर उनकी आत्मा से बहुत दूर चले गए। तुम तो मगध के ही सम्राट् हो, किन्तु चक्रवर्ती और इन्द्र भी अनाथ हैं।

वे भी विषय-वासना, भोग-विलास और ऐश्वर्य के दास हैं। तुम भी संसार के इन्ही दासों में से एक हो। तुम अपनी इन्द्रिय, मन और इच्छाओ के इशारे पर क्रीतदास की तरह नाच रहे हो, तो फिर दूसरो के नाथ किस प्रकार वन सकते हो ? जो स्वयं अपने विकारों के समक्ष दव जाता है, अपने आवेगो के समक्ष हार जाता है, वह किस प्रकार दूसरो पर शासन कर सकता है ? जव तुम अपने मन की गुलामी से भी छुटकारा नही पा सकते हो, तो संसार के इन तुच्छ वैभव और ऐश्वर्यों की वात करते हो ? जिनके भरोसे तुम दूसरो के नाथ वनना चाहते हो"

अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक का यह संवाद जीवन विजय का संवाद है। यह सदेश साधना की उस स्थिति पर पहुँचाता है, जहाँ भक्त को भगवान् के पीछे दौडने की जरूरत नही रहती, वल्कि जहाँ वह होता हैं, वही पर भगवान् उतर आते हैं। अनाथी मुनि की वाणी मे वही भगवान् महावीर की दिव्य आत्मा वोल रही थी। उन्होंने जो सदेश श्रेणिक को दिया, वह उनका अपना नही, महावीर का ही सदेश था। महावीर की आत्मा स्वय उसके अन्तर मे जागृत हो रही थी।

जीवन का लक्ष्य और धर्म का संस्कार तो ऐसा ही होना चाहिए कि भगवान् की ज्योति और प्रकाश साधक के अग-अग में प्रकाशित होने लग जाए। उसके सस्कारो का कोना-कोना उसी प्रकाश से आलोकित होने लग जाए। किसी शायर ने ऐसी ही चरमदशा का चित्र उपस्थित करते हुए कहा है—

"शहरे तन के सारे दर्वाजो पे हो गर रोशनी।
तो समझना चाहिए कि वहाँ हुकूमत इल्म की॥"

इस शरीर रूपी शहर के हर गली-कूचे और दरवाजो पर यदि रोशनी हो, उसका कोना-कोना जगमगाता हो, तो समझना चाहिए कि उस शरीर रूपी शहर पर आत्मा का शासन चल रहा है। वहाँ का स्वामी स्वय घर मे है और वह पूरे होश मे है। उस शहर पर कोई हमला नही कर सकता और न ही कोई दूसरा उसका नाथ वन सकता है।

इस प्रकार हमारे जीवन मे धर्म का स्रोत प्रतिक्षण और पद-पद पर वहता रहना चाहिए, जिससे कि आनन्द, उल्लास और मस्ती का वातावरण वना रहे। जीवन मे धर्म का सामंजस्य होने के वाद, साधक को अन्यत्र कही दूर जाने की जरूरत नही। मुक्ति के लिए भी कही दूर जाना नही है, अपितु अन्दर की परतो को भेद कर अन्दर मे ही उसे पाना है।

धर्म और ध्यान

साधना, जिसे हम वीतराग साधना कहते हैं, जो वृत्तियो के दमन मे या शमन से सम्वन्धित न होकर क्षमण से सम्वन्धित है, अतः वह क्षामिक साधना है। प्रश्न है, उसका मूल आधार क्या है ? वह कैसे एव किस रूप मे की जा सकती है ?

उक्त प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द मे दिया जा सकता है, वह शब्द है—'ध्यान।' महावीर की साधना का आन्तरिक मार्ग यही था। ध्यान के मार्ग से ही वे आत्मा की गह-

वे भी विषय-वासना, भोग-विलास और ऐश्वर्य के दास हैं। तुम भी ससार के इन्ही दासो मे से एक हो। तुम अपनी इन्द्रिय, मन और इच्छाओ के इशारे पर क्रीतदास की तरह नाच रहे हो, तो फिर दूसरो के नाथ किस प्रकार वन सकते हो? जो स्वय अपने विकारो के समक्ष दव जाता है, अपने आवेगो के समक्ष हार जाता है, वह किस प्रकार दूसरो पर शासन कर सकता है? जव तुम अपने मन की गुलामी से भी छुटकारा नही पा सकते हो, तो संसार के इन तुच्छ वैभव और ऐश्वर्यों की वात करते हो? जिनके भरोसे तुम दूसरो के नाथ वनना चाहते हो"

अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक का यह सवाद जीवन विजय का सवाद है। यह सदेश साधना की उस स्थिति पर पहुँचाता है, जहाँ भक्त को भगवान् के पीछे दौडने की जरूरत नही रहती, वल्कि जहाँ वह होता हैं, वही पर भगवान् उतर आते हैं। अनाथी मुनि की वाणी मे वही भगवान् महावीर की दिव्य आत्मा वोल रही थी। उन्होंने जो सदेश श्रेणिक को दिया, वह उनका अपना नही, महावीर का ही सदेश था। महावीर की आत्मा स्वय उसके अन्तर मे जागृत हो रही थी।

जीवन का लक्ष्य और धर्म का सस्कार तो ऐसा ही होना चाहिए कि भगवान् की ज्योति और प्रकाश साधक के अग-अग में प्रकाशित होने लग जाए। उसके संस्कारो का कोना-कोना उसी प्रकाश से आलोकित होने लग जाए। किसी शायर ने ऐसी ही चरमदशा का चित्र उपस्थित करते हुए कहा है—

"शहरे तन के सारे दर्वाजो पे हो गर रोशनी।
तो समझना चाहिए कि वहाँ हुकूमत इल्म की॥"

इस शरीर रूपी शहर के हर गली-कूचे और दरवाजो पर यदि रोशनी हो, उसका कोना-कोना जगमगाता हो, तो समझना चाहिए कि उस शरीर रूपी शहर पर आत्मा का शासन चल रहा है। वहाँ का स्वामी स्वय घर मे है और वह पूरे होश मे है। उस शहर पर कोई हमला नही कर सकता और न ही कोई दूसरा उसका नाथ वन सकता है।

इस प्रकार हमारे जीवन मे धर्म का स्रोत प्रतिक्षण और पद-पद पर वहता रहना चाहिए, जिससे कि आनन्द, उल्लास और मस्ती का वातावरण बना रहे। जीवन मे धर्म का सामजस्य होने के वाद, साधक को अन्यत्र कहीं दूर जाने की जरूरत नही। मुक्ति के लिए भी कही दूर जाना नही है, अपितु अन्दर की परतो को भेद कर अन्दर मे ही उसे पाना है।

धर्म और ध्यान

साधना, जिसे हम वीतराग साधना कहते हैं, जो वृत्तियो के दमन से या शमन से सम्वन्धित न होकर क्षमण से सम्वन्धित है, अतः वह क्षामिक साधना है। प्रश्न है, उसका मूल आधार क्या है? वह कैसे एव किस रूप मे की जा सकती है?

उक्त प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द मे दिया जा सकता है, वह शब्द है—'ध्यान।' महावीर की साधना का आन्तरिक मार्ग यही था। ध्यान के मार्ग मे ही वे आत्मा की गह-

राई मे अपने अनन्त ईश्वरत्व को प्रगट कर सके, विशुद्ध आध्यात्मिक सत्ता तक पहुँच सके। आध्यात्मिक साधना का अर्थ ही ध्यान है।

वस्तुत ध्यान से ही आध्यात्मिक तथ्य को वास्तविकता का बोध होता है। ध्यान जीवन की बिखरी हुई शक्तियो को केन्द्रित करता है, चैतन्य की अन्तर्निहित अनन्त क्षमता का उद्घाटन करता है। ध्यान आध्यात्मिक शक्ति की पूर्णता का विस्फोट है, जीवन की समग्र सत्ता का एक वास्तविक जागरण है। ध्यान हमारी अशुद्ध शक्तियो का शोधन करता है। ध्यान के द्वारा ही चेतना की अशुभ धारा शुभ मे रूपान्तरित होती है, शास्त्र की भाषा मे कहें, तो चेतना की शुभाशुभ समग्र धारा शुद्ध मे सक्रमित हो जाती है। प्रकाश मे जैसे अन्धकार विनष्ट हो जाता है, वैसे ही ध्यान की ज्योति मे विकृतियाँ सर्वतोभावेन समाप्त हो जाती हैं। विकृतियो का तभी तक शोरगुल रहता है, जबतक कि चेतना सुप्त है। चेतना की जागृति मे आध्यात्मिक सत्ता का अथ से इति तक सपूर्ण कायाकल्प ही हो जाता है, फलत अन्तरात्मा मे एक अद्भुत नीरव एव अखण्ड शान्ति की धारा प्रवाहित होने लगती है। चेतना के वास्तविक जागरण मे कोई न तनाव रहता है, न पीडा, न दु ख, न द्वन्द्व। जिसे हम मन की आकुलता कहते हैं, चित्त की व्यग्रता कहते है, उसका तो कही अस्तित्व तक नही रहता। ध्यान चेतना के जागरण का अमोघ हेतु है। हेतु क्या, एक तरह से यह जागरण ही तो स्वय ध्यान है।

ध्यान का अर्थ है—अपने को देखना, अन्तर्मुख होकर तटस्थ भाव से अपनी स्थिति का सही निरीक्षण करना। सुख-दु ख की मान-अपमान की, हानि-लाभ की, जीवन-मरण की जो भी शुभाशुभ घटना हो रही है, उसे केवल देखिए। राग-द्वेष से परे होकर तटस्थ भाव से देखिए। केवल देखना भर है, देखने के सिवा और कुछ नही करना है। बस, यही ध्यान है। शुभाशुभ का तटस्थ दर्शन, शुद्ध 'स्व' का तटस्थ निरीक्षण। चेतना का बाहर से अन्दर मे प्रवेश! अन्दर मे लीनता।

सर्व प्रथम स्थान—शरीर की स्थिरता, फिर मौन—वाणी की स्थिरता, और फिर ध्यान—अन्तर्मन की स्थिरता। आज भी हम कायोत्सर्ग की स्थिति मे ध्यान करते समय यही कहते है—'ठाणेण, मोणेणं झाणेण अप्पाण वोसिरामि।' महावीर के ध्यान का यही क्रम था। और, इस प्रकार तप करते-करते महावीर का ध्यान हो जाता था, अथवा यो कहिए कि ध्यान करते-करते अन्तर्लीन होते-होते तप हो जाता था। यदि स्पष्टता के साथ वस्तुस्थिति का विश्लेषण किया जाए, तो ध्यान स्वय तप है। स्वयं भगवान् की भाषा मे अनशन आदि तप बाह्य तप हैं। इनका सम्बन्ध शरीर से अधिक है। शरीर की भूख प्यास आदि को पहले निमन्त्रण देना और फिर उसे सहना, यह बाह्य तप की प्रक्रिया है। और ध्यान अन्तरग तप है, अन्तरग अर्थात् अन्दर का तप, मन का तप, भाव का तप, स्व का स्व मे उतरना, स्व का स्व मे लीन होना। महावीर की यह आत्माभिमुख ध्यान-साधना धीरे-धीरे सहज होती गई, अर्थात् अन्तर्लीनता बढ़ती गई। विकल्प कम होते गए, चचलता-उद्विग्नता कम होती गई और इस प्रकार धीरे-धीरे निर्विकल्पता, उदासीनता, अना-कुलता, वीतरागता विकसित होती गई। ध्यान सहज होता गया, हर क्षण हर स्थिति मे

वे भी विषय-वासना, भोग-विलास और ऐश्वर्य के दास हैं। तुम भी ससार के इन्ही दासो मे से एक हो। तुम अपनी इन्द्रिय, मन और इच्छाओ के इशारे पर क्रीतदास की तरह नाच रहे हो, तो फिर दूसरो के नाथ किस प्रकार बन सकते हो? जो स्वय अपने विकारो के समक्ष दब जाता है, अपने आवेगो के समक्ष हार जाता है, वह किस प्रकार दूसरो पर शासन कर सकता है? जब तुम अपने मन की गुलामी से भी छुटकारा नही पा सकते हो, तो ससार के इन तुच्छ वैभव और ऐश्वर्यों की बात करते हो? जिनके भरोसे तुम दूसरो के नाथ बनना चाहते हो"

अनाथी मुनि और राजा श्रेणिक का यह सवाद जीवन विजय का सवाद है। यह सदेश साधना की उस स्थिति पर पहुँचाता है, जहाँ भक्त को भगवान् के पीछे दौडने की जरूरत नही रहती, बल्कि जहाँ वह होता हैं, वही पर भगवान् उतर आते हैं। अनाथी मुनि की वाणी मे वही भगवान् महावीर की दिव्य आत्मा बोल रही थी। उन्होंने जो सदेश श्रेणिक को दिया, वह उनका अपना नही, महावीर का ही सदेश था। महावीर की आत्मा स्वय उसके अन्तर मे जागृत हो रही थी।

जीवन का लक्ष्य और धर्म का सस्कार तो ऐसा ही होना चाहिए कि भगवान् की ज्योति और प्रकाश साधक के अग-अग में प्रकाशित होने लग जाए। उसके सस्कारों का कोना-कोना उसी प्रकाश से आलोकित होने लग जाए। किसी शायर ने ऐसी ही चरमदशा का चित्र उपस्थित करते हुए कहा है—

"शहरे तन के सारे दर्वाजो पे हो गर रोशनी।
तो समझना चाहिए कि वहाँ हुकूमत इल्म की॥"

इस शरीर रूपी शहर के हर गली-कूचे और दरवाजो पर यदि रोशनी हो, उसका कोना-कोना जगमगाता हो, तो समझना चाहिए कि उस शरीर रूपी शहर पर आत्मा का शासन चल रहा है। वहाँ का स्वामी स्वय घर मे है और वह पूरे होश मे है। उस शहर पर कोई हमला नही कर सकता और न ही कोई दूसरा उसका नाथ बन सकता है।

इस प्रकार हमारे जीवन मे धर्म का स्रोत प्रतिक्षण और पद-पद पर बहता रहना चाहिए, जिससे कि आनन्द, उल्लास और मस्ती का वातावरण बना रहे। जीवन मे धर्म का सामजस्य होने के बाद, साधक को अन्यत्र कही दूर जाने की जरूरत नही। मुक्ति के लिए भी कही दूर जाना नही है, अपितु अन्दर की परतो को भेद कर अन्दर मे ही उसे पाना है।

धर्म और ध्यान

साधना, जिसे हम वीतराग साधना कहते हैं, जो वृत्तियो के दमन से या शमन से सम्बन्धित न होकर क्षमण से सम्बन्धित है, अतः वह क्षामिक साधना है। प्रश्न है, उसका मूल आधार क्या है? वह कैसे एव किस रूप मे की जा सकती है?

उक्त प्रश्न का उत्तर एक ही शब्द मे दिया जा सकता है, वह शब्द है—'ध्यान।' महावीर की साधना का आन्तरिक मार्ग यही था। ध्यान के मार्ग से ही वे आत्मा की गह-

होता गया। महावीर के जीवन मे आकुलता के, पीडा के, द्वन्द्व के एक-से-एक भीषण प्रसंग आए। किन्तु महावीर अनाकुल रहे, निर्द्वन्द्व रहे। महावीर ध्यानयोगी थे, अतएव वे हर अच्छी-बुरी घटना के तटस्थ दर्शक बन कर रह सकते थे। इसीलिए अपमान-तिरस्कार के कडवे प्रसगो मे, और सम्मान-सत्कार के मधुर क्षणो मे उनकी अन्तश्चेतना सम रही, तटस्थ रही, वीतराग रही। वे आने वाली या होने वाली हर स्थिति के केवल द्रष्टा रहे, न कर्त्ता रहे और न भोक्ता। हम बाहर मे उन्हे अवश्य कर्त्ता-भोक्ता देखते हैं। किन्तु देखना तो यह है कि वे अन्दर मे क्या थे? सुख-दुःख का कर्त्ता-भोक्ता विकल्पात्मक स्थिति मे होता है, केवल द्रष्टा ही है, जो शुद्ध निर्विकल्पात्मक ज्ञान चेतना का प्रकाश प्राप्त करता है।

धर्म, दर्शन और अध्यात्म :

धर्म, दर्शन और अध्यात्म का प्रायः समान अर्थ मे प्रयोग किया जाता है, किन्तु गहराई से विचार करें तो इन तीनो का मूल अर्थ भिन्न है। अर्थ ही नही, क्षेत्र भी भिन्न है।

धर्म का सम्बन्ध आचार से है। 'आचार प्रथमो धर्मः।' यह ठीक है कि बहुत पहले धर्म का सम्बन्ध अन्दर और बाहर दोनो प्रकार के आचारो से था। और इस प्रकार अध्यात्म भी धर्म का ही एक आन्तरिक रूप था। इसीलिए प्राचीन जैन ग्रन्थो मे धर्म के दो रूप बताए गए हैं—निश्चय और व्यवहार। निश्चय अन्दर मे 'स्व' की शुद्धानुभूति एव शुद्धोपलब्धि है, जबकि व्यवहार बाह्य क्रियाकाण्ड है, बाह्याचार का विधि निषेध है। निश्चय त्रिकालाबाधित सत्य है, वह देश काल की बदलती हुई परिस्थितियो से भिन्न होता है, शाश्वत एव सार्वत्रिक होता है। व्यवहार, चूँकि बाह्य आचार-विचार पर आधारित है, अतः वह देशकाल के अनुसार बदलता रहता है, शाश्वत एव सार्वत्रिक नही होता। दिनाक तो नही बताया जा सकता, परन्तु काफी समय से धर्म अपनी अन्तर्मुख स्थिति से दूर हटकर बहिर्मुख स्थिति मे आ गया है। आज धर्म का अर्थ विभिन्न सम्प्रदायो का बाह्याचार सम्बन्धी विधि-निषेध ही रह गया है। धर्म की व्याख्या करते समय प्राय हर मत और पन्थ के लोग अपने परम्परागत विधिनिषेधसम्बन्धी क्रियाकाण्डो को ही उपस्थित करते है और उन्ही के आधार पर अपना श्रेष्ठत्व प्रस्थापित करते हैं। इसका यह अर्थ है कि धर्म अपने व्यापक अर्थ को खोकर केवल एक क्षरणशील सकुचित अर्थ में आबद्ध हो गया है। अतः आज के मनीषी, धर्म से अभिप्राय, मत-पंथो के अमुक बँधे-बँधाये आचार-विचार से लेते हैं, अन्य कुछ नहीं।

दर्शन का अर्थ तत्त्वो की मीमासा एव विवेचना है। दर्शन का क्षेत्र है—सत्य का परीक्षण। जीव और जगत् एक गूढ पहेली है, इस पहली को सुलझाना ही दर्शन का कार्य है। दर्शन प्रकृति और पुरुष, लोक और परलोक, आत्मा और परमात्मा, दृष्ट और अदृष्ट, मैं, यह और वह आदि रहस्यो का उद्घाटन करने वाला है। वह सत्य और तथ्य का सही मूल्याकन करता है। दर्शन ही वह दिव्यचक्षु है, जो इधर-उधर की नई-पुरानी मान्यताओं के सघन आवरणो को भेदकर सत्य के मूलरूप का साक्षात्कार कराता है। दर्शन के बिना धर्म

अन्धा है। और फिर अन्धा गन्तव्य पर पहुँचे तो कैसे पहुँचे ? पथ के टेढ़े-मेढ़े घुमाव, गहरे गर्त और आस पास के खतरनाक झाड-झखाड बीच मे कही भी अन्धे यात्री को निगल सकते हैं।

अध्यात्म, जो बहुत प्राचीन काल मे धर्म का ही एक आन्तरिक अग था, जीवन-विशुद्धि का सर्वांगीण रूप है। अध्यात्म मानव की अनुभूति के मूल आधार को खोजता है, उसका परिशोधन एव परिष्कार करता है। 'स्व' जो कि 'स्वय' से विस्मृत है, अध्यात्म इस विस्मरण को तोडता है। 'स्व' स्वयं ही जो अपने 'स्व' के अज्ञान तमस् का शरणस्थल बन गया है, अध्यात्म इस अन्धतमस् को ध्वस्त करता है, स्वरूप स्मृति की दिव्य ज्योति जलाता है। अध्यात्म अन्दर मे सोये हुए ईश्वरत्व को जगाता है, उसे प्रकाश मे लाता है। राग, द्वेष, काम, क्रोध, मद, लोभ, मोह के आवरणो की गन्दी परतो को हटाकर साधक को उसके अपने शुद्ध 'स्व' तक पहुँचाता है, उसे अपना अन्तर्दर्शन कराता है। अध्यात्म का आरम्भ 'स्व' को जानने और पाने की बहुत गहरी जिज्ञासा से होता है, और अन्तत 'स्व' के पूर्ण बोध मे, 'स्व' की पूर्ण उपलब्धि मे इसकी परिसमाप्ति है।

अध्यात्म किसी विशिष्ट पथ या सम्प्रदाय की मान्यताओ मे विवेक-शून्य अध-विश्वास और उनका अन्ध-अनुपालन नही है। दो-चार-पाँच परम्परागत नीति नियमो का पालन अध्यात्म नही है, क्योकि यह अमुक क्रियाकाण्डो की, अमुक विधिनिषेधो की कोई प्रदर्शनी नही है और न यह कोई देश, धर्म और समाज की देश कालानुसार बदलती रहने वाली व्यवस्था का ही कोई रूप है। यह एक आन्तरिक प्रयोग है, जो जीवन को सच्चे एव अविनाशी सहज आनन्द से भर देता है। यह एक ऐसी प्रक्रिया है, जो जीवन को शुभाशुभ के बन्धनो मे मुक्त कर देती है, 'स्व' की शक्ति को विघटित होने से बचाती है। अध्यात्म, जीवन की अशुभ शक्तियो को शुद्ध स्थिति मे रूपान्तरित करने वाला अमोघ रसायन है, अत यह अन्तर की प्रसुप्त विशुद्ध शक्तियो को प्रबुद्ध करने का एक सफल आयाम है। अध्यात्म का उद्देश्य, औचित्य की स्थापना मात्र नही है, प्रत्युत शाश्वत एव शुद्ध जीवन के अनन्त सत्य को प्रकट करना है। अध्यात्म कोरा स्वप्निल आदर्श नही है। यह तो जीवन का वह जीता-जागता यथार्थ है, जो 'स्व' को 'स्व' पर केन्द्रित करने का, निज को निज मे समाहित करने का पथ प्रशस्त करता है।

अध्यात्म को, धर्म से अलग स्थिति इसलिए दी गई है कि आज का धर्म कोरा व्यवहार बन कर रह गया है, बाह्याचार के जगल मे भटक गया है, जबकि अध्यात्म अब भी अपने निश्चय के अर्थ पर समारूढ है। व्यवहार बहिर्मुख होता है और निश्चय अन्तर्मुख। अन्तर्मुख अर्थात् स्वाभिमुख। अध्यात्म का सर्वेसर्वा 'स्व' है, चैतन्य है। परम चैतन्य के शुद्ध स्वरूप की ज्ञप्ति और प्राप्ति ही अध्यात्म का मूल उद्देश्य है। अतएव अध्यात्म जीवन की एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण भावात्मक स्थिति है, निषेधात्मक नही। यदि सक्षिप्त रूप मे कहा जाए, तो अध्यात्म जीवन के स्थायी मूल्य की ओर दिशासूचन करने वाला वह आयाम है, जो किसी धर्म, वर्ण, जाति और देश की भेदवृत्ति के बिना, एक अखण्ड एवं अविभाज्य सत्य पर प्रतिष्ठित है। वस्तुत. अध्यात्म मानव मात्र की अन्तश्चित् शक्ति महासत्य का अनुसन्धान करने वाला वह मुक्तद्वार है, जो सबके लिए सदा और सर्वत्र खुला है। अपेक्षा सिर्फ मुक्त भाव से प्रवेश करने की है।

★★★★

२८

आत्म-जागरण

भक्ति मार्ग के एक यशस्वी आचार्य ने कभी तरग मे आकर गाया था—

"नमस्तुभ्यं नमस्तुभ्यं, नमस्तुभ्यं नमोनमः।
नमो मह्यं नमो मह्य, म मेव नमोनमः॥"

श्लोक के पूर्वार्द्ध मे आचार्य किसी वाह्य शक्ति के चरणो मे सिर झुका रहे हैं। इसलिए वे वार वार 'तेरे चरणो मे नमस्कार' की रट लगा रहे हैं, वे द्वैत के प्रवाह मे वह रहे हैं। ऐसा लगता है कि भक्त कही वाहर मे खडे भगवान् को रिझाने का प्रयत्न कर रहा है। भगवान् रूठा हुआ है और वह भक्त से वार-वार वन्दना एव प्रशस्ति की मांग कर रहा है। किन्तु श्लोक का उत्तरार्ध आते ही, लगता है, भक्त की आत्मा जाग्रत हो जाती है, वह सम्भल जाता है—"अरे! मैं किसे वन्दना करता हूं? मेरा भगवान् वाहर कहां है? मन्दिर, मस्जिद गुरुद्वारा या उपाश्रय से मेरा क्या सम्वन्ध है? मेरा भगवान् तो मेरे भीतर ही वैठा है। मैं ही तो मेरा भगवान् हूं। अपने को ही नमस्कार करना चाहिए।" इस स्थिति मे वह उत्तरार्ध पर आते-आते वोल उठता है—

"नमो मह्यं नमो मह्यं, मह्यमेव नमोनम।"

मुझे ही मेरा नमस्कार है। अपने को अपना नमस्कार करने का अर्थ है कि साधक आत्म जागृति के पथ पर आता है, चूंकि उसकी आत्मा और परमात्मा के वीच की खाई पाटने वाला तत्त्व अव स्पष्ट होने लग जाता है। वह भेद से अभेद की ओर, द्वैत से अद्वैत की ओर वढ चलता है।

अद्वैत की भूमिका .

भारत की सास्कृतिक परम्पराएं और साधनाएं इसी आदर्श पर चलती आई हैं। वे द्वैत मे अद्वैत की ओर वढी हैं, स्थूल से सूक्ष्म की ओर मुडी हैं। वच्चे को जव सर्वप्रथम वर्णमाला सिखाई जाती है, तो आरम्भ मे उसे वडे-वडे अक्षरो के द्वारा अक्षर-परिचय कराया जाता है, जव वह उन्हें पहचानने लग जाता है तो छोटे अक्षर पढाए जाते

हैं और बाद मे सयुक्त अक्षर। यदि प्रारम्भ से ही उसे सूक्ष्म व सयुक्त अक्षरो की किताब दे दें, तो वह पढ नही सकेगा, उलटे इस पढाई से ऊब जाएगा। यही दशा साधक की है। प्रारम्भ मे उसे द्वैत की साधना पर चलाया जाता है। बहिःस्थ प्रभु की वन्दना, स्तुति आदि के द्वारा अपने भीतर मे सोए हुए प्रभु को जगाया जाता है। साधक अपनी दुर्बलताओ, गलतियो का ज्ञान करके उन्हे प्रभु के समक्ष प्रकाशित करता है। प्रकाशित करने का तो एक बाह्य भाव समझिए; वास्तव में तो वह प्रभु की निर्मल विशुद्ध आत्म-छवि से होड करता है, उसका मिलान करता है, तुलना करता है और उस निर्मलता के समक्ष अपनी मलिनता का ज्ञान प्राप्त करता है। जब तक घटिया-बढिया दो वस्तुओ को बराबर मे रखकर तुलनात्मक परीक्षण नही किया जाए, तब तक उनकी वास्तविकता नही खुलती। साधक जब दूर-दूर तक अपनी दृष्टि को ले जाता है और देख लेता है कि अब परमात्मा की छवि मे और मेरी छवि मे कोई भेद नही दीखता है, तो फिर वह लौटकर अपने अन्दर मे समा जाता है। वह बाहर से भीतर आ जाता है, स्थूल से सूक्ष्म की ओर आ जाता है और तब वह 'नमस्तुभ्यं' की जगह 'नमोमह्य' की धुन लगा बैठता है।

लक्ष्य की ओर

साधको के जीवन वृत्त से और उनकी समस्याओ से मालूम होता है कि हरएक साधक के लिए यह सरल नहीं है कि वह झटपट 'नमस्तुभ्य' मे मुडकर 'नमोमह्य' की ओर आ जाए। शास्त्रो मे इन दोनो ही विषयो की चर्चा की गई है। हमारे पास शास्त्र-पुराण, काव्य आदि की कोई कमी नही है, उनका बहुत विशाल भण्डार है, साधारण साधक की बुद्धि तो उसमें उलझ जाती है, उसके लिए शास्त्र एक बीहड जगल के समान होता है। पृथ्वी के जगलों की एक सीमा होती है, किन्तु शब्दो और शास्त्रो के महावन की कोई सीमा नही है। इस असीम कानन मे हजारो यात्री भटक गए हैं, नए यात्री भटकते हैं सो तो है हीं, किन्तु पुराने और अनुभवी कहे जाने वाले साधक भी कभी-कभी दिग्मूढ हो जाते हैं। शास्त्रो मे उदाहरण आता है कि कोई-कोई साधक चौदह पूर्व का ज्ञान पाकर भी इस शास्त्र वन मे भटक जाते हैं। आचार्य शकर ने एक जगह कहा है—

"शब्दजाल महारण्य, चित्त भ्रमण कारणम्।"

शब्दो का यह महावन इतना भयकर है कि एक बार भटक जाने के बाद निकलना कठिन हो जाता है। इसलिए हमें शास्त्रचर्चा की अपेक्षा अनुभव की बात करनी चाहिए। भक्ति मार्ग एक उपवन है, जिसमे घूमने के लिए सहज आकर्षण रहता है, लेकिन हमेशा ही बगीचे मे घूमते रहना तो उपयुक्त नही है। पडोसी से बात करने के लिए जब कोई घर का द्वार खोलकर बाहर जाता है, तो वह बाहर ही नहीं रह जाता, बल्कि लौटकर पुन. घर मे आता है। इसी प्रकार आध्यात्मिक जगत् मे भी हमारी स्थिति सिर्फ बाहर चक्कर लगाते रहने की ही नहीं है, हमे लौटकर अपने घर मे आना चाहिए। चिरकाल तक हम बाहर घूमे हैं, इसलिए हम अपने घर मे भी अनजाने से हो गए हैं। इसके लिए आत्मज्ञान की लौ जगाकर अपने घर को देखना होगा। आत्म-विश्वासपूर्वक अपनी अनन्त शक्तियो का ज्ञान करना होगा।

मंजिल और मार्ग :

सबसे पहले यह जानना होगा कि हमारा मजिल क्या है? और उसका मार्ग क्या है? हमे कहाँ जाना है, और कहाँ आ गये है, यह निर्धारित करना होगा। हमारी सबसे

ऊँची मंजिल है परमात्मपद ! वह शिखर—जहाँ पहुँचने के बाद वापिस नही लौटना होता। इस महान् पथ पर हमे तबतक चलना है जबतक कि मंजिल को नही पा लें। हम वे यात्री हैं जिनको सतत् चलना ही चलना होता है, बीच मे कहीं विश्राम नही होता। महाकवि जयशकर प्रसाद ने ठीक ही कहा है—

> "इस पथ का उद्देश्य नहीं है,
> श्रांत भवन में टिक रहना।
> किन्तु पहुँचना उस सीमा पर,
> जिसके आगे राह नहीं।"

मार्ग मे सतत् चलना है, जबतक कि अपना लक्ष्य नही आ जाए। कही हरे-भरे उपवन की मादकता भी आएगी और कही सूखे पतझड का रूखापन भी। किन्तु हमे दोनों मार्गों से ही समभाव पूर्वक गुजरना है। कही अटकना नही है। स्वर्ग की लुभावनी सुषमा और नरक की दारुण यातना—दोनो पर ही विजय पाकर हमे अपने लक्ष्य की ओर बढते जाना है। सर्वत्र हमे अपने प्रकाशदीप—सम्यक् दर्शन को छोडना नही है। सम्यक् दर्शन ही हमारे मार्ग का दीपक है।

एक जैनाचार्य ने तो यहाँ तक कहा है कि यदि कोई यह शर्त रखे कि तुम्हे स्वर्ग मिलेगा, और दूसरी ओर यह बात कि यदि सम्यक् दर्शन पाते हैं तो नरक की ज्वाला मे जलना पडेगा, उसकी भयकर गन्दगी मे सडना पडेगा, तो हमे इन दोनो बातो मे से दूसरी बात ही मजूर हो सकती है। मिथ्यात्व की भूमिका मे स्वर्ग भी हमारे किसी काम का नही, जबकि सम्यक् दर्शन के साथ नरक भी हमे स्वीकार है। आचार्य की इस उक्ति मे लक्ष्य के प्रति कितना दीवानापन है ! निछावर होने की कितनी बडी प्रबल भावना है !

इसके पीछे सिद्धान्त का दृष्टिकोण, जिसे कि आचार्यों ने कहा है—वह यह है कि हमे नरक और स्वर्ग से, सुख और दुःख से कोई प्रयोजन नहीं है। हमारा प्रयोजन तो परमात्मशक्ति के दर्शन से है। या यो कहिए कि आत्मशक्ति के दर्शन से है, सम्यक् दर्शन से है। जीवन की यात्रा मे सुख-दुःख यथाप्रसग दोनो आते हैं, परन्तु हमे इन दोनो से परे रहकर चलने की आवश्यकता है। यदि मार्ग मे कहीं विश्राम करना हो, तो कोई बात नही, कुछ समय के लिए अटक गए, विश्राम किया, किन्तु फिर आगे चल दिए। कही डेरा डाल कर नही बैठना है। चलते रहना ही हमारा मन्त्र है। ब्राह्मण ग्रन्थों मे एक मन्त्र आता है—

"... 'चरैवेति, चरैवेति।"

चलते रहो, चलते रहो। कर्त्तव्य-पथ मे सोने वाले के लिए कलियुग है, जम्हाई लेने वाले के लिए द्वापर है, उठ बैठने वाले के लिए त्रेता है और पथ पर चल पडने वाले के लिए सतयुग है, इसलिए चलते रहो, चलते रहो। चलते रहने वाले के लिए सदा सतयुग रहता है। ससार मे यदि कोई कही डेरा जमाना भी चाहे तो महाकाल किसी को कहाँ जमने देता है ? तो फिर कही उलझने की चेष्टा क्यो की जाए। जीवन मे सुख के फूलो और दु:ख के काँटो मे उलझने की जरूरत नही है, इन सबसे निरपेक्ष होकर आत्मशक्ति को जागृत किए चलना है। आत्मशक्ति का जागरण जब होगा, तब अपने प्रति अपना विश्वास जगेगा। आत्मा के

अन्तराल मे छिपी अनन्त शक्तियो के प्रति निष्ठा पैदा होने से ही आत्मशक्ति का जागरण होता है।

सूत्रों मे ऐसा वर्णन आता है कि आत्मा के एक-एक प्रदेश पर कर्मों की अनन्तानन्त वर्गणाएँ छाई हुई हैं। अब देखिए कि आत्मा के असख्य प्रदेश हैं, और प्रत्येक प्रदेश पर अनन्तानन्त कर्म वर्गणाएँ चिपकी बैठी हैं। मनुष्य अवश्य ही घबरा जाएगा कि किस प्रकार मैं कर्मों की अनन्त सेना से लड सकूँगा? और कैसे ये बन्धन तोड कर मुक्त बन सकूँगा? किन्तु जब वह अपनी आत्मशक्ति पर विचार करेगा, तो अवश्य ही उसका साहस बढ जाएगा। जैन दर्शन ने बताया है कि जिस प्रकार एक पक्षी पखो पर लगे धूल को पख फडफडा कर एक झटके में दूर कर देता है, उसी प्रकार साधक जीव भी अनन्तानन्त कर्म बन्धनो को, एक झटके मे तोड सकता है। पलक मारते ही, जैसे पक्षी के पैरो की धूल उड जाती है, त्यों ही आत्म-विश्वास जागृत होते ही, कर्म-वर्गणा की जमी हुई अनन्त तहे एक साथ ही साफ हो जाती हैं। आज के वैज्ञानिक युग मे तो इस प्रकार का सदेह ही नही करना चाहिए कि कुछ ही क्षणो मे किस प्रकार अनन्त कर्म बन्धन छूट सकते हैं, जबकि विज्ञान के क्षेत्र मे पलक मारते ही ससार की परिक्रमा करने वाले राकेट, और क्षण भर मे विश्व को भस्मसात करने वाले बम का आविष्कार हो चुका है। यान्त्रिक वस्तुओं की क्षमता तो सीमित है, परन्तु आत्मा की शक्ति अनन्त है, उसकी शक्ति की कोई सीमा नही है। मनःपर्यव ज्ञान और अवधि ज्ञान मे यह शक्ति है कि वह एक मिनट के असंख्यातवें भाग मे भी सुदूर विश्व का ज्ञान कर लेता है। हाथ की रेखाओ की तरह ससार की भौतिक हलचलें, उनके सामने स्पष्ट रहती हैं। केवल ज्ञान की शक्ति तो उससे भी अनन्तगुनी है, उसका कोई पार ही नही है।

आत्मविश्वास का चमत्कार

जिस जीवन यात्री का, अपने पर भरोसा होता है, आत्मशक्तियो पर विश्वास होता है, वह कही बाहर मे नही भटकता। वह अपनी गरीबी का रोना कही नहीं रोता। उसके अन्दर और बाहर मे सर्वत्र आत्म-विश्वास की रोशनी चमकने लग जाती है। जितने भी शास्त्र हैं, गुरु हैं, सब शिष्य के सोए हुए आत्म-विश्वास को जगाने का प्रयत्न करते हैं। रामायण में एक वर्णन आता है कि जब हनुमान राम के दूत बनकर लंका मे पहुँचे, तो राक्षसो के किसी भी अस्त्र शस्त्र से पराजित नही हुए। किन्तु आखिर इन्द्रजीत के नागपाश में बध गए। जब रावण की सभा मे लाए गए तो रावण ने व्यग्य किया।

"हनुमान! तुम हमारे पीढियो के गुलाम होकर भी आज हमसे ही लडने आए हो। यदि तुम दूत बनकर नही आए होते तो तुम्हारा वध कर दिया जाता। किन्तु दूत अवध्य होता है, अत अब तुम्हें हाथ मुँह काला करके नगर से बाहर निकाला जाएगा।"

हनुमान ने जब यह सुना तो उसका आत्म तेज हुंकार कर उठा। उसने सोचा —यह अपमान हनुमान का नही, राम का है; मैं तो उन्ही का दूत हूँ। शरीर मेरा है, आत्मा तो राम की है। हृदय मे हमेशा ही भगवान की आत्मा बोला करती है, तो मैं अपने भगवान का यह अपमान नहीं सह सकूँगा। बस उनमे आत्मा की वह शक्ति जगी कि एक झटके

मे ही वह नागपाश को तोडकर उन्मुक्त आकाश मे पहुँच गए। हनुमान जव तक नागपाश की शक्ति को अपनी शक्ति से वढकर मानते रहे, तवतक नागपाश मे वँधे रहे। और जव हनुमान को नागपाश की शक्ति से वढकर अपनी शक्ति का भान हुआ, तो नागपाश को टूटते कुछ भी समय नही लगा।

यह स्थिति केवल रामायण के हनुमान की नही है, किन्तु प्रत्येक मनुष्य और प्रत्येक प्राणी की है। जवतक उसे अपनी शक्ति का ज्ञान नही है वह दुर्वलता के हाथ का खिलौना वना रहता है, किन्तु जव आत्मशक्ति का विश्वास हो जाता है, अपने अनन्त शौर्य का भान होता है, तव प्राणी किसी के अवीन नही रहता। मनुष्य को अपनी दीनहीन स्थिति पर निराश न होकर, अपनी आत्मशक्ति को जगाने का प्रयत्न करना चाहिए। जितने भी महापुरुप ससार मे हुए हैं, उन सवने अपनो आत्मशक्ति को जगाया है और इसी के सहारे वे विकास की चरम कोटि पर पहुँचे है। उन सवका यही सदेश है कि अपनी आत्म-शक्ति को जगाओ। आत्म-जागरण ही तुम्हारे विकास का सोपान है।

संकल्प वल :

भारतीय दर्शन का एक मात्र स्वर रहा है—क्या थे, इसकी चिन्ता छोडो, क्या है, इसकी भी चिन्ता न करो, लेकिन यह सोचो कि क्या वनना है उसका नक्शा वनाओ, रेखाचित्र तैयार करो, अपने भविष्य का संकल्प करो। जो भवन वनाना है उसका नक्शा वनाओ, रेखाचित्र तैयार करो और पूरी शक्ति के साथ जुट जाओ, उसे साकार वनाने मे।

सकल्प कच्चा धागा नही है, जो एक झटका लगा कि टूट जाए। वह लौह-शृ खला से भी अधिक दृढ होता है। झटके लगते जाएँ, तूफान आते जाएँ, पर सकल्प का सूत्र कभी टूटने न पाए। दिन पर दिन वीतते चले जाते हैं, वर्प पर वर्प गुजरते जाते है, और तो क्या, जन्म के जन्म वीतते जाते हैं, फिर भी साधक स्वीकृत पथ पर चलता जाता है, अटूट श्रद्धा एव सकल्प का तेज लिए हुए। चलने वाले को यह चिन्ता नही रहती कि लक्ष्य अव कितना दूर रहा है। वह तो चलता ही रहता है, एक न एक दिन लक्ष्य मिलेगा ही, इस जन्म मे नही तो अगले जन्म मे। सकल्प सही है तो वह पूरा होकर ही रहेगा। उसके लिए प्रयत्न अवश्य किया जाता है, परन्तु समय की सीमा नही होती। मृत्यु का भय भी नही होता। सकल्प लेकर चलने वाले के लिए मृत्यु सिर्फ एक विश्राम है। एक पटाक्षेप है। वह यहाँ भी चलता रहा है, नया जन्म धारण करेगा तो वहाँ भी उसकी यात्रा रुकेगी नही, मार्ग वदलेगा नही, वह फिर अगली मजिल तय करने को साहस के साथ चल पडेगा।

भगवान् महावीर ने कहा है—साधक। तुम अपनी यात्रा के महापथ पर चलते-चलते रुक जाते हो तो कोई भय नही, पैर लडखडा जाते हैं तो घवराने की कोई वात नही, संकल्प से डिगो मत, वैठो मत, वापस लौटो मत। चलते रहो! निरन्तर चलते रहो! चलते रहो!

वालक चलता है, लडखडाकर गिर भी जाता है; उठता है और फिर गिरता है। पर उसकी चिन्ता नही की जाती। चरण सध जाएँगे तो एक दिन वही विश्व की दौड मे सर्वश्रेष्ठ होकर आगे आ जाएगा। मतलव यह है कि जो चलता है, वह एक दिन मजिल

पर अवश्य पहुँचता है, किन्तु जो मार्ग मे हार कर बैठ जाता है, वह कभी भी आगे नही वढ सकता। साधक को सकल्प की लौ जलाकर चलते रहना है, वढते रहना है। फिर उसकी यात्रा अधूरी नही रहेगी, उसका संकल्प असफल नही रहेगा।

एक विचारक ने कहा है कि—यदि तुम्हारी यह शिकायत है कि इच्छा पूरी नही हुई, तो इसका मतलव है कि तुम्हारी इच्छा पूरी थी ही नही, अधूरी इच्छा लेकर ही तुम आए थे। पूरी इच्छा एक दिन अवश्य पूरी होती है। वह भीतर से अपने आप वल जागृत करती हुई पूर्णता की ओर वढी चली जाती है। पूरी इच्छा मे स्वत ही वल जागृत हो जाता है।

सच्ची निष्ठा :

हमारे भारतवर्ष में आज के साधक-जीवन की यह सवसे वडी विडम्वना है कि वह चलता तो है, पर उसके चरण मे श्रद्धा और निष्ठा का वल नही होता। चलने की सच्ची भूख उसमे नही जग पाती। कर्म करता जाता है, किन्तु सच्ची निष्ठा उसके अन्दर जागृत नही होती। ऐसे चलता है, जैसे घसीटा जा रहा हो, संशय, भय, अविश्वास के पद-पद पर लडखडाता-सा। ऐसा लगता है कि कोई जीर्ण-शीर्ण दीवार है, अभी एक धक्के से गिर पडेगी; कोई सूखा वृक्ष ककाल है, जो हवा के किसी एक झोके से भूमिसात् हो जाएगा। किंतु जिसके अदर सच्ची निष्ठा का वल है, वह महापराक्रमी वीर की भाँति सदा सीना ताने, आगे ही आगे वढता जाता है। और मजिल एक दिन उसके पाँव चूमती है।

संशय : जीवन का खतरनाक विन्दु :

तैत्तिरीय ब्राह्मण का स्वाध्याय करते समय एक सूक्त आया था "श्रद्धा प्रतिष्ठा लोकस्य देवी"—श्रद्धा देवी ही विश्व की प्रतिष्ठा है, आधारशिला है। यदि यह आधार हिल गया, तो समूचा विश्व डगमगा जाएगा। भूचाल आते हैं, तो हमारे पुराने पडित लोग कहते हैं, शेष नाग ने सिर हिलाया है। मैं सोचता हूँ साधक जीवन मे जव-जव भी उथल-पुथल होती है, गडवड मचती है, तव अवश्य ही श्रद्धा का शेष नाग अपना सिर हिलाता है। अवश्य ही कही वह स्खलित हुई होगी, उसका कोई आधार शिथिल हुआ होगा।

पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का सवसे निकटतम सूत्र भी विश्वास के धागो से जुडा हुआ है, और राष्ट्र-राष्ट्र का विराट् सम्वन्ध भी इसी विश्वास के सूत्र से वँधा हुआ है। मै पूछता हूँ, पति-पत्नी कव तक पति-पत्नी हैं? जव तक उनके बीच स्नेह एव विश्वास का सूत्र जुडा हुआ है। यदि पति-पत्नी के बीच संशय आ जाता है, मन मे अविश्वास जग जाता है, तो वे एक दिन एक-दूसरे की जान के ग्राहक वन जाते हैं। वे जीते जी भले ही साथ रहते हैं, परन्तु ऐसे कि एक ही जेल की कोठरी मे दो दुश्मन साथ-साथ रह रहे हों। घर, परिवार, समाज और राष्ट्र के हरे-भरे उपवन वीरान हो जाते हैं, वर्वाद हो जाते हैं; संशय एवं अविश्वास के कारण। विश्व मे और खासकर भारत में आज जो सकट छाया है, वह विश्वास का सकट है, श्रद्धा का सकट है। आज किसका भरोसा है कि कौन किस घडी मे वदल जाएगा? समर्थक विरोधी वन जाएँगे, इकरार इन्कार मे वदल जाएँगे? अविश्वास के वातावरण मे समूचा राष्ट्र दिशाहीन गति-हीन हुआ जा रहा है। जीवन अस्त-व्यस्त-सा विखर रहा है। मैं आपसे कहता हूँ—यह निश्चय समझ लीजिए, जवतक मन मे

अविश्वास एव सशय का भाव समाप्त नही होगा, तबतक राष्ट्र प्रगति नहीं कर सकेगा, भुखमरी ओर दरिद्रता से मुक्ति नही पा सकेगा। अमेरिका और रूस की सहायता पर आप अधिक दिन नही जी सकते। आपके जीने का अपना आधार होना चाहिए। सोने के लिए पडोसी की छत मत ताकिए, आखिर अपनी छत ही आपके सोने के काम मे आ सकती है। अपना बल ही आपके चलने मे सहयोगी होगा। और, वह बल कही और से नही, आपके ही हृदय के विश्वास से, निष्ठा से प्राप्त होगा।

हमारा जीवन कीड़े-मकोड़ो की तरह अविश्वास की भूमि पर रेंगने के लिए नही है। आस्था के अनन्त गगन मे गरुड़ की भाँति उडान भरने के लिए है। हम भविष्य के स्वप्न देखने के लिए हैं, सिर्फ देखने के लिए ही नही, स्वप्नो को साकार करने के लिए हैं।

श्रद्धा का बीज :

श्रद्धा का बीज मन मे डालिए, फिर उस पर कर्म की वृष्टि कीजिए। तथागत बुद्ध ने एकबार अपने शिष्यो से कहा था—भिक्षुओ! श्रद्धा का बीज मन की उर्वर-भूमि मे डालो, उस पर तप की वृष्टि करो, सुकृत का कल्पवृक्ष तब स्वय लहलहा उठेगा—**'सद्धा बीजं तपो बुट्ठि'**।

भारतीय जीवन आस्थावादी जीवन है, उसका तर्क भी श्रद्धा के लिए होता है। मैं आपसे निरी श्रद्धा—जिसे आज की भाषा मे अन्धश्रद्धा (ब्लाइण्ड फेथ) कहते हैं, उसकी बात नही करता। मैं कहता हूँ जीवन के प्रति, अपने भविष्य के प्रति, विवेकप्रधान श्रद्धाशील होने की बात। अपने विराट् भविष्य का दर्शन करना, उस ओर निष्ठापूर्वक चल पडना, यही मेरी श्रद्धा का रूप है। यही भारत का गरुड दर्शन है। हमारे जीवन में मन्थरा का दर्शन[1] नही आना चाहिए। अपने भविष्य को अपनी उन्नति एव विकास की अनन्त सभावनाओ को क्षुद्र दृष्टि मे बन्द नही करना है, किन्तु उसके विराट् स्वरूप का दर्शन करना है और फिर दृढ निष्ठा एव दृढ सकल्प का बल लेकर उस ओर चल पड़ना है; लक्ष्य मिलेगा, निश्चित मिलेगा। एक बार विश्वास का बल जग पडा, तो फिर इन क्षुद्रता के बन्धनो के टूटने मे क्या देरी है—"**बद्धो हि नलिनोनालै कियत् तिष्ठति कुन्जर ....?**" कमल की नाल से बँधा हुआ हाथी कितनी देर रहेगा? जब तक अपने चरण को गति नहीं दे, तब तक ही न! बस चरण बढ़े कि बन्ध न टूटे। आप भी जबतक श्रद्धा से चरण नही बढाते हैं, सशय से विश्वास की ओर नहीं आते हैं, तबतक ही यह बन्धन है, यह सकट है! बस सच्चे विश्वास ने गति ली नहीं कि बन्धन टूटे नही, और जैसे ही बन्धन टूटे कि मुक्ति सामने खडी हो ली।

---

१ हमहूँ कहब अब ठकुर मुहाती। नाही तो मौन रहब दिन राती।
तथा
कोउ नृप होउ हमहि का हानी। चेरी छाड़ि कि होइब रानी।
—रामचरित मानस।

★★★★

२९

धर्म की कसौटी : शास्त्र

अध्यात्म और विज्ञान दोनो ही मानव जीवन के मुख्य प्रश्न हैं और बहुत गहरे हैं। जीवन के साथ दोनो का घनिष्ठ सम्बन्ध होते हुए भी आज दोनो को भिन्न भूमिकाओ पर खड़ा कर दिया गया है। अध्यात्म को आज कुछ विशेष क्रियाकाडो एव तथाकथित प्रचलित मान्यताओ के साथ जोड दिया गया है और विज्ञान को सिर्फ भौतिक अनुसन्धान एवं जगत् के बहिरग विश्लेषण तक सीमित कर दिया गया है। दोनो ही क्षेत्रो में आज एक वैचारिक प्रतिबद्धता आ गई है, इसलिए एक विरोधाभास-सा खडा हो गया है, और इस कारण कही-कही दोनो को परस्पर प्रतिद्वन्द्वी एव विरोधी भी समझा जा रहा है। आज के तथाकथित धार्मिकजन विज्ञान को सर्वथा झूठा और गलत बता रहे हैं और विज्ञान भी बडी बेरहमी के साथ धार्मिको की तथाकथित अनेक मान्यताओ को झकझोर रहा है।

अपोलो, ८ अभी-अभी चन्द्रलोक की परिक्रमा करके आ गया है, वहां के चित्र भी ले आया है। अपोलो, ८ के तीनो अमरीकी अंतरिक्ष यात्रियो ने आंखो देखी स्थिति बताई है कि—वहां पहाडो और गड्‌ढों से व्याप्त एक सुनसान वीरान धरातल है और उनकी घोषणा को रूस जैसे प्रतिद्वन्द्वी राष्ट्र के वैज्ञानिको ने भी सत्य स्वीकार किया है। परन्तु हमारा धार्मिक वर्ग एक सिरे से दूसरे सिरे तक आज इन घोषणाओ से काफी चिन्तित हो उठा है। मेरे पास बाहर से अनेक पत्र आए है, बहुत से जिज्ञासु प्रत्यक्ष में भी मिले हैं—सबके मन में एक ही प्रश्न तरगित हो रहा है—"अब हमारे शास्त्रो का क्या होगा ? हमारे शास्त्र तो चन्द्रमा को एक महान् देवता के रूप मे मानते हैं, सूर्य से भी लाखो मील ऊंचा[1] चन्द्रमा का स्फटिक रत्नो का[2] विमान है, उस पर सुन्दर वस्त्र-आभूषणो से अलंकृत

---

१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, १८।३

२ जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्योतिष चक्राधिकार, ८

देवियाँ हैं ।[1] चन्द्र विमान एक लाख योजन ऊँचे मेरु पर्वत के चारो ओर भ्रमण करता है ।[2] चन्द्र मे जो काला धब्बा दिखाई देता है, वह मृग का चिन्ह है ।[3] हमारे शास्त्रो के इन सब वर्णनों का अब क्या होगा ? वहाँ जाने वाले तो बताते हैं, चित्र दिखाते हैं कि चन्द्र मे केवल पहाड और खड्डे हैं, किसी यात्री से किसी देवता की मुलाकात भी वहाँ नही हुई, यह क्या बात है ? ये वैज्ञानिक झूठे हैं या शास्त्र ? शास्त्र झूठे कैसे हो सकते हैं ? यह भगवान् की वाणी है, सर्वज्ञ की वाणी है ।"

विज्ञान एव अध्यात्म का क्षेत्र

मैं सोचता हूँ, धार्मिक के मन मे आज जो यह अकुलाहट पैदा हो रही है, धर्म के प्रतिनिधि तथाकथित शास्त्रो के प्रति उसके मन में जो अनास्था एव विचिकित्सा का ज्वार उठ रहा है, उसका एक मुख्य कारण है—वैचारिक प्रतिबद्धता ! कुछ परम्परागत रूढ़ विचारो के साथ उसकी धारणा जुड गई है, कुछ तथाकथित ग्रन्थो और पुस्तको को उसने धर्म का प्रतिनिधि शास्त्र समझ लिया है, यह न तो इसका ठीक तरह बौद्धिक विश्लेषण कर सकता है और न ही विश्लेषण प्राप्त सत्य के आधार पर उनके मोह को ठुकरा सकता है । वह बार-बार दुहराई गई धारणा एव रूढिगत मान्यता के साथ बँध गया है, प्रतिबद्ध हो गया है, बस, यह प्रतिबद्धता—आग्रह—ही उसके मन की विचिकित्सा का कारण है ।

शास्त्र की चर्चा करने से पहले एक बात हमें समझ लेनी है कि अध्यात्म और विज्ञान राम-रावण जैसे कोई प्रतिद्वन्द्वी नही है, दोनो ही विज्ञान हैं, एक आत्मा का विज्ञान है, तो दूसरा प्रकृति का विज्ञान है । अध्यात्म विज्ञान के अन्तर्गत आत्मा के शुद्धाशुद्ध स्वरूप, बन्धमोक्ष, शुभाशुभ परिणतियो का ह्रास-विकास आदि का विश्लेषण आता है । और विज्ञान, जिसे मैं प्रकृति का विज्ञान कहना ठीक समझता हूँ, इसमे हमारे शरीर, इन्द्रिय, मन, इनका सरक्षण-पोषण एव चिकित्सा आदि, तथा प्रकृति का अन्य मार्मिक विश्लेषण समाहित होता है । दोनो का ही जीवन की अखण्ड सत्ता के साथ सम्बन्ध है । एक जीवन की अन्तरग धारा का प्रतिनिधि है, तो एक बहिरग धारा का । अध्यात्म का क्षेत्र मानव का अन्तःकरण, अन्तश्चैतन्य एव आत्मतत्त्व रहा है, जबकि आज के विज्ञान का क्षेत्र प्रकृति के अणु से लेकर विराट् खगोल-भूगोल आदि का प्रयोगात्मक अनुसन्धान करना है, इसलिए वह हमारी भाषा में बहिरग ज्ञान है, जबकि अन्तरग चेतना का विवेचन, विशोधन एवं ऊर्ध्वीकरण करना अध्यात्म का विषय है, वह अन्तरंग ज्ञान है ।

इस दृष्टि से विज्ञान व अध्यात्म मे प्रतिद्वन्द्विता नही, अपितु पूरकता आती है । विज्ञान प्रयोग है, अध्यात्म योग है । विज्ञान सृष्टि की, परमाणु आदि की चमत्कारी शक्तियो का रहस्य उद्घाटित करता है, प्रयोग द्वारा उन्हें हस्तगत करता है, और अध्यात्म उन शक्तियों का कल्याणकारी उपयोग करने की दृष्टि देता है । मानव चेतना को विकसित, निर्भय एव निर्द्वन्द्व बनाने की दृष्टि अध्यात्म के पास है । भौतिक विज्ञान की उपलब्धियो का

---

१. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २०।२ ।
२. जम्बूद्वीपप्रज्ञप्ति, ज्योतिषचक्राधिकार, ४
३. चन्द्रप्रज्ञप्ति, २०।१४

कब, कैसे, कितना और किसलिए उपयोग करना चाहिए, इसका निर्णय अध्यात्म देता है, वह भौतिक प्रगति को विवेक की आँख देता है—फिर कैसे कोई विज्ञान और अध्यात्म को विरोधी मान सकता है ?

हमारा प्रस्तुत जीवन केवल आत्ममुखी होकर नही टिक सकता ही और न केवल वहिर्मुखी ही रह सकता है। जीवन की दो धाराएँ हैं—एक वहिरग, दूसरा अतरग। दोनो धाराओ को साथ लेकर चलना, यही तो जीवन की अखण्डता है। वहिरग जीवन मे विशृ ँखलता नही आए, द्वन्द्व नही आए, इसके लिए अतरग जीवन की दृष्टि अपेक्षित है। अन्तरग जीवन आहार-विहार आदि के रूप मे वहिरग से, शरीर आदि से, सर्वथा निरपेक्ष रहकर चल नहीं सकता, इसलिए वहिरग का सहयोग भी अपेक्षित है। भौतिक और आध्यात्मिक, सर्वथा निरपेक्ष दो अलग-अलग खण्ड नही हो सकते, वल्कि दोनो को अमुक स्थिति एव मात्रा मे साथ लेकर ही चला जा सकता है, तभी जीवन सुन्दर, उपयोगी एव सुखी रह सकता है। इस दृष्टि से मैं सोचता हूँ तो लगता है—अध्यात्म विज्ञान और भौतिक विज्ञान दोनो ही जीवन के अग हैं, फिर इनमे विरोध और द्वन्द्व की वात क्या रह जाती है ? यही आज का मुख्य प्रश्न है !

शास्त्र बनाम ग्रन्थ

भौतिक विज्ञान के कुछ भूगोल-खगोल सम्वन्धी अनुसन्धानो के कारण धर्मग्रन्थो की कुछ मान्यताएँ आज टकरा रही हैं, वे असत्य सिद्ध हो रही हैं और उन ग्रन्थो पर विश्वास करने वाला वर्ग लडखडा रहा है, अनास्था से जूझ रहा है। सैकडो वर्षों से चले आए ग्रन्थो और उनके प्रमाणो को एक क्षण मे कैसे अस्वीकार कर लें और कैसे विज्ञान के प्रत्यक्षसिद्ध तथ्यो को झुठलाने का दुस्साहस कर लें। वस, यह वैचारिक प्रतिद्वन्द्विता या संघर्ष ही आज धार्मिक मानस मे उथल-पुथल मचाए जा रहा है। जहाँ-जहाँ पर परम्परागत वैचारिक प्रतिवद्धता, तर्कहीन विश्वासो की जडता विजयी हो रही है, वहाँ-वहाँ विज्ञान को असत्य, भ्रामक और सर्वनाशी कहने के सिवाय और कोई चारा भी नहीं है। मैं समझता हूँ, इसी भ्रान्ति के कारण विज्ञान को धर्म का विरोधी एव प्रतिद्वन्द्वी मान लिया गया है, और धार्मिको की इसी अन्धप्रतिवद्धता एव घृणा के उत्तर मे नई दिशा के उग्रविचारको ने धर्म को एक मादक अफीम करार दिया है। पाखण्ड और असत्य का प्रतिनिधि वता दिया है।

यदि हम संतुलित होकर समझने-सोचने का प्रयत्न करें, तो यह बात स्पष्ट हो जायेगी कि तथाकथित धर्मग्रन्थो की मान्यता के साथ विज्ञान के अनुसन्धान क्यो टकरा रहे हैं ? इस सन्दर्भ मे दो बातें हमें समझनी होंगी—पहली यह कि शास्त्र की परिभाषा क्या है ? उसका प्रयोजन और प्रतिपाद्य क्या है ? और दूसरी यह कि शास्त्र के नाम पर चले आ रहे प्रत्येक ग्रन्थ, स्मृति, पुराण और अन्य संदर्भ पुस्तकों को अक्षरशः सत्य मानें या नहीं ?

ग्रन्थ और शास्त्र में भेद :

सर्व प्रथम यह समझ लेना चाहिए कि शास्त्र एक बहुत पवित्र एव व्यापक शब्द है, इसकी तुलना में ग्रन्थ का महत्त्व बहुत कम है। यद्यपि शब्दकोष की दृष्टि से ग्रन्थ और

शास्त्र को पर्यायवाची शब्द माना गया है, किन्तु व्याकरण की दृष्टि से ऐसा नही माना जा सकता। कोई भी शब्द किसी दूसरे शब्द का सर्वथा पर्यायवाची नही हो सकता, उनके अर्थ मे अवश्य ही मौलिक अन्तर रहता है। शास्त्र और ग्रन्थ को भी मैं इसी प्रकार दो अलग-अलग शब्द मानता हूँ।

शास्त्र का सम्बन्ध अन्तर से है, सत्य शिवं सुन्दर की साक्षात् अनुभूति से है, स्व-पर कल्याण की मति-गति-कृति से है, जबकि ग्रन्थ के साथ ऐसा नियम नही है। शास्त्र सत्य के साक्षात् दर्शन एवं आचरण का उपदेष्टा होता है, जबकि ग्रन्थ इस तथ्य के लिए प्रतिनियत नही है। शास्त्र और ग्रन्थ के सम्बन्ध मे यह विवेक यदि हमारी बुद्धि मे जग गया है, तो फिर विज्ञान और अध्यात्म मे, विज्ञान और धर्म मे तथा विज्ञान और शास्त्र में कोई टकराहट नही होगी, कोई किसी को असत्य एवं सर्वनाशी सिद्ध करने का प्रयत्न नही करेगा।

धर्मग्रन्थो के प्रति, चाहे वे जैन सूत्र हैं, चाहे स्मृति और पुराण है, आज के बुद्धि-वादी वर्ग मे एक उपहास की भावना बन चुकी है, और सामान्य-श्रद्धालु वर्ग मे उनके प्रति अनास्था पैदा हो रही है। इसका कारण यही है कि हमने शास्त्र की मूल मर्यादाओ को नही समझा, ग्रन्थ का अर्थ नही समझा और संस्कृत, प्राकृत मे जो भी कोई प्राचीन कहा जाने-वाला ग्रन्थ मिला, उसे शास्त्र मान बैठे, भगवदवाणी मान बैठे, और गले से खूब कस कर बांध लिया कि यह हमारा धर्मग्रन्थ है, यह ध्रुव सत्य है, इसके विपरीत जो कुछ भी कोई कहता है, वह झूठ है, गलत है।

कहते हैं कि सऊदी अरब मे सबसे पहले जब टेलीफोन के तार की लाइन डाली जा रही थी तो वहाँ धर्मगुरु मौलवी लोगो ने बडा भारी विरोध किया। धार्मिक जनता को भड़काया—कि यह शैतान का काम है, कुरान शरीफ के हुक्म के खिलाफ है। वादविवाद उग्र हो चला, इधर-उधर उत्तेजना फैलने लगी तो वहाँ के तत्कालीन बुद्धिमान बादशाह इब्न सऊदी ने फैसला दिया कि—"इसकी परीक्षा होनी चाहिए कि दरअसल ही यह शैतान का काम है या नही। इसके लिए दो मौलानाओ को नियत किया गया कि वे क्रमश टेलीफोन पर कुरान की आयतें पढ़ें। यदि शैतान का काम होगा, तो वे पवित्र आयतें तार से उस पार सुनाई नही देंगी, और यदि सुनाई दी, तो वह शैतान का काम नहीं होगा।" आप जान सकते हैं, क्या प्रमाणित हुआ? वही प्रमाणित हुआ, जो प्रमाणित हो सकता था। सत्य के समक्ष भ्रान्त धारणाओ के दावे कबतक टिक सकते हैं?

धर्मग्रन्थो के प्रति इस प्रकार का जो विवेकहीन बँधा बँधाया दृष्टिकोण है, वह केवल भारत को ही नही, बल्कि संपूर्ण धार्मिक विश्व को जकडे हुए है। यह सब कब से चला आ रहा है, कहा नहीं जा सकता। ग्रन्थो से चिपटे रहने की इस जडता ने कितने वैज्ञानिको को मौत के घाट उतरवाया, कितनो को देशत्याग करवाया? यह इतिहास के पृष्ठो पर आज भी पढा जा सकता है।

ग्रन्थ : संकलना मात्र :

मानस मस्तिष्क में विचारो की यह प्रतिबद्धता ग्रन्थ ने ही पैदा की है। ग्रन्थ का अर्थ ही है—ग्रन्थि! गाँठ! जैन भिक्षु को, श्रमण को निर्ग्रन्थ कहा गया है।

अर्थात् उसके भीतर मे मोह, आसक्ति आदि की कोई गांठ नहीं होती, ग्रन्थि नही होती। गांठ तव डाली जाती है, जव कुछ जोडना होता है, सग्रह करना होता है। कुछ इधर से लिया, कुछ उधर से लिया, गांठ डाली, जुड गया, या जोड लिया और गांठ लगादे—इस प्रकार लेते गए, जोड़ते गए और ग्रन्थ तैयार होते गए। ग्रन्थ शब्द के इसी भाव को हिन्दी की 'गूंथना' क्रिया व्यक्त करती है। माली जव फूलो को धागे मे पिरोता है, तव एक फूल लेता है, गांठ डाल लेता है, फिर दूसरा फूल लेता है और फिर गांठ डाल लेता है—इस प्रकार पिरोता जाता है, गांठें डालता जाता है और माला तैयार हो जाती है। विना गांठ डाले माला तैयार नही होती इसी प्रकार विचारो की गांठें जोडे विना ग्रन्थ भी कैसे तैयार होगा ? इसका अभिप्राय यह है कि ग्रन्थ के लिए मौलिक चिंतन की अपेक्षा नहीं रहती, वह तो एक सकलना मात्र है, विचारो एवं मान्यताओ के मनको की माला है। शास्त्र के सम्वन्ध मे यह वात नही हो सकती।

शास्त्र : सत्य का साक्षात् दर्शन·

शास्त्र, सत्य का साक्षात् दर्शन होता है। क्योंकि सत्य सदा अखण्ड, सपूर्ण एव समग्र मानव चेतना को स्पर्श करने वाला होता है। हमारी सस्कृति मे 'सत्य' के साथ 'शिव' सलग्न रहता है। सत्य के दर्शन में सृष्टि की समग्र चेतना के कल्याण की छवि प्रतिविम्वित रहती है। भौतिक विज्ञान भी सत्य का उद्घाटन करता है, किन्तु उसके उद्घाटन मे केवल वौद्धिक स्पर्श होता है, समग्र चैतन्य की शिवानुभूति का आधार नही होता, इसीलिए मैं उसे धर्मशास्त्र की सीमा मे नही मान सकता।

शास्त्र के सम्वन्ध मे हमारी यह भी एक धारणा है कि शास्त्र आर्ष वाणी अर्थात् ऋषि की वाणी है। यास्क ने ऋषि की परिभाषा की है कि सत्य का साक्षात्द्रष्टा, ऋषि होता है। ऋषि दर्शनात्।[1] हर साधक ऋषि नही कहलाता, किन्तु अपनी सूक्ष्म प्रज्ञा और सर्वशुद्ध ज्ञान के द्वारा जो सत्य की स्पष्ट अनुभूति कर सकता है,[2] वही वस्तुतः ऋषि है। इसलिए वेदो में ऋषि को मन्त्रद्रष्टा के रूप मे अभिहित किया गया है। हाँ, तो मैं कहना यह चाहता हूँ कि भारत की वैदिक एव जैन परम्परा मे आर्षवाणी का अर्थ साक्षात् सत्यानुभूति पर आधारित शिवत्व का प्रतिपादक मौलिक ज्ञान होता है। शास्त्र का उपदेष्टा आंख मूंद कर उधार लिया हुआ शिवत्वशून्य ज्ञान नहीं देता। उसका सर्वजन हिताय उपदेश अन्त.-स्फूर्त निर्मल ज्ञान के प्रवाह से उद्भूत होता है, जिसका सम्बन्ध सीधा आत्मा से होता है। आत्मा के अनन्त ज्ञान, दर्शन स्वरूप आलोक को व्यक्त करना एव आत्मस्वरूप पर छाई हुई विभाव परिणतियों की मलिनता का निवारण करना—यही आर्षवाणी का मुख्य प्रतिपाद्य होता है।

जैन परम्परा मे महान् प्रतिनिधि आगमवेत्ता आचार्य जिनभद्र गणि क्षमाश्रमण से जव पूछा गया कि शास्त्र किसे कहते हैं ? तो उन्होंने वताया—

---

१. निरुक्त २।११

२. साक्षात्कृतधर्माणो ऋषयो बभूवुः।—निरुक्त १।२०

"सासिज्जए तेण तहि वा नेयमायावतो सत्थं।"[1]

जिसके द्वारा यथार्थ सत्य रूप ज्ञेय का, आत्मा का परिबोध हो एव आत्मा का अनुशासन किया जा सके, वह शास्त्र है। शास्त्र शब्द शास् धातु से बना है; जिसका अर्थ है—शासन, शिक्षण, उद्‌बोधन! अत शास्त्र का अर्थ हुआ—जिस तत्त्वज्ञान के द्वारा आत्मा अनुशासित होती है, उद्‌बुद्ध होती है, वह तत्त्वज्ञान शास्त्र है। आचार्य जिनभद्र की यह व्याख्या उनकी स्वतन्त्र कल्पना नही है, बल्कि इसका आधार जैन आगम है। आगम मे भगवान् महावीर की वाणी का यह उद्‌घोष हुआ है कि—जिसके द्वारा आत्मा जागृत होती है, तप, क्षमा एवं अहिंसा की साधना मे प्रवृत्त होती है, वह शास्त्र है।

उत्तराध्ययन सूत्र, जो भगवान् महावीर की अन्तिम वाणी माना जाता है, उसके तीसरे अध्ययन मे चार बातें दुर्लभ बताई गई हैं—**"मणुसत्तं सुई सद्धा, संजमम्मि य वीरियं"**[2] अर्थात् मनुष्यत्व, शास्त्रश्रवण, श्रद्धा और संयम मे पराक्रम-पुरुषार्थ! आगे चलकर बताया गया है कि श्रुति अर्थात् शास्त्र कैसा होता है?—**जं सोच्चा पडिवज्जति तव खतिमहिंसयं"**[3] —जिसको सुनकर साधक का अन्तर्मन प्रतिबुद्ध होता है, उसमे तप की भावना जागृत होती है और फलत इधर-उधर बिखरी हुई अनियन्त्रित उद्दाम इच्छाओ का विरोध किया जाता है। इच्छा निरोध से सयम की ओर प्रवृत्ति होती है, क्षमा की साधना मे गतिशीलता आती है—वह शास्त्र है।

इस संदर्भ मे इतना और बता देना चाहता हूं कि 'खंति' आदि शब्दो की भावना बहुत व्यापक है—इसे भी समझ लेना चाहिए। क्षमा का अर्थ केवल क्रोध को शान्त करने तक ही सीमित नहीं है, अपितु कषायमात्र का शमन करना भी है। जो क्रोध का शमन करता है, मान का शमन करता है, माया और लोभ की वृत्तियो का शमन करता है, वही सच्चा 'क्षमावान' है। 'क्षमा' का मूल अर्थ 'समर्थ होना भी है, जो कषायो को विजय करने मे सक्षम अर्थात् समर्थ होता है। जो क्रोध, मान आदि की वृत्तियो को विजय कर सके, मन को सदा शात-उपशात रख सके—वह 'क्षमावान' कहलाता है।

शास्त्र का लक्ष्य श्रेयभावना

शास्त्र की प्रेरकता मे तप और क्षमा के साथ अहिंसा शब्द का भी उल्लेख किया गया है। अहिंसा की बात कह कर समग्र प्राणिजगत् के श्रेय एवं कल्याण की भावना का समावेश शास्त्र मे कर दिया गया है। भगवान् महावीर ने अहिंसा को 'भगवती' कहा है।[4] महान् श्रुतधर आचार्य समन्तभद्र ने अहिंसा को परब्रह्म कहा है।[5] इसका मतलब है—अहिंसा एक विराट् आध्यात्मिक चेतना है, समग्र प्राणिजगत के शिव एव कल्याण का प्रतीक

---

१. विशेषावश्यक भाष्य, गाथा १३८४
शासु अनुशिष्टौ शास्यते ज्ञेयमात्मा वाऽनेनास्मादस्मिन्निति वा शास्त्रम्—टीका

२. उत्तराध्ययन ३।१

३. उत्तराध्ययन ३।८

४. प्रश्नव्याकरण, २।१

है। इसीलिए मैं 'सत्यं' के साथ 'शिव' की मर्यादा का उल्लेख किया है। अहिंसा हमारे 'शिव' की भावना है। करुणा, कोमलता, सेवा, सहयोग, मैत्री और अभय—ये सब अहिंसा की फलश्रुतियाँ है। इस प्रकार हम शास्त्र की परिभाषा इस प्रकार कर सकते हैं कि तप, क्षमा एव अहिंसा के द्वारा जीवन को साधने वाला, अन्तरात्मा को परिष्कृत करने वाला जो तत्वज्ञान है, वह शास्त्र है।

शास्त्र का प्रयोजन :

शास्त्र की परिभाषा समझ लेने पर इसका प्रयोजन क्या है? यह भी स्पष्ट हो जाता है। भगवान् शास्त्र का प्रवचन किसलिए करते हैं? इस प्रश्न का उत्तर देते हुए महावीर के प्रथम उत्तराधिकारी आर्य सुधर्मा ने कहा है—'सव्व-जग-जीवरक्खण दयट्ठयाए भगवया पावयणं सुकहियं'[1] समस्त प्राणिजगत् की सुरक्षा एव दया भावना से प्रेरित होकर उसके कल्याण के लिए भगवान् ने उपदेश दिया।

परिभाषा और प्रयोजन कही भिन्न-भिन्न होते हैं और कही एक भी। यहाँ परिभाषा मे प्रयोजन स्वतः निहित है। यो शास्त्र की परिभाषा मे ही शास्त्र का प्रयोजन स्पष्ट हो गया है, और अलग प्रयोजन बतला कर भी यह स्पष्ट कर दिया गया है कि शास्त्र का शुद्ध प्रयोजन विश्व के कल्याण का मार्ग प्रशस्त करना है। शास्त्र के इस प्रयोजन को जैन भी मानते हैं, बौद्ध और वैदिक भी मानते हैं, ईसाई और मुसलमान भी यही बात कहते हैं—कि ईसा और मुहम्मद साहब दुनियाँ की भलाई के लिए प्रेम और मुहब्बत का पैगाम लेकर आए।

मैं समझता हूँ शास्त्र का यह एक ऐसा व्यापक और विराट् उद्देश्य है, जिसे कोई भी तत्त्वचिन्तक चुनौती नही दे सकता।

जैन श्रुतपरम्परा के महान् ज्योतिर्धर आचार्य हरिभद्र के समक्ष जब शास्त्र के प्रयोजन का प्रश्न आया, तो उन्होंने भी इसी बात को दुहराते हुए उत्तर दिया—

"मलिनस्य यथात्यन्त जलं वस्त्रस्य शोधनम्।
अन्त.करणरत्नस्य तथा शास्त्रं विदुर्बुधा.॥"[2]

जिस प्रकार जल वस्त्र की मलिनता का प्रक्षालन करके उसे उज्ज्वल बना देता है, वैसे ही शास्त्र भी मानव के अन्त करण मे स्थित काम, क्रोध आदि कालुष्य का प्रक्षालन करके उसे पवित्र तथा निर्मल बना देता है। इस प्रकार भगवान् महावीर से लेकर एक हजार से कुछ अधिक वर्ष तक के चिन्तन मे शास्त्र की यही एक सर्वमान्य परिभाषा प्रस्तुत हुई कि "जिसके द्वारा आत्मा-परिबोध हो, आत्मा अहिंसा एव सयम की साधना के द्वारा पवित्रता की ओर गति करे, उस तत्त्वज्ञान को शास्त्र कहा जाता है।"

शास्त्र के नाम पर :

मानवता के सार्वभौम चिन्तन एव विज्ञान की नवीनतम उपलब्धियों के कारण आज यह प्रश्न खड़ा हो गया है कि इन शास्त्रो का क्या होगा? विज्ञान की बात का उत्तर क्या है, इन शास्त्रो के पास?

---

१. प्रश्नव्याकरण, २।१-३
२ योगबिन्दु प्रकरण, २।९

पहली बात मैं यह कहना चाहता हूँ कि जैसी कि हमने शास्त्र की परिभाषा समझी है, वह स्वयं मे एक विज्ञान है, सत्य है। तो क्या विज्ञान, विज्ञान को चुनौती दे सकता है ? सत्य सत्य को चुनौती दे सकता है ? नही! एक सत्य दूसरे सत्य को काट नहीं सकता, यदि काटता है, तो वह सत्य ही नही है। फिर यह मानना चाहिए कि जिन शास्त्रो को हमारा मानवीय चिन्तन तथा प्रत्यक्ष विज्ञान चुनौती देता है, वे शास्त्र नही हो सकते, वल्कि वे शास्त्र के नाम पर पलने वाले ग्रन्थ या कितावें मात्र हैं। चाहे वे जैन आगम हैं, या श्रुति-स्मृतियाँ और पुराण हैं, चाहे पिटक हैं या वाइविल एव कुरान हैं। मैं पुराने या नये—किन्ही भी विचारो की अन्धप्रतिवद्धता स्वीकार नही करता। शास्त्र या श्रुति-स्मृति के नाम पर, आँख मीचकर किसी चीज को सत्य स्वीकार कर लेना, मुझे सह्य नहीं है। मुझे ही क्या, किसी भी चिन्तक को सह्य नही है। और, फिर जो शास्त्र की सर्वमान्य व्यापक कसौटी है, उस पर वे खरे भी तो नही उतर रहे हैं।

जिन धर्मशास्त्रो ने धर्म के नाम पर पशुहिंसा[1] एव नर वलि का प्रचार किया,[2] मानव-मानव के वीच में घृणा एव उपेक्षा की दीवारें खडी की, क्या वह सत्यद्रष्टा ऋषियो का चिन्तन था ? मानवजाति के ही एक अग शूद्र के लिए कहा गया कि—वह जीवित श्मशान है,[3] उसकी छाया से भी वचना चाहिए।[4] तो क्या अखण्ड मानवीयता की अनुभूति वहाँ पर कुछ भी हुई होगी ? जिस नारी ने मातृत्व का महान् गौरव प्राप्त करके समग्र मानव जाति को अपने वात्सल्य से प्रीणित किया, उसके लिए यह कहना कि "न स्त्रीभ्यः कश्चिदन्यद्वै पापीयस्तरमस्ति वै"[5]—स्त्रियो से वढकर अन्य कोई दुष्ट नही है! क्या यह धर्म का अग हो सकता है ? वर्गसघर्ष, जातिविद्वेष एव साम्प्रदायिक घृणा के वीज वोने वाले ग्रन्थो ने जव मानव चेतना को खण्ड-खण्ड करके यह उद्घोष किया कि "अमुक सम्प्रदाय वाले का स्पर्श होने पर शुद्धि के लिए—"सचैलो जलमाविशेत्"[6] कपडो सहित ही पानी में डुवकी लगा लेनी चाहिए—तव क्या उनमे कही आत्म-परिवोध की झलक थी ?

मैंने वताया कि ऋषि वह है, जो सत्य का साक्षात्द्रष्टा एव चिन्तक है, प्राणिमात्र के प्रति जो विराट् आध्यात्मिक चेतना की अनुभूति कर रहा है—क्या उस ऋषि या

---

१ यज्ञार्थं पशवः सृष्टा स्वयमेव स्वयभुवा।
यज्ञस्य भूत्यै सर्वस्य तस्माद्यज्ञे वधोऽवध ॥
—मनुस्मृति, ५।३९

२. वाल्मीकि रामायण (शुन. शेप) वालकाण्ड, सर्ग ६२

३ वसिष्ठ धर्मसूत्र ४।३

४. यस्तु छाया श्वपाकस्य ब्राह्मणो ह्यधिरोहति।
तत्र स्नानं प्रकुर्वीत घृत प्राश्य विशुध्यति ॥
—अत्रि० २८८-२८९, याज्ञ० २।३० (मिताक्षरा मे उद्धृत)

५. महा० अनु० ३८।१२

६. वौद्धान् पाशुपताश्चैव लोकायतिकनास्तिकान्।
विकर्मस्थान् द्विजान् स्पृष्ट्वा सचैलो जलमाविशेत् ॥
—स्मृतिचन्द्रिका, पृ० ११८

श्रमण के मुख से कभी ऐसी वाणी फूट सकती है ? कभी नहीं ! वेद, आगम और पिटक जहाँ एक ओर मैत्री का पवित्र उद्‌घोष कर रहे हैं, क्या उन्ही के नाम पर, उन्ही द्रष्टा ऋषि व मुनियों के मुख से मानवविद्वेष की बात कहलाना शास्त्र का गौरव है ?

शास्त्रो के नाम पर जहाँ एक ओर ऐसी बेतुकी बातें कही गई, वहाँ दूसरी ओर भूगोल-खगोल के सम्बन्ध मे भी बडी विचित्र, अनर्गल एव असम्बद्ध कल्पनाएँ खडी की गई हैं। पृथ्वी, समुद्र, सूर्य, चन्द्र एव नक्षत्र आदि के सम्बन्ध मे इतनी मनोमोहक किन्तु प्रत्यक्ष-बाधित बातें लिखी गई हैं कि जिनका आज के अनुसन्धानो के साथ कोई सम्बन्ध नही बैठता। मैं मानता हूँ कि इस प्रकार की कुछ धारणाएँ उस युग मे व्यापक रूप से प्रचलित रही होगी, श्रुतानुश्रुत परम्परा या अनुमान के आधार पर जैन समाज उन्हे एक-दूसरे तक पहुँचाता आया होगा। पर क्या उन लोकप्रचलित मिथ्या धारणाओ को शास्त्र का रूप दिया जा सकता है ? शास्त्र का उनके साथ क्या सम्बन्ध है ? मध्यकाल के किसी विद्वान् ने सस्कृत या प्राकृत ग्रन्थ के रूप मे कुछ भी लिख दिया, या पुराने शास्त्रो मे अपनी ओर से कुछ नया प्रक्षिप्त कर दिया और किसी कारण उसने वहाँ अपना नाम प्रकट नही किया, तो क्या वह शास्त्र हो गया ? उसे धर्मशास्त्र मान लेना चाहिए ? उसे भगवान् या ऋषियो की वाणी मानकर शिरोधार्य कर लेना चाहिए ?

उत्तरकालीन सकलन :

वैदिक साहित्य का इतिहास पढ़ने पर यह बात स्पष्ट हो जाती है कि उत्तरकाल मे कितने बडे-बडे धर्मग्रन्थो की रचनाएँ हुई। स्मृतियाँ, पुराण, महाभारत और गीता, जिन्हे आज का धार्मिक मानस ऋषियो की पवित्र वाणी एव भगवान् श्रीकृष्ण का उपदेश मान रहा है, वह कब, कैसे, किन परिस्थितियो मे रचे गए, या परिवर्धित किए गए और रचनाकार एव परिवर्धनकार ने भले ही विनम्र भाव से ऐसा किया हो, फलत अपना नामोल्लेख भी नही किया हो, पर यह सब गलत हुआ है। मैं बताना चाहता हूँ कि जिस महाभारत को आज आप धर्मशास्त्र मानते हैं, और व्यासऋषि के मुख से निःसृत, गणपति द्वारा संकलित मानते है, वह प्रारम्भ मे केवल छोटा-सा इतिहास ग्रन्थ था, जिसमे पाण्डवो की विजय का वर्णन होने से 'जय' नाम से प्रख्यात् था। जब इसका दूसरा सस्करण ई० पू० १७६ के पूर्व तैयार हुआ, तो उसका नाम भारत रखा गया, और बहुत समय बाद प्रक्षिप्त-अशो की वृद्धि होते-होते वह महाभारत बन गया।[1] आज की गीता का समूचा पाठ, क्या सचमुच मे ही कुरुक्षेत्र मे अर्जुन को दिया गया श्रीकृष्ण का उपदेश है, या बाद के किसी विद्वान् की परिवर्द्धित रचना या सकलन है ? मनुस्मृति जो हिन्दुओ का मानव-धर्मशास्त्र कहलाता है अपने आज के रूप मे किस मनु की वाणी है ? किसने उसे बनाया ? ये तथ्य आज इतिहास से छिपे नही रह है।[2]

---

१ (क) दिग्विजय पर्व, संभवत. १७६ ई० पू० से पहले का है।
—भा० इ० रू० पृ० १००३

(ख) महाभारत का वर्तमान संस्करण सातवाहन युग में तैयार हुआ।
(ई० पू० १ ई० १ सद) भा० इ० रू० पृ० १००३

२ मनुस्मृति और याज्ञवल्क्य स्मृति सातवाहन युग की कृति है।
—भारतीय इतिहास की रूपरेखा (जयचन्द्र विद्यालकार) भा०-२, पृ० १००१

मैं इन धर्मग्रन्थो का, जिनमे काफी अच्छा अश जीवन निर्माण का भी है, किसी साम्प्रदायिक दृष्टि से विरोध नही कर रहा हूँ, किन्तु, यह बताना चाहता हूँ कि मध्यकाल मे जिस किसी विद्वान् ने, जो कुछ सस्कृत मे लिख दिया या उसे कही प्रक्षिप्त कर दिया, उसे हम धर्मशास्त्र मानकर उसके खूँटे से अपनी बुद्धि को बांध लें, यह उचित नही। उन ग्रन्थो मे जो विशिष्ट चिन्तन एवं दर्शन है, समग्र मानव जाति के कल्याण का जो सदेश है, उसका मैं बहुत आदर करता हूँ, और इसीलिए उनका स्वाध्याय व प्रवचन भी करता हूँ। किन्तु इस सम्बन्ध मे इस वैचारिक प्रतिबद्धता को मैं उचित नही समझता कि उनमे जो कुछ लिखा है, वह अक्षरश. सत्य है।

उत्तरकाल में आगमो की सकलना :

मैं सत्य के सम्बन्ध किसी विशेष चिन्तनधारा मे कभी प्रतिबद्ध नहीं रहा, सदा उन्मुक्त एव स्वतन्त्र चिन्तन का पक्षपाती रहा हूँ, इसलिए जो बात वैदिक ग्रन्थो के सम्बन्ध मे कह सकता हूँ, वह जैन ग्रन्थो के सम्बन्ध मे भी कहते हुए मुझे कोई सकोच नही है।

इतिहास का विद्यार्थी होने के नाते मैं इस तथ्य को मानता हूँ कि प्रत्येक धर्म परम्परा में समय पर परिवर्तन होते आये हैं, सही के साथ कुछ गलत विचार भी आये हैं और यथावसर उनका परिष्कार भी हुआ है। इसी दिशा में जैन आगमो की मान्यता के सम्बन्ध मे मतभेदो की एक लम्बी परम्परा भी मेरे समक्ष खडी है। उसमे कब, क्या, कितने परिवर्तन हुए, कितना स्वीकारा गया और कितना नकारा गया, इसका भी कुछ इतिहास हमारे सामने आज विद्यमान है।

नन्दी सूत्र, जिसे कि आप आगम मानते हैं और भगवान् के कहे हुए शास्त्रों की कोटि मे गिनते हैं, वह भगवान् महावीर से काफी समय बाद की सकलना है। उसके लेखक या सकलनकर्त्ता आचार्य देववाचक थे। भगवान् महावीर और आचार्य देववाचक के बीच के सुदीर्घ काल मे, देश मे कितने बड़े-बडे परिवर्तन आये, कितने भयकर दुर्भिक्ष पडे, राजसत्ता मे कितनी क्रातियाँ और परिवर्तन हुए, धार्मिक परम्पराओ मे कितनी तेजी से परिवर्तन, परिवर्धन एवं सशोधन हुए, इसकी एक लम्बी कहानी है। किन्तु हम उस एक हजार वर्ष पश्चात् सकलित सूत्र को और उसमे उल्लिखित सभी शास्त्रो को भगवान् महावीर की वाणी स्वीकार करते हैं। यह भी माना जाता है कि उपागो की सकलना महावीर के बहुत बाद मे हुई, और प्रज्ञापना जैसे विशाल ग्रन्थ के रचयिता भी एक विद्वान् आचार्य भगवान् महावीर के बहुत बाद हुए हैं। दशवैकालिक और अनुयोग द्वार सूत्र भी क्रमश आचार्य शय्यंभव और आर्यरक्षित की रचना सिद्ध हो चुके हैं। यद्यपि इन आगमो में बहुत कुछ अश जीवनस्पर्शी है, पर भगवान् महावीर से उनका सीधा सम्बन्ध नहीं, यह निश्चित है।

मेरे बहुत से साथी इन उत्तरकालीन संकलनाओ को इसलिए प्रमाण मानते हैं कि इनका नामोल्लेख अंग साहित्य मे हुआ है और अंग सूत्रों का सीधा सम्बन्ध महावीर से जुड़ा हुआ है। मैं समझता हूँ कि यह तर्क सत्य स्थिति को अपदस्थ नही कर सकता, हकीकत को बदल नहीं सकता। भगवती जैसे विशालकाय अग सूत्र में महावीर के मुख से यह कहलाना

कि—'जहाँ पण्णवणाए'—जैसा प्रज्ञापना मे कहा है, यह किस इतिहास से संगत है? प्रज्ञापना, रायपसेणी और उववाई के उद्धरण भगवान् महावीर अपने मुख से कैसे दे सकते हैं? जबकि उनकी संकलना बहुत बाद मे हुई है।

इस तर्क का समाधान यह दिया जाता है कि बाद के लेखकों व आचार्यों ने अधिक लेखन से बचने के लिए सक्षिप्त रुचि के कारण स्थान-स्थान पर ऐसा उल्लेख कर दिया है। जब यह मान लिया है कि अंग आगमो में भी आचार्यों का अंगुलीस्पर्श हुआ है, उन्होने सक्षिप्तीकरण किया है, तो यह क्यो नही माना जा सकता कि कही-कही कुछ मूल से बढ भी गया है, विस्तार भी हो गया है! मैं नही कहता कि उन्होंने कुछ ऐसा किसी गलत भावना से किया है, भले ही यह सब कुछ पवित्र प्रभुभक्ति एव श्रुत महत्ता की भावना से ही हुआ हो, पर यह सत्य है कि जब घटाना संभव है, तो बढाना भी सभव है। और, इस संभावना के साक्ष्य रूप प्रमाण भी आज उपलब्ध हो रहे हैं।

भूगोल-खगोल : महावीर की वाणी नहीं :

यह सर्व सम्मत तथ्य आज मान लिया गया है कि मौखिक परम्परा एवं स्मृति-दौर्बल्य के कारण बहुत-सा श्रुत विलुप्त हो गया है, तो यह क्यो नही माना जा सकता कि सर्वसाधारण मे प्रचलित उस युग की कुछ मान्यताएँ भी आगमो के साथ सकलित कर दी गई हैं! मेरी यह निश्चित धारणा है कि ऐसा होना सम्भव है, और वह हुआ है।

उस युग में भूगोल, खगोल, ग्रह, नक्षत्र, नदी, पर्वत आदि के सम्बन्ध मे कुछ मान्यताएँ आम प्रचलित थी, कुछ बातें तो भारत के बाहरी क्षेत्रों मे भी अर्थात् इस्लाम और ईसाई धर्मग्रन्थो मे भी इधर-उधर के सांस्कृतिक रूपान्तर के साथ ज्यो की त्यो उल्लिखित हुई है, जो इस बात का प्रमाण है कि ये धारणाएँ सर्वसामान्य थी। जो जैनो ने भी ली, पुराणकारो ने भी ली और दूसरो ने भी! उस युग में उनके परीक्षण का कोई साधन नही था, इसलिए उन्हे सत्य ही मान लिया गया और वे शास्त्रो की पक्तियो के साथ चिपट गईं। पर बाद के उस वर्णन को भगवान् महावीर के नाम पर चलाना क्या उचित है? जिस चन्द्रलोक के धरातल के चित्र आज समूचे ससार के हाथो मे पहुंच गए हैं और अपोलो-८ के यात्रियो ने आँखो से देखकर बता दिया है कि वहाँ पहाड है, ज्वालामुखी के गर्त हैं, श्री-हीन उजडे भूखण्ड हैं, उस चन्द्रमा के लिए कुछ पुराने धर्मग्रन्थो की दुहाई देकर आज भी यह मानना कि वहाँ सिंह, हाथी, बैल और घोडो के रूप मे हजारो देवता हैं, और वे सब मिल कर चन्द्र विमान को वहन कर रहे हैं;[1] कितना असगत एव कितना अबौद्धिक है? क्या यह महावीर की वाणी, एक सर्वज्ञ की वाणी हो सकती है? जिन गगा आदि नदियो की इंच-इंच भूमि आज नाप ली गई है, उन नदियो को आज भी लाखो मील के लम्बे-चौडे विस्तार वाली बताना, क्या यह महावीर की सर्वज्ञता एवं भगवत्ता का उपहास नही है?

आज हमें नये सिरे से चिंतन करना चाहिए। यथार्थ के धरातल पर खडे होकर सत्य का सही मूल्यांकन करना चाहिए। दूध और पानी की तरह यह अलग-अलग कर देना चाहिए कि भगवान् की वाणी क्या है? महावीर के वचन क्या है? एव उससे उत्तरकालीन

---

१ जम्बूद्वीप प्रज्ञप्ति, ज्योतिषचक्राधिकार, चन्द्रऋद्धि वर्णन।

विद्वानो की संकलना क्या है ? यह साहस आज करना होगा, कतराने और सकुचाने से सत्य पर पर्दा नही डाला जा सकेगा। आज का तर्क प्रधान युग निर्णायक उत्तर मांगता है और यह उत्तर धर्मशास्त्रों के समस्त प्रतिनिधियो को देना होगा।

मैं समझता हूं कि आज के युग मे भी आप के मन मे तथाकथित शास्त्रो के अक्षर अक्षर को सत्य मानने का व्यामोह है, तो महावीर की सर्वज्ञता को अप्रमाणित होने से आप कैसे बचा सकेंगे ? यदि महावीर की सर्वज्ञता को प्रमाणित रखना है, तो फिर यह विवेकपूर्वक सिद्ध करना ही होगा कि महावीर की वाणी क्या है ? शास्त्र का यथार्थ स्वरूप क्या है ? और वह शास्त्र कौन-सा है ? अन्यथा आने वाली पीढी कहेगी कि महावीर को भूगोल-खगोल के सम्बन्ध मे कुछ भी अता-पता नहीं था, उन्हे स्कूल के एक साधारण विद्यार्थी जितनी भी जानकारी नही थी !

शास्त्रों की छँटनी :

यहाँ प्रश्न यह उपस्थित होता है, हम कौन होते हैं, जो महावीर की वाणी की छँटनी कर सकें ? हमे क्या अधिकार है कि शास्त्रो का फैसला कर सकें कि कौन शास्त्र है और कौन नही ?

उत्तर में निवेदन है, हम महावीर के उत्तराधिकारी हैं, भगवान् का गौरव हमारे अन्तर्मन मे समाया हुआ है, भगवान् की अपभ्राजना हम किसी भी मूल्य पर सहन नही कर सकते। हम त्रिकाल मे भी यह नही मान सकते कि भगवान् ने असत्य प्ररूपणा की है। अतः जो आज प्रत्यक्ष मे असत्य प्रमाणित हो रहा है, या हो सकता है, वह भगवान् का वचन नही हो सकता। इसलिए हमें पूरा अधिकार है कि यदि कोई भगवान् को, भगवान् की वाणी को चुनौती देता है, तो हम यथार्थ सत्य के आधार पर उसका प्रतिरोध करें, उस चुनौती का स्पष्ट उत्तर दें कि सचाई क्या है ?

विज्ञान ने हमारे शास्त्रो की प्रामाणिकता को चुनौती दी है। हमारे कुछ बुजुर्ग कहे जाने वाले विद्वान् मुनिराज या श्रावक जिस ढंग से उस चुनौती का उत्तर दे रहे हैं—कि असली चन्द्रमा बहुत दूर है। कुछ यह भी कहते हैं कि यह सब झूठ है, "वैज्ञानिको का, नास्तिको का षड्यन्त्र है, केवल धर्म को निन्दा करने के लिए।" मैं समझता हूं, इस प्रकार के उत्तर निरे मजाक के अतिरिक्त और कुछ नही। जिस हकीकत को प्रतिस्पर्धी राष्ट्रो के वैज्ञानिक भी स्वीकार कर रहे हैं, बाल की खाल उतारने वाले तार्किक भी आदर पूर्वक उसे मान्य कर रहे हैं, धरती पर रहे लाखों लोगो ने भी टेलिवीजन के माध्यम से चन्द्र तक आने जाने का दृश्य देखा है, उस प्रत्यक्षसत्य को हम यो झुठला नही सकते। और न नकली-असली चन्द्रमा बताने से ही कोई बात का उत्तर हो सकता है। प्रतिरोध करने का यह तरीका गलत है, उपहासास्पद है। शास्त्रो की गरिमा को अब इस हिलती हुई दीवार के सहारे अधिक दिन टिकाया नही जा सकता।

मैं पूछता हूं कि आपको शास्त्रो की परख करने का अधिकार क्यों नहीं है ? कभी एक परम्परा थी, जो चौरासी आगम मानती थी, ग्रन्थों मे उसके प्रमाण विद्यमान हैं। फिर

एक परम्परा खडी हुई, जो चौरासी मे से छँटनी करती करती पैंतालीस तकमान्य ठहराई। भगवान् महावीर के लगभग दो हजार वर्ष बाद फिर एक परम्परा ने जन्म लिया, जिसने पैंतालीस को भी अमान्य ठहराया और बत्तीस आगम माने। मैं पूछता हूँ—धर्मवीर लोंकाशाह ने, पैंतालीस आगमो में से बत्तीस छाँट लिए, क्या वे कोई बहुत बडे श्रुतधर आचार्य थे ? क्या उन्हें कोई विशिष्ट प्रत्यक्ष ज्ञान प्राप्त हुआ था ? क्या उन्हें कोई ऐसी देववाणी हुई थी कि अमुक शास्त्र शास्त्र है, और अमुक नही। फिर उन्होंने जो यह निर्णय किया और जिसे आज आप मान रहे हैं, वह किस आधार पर था ? सिर्फ अपनी प्रज्ञा एव दृष्टि से ही तो यह छँटनी उन्होंने की थी ! तो आज क्या वह प्रज्ञा और वह दृष्टि लुप्त हो गई है ? क्या आज किसी विद्वान् मे वह निर्णायक शक्ति नही रही ? या साहस नही है ? अथवा वे अपनी श्रद्धा-प्रतिष्ठा के भय से भगवद्वाणी का यह उपहास देखते हुए भी मौन हैं ? मैं साहस के साथ कह देना चाहता हूँ कि आज वह निर्णायक घडी आ पहुँची है कि 'हाँ' या 'ना' मे स्पष्ट निर्णय करना होगा। पौराणिक प्रतिबद्धता एव शाब्दिक व्यामोह को तोडना होगा, और यह कसौटी करनी ही होगी कि भगवद्वाणी क्या है ? और उसके बाद का अंश क्या है ?

विचार-प्रतिबद्धता को तोडिए :

किसी भी परम्परा के पास ग्रन्थ या शास्त्र कम-अधिक होने से जीवन के आध्यात्मिक विकास मे कोई अन्तर आने वाला नहीं है। यदि शास्त्र कम रह गए तो भी आपका आध्यात्मिक जीवन बहुत ऊँचा हो सकता है, विकसित हो सकता है, और शास्त्र का अम्बार लगा देने पर भी आप बहुत पिछडे हुए रह सकते हैं। आध्यात्मिक विकास के लिए जिस चिंतन और दृष्टि की आवश्यकता है, वह तो अन्तर् से जागृत होती है। जिसकी दृष्टि सत्य के प्रति जितनी आग्रहरहित एव उन्मुक्त होगी, जिसका चिंतन जितना आत्मगुखीन होगा, वह उतना ही अधिक आध्यात्मिक विकास कर सकेगा।

मैंने देखा है, अनुभव किया है—ग्रन्थो एव शास्त्रो को लेकर हमारे मानस मे एक प्रकार की वासना, एक प्रकार का आग्रह, जिसे हठाग्रह ही कहना चाहिए, पैदा हो गया है। आचार्यशंकर ने विवेक चूडामणि मे कहा है—देह वासना एव लोकवासना के समान शास्त्रवासना भी यथार्थ ज्ञान की प्रतिबन्धक है। आचार्य हेमचन्द्र ने इसे ही 'दृष्टिरागस्तु पापीयान् दुरुच्छेद्य सतामपि,—कहकर दृष्टिरागी के लिए सत्य की अनुसंधित्सा को बहुत दुर्लभ बताया है।

हम अनेकान्त दृष्टि और स्याद्वाद विचार पद्धति की बात-बात पर जो दुहाई देते हैं, वह आज के राजनीतिज्ञो की तरह केवल नारा नहीं होना चाहिए, हमारी सत्य दृष्टि बननी चाहिए, ताकि हम स्वतन्त्र अप्रतिबद्ध प्रज्ञा से कुछ सोच सकें। जबतक दृष्टि पर से अंधश्रद्धा का चश्मा नहीं उतरेगा, जबतक पूर्वाग्रहो के खूँटे से हमारा मानस बंधा रहेगा—तबतक हम कोई भी सही निर्णय नहीं कर सकेंगे। इसलिए युग की वर्तमान परिस्थितियों का तकाजा है कि हम पूर्वाग्रहो से मुक्त होकर नये सिरे से सोचें ! प्रज्ञा की कसौटी हमारे पास है, और वह कसौटी भगवान् महावीर एव गणधर गौतम ने, जो स्वयं

सत्य के साक्षात्द्रष्टा एव उपासक थे, वतलाई है—"पन्ना समिक्खए धम्मं"[1] प्रज्ञा ही धर्म की, सत्य की समीक्षा कर सकती है, उसी से तत्त्व का निर्णय किया जा सकता है।

शास्त्र-स्वर्ण की परख :

प्रज्ञा एक कसौटी है, जिस पर शास्त्र रूप स्वर्ण की परख की जा सकती है। और वह परख होनी ही चाहिए। हममे से वहुत से साथी हैं, जो कतराते हैं कि कही परीक्षा करने से हमारा सोना पीतल सिद्ध न हो जाए। मैं यह कहना चाहता हूँ कि इसमे कतराने की कौन सी वात है ? यदि सोना वस्तुतः सोना है, तो वह सोना ही रहेगा, और यदि पीतल है, तो उस पर सोने का मोह आप कव तक किए रहेंगे ? सोने और पीतल को अलग-अलग होने दीजिए—इसी मे आप की प्रज्ञा की कसौटी का चमत्कार है।

जैन आगमो के महान् टीकाकार आचार्य अभयदेव ने भगवती सूत्र की टीका की पीठिका मे एक वहुत वड़ी वात कही है, जो हमारे लिए सपूर्ण भगवद्वाणी की कसौटी हो सकती है।

प्रश्न है कि आप्त कौन है ? और उनकी वाणी क्या है ? आप्त भगवान् क्या उपदेश करते हैं ?

उत्तर मे कहा गया है कि—जो मोक्ष का अग है, मुक्ति का साधन है, आप्त भगवान् उसी यथार्थ सत्य का उपदेश करते हैं। आत्मा की मुक्ति के साथ जिसका प्रत्यक्ष या पारस्परिक कोई सम्वन्ध नही है, उसका उपदेश भगवान् कभी नही करते। यदि उसका भी उपदेश करते हैं, तो उनकी आप्तता मे दोप आता है।[2]

यह एक वहुत सच्ची कसौटी है, जो आचार्य अभयदेव ने हमारे समक्ष प्रस्तुत की है। इससे भी पूर्व लगभग चौथी-पांचवी शताब्दी के महान् तार्किक, जैन तत्वज्ञान को दर्शन का रूप देने वाले आचार्य सिद्धसेन ने भी शास्त्र की एक कसौटी निश्चित करते हुए कहा था—

"आप्तोपज्ञमनुल्लंघ्यमदृष्टेष्टविरोधकम् ।
तत्वोपदेशकृत्सार्वं शास्त्रं कापथघट्टनम् ॥"[1]

"जो वीतराग—आप्त पुरुषो के द्वारा जाना परखा गया है, जो किसी अन्य वचन के द्वारा अपदस्थ—हीन नही किया जा सकता और जो तर्क तथा प्रमाणो से खण्डित नही हो सकने वाले सिद्धान्त का प्रतिपादन करता है, जो प्राणिमात्र के कल्याण के निमित्त से सार्व अर्थात् सार्वजनीन—सर्वजन हितकारी होता है एव अध्यात्म भावना के विरुद्ध जाने वाली विचार सरणियो का निरोध करता है—वही सच्चा शास्त्र है।"

तार्किक आचार्य ने शास्त्र की जो कसौटी की है, वह आज भी अमान्य नही की जा सकती। वैदिक परम्परा के प्रथम दार्शनिक कपिल एव महान् तार्किक गौतम ने भी जव शब्द को

---

१. उत्तराध्ययन, २३।२५
२. नहि आप्त साक्षाद् पारंपर्येण वा यत्र मोक्षाङ्ग तद् प्रतिपादयितुमुत्सहते अनाप्तत्व-प्रसगात्। —आचार्य अभयदेव, भगवती वृत्ति, १।१।

प्रमाण कोटि मे माना, तो पूछा गया—शब्द प्रमाण क्या है ? तो कहा—'आप्त का उपदेश शब्द प्रमाण है !' आप्त कौन है ? तत्त्व का यथार्थ उपदेष्टा आप्त है ।[1] जिसके वचन में पूर्वापर विरोध, असगति-विसगति नही होती, और जो वचन प्रत्यक्ष आदि प्रमाणो के विरुद्ध नही जाता, खण्डित नही होता—वही आप्त वचन है । आचार्य के उक्त कथन से यह सिद्ध हो जाता है कि किसका, क्या वचन मान्य हो सकता है और क्या नही । जो वचन यथार्थ नही है, सत्य की कसौटी पर खरा नही उतरता है, वह भले कितना ही विराट् एव विशाल ग्रन्थ क्यो न हो, उसे 'आप्तवचन' कहने से इन्कार कर दीजिए। इसी मे आप्त की और आप की प्रामाणिकता है, प्रतिष्ठा है ।

हम स्वयं निर्णय करें .

तर्कशास्त्र की ये सूक्ष्म बातें मैंने आपको इसलिए बताई हैं कि हम अपनी प्रज्ञा को जागृत करें और स्वय परखें कि वस्तुत शास्त्र क्या है, उसका प्रयोजन क्या है ? और फिर यह भी निर्णय करें कि जो अपनी परिभाषा एव प्रयोजन के अनुकूल नही है, वह शास्त्र, शास्त्र नही है । उसे और कुछ भी कह सकते हैं—ग्रन्थ, रचना, कृति कुछ भी कहिए, पर हर किसी ग्रन्थ को भगवद्वाणी या आप्तवचन नही कह सकते ।

शास्त्र की एक कसौटी, जो उत्तराध्ययन सूत्र से मैंने आपको बतलाई है, जिसमे कहा गया है—तप, क्षमा एव अहिंसा की प्रेरणा जगाकर आत्मदृष्टि को जागृत करने वाला शास्त्र है । यह इतनी श्रेष्ठ और सही कसौटी है कि इसके आधार पर भी यदि हम वर्तमान में शास्त्रो का निर्णय करें, तो बहुत ही सही दिशा प्राप्त कर सकते हैं ।

बहुत से जिज्ञासुओ और मेरे साथी मुनियो के समक्ष मैंने जब कभी अपने ये विचार एव तर्क उपस्थित करते है, तो वे कतराने मे लगते हैं कि बात तो ठीक है पर यह कैसे कहें कि अमुक आगम को हम शास्त्र नही मानते । इससे बहुत हलचल मच जाएगी, श्रावकों की श्रद्धा खतम हो जाएगी, धर्म का ह्रास हो जाएगा । मैं जब उनकी उक्त दकियानूस्त एवं भीरुता भरी बातें सुनता हूँ, तो मन झुंझला उठता है—यह क्या कायरता है ? यह कैसी मनोवृत्ति है हमारे मन में ! हम समझते हैं कि बात सही है, पर कह नहीं सकते । चूँकि लोग क्या कहेंगे ? मैं समझता हूँ—इसी दब्बू मनोवृत्ति ने हमारे आदर्शों को गिराया है, हमारी संस्कृति का पतन किया है । यही मनोवृत्ति वर्तमान में पैदा हुई शास्त्रो के प्रति अनास्था एव धर्म विरोधी भावना की जिम्मेदार है ।

भगवद्भक्ति या शास्त्र-मोह :

बहुत वर्ष पहले की बात है, मैं देहली मे था । वहाँ के लाला उमरावमलजी एक बहुत अच्छे सामाजिक, साथ ही तत्त्वलीन श्रावक थे । उनके साथ प्राय अनेक शास्त्रीय प्रश्ना

---

1. आप्तोपदेश शब्द —सांख्यदर्शन १।१०१
   —न्यायदर्शन १।१।७
   आप्तः खलु साक्षात्कृतधर्मा यथादृष्टस्यार्थस्य
   चिख्यापयिषया प्रयुक्त उपदेष्टा ...
   —न्यायदर्शन वात्स्यायन भाष्य

पर चर्चा चलती रहती थी। एकवार प्रसग चलने पर मैंने कहा—"लालाजी! मैं कुछ शास्त्रो के सम्बन्ध मे परम्परा से भिन्न दृष्टि रखता हूँ! मैं यह नही मानता कि इन शास्त्रो का अक्षर-अक्षर भगवान् ने कहा है। शास्त्रो मे कुछ अश ऐसे भी हैं, जो भगवान् की सर्वज्ञता के साक्षी नहीं है। भूगोल-खगोल को ही ले लीजिए। यह सब क्या है?"

मैंने यह कहा तो लालाजी एकदम चौंके और वोले—"महाराज! आपने यह वात कैसे कही? ऐसा कैसे हो सकता है?"

इस पर मैंने उनके समक्ष शास्त्रो के कुछ स्थल रखे, साथ ही लम्बी चर्चा की, और फिर उनसे पूछा—"क्या ये सब वातें एक सर्वज्ञ भगवान् की कही हुई हो सकती हैं? हो सकती हैं, तो इनमे परस्पर असगतता एव विरोध क्यो है? सर्वज्ञ की वाणी कभी असंगत नही हो सकती, और यदि असगत है, तो वह सर्वज्ञ की वाणी नही हो सकती।"

लालाजी बुजुर्ग होते हुए भी जडमस्तिष्क नही थे, श्रद्धा प्रधान होते हुए भी तर्कशून्य नही थे। उन्होंने लम्वी तत्त्वचर्चा के वाद अन्त मे मुक्त मन से कहा—"महाराज! इन चाँद-सूरज के शास्त्रो से भगवान् का सम्वन्ध जितना जल्दी तोडा जाए, उतना ही अच्छा है। वर्ना इन शास्त्रो की श्रद्धा वचाने गए तो कही भगवान् की श्रद्धा से ही हाथ न धो वैठें!"

मैं आपसे भी यही पूछना चाहता हूँ कि आप इन चद्र, सूर्य, सागर एव सुमेरु की चर्चा करने वाले शास्त्रो को महत्त्व देना चाहते हैं या भगवान् को? आपके मन में भगवद्-भक्ति का उद्रेक है या शास्त्र मोह का?

आप कहेगे, शास्त्र नही रहा, तो भगवान् का क्या पता चलेगा? शास्त्र ही तो भगवान् का ज्ञान कराते हैं।

वात ठीक है, शास्त्रो से ही भगवान् का ज्ञान होता है। हम आत्मा हैं और भगवान् परमात्मा हैं। आत्मा परमात्मा मे क्या अन्तर है? अशुद्ध और शुद्ध स्थिति का ही तो अन्तर है। आत्मा का शुद्ध स्वरूप ही भगवान् है, भगवान् का स्वरूप है। इस प्रकार भगवान् का स्वरूप आत्मस्वरूप से भिन्न नही है। और जो शास्त्र आत्मस्वरूप का ज्ञान कराने वाला है, आत्मा से परमात्मा होने का मार्ग वताने वाला है, जीवन की पवित्रता और श्रेष्ठता का पथ दिखाने वाला है, वास्तव में वही धर्मशास्त्र है, और उसी धर्मशास्त्र की हमे आवश्यकता है। किन्तु इनके विपरीत जो शास्त्र आत्मस्वरूप की जगह आत्म-विभ्रम का कारण खडा कर देता है, हमे अन्तर्मुख नहीं, अपितु वहिर्मुख वनाता है, उसे शास्त्र की कोटि मे रखने से क्या लाभ है? वह तो उलटा हमें भगवत् श्रद्धा से दूर खदेडता है, मन को शंकाकुल वनाता है, और प्रबुद्ध लोगो को हमारे शास्त्रो पर, हमारे भगवान् पर अंगुली उठाने का मौका देता है। आप तटस्थ दृष्टि से देखिए कि ये भूगोल-खगोल सम्वन्धी चर्चाएँ, ये चन्द्र, सूर्य, ग्रह, नक्षत्र, पर्वत और समुद्र आदि के लम्बे, चौडे वर्णन करने वाले शास्त्र हमें आत्मा को वन्धन मुक्त करने के लिए क्या प्रेरणा देते हैं? आत्मविकास का कौन-सा मार्ग दिखाते हैं? इन वर्णनो से हमें तप, त्याग, क्षमा, अहिंसा आदि का कौन सा उपदेश प्राप्त होता है? जिनका हमारी आध्यात्मिक चेतना से कोई सम्वन्ध नहीं, आत्मसाधना से जिनका कोई वास्ता नहीं, हम उन्हें शास्त्र मानें तो क्यो? किस आधार पर?

मैंने प्रारम्भ मे एक बात कही थी कि जैन एव वैदिक परम्परा के अनेक ग्रन्थो का निर्माण या नवीन सस्करण ईसा पूर्व की पहली शताब्दी से लेकर ईसा पश्चात् चौथी-पाँचवी शताब्दी तक होता रहा है। उस युग में जो भी प्राकृत या संस्कृत मे लिखा गया, उसे धर्म-शास्त्र की सूची मे चढा दिया गया। इसका परिणाम यह हुआ कि मानव की स्वतन्त्र तर्कणा एक तरह से कुण्ठित हो गई और श्रद्धावनत होकर मानव ने हर किसी ग्रन्थ को शास्त्र एवं आप्तवचन मान लिया। भारत की कोई भी परम्परा इस बौद्धिक विकृति से मुक्त नही रह सकी। श्रद्धाधिक्य के कारण, हो सकता है, प्रारम्भ मे यह भूल कोई भूल प्रतीत न हुई हो, पर आज इस भूल के भयंकर परिणाम हमारे समक्ष आ रहे हैं। भारत की धार्मिक प्रजा उन तथाकथित धर्मशास्त्रो की जकड़ मे इस प्रकार प्रतिबद्ध हो गई है कि न कुछ पकडते बनता है और न कुछ छोड़ते बनता है।

मेरा यह कथन शास्त्र की अवहेलना या अपभ्रावना नही है, किन्तु एक सत्य हकीकत है, जिसे जानकर, समझ कर हम शास्त्र के नाम पर अन्ध-शास्त्र प्रतिबद्धता से मुक्त हो जाए। जैसा मैंने कहा—शास्त्र तो सत्य का उद्घाटक होता है, असत्य धारणाओ का सकलन, शास्त्र नही होता। मैं तत्त्वद्रष्टा ऋषियो की वाणी को पवित्र मानता हूँ, महाश्रमण महावीर की वाणी को आत्म-स्पर्शी मानता हूँ—इसलिए कि वह सत्य है, ध्रुव है। किन्तु उनके नाम पर रचे गये ग्रन्थो को, जिनमे कि अध्यात्म चेतना का कुछ भी स्पर्श नही है, सत्य, शिव की साक्षात् अनुभूति नही है, मैं शास्त्र नही मानता।

कुछ मित्र मुझे अर्धनास्तिक कहते है, मिथ्यात्वी भी कहते हैं। मैं कहता हूँ, अर्ध-नास्तिक का क्या मतलब ? पूरा ही नास्तिक क्यो न कह देते ? यदि सत्य का उद्घाटन करना और उसे मुक्त मन से स्वीकार कर लेना, नास्तिकता है, तो वह नास्तिकता अभिशाप नही, वरदान है।

मेरा मन महावीर के प्रति अटूट श्रद्धा लिए हुए है, सत्यद्रष्टा ऋषियो के प्रति एक पवित्र भावना लिए हुए है, और यह श्रद्धा ज्यो-ज्यो चिंतन की गहराई का स्पर्श करती है, त्यो-त्यो अधिक प्रबल, अधिक दृढ होती जाती है। मैं आज भी उस परम ज्योति को अपने अन्तरग में देख रहा हूँ और उस पर मेरा मन सर्वतोभावेन समर्पित हो रहा है। भगवान् मेरे लिए ज्योति-स्तम्भ है, उनकी वाणी का प्रकाश मेरे जीवन के कण-कण मे समाता जा रहा है, किन्तु भगवान् की वाणी क्या है, और क्या नहीं, यह मैं अपने अन्तर्विवेक के प्रकाश मे स्पष्ट देखकर चल रहा हूँ। भगवान की वाणी वह है, जो अन्तर् मे सत्य श्रद्धा की ज्योति जगाती है, अन्तर् मे सुप्त ईश्वरत्व को प्रबुद्ध करती है, हमारी अन्तश्चेतना को व्यापक एव विराट् बनाती है। भगवद्वाणी की स्फुरणा आत्मा की गति-प्रगति से सम्बन्धित है, सूर्य, चन्द्र आदि की गति मे नहीं। सोने, चादी के पहाड़ो की ऊँचाई-नीचाई मे नहीं, नदी-नालों एवं समुद्रो की गहराई लम्बाई से नहीं। ऋषियों की वाणी विश्वमैत्री एव विराट् चेतना की प्रतिनिधि है, उसमे वर्गसघर्ष, जातिविद्वेष एव असत्कल्पनाओं के स्वर नहीं हो सकते। भगवान् की वाणी मे जो शाश्वत सत्य का स्वर मुखरित हो रहा है, उसको कोई भी विज्ञान, कोई भी प्रमाण चुनौती नहीं दे सकता, कोई भी सत्य का साधक उसकी अवहेलना नहीं कर सकता। किन्तु हम इस भ्रम मे भी नहीं रहे कि भगवान् की वाणी के नाम पर, आप्तवचनो के नाम पर, आज जो कुछ भी लिखा हुआ प्राप्त होता है, वह सब कुछ साक्षात्

भगवान् की वाणी है, जो कुछ लिपिवद्ध है वह अक्षर-अक्षर भगवान् का ही कहा हुआ है। प्राकृत एवं अर्धमागधी के हर किसी ग्रन्थ पर महावीर की मुद्रा लगा देना, महावीर की भक्ति नही, अवहेलना है। यदि हम सच्चे श्रद्धालु हैं, भगवद्भक्त हैं, तो हमें इस अवहेलना से मुक्त होना चाहिए। और यह विवेक कर लेना चाहिए कि जो विचार, जो तथ्य, जो वाणी सिर्फ भौतिकजगत् के विश्लेषण एव विवेचन से सम्वन्धित है, साथ ही प्रत्यक्ष प्रमाण से बाधित भी है, वह भगवान् की वाणी नही है, वह हमारा मान्य शास्त्र नही है। हाँ, वह आचार्यों द्वारा रचित या सकलित ग्रन्थ, काव्य या साहित्य कुछ भी हो सकता है, किन्तु शास्त्र नही।

मैं समझता हूँ, मेरी यह वात आपके हृदय मे मुश्किल से उतरेगी। आप गहरा ऊहापोह करेंगे। कुछ तो, मुझे कुछ का कुछ भी कहेंगे। इसकी मुझे कुछ भी चिंता नही है। सत्य है कि आज के उलझे हुए प्रश्नो का समाधान इसी दृष्टि से हो सकता है। मैंने अपने चिन्तन-मनन से समाधान पाया है, और अनेक जिज्ञासुओ को भी दिया है, मैं तो मानता हूँ कि इसी समाधान के कारण आज भी मेरे मन मे महावीर एवं अन्य ऋषि-मुनियो के प्रति श्रद्धा का निर्मल स्रोत उमड़ रहा है, मेरे जीवन का कण-कण आज भी सहज श्रद्धा के रस से आप्लावित हो रहा है। और मैं तो सोचता हूँ, मेरी यह स्थिति उन तथाकथित श्रद्धालुओ से अधिक अच्छी है, जिनके मन मे तो ऐसे कितने ही प्रश्न सन्देह में उलझ रहे हैं, किन्तु वाणी मे शास्त्रश्रद्धा की धुंआधार गर्जना हो रही है। जिनके मन मे केवल परम्परा के नाम पर ही कुछ समाधान हैं, जिनकी बुद्धि पर इतिहास की अज्ञानता के कारण विवेक-शून्य श्रद्धा का आवरण चढा हुआ है, उनकी श्रद्धा कल टूट भी सकती है, और न भी टूटे तो कोई उसकी श्रेयसता मैं नही समझता। किन्तु विवेकपूर्वक जो श्रद्धा जगती है, चिन्तन से स्फुरित होकर जो ज्योति प्रकट होती है, उसीका अपने और जगत् के लिए कुछ मूल्य है। उस मूल्य की स्थापना आज नही तो कल होगी, अवश्य ही होगी।

निष्कर्षत हम कह सकते है कि शास्त्रो का सही अभिधान ही हमारे जीवन की पथदिशा प्रशस्त करता है। और पर्याय क्रम से ये शास्त्र ही हमारे धर्म के आधार भी हैं, उसकी सही कसौटी हैं।

★ ★ ★ ★

३०

जैन संस्कृति की अमर देन : अहिंसा

जैन संस्कृति की संसार को जो सबसे बड़ी देन है, वह अहिंसा है। अहिंसा का यह महान् विचार, जो आज विश्व की शान्ति का सर्वश्रेष्ठ साधन समझा जाने लगा है, और जिसकी अमोघ शक्ति के सम्मुख संसार की समस्त संहारक शक्तियाँ कुण्ठित होती दिखाई देने लगी हैं : जैन-संस्कृति का प्राण है। जैन धर्म का मूल आधार है।

दुःख का उद्भावक : मनुष्य :

जैन-संस्कृति का महान् संदेश है कि कोई भी मनुष्य समाज से सर्वथा पृथक् रह कर अपना अस्तित्व कायम नहीं रख सकता। समाज में घुल-मिल कर ही वह अपने जीवन का आनन्द उठा सकता है और आस-पास के संगी-साथियों को भी उठाने दे सकता है। जब यह निश्चित है कि व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता, तब यह भी आवश्यक है कि वह अपने हृदय को उदार बनाए, विशाल बनाए, विराट् बनाएँ और जिन लोगों से खुद को काम लेना है, या जिनको देना है, उनके हृदय में अपनी ओर से पूर्ण विश्वास पैदा करे। जबतक मनुष्य अपने पार्श्ववर्ती समाज में अपनेपन का भाव पैदा न करेगा, अर्थात् जब तक दूसरे लोग उसको अपना न समझेंगे और वह भी दूसरों को अपना न समझेगा, तबतक समाज का कल्याण नहीं हो सकता। मनुष्य-मनुष्य में एक-दूसरे के प्रति अविश्वास ही अशान्ति और विनाश का कारण बना हुआ है।

संसार में जो चारों ओर दुःख का हाहाकार है, वह प्रकृति की ओर से मिलने वाला तो बहुत ही साधारण है। यदि अन्तर्निरीक्षण किया जाए, तो प्रकृति, दुःख की अपेक्षा हमारे सुख में ही अधिक सहायक है। संसार में जो कुछ भी ऊपर का दुःख है, वह मनुष्य पर मनुष्य के द्वारा ही लादा हुआ है। यदि हर एक व्यक्ति अपनी ओर से दूसरों पर किए जाने वाले दुःख के कारणों को हटा दे, तो यह संसार आज ही नरक से स्वर्ग में बदल सकता है।

सुख का साधन 'स्व' की सीमा :

जैन-संस्कृति के महान् संस्कारक अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने तो राष्ट्रों में परस्पर होने वाले युद्धों का हल भी अहिंसा के द्वारा ही बतलाया। उनका उपदेश है कि मनुष्य 'स्व' की सीमा में ही सन्तुष्ट रहे, 'पर' की सीमा में प्रविष्ट होने का कभी भी प्रयत्न न करे। 'पर' की सीमा में प्रविष्ट होने का अर्थ है, दूसरों के सुख-साधनों को देखकर लालायित होना और उन्हें छीनने का दुःसाहस करना।

जबतक नदी अपनी धारा में प्रवाहित होती रहती है, तबतक उससे संसार को अनेक प्रकार के लाभ मिलते रहते हैं। हानि कुछ भी नहीं। ज्यों ही वह अपनी सीमा से हटकर आस-पास के प्रदेश पर अधिकार जमा लेती है, बाढ का रूप धारण कर लेती है, तो संसार में हाहाकार मच जाता है, प्रलय का दृश्य खडा हो जाता है। यही दशा मनुष्यों की है। जबतक सब के सब मनुष्य अपने-अपने 'स्व' में ही प्रवाहित रहते हैं, तबतक कुछ अशान्ति नहीं है। अशान्ति और विग्रह का वातावरण वहीं पैदा होता है, जहाँ कि मनुष्य 'स्व' से बाहर फैलना शुरू करता है, दूसरों के अधिकारों को कुचलता है और दूसरों के जीवनोपयोगी साधनों पर कब्जा जमाने लगता है।

प्राचीन जैन-साहित्य उठाकर आप देख सकते हैं कि भगवान् महावीर ने इस दिशा में कितने बडे स्तुत्य प्रयत्न किए हैं। वे अपने प्रत्येक गृहस्थ शिष्य को पाँचवें अपरिग्रहव्रत की मर्यादा में सर्वदा 'स्व' में ही सीमित रहने की शिक्षा देते हैं। व्यापार तथा उद्योग आदि क्षेत्रों में उन्होंने अपने अनुयायियों को अपने न्याय प्राप्त अधिकारों से कभी भी आगे नहीं बढने दिया। प्राप्त अधिकारों से आगे बढने का अर्थ है, अपने दूसरे साथियों के साथ संघर्ष में उतरना।

जैन-संस्कृति का अमर आदर्श है कि प्रत्येक मनुष्य अपनी उचित आवश्यकता की पूर्ति के लिए, अपनी मर्यादा में रहते हुए, उचित साधनों का ही प्रयोग करे। आवश्यकता से अधिक किसी भी सुख-सामग्री का संग्रह कर रखना, जैन-संस्कृति में चोरी माना जाता है। व्यक्ति, समाज अथवा राष्ट्र क्यों लडते हैं? इसी अनुचित संग्रह-वृत्ति के कारण। दूसरों के जीवन की, जीवन के सुख-साधनों की उपेक्षा करके, मनुष्य कभी भी सुख-शान्ति नहीं प्राप्त कर सकता। अहिंसा के बीज अपरिग्रह-वृत्ति में ही ढूँढे जा सकते हैं। एक अपेक्षा से कहें तो अहिंसा और अपरिग्रह-वृत्ति दोनों पर्यायवाची शब्द हैं।

युद्ध और अहिंसा

आत्मरक्षा के लिए उचित प्रतिकार के साधन जुटाना, जैनधर्म के विरुद्ध नहीं है। परन्तु आवश्यकता से अधिक संगृहीत एवं संगठित शक्ति अवश्य ही संहार-लीला का अभिनय करेगी, अहिंसा को मरणोन्मुखी बनाएगी। अतएव आप आश्चर्य न करें कि पिछले कुछ वर्षों में जो शस्त्र-संन्यास का आन्दोलन चल रहा है, प्रत्येक राष्ट्र को सीमित युद्ध सामग्री रखने को कहा जा रहा है, वह जैन तीर्थंकरों ने हजारों वर्ष पहले चलाया था। आज जो काम कानून तथा संविधान के द्वारा लिया जा रहा है, उन दिनों वह उपदेशों द्वारा लिया जाता था। भगवान् महावीर ने बडे-बडे राजाओं को जैन-धर्म में दीक्षित किया था और उन्हें नियम

कराया गया था कि वे राष्ट्ररक्षा के काम में आने वाले आवश्यक शस्त्रों से अधिक शस्त्र-संग्रह न करें। साधनों का आधिक्य मनुष्य को उद्दण्ड और बेलगाम बना देता है। प्रभुता की लालसा में आकर वह कभी-न-कभी किसी पर चढ दौड़ेगा और मानव-संसार में युद्ध की आग भड़का देगा। इस दृष्टि से जैन तीर्थंकर हिंसा के मूल कारणों को उखाड़ने का प्रयत्न करते रहे हैं।

जैन तीर्थंकरों ने कभी भी युद्धों का समर्थन नहीं किया। जहाँ अनेक धर्माचार्य साम्राज्यवादी राजाओं के हाथों की कठपुतली बनकर युद्ध का उन्मुक्त समर्थन करते आये हैं, युद्ध में मरने वालों को स्वर्ग का लालच दिखाते आये हैं, राजा को परमेश्वर का अंश बताकर उसके लिए सब कुछ अर्पण कर देने का प्रचार करते आये हैं, वहाँ जैन तीर्थंकर इस सम्बन्ध में बहुत ही स्पष्ट और दृढ रहे हैं। 'प्रश्न व्याकरण' और 'भगवती सूत्र' युद्ध के विरोध में क्या कुछ कहते हैं ? यदि थोड़ा-सा कष्ट उठाकर देखने का प्रयत्न करेंगे, तो वहाँ बहुत-कुछ युद्ध-विरोधी विचार-सामग्री प्राप्त कर सकेंगे। मगधाधिपति अजातशत्रु कूणिक भगवान् महावीर का कितना उत्कृष्ट भक्त था ? 'औपपातिक सूत्र' में उसकी भक्ति का चित्र चरम सीमा पर पहुँचा हुआ है। प्रतिदिन भगवान् के कुशल-समाचार जान कर फिर अन्न-जल ग्रहण करना, कितना उग्र नियम है! परन्तु वैशाली पर कूणिक द्वारा होने वाले आक्रमण का भगवान् ने जरा भी समर्थन नहीं किया। प्रत्युत कूणिक के प्रश्न पर उसे अगले जन्म में नरक का अधिकारी बताकर उसके क्रूर-कर्मों को स्पष्ट ही धिक्कारा है। अजातशत्रु इस पर रुष्ट भी हो जाता है, किन्तु भगवान् महावीर इस बात की कुछ भी परवाह नहीं करते। भला, अहिंसा के अवतार उसके रोमांचकारी नर-संहार का समर्थन कैसे कर सकते थे ?

अहिंसा निष्क्रिय नहीं है

जैन तीर्थंकरों द्वारा उपदिष्ट अहिंसा निष्क्रिय अहिंसा नहीं है। वह विध्यात्मक है। जीवन के भावात्मक रूप-प्रेम, परोपकार एवं विश्व-बन्धुत्व की भावना से ओत-प्रोत है। जैन धर्म की अहिंसा का क्षेत्र बहुत ही व्यापक एवं विस्तृत है। उसका आदर्श, स्वयं आनन्द से जीओ और दूसरों को जीने दो, यहीं तक सीमित नहीं है। उसका आदर्श है—दूसरों के जीने में सहयोगी बनो। बल्कि अवसर आने पर दूसरों के जीवन की रक्षा के लिए अपने जीवन की आहुति भी दे डालो। वे उस जीवन को कोई महत्त्व नहीं देते, जो जन-सेवा के मार्ग से सर्वथा दूर रहकर एकमात्र भक्ति-पाठ के अर्थ-शून्य क्रियाकाण्डों में ही उलझा रहता है।

भगवान् महावीर ने एक बार अपने प्रमुख शिष्य गणधर गौतम को यहाँ तक कहा था कि मेरी सेवा करने की अपेक्षा दीन-दुखियों की सेवा करना कहीं अधिक श्रेयस्कर है। मैं उन पर प्रसन्न नहीं, जो मेरी भक्ति करते हैं, माला फेरते हैं। किन्तु मैं उन पर प्रसन्न हूँ, जो मेरी आज्ञा का पालन करते हैं। मेरी आज्ञा है—"प्राणिमात्र की आत्मा को सुख, सन्तोष और आनन्द पहुँचाओ।"

भगवान् महावीर का यह महान् क्रान्तिकारी सन्देश आज भी हमारी आँखों के सामने है, इसका मूल और 'उत्तराध्ययन-सूत्र' की सर्वार्थ-सिद्धि-वृत्ति में आज भी हम देख सकते हैं।

वर्तमान परिस्थिति और अहिंसा :

अहिंसा के महान् सन्देशवाहक भगवान् महावीर थे। आज से ढाई हजार वर्ष पहले का समय, भारतीय सस्कृति के इतिहास मे, एक प्रगाढ अन्धकारपूर्ण युग माना जाता है। देवी-देवताओ के आगे पशु-बलि के नाम पर रक्त की नदियाँ बहाई जाती थी, मांसाहार और सुरापान का दौर चलता था। अस्पृश्यता के नाम पर करोडो की संख्या मे मनुष्य अत्याचार की चक्की मे पिस रहे थे। स्त्रियो को भी मनुष्योचित अधिकारो से वचित कर दिया गया था। एक क्या, अनेक रूपो मे हिंसा की प्रचण्ड ज्वालाएँ धधक रही थी, समूची मानव जाति उससे सत्रस्त हो रही थी। उस समय मे भगवान् महावीर ने ससार को अहिंसा का अमृतमय सन्देश दिया। हिंसा का विषाक्त प्रभाव धीरे-धीरे शान्त हुआ और मनुष्य के हृदय में मनुष्य क्या, पशुओ के प्रति भी दया, प्रेम और करुणा की अमृत-गगा बह उठी। ससार मे स्नेह, सद्भाव और मानवोचित अधिकारो का विस्तार हुआ। ससार की मातृ-जाति नारी को फिर से योग्य सम्मान मिला। शूद्रो को भी मानवीय ढग से जीने का अधिकार प्राप्त हुआ। और निरीहपशु ने भी मनुष्य के क्रूर-हाथो से अभय-दान पाकर जीवन का अमोघ वरदान पालिया।

अहिंसा एव विभिन्न मत

अहिंसा की परिधि के अन्तर्गत समस्त धर्म और समस्त दर्शन समवेत हो जाते हैं, यही कारण है कि प्रायः सभी धर्मों ने इसे एक स्वर से स्वीकार किया है। हमारे यहाँ के चिन्तन मे, समस्त धर्म-सम्प्रदायो मे अहिंसा के सम्बन्ध मे, उसकी महत्ता और उपयोगिता के सम्बन्ध मे दो मत नही हैं, भले ही उसकी सीमाएँ कुछ भिन्न-भिन्न हो। कोई भी धर्म यह कहने के लिए तैयार नही कि झूठ बोलने मे धर्म है, चोरी करने मे धर्म है या अब्रह्मचर्य सेवन करने मे धर्म है। जब इन्हे धर्म नही कहा जा सकता, तो हिंसा को कैसे धर्म कहा जा सकता है? हिं ा को हिंसा के नाम से कोई स्वीकार नही करता। अत किसी भी धर्मशास्त्र मे हिंसा को धर्म और अहिंसा को अधर्म नहीं कहा गया है। सभी धर्मों ने अहिंसा को ही परम धर्म स्वीकार किया है।

जैन-धर्म में अहिंसा भावना :

आज से पच्चीस सौ वर्ष पूर्व भगवान् महावीर ने अहिंसा की नींव को सुदृढ़ बनाने के लिए, हिंसा के प्रति क्राति की। अहिंसा और धर्म के नाम पर हिंसा का जो नग्न नृत्य हो रहा था, जनमानस भ्रान्त किया जा रहा था, वह भगवान् महावीर से देखा नही गया। उन्होंने हिंसा पर लगे धर्म और अहिंसा के मुखौटो को उतार फेंका, और सामान्य जनमानस को उद्‌बुद्ध करते हुए कहा—"हिंसा कभी भी धर्म नहीं हो सकती। विश्व के सभी प्राणी, वे चाहे छोटे हो या बडे, पशु हो या मानव सभी जीना चाहते हैं, मरना कोई नही चाहता।[1] सबको सुख प्रिय है, दु:ख अप्रिय है। सबको अपना जीवन प्यारा है।[2]

---

१ सव्वे जीवा वि इच्छंति, जीविउ न मरिज्जिउ।
—दशवैकालिक सूत्र, ६।११

२. सव्वे पाणा पिआउया सुहसाया दुहपडिकूला।
—आचारांग सूत्र १।२।३

जिस हिंसक व्यापार को तुम अपने लिए पसन्द नहीं करते, उसे दूसरा भी पसन्द नहीं करता। जिस दयामय व्यवहार को तुम पसन्द करते हो, उसे सभी पसन्द करते हैं। यही जिन शासन के कथनों का सार है, जो कि एक तरह से सभी धर्मों का सार है।[1] किसी के प्राणों की हत्या करना, धर्म नहीं हो सकता। अहिंसा, संयम और तप यही वास्तविक धर्म है।[2] इस लोक में जितने भी त्रस और स्थावर प्राणी हैं।[3] उनकी हिंसा न जान कर करो, न अनजान में करो और न दूसरों से ही किसी की हिंसा कराओ। क्योंकि सब के भीतर एक-सी आत्मा है, हमारी तरह सबको अपने प्राण प्यारे हैं, ऐसा मानकर भय और वैर से मुक्त होकर किसी प्राणी की हिंसा न करो। जो व्यक्ति खुद हिंसा करता है, दूसरों से हिंसा करवाता है और दूसरों की हिंसा का अनुमोदन करता है, वह अपने लिए वैर ही बढ़ाता है।[4] अतः प्राणियों के प्रति वैसा ही भाव रखो, जैसा कि अपनी आत्मा के प्रति रखते हो।[5] सभी जीवों के प्रति अहिंसक होकर रहना चाहिए। सच्चा संयमी वही है, जो मन, वचन और शरीर से किसी की हिंसा नहीं करता। यह है—भगवान् महावीर की आत्मौपम्य दृष्टि, जो अहिंसा से ओत-प्रोत होकर विराट् विश्व के सम्मुख आत्मानुभूति का एक महान् गौरव प्रस्तुत कर रही है।

जैन दर्शन में अहिंसा के दो पक्ष हैं। 'नहीं मारना'—यह अहिंसा का एक पहलू है, उसका दूसरा पहलू है—मैत्री, करुणा और सेवा। यदि हम सिर्फ अहिंसा के नकारात्मक पहलू पर ही सोचें, तो यह अहिंसा की अधूरी समझ होगी। सम्पूर्ण अहिंसा की साधना के लिए प्राणिमात्र के साथ मैत्री सम्बन्ध रखना, उसकी सेवा करना, उसे कष्ट से मुक्त करना आदि विधेयात्मक पक्ष पर भी समुचित विचार करना होगा। जैन आगमों में जहाँ अहिंसा के साठ एकार्थक नाम दिए गए हैं, वहाँ वह दया, रक्षा, अभय आदि के नाम से भी अभिहित की गई है।[6]

अनुकम्पा दान, अभयदान तथा सेवा आदि अहिंसा के ही रूप हैं जो प्रवृत्तिप्रधान हैं। यदि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक ही होती, तो जैन आचार्य इस प्रकार का कथन कथमपि नहीं करते। 'अहिंसा' शब्द भाषाशास्त्र की दृष्टि से निषेध-वाचक है। इसी कारण बहुत से व्यक्ति इस भ्रम में फँस जाते हैं कि अहिंसा केवल निवृत्तिपरक है। उनमें

---

१ जं इच्छसि अप्पणतो, जं च न इच्छसि अप्पणतो।
तं इच्छ परस्स वि, एत्तियगं जिणसासणयं॥
—बृहत्कल्प भाष्य, ४५८४

२ धम्मो मंगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
—दशवैकालिक, १।१

३. जावन्ति लोए पाणा तसा अदुव थावरा।
ते जाणमजाणं वा न हणे नो वि घायए॥—दशवैकालिक

४ अज्झत्थं सव्वओ सव्वं दिस्स पाणे पियायए।
न हणे पाणिणो पाणे भयवेराओ उवरए॥
—उत्तराध्ययन, ६।१०

५ सयं तिवायए पाणे, अदुवाऽन्नेहिं घायए।
हणन्तं वाणुजाणाइ वेरं वड्ढइ अप्पणो॥
—सूत्रकृतांग, १।१।१।३

६ प्रश्न व्याकरण सूत्र (संवर द्वार)
(क) दया देहि-रक्षा —प्रश्नव्याकरण वृत्ति

प्रवृत्ति जैसी कोई चीज नही। किन्तु गहन चिन्तन करने के पश्चात् यह तथ्य स्पष्ट हुए विना नही रहेगा कि अहिंसा के अनेक पहलू हैं, उसके अनेक अग हैं। अत प्रवृत्ति और निवृत्ति दोनो मे अहिंसा समाहित है, प्रवृत्ति-निवृत्ति—दोनो का अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक कार्य मे जहाँ प्रवृत्ति हो रही है, वहाँ दूसरे कार्य से निवृत्ति भी होती है। ये दोनो पहलू अहिंसा के साथ भी जुडे हैं। जो केवल निवृत्ति को ही प्रधान मानकर चलता है वह अहिंसा की आत्मा को परख ही नहीं सकता। वह अहिंसा की सम्पूर्ण साधना नहीं कर सकता। जैन श्रमण के उत्तर गुणो मे समिति और गुप्ति का विधान है। समिति की मर्यादाएँ प्रवृत्ति-परक हैं और गुप्ति की मर्यादाएँ निवृत्तिपरक हैं। इससे भी स्पष्ट है कि अहिंसा प्रवृत्तिमूलक भी है। प्रवृत्ति-निवृत्ति—दोनो अहिंसारूप सिक्के की दो पहलू हैं। एक-दूसरे के अभाव मे अहिंसा अपूर्ण है। यदि अहिंसा के इन दोनो पहलुओ को न समझ सके तो अहिंसा की वास्तविकता से हम वहुत दूर भटक जाएँगे। असद् आचरण से निवृत्त वनो और सदआचरण मे प्रवृत्ति करो, यही निवृत्ति और प्रवृत्ति की सुन्दर एवं पूर्ण विवेचना है।

अहिंसक प्रवृत्ति के विना समाज का काम नही चल सकता, चूँकि प्रवृत्ति-शून्य अहिंसा समाज मे जडता पैदा कर देती है। मानव एक शुद्ध सामाजिक प्राणी है, वह समाज मे जन्म लेता है और समाज मे रहकर ही अपना सास्कृतिक विकास एव अभ्युदय करता है, उस उपकार के वदले में वह समाज को कुछ देता भी है। यदि कोई इस कर्त्तव्य की राह से विलग हो जाता है, तो वह एक प्रकार से उसकी असामाजिकता ही होगी। अतः प्रवर्त्तकरूप धर्म के द्वारा समाज की सेवा करना—मानव का प्रथम कर्त्तव्य है, और इस कर्त्तव्य की पूर्त्ति मे ही मानव का अपना तथा समाज का कल्याण निहित है।

बौद्ध-धर्म में अहिंसा भावना :

'आर्य' की व्याख्या प्रस्तुत करते हुए तथागत बुद्ध ने कहा है—"प्राणियो की हिंसा करने से कोई आर्य नही कहलाता, वल्कि जो प्राणी की हिंसा नही करता, उसी को आर्य कहा जाता है।[1] सव लोग दण्ड से डरते हैं, मृत्यु से भय खाते हैं। मानव दूसरों को अपनी तरह जानकर न तो किसी को मारे और न किसी को मारने की प्रेरणा करे।[2] जो न स्वय किसी का घात करता है, न दूसरो से करवाता है, न स्वय किसी को जीतता है, वह सर्वप्राणियो का मित्र होता है, उसका किसी के साथ वैर नही होता।[3] जैसा मैं हूँ—वैसे ये हैं, तथा जैसे ये हैं—वैसा मैं हूँ, इस प्रकार आत्मसदृश मानकर न किसी का घात

---

१ न तेन आरियो होति येन पाणानि हिंसति।
अहिंसा सव्वपाणानं, आरियोति पवुच्चति॥
—धम्मपद १९।१५

२ सब्बे तसन्ति दण्डस्स, सब्बेस जीवित पिय।
अत्तानं उपमं कत्वा न हनेय्य न घातये॥
—धम्मपद १०।१

३ यो न हन्ति न घातेति, न जिनाति न जायते।
मित्तं सो सब्बभूतेसु वेरं तस्स न केनचीति॥—इतिवुत्तक, पृ० २०

करे, न कराए।[1] सभी प्राणी सुख के चाहने वाले हैं, इनका जो दण्ड से घात नहीं करता है, वह सुख का अभिलाषी मानव अगले जन्म में सुख को प्राप्त करता है।[2] इस प्रकार तथागत बुद्ध ने भी हिंसा का निषेध करके अहिंसा की प्रतिष्ठा करने का प्रयत्न किया है।

तथागत बुद्ध का जीवन 'महाकारुणिक जीवन' कहलाता है। दीन-दुःखियों के प्रति उनके मन में अत्यन्त करुणा भरी थी। सामाजिक और राजनीतिक क्षेत्र में भी उन्होंने तीर्थंकर महावीर की भाँति अनेक प्रसंगों पर अहिंसात्मक प्रतीकार के उदाहरण रखे। उनकी अहिंसात्मक और शान्ति-प्रिय वाणी से अनेक बार घात-प्रतिघात में, शौर्यप्रदर्शन में क्षत्रियों का खून बहता-बहता रुक गया।

भगवान् महावीर की भाँति तथागत बुद्ध भी श्रमण-संस्कृति के एक महान् प्रतिनिधि थे। उन्होंने भी सामाजिक व राजनीतिक कारणों से होने वाली हिंसा की आग को प्रेम और शान्ति के जल से शान्त करने के सफल प्रयोग किए, और इस आस्था को सुदृढ़ बनाया कि समस्या का प्रतीकार सिर्फ तलवार ही नहीं, प्रेम और सद्भाव भी है। यही अहिंसा का मार्ग वस्तुतः शान्ति और समृद्धि का मार्ग है।

वैदिक-धर्म में अहिंसा भावना

वैदिक धर्म भी अहिंसा-प्रधान धर्म है। "अहिंसा परमो धर्मः" के अटल सिद्धान्त को सम्मुख रखकर उसने अहिंसा की विवेचना की है। अहिंसा ही सब से उत्तम पावन धर्म है, अतः मनुष्य को कभी भी, कहीं भी किसी भी प्राणी की हिंसा नहीं करनी चाहिए।[3] जो कार्य तुम्हें पसन्द नहीं है, उसे दूसरों के लिए कभी न करो।[4] इस नश्वर जीवन में न तो किसी प्राणी की हिंसा करो और न किसी को पीड़ा पहुँचाओ। बल्कि सभी आत्माओं के प्रति मैत्री-भावना स्थापित कर विचरण करते रहो। किसी के साथ वैर न करो।[5] जैसे मानव को अपने प्राण प्यारे हैं, उसी प्रकार सभी प्राणियों को अपने-अपने प्राण प्यारे हैं। इसलिए बुद्धिमान् और पुण्यशाली जो लोग हैं, उन्हें चाहिए कि वे सभी प्राणियों को अपने समान समझें।[6]

---

१ यथा अहं तथा एते, यथा एते तथा अहं।
अत्तानं उपमं कत्वा, न हनेय्य न घातये॥—सुत्तनिपात, ३।३।७।२७

२ सुखकामानि भूतानि, यो दण्डेन न विहिंसति।
अत्तनो सुखमेसानो पेच्च सो लभते सुखं॥—उदान, पृ० १२

३ अहिंसा परमो धर्मः सर्वप्राणभृतां वरः।
तस्मात् प्राणभृतः सर्वान् न हिंस्यान्मानुषः क्वचित्॥
—महाभारत—आदि पर्व ११।१३

४ आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्।—मनुस्मृति

५. न हिंस्यात् सर्वभूतानि, मैत्रायणगतश्चरेत्।
नेदं जीवितमासाद्य वैरं कुर्वीत केनचित्॥
—महाभारत—शान्ति पर्व, २७८।५

६. प्राणा यथात्मनोऽभीष्टाः भूतानामपि वै तथा।
आत्मौपम्येन गन्तव्यं बुद्धिमद्भिर्महात्मभिः॥
—महाभारत—अनुशासन पर्व, ११५।१९

इस विश्व मे अपने प्राणो से प्यारी दूसरी कोई वस्तु प्रिय नही है। इसलिए मानव जैसे अपने ऊपर दया-भाव चाहता है, उसी प्रकार दूसरो पर भी दया करे।[1] दयालु आत्मा ही सभी प्राणियो को अभयदान देता है, उसे भी सभी अभयदान देते हैं।[2] अहिंसा ही एकमात्र पूर्ण धर्म है। हिंसा, धर्म और तप का नाश करने वाली है।[3] अतः यह स्पष्ट है कि वैदिक धर्म भी अहिंसा की महत्ता को एक स्वर से स्वीकार करता है।

इस्लाम धर्म में अहिंसा भावना

इस्लाम धर्म की अट्टालिका भी अहिंसा की नीव पर ही टिकी हुई है। इस्लाम-धर्म मे कहा जाता है—"खुदा सारे जगत् (खल्क) का पिता (खालिक) है। जगत् मे जितने प्राणी हैं, वे सभी खुदा के पुत्र (बन्दे) हैं।" कुरान शरीफ की शुरूआत मे ही अल्लाहताला 'खुदा' का विशेषण दिया है—"विस्मिल्लाह रहिमानुर्रहीम"—इस प्रकार का मगलाचरण देकर यह बताया गया है कि सब जीवो पर रहम करो।

मुहम्मद साहब के उत्तराधिकारी हजरत अली साहब ने कहा है—"हे मानव! तू पशु-पक्षियों की कब्र अपने पेट मे मत बना" अर्थात् पशु-पक्षियो को मार कर उनको अपना भोजन मत बनाओ। इसी प्रकार 'दीनइलाही' के प्रवर्त्तक मुगल सम्राट् अकबर ने कहा है—"मैं अपने पेट को दूसरे जीवो का कब्रिस्तान बनाना नही चाहता। जिसने किसी की जान बचाई—उसने मानो सारे इन्सानो को जिन्दगी बख्शी।[4]

उपर्युक्त उदाहरणो से यही प्रतिभासित होता है कि इस्लाम धर्म भी अपने साथ अहिंसा की दृष्टि को लेकर चला है। बाद में उसमें जो हिंसा का स्वर गूंजने लगा, उसका प्रमुख कारण स्वार्थी व रसलोलुप व्यक्ति ही हैं। उन्होंने हिंसा का समावेश करके इस्लामधर्म को बदनाम कर दिया है; वरना उसके धर्म ग्रन्थो मे हिंसा करने का कोई प्रमाण ही नही मिलेगा।

ईसाई धर्म में अहिंसा भावना :

महात्मा ईसा ने कहा है कि—"तू अपनी तलवार म्यान मे रख ले, क्योकि जो लोग तलवार चलाते हैं, वे सब तलवार से ही नाश किए जाएंगे[5]" अन्यत्र भी बतलाया है—"किसी भी जीव की हिंसा मत करो। तुमसे कहा गया था कि तुम अपने पडोसी से प्रेम करो और अपने दुश्मन से घृणा। पर मैं तुमसे कहता हूं कि तुम अपने दुश्मन को प्यार

---

१. नहि प्राणात् प्रियतर लोके किन्चन विद्यते।
तस्माद दया नरः कुर्यात् यथात्मनि तथा परे॥
महाभारत—अनुशासन पर्व, ११६।८

२ अभय सर्वभूतेभ्यो यो ददाति दयापर.।
अभयं तस्य भूतानि ददतीत्यनुशुश्रुम॥
महाभारत—अनुशासन पर्व, ११६।१३

३. अहिंसा सकलो धर्म :।—महाभारत, शान्ति पर्व

४ व मन अहया हा फ़कअन्नमा अह्यन्नास जमीअन.।
—कुरान शरीफ ५।३५

५. मत्ती। —२।५१-५२

करो और जो लोग तुम्हें सताते हैं, उनके लिए प्रार्थना करो। तभी तुम स्वर्ग में रहने वाले अपने पिता की संतान ठहरोगे, क्योंकि वह भले और बुरे—दोनों पर अपना सूर्य उदय करता है। धर्मियों और अधर्मियों—दोनों पर मेह बरसाता है। यदि तुम उन्हीं से प्रेम करो, जो तुम से प्रेम करते हैं, तो तुमने कौन मार्के की बात की ?"[1] इतना ही नहीं, वरन् अहिंसा का वह पैगाम तो काफी गहरी उड़ान भर बैठा है—अपने शत्रु से प्रेम रखो जो तुम से वैर करें, उनका भी भला सोचो और करो। जो तुम्हें शाप दें, उन्हें आशीर्वाद दो। जो तुम्हारा अपमान करे, उसके लिए प्रार्थना करो। जो तुम्हारे एक गाल पर थप्पड़ मारे, उसकी तरफ दूसरा भी गाल कर दो। जो तुम्हारी चादर छीन ले, उसे अपना कुरता भी ले लेने दो।[2]

ईसाई धर्म में भी प्रेम, करुणा और सेवा की अत्यन्त सुन्दर भावना व्यक्त की गई है। यह बात दूसरी है कि स्वार्थी और अहंवादी व्यक्तियों ने धर्म के नाम पर लाखों-करोड़ों यहूदियों का खून बहाया, धर्मयुद्ध रचाए और करुणा की जगह तलवार तथा प्रेम की जगह दंभ का प्रचार करने लगे।

यहूदी धर्म में अहिंसा भावना

यहूदी मत में कहा गया है कि—किसी आदमी के आत्म-सम्मान को चोट नहीं पहुँचानी चाहिए। लोगों के सामने किसी आदमी को अपमानित करना उतना ही बड़ा पाप है, जितना उसका खून कर देना।[3]

यदि तुम्हारा शत्रु, तुम्हें मारने को आए और वह भूखा-प्यासा तुम्हारे घर पहुँचे, तो उसे खाना दो, पानी दो।[4]

यदि कोई आदमी संकट में है, डूब रहा है, उस पर दस्यु—डाकू या हिंसक चोर-चीते आदि हमला कर रहे हैं, तो हमारा कर्त्तव्य है कि हम उसकी रक्षा करें। प्राणिमात्र के प्रति निर्वैरभाव रखने की प्रेरणा प्रदान करते हुए यह बतलाया गया है कि—अपने मन में किसी के प्रति वैर का, दुश्मनी का दुर्भाव मत रखो।[5]

इस प्रकार यहूदी-धर्म के प्रवर्त्तकों की दृष्टि भी अहिंसा पर ही आधारित प्रतीत होती है।

पारसी और सिक्ख धर्म में अहिंसा भावना :

पारसी धर्म के महान प्रवर्त्तक महात्मा जरथुस्त्र ने कहा है कि—"जो सबसे अच्छे प्रकार की जिन्दगी गुजारने से लोगों को रोकते हैं, अटकाते हैं और पशुओं को मारने की

---

१ मत्ती। —५।४४-४६
२ लूका ६।२७-३७।
३ ताल० बाबा मेत्सिया—५८ (ब)।
४ नीति, २३।५ वरमिदासाग
५. तोरा—लैव्य व्यवस्था १९।१७

खुश-खुशाल सिफारिश करते हैं, उनको अहुरमज्द बुरा समझते हैं।[1] अतः अपने मन मे किसी से वदला लेने की भावना मत रखो। सोचो कि तुम अपने दुश्मन से वदला लोगे तो तुम्हें किस प्रकार की हानि, किस प्रकार की चोट और किस प्रकार का सर्वनाश भुगतना पड सकता है, और किस प्रकार वदले की भावना तुम्हे लगातार सताती रहेगी। अत. दुश्मन से भी वदला मत लो। वदले की भावना से अभिप्रेरित होकर कभी कोई पापकर्म मत करो। मन मे सदा-सर्वदा सुन्दर विचारो के दीपक सँजोए रखो।

ताओ धर्म के महान् प्रणेता—'लाओत्से' ने अहिंसात्मक विचारों की अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि—"जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार करते हैं, उनके प्रति मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ। जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नही करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूँ।"[2]

कनफ्यूशस धर्म के प्रवर्त्तक कागफ्यूत्सी ने कहा है कि—"तुम्हे जो चीज नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हर्गिज मत करो।"

इस प्रकार विविध धर्मों मे अहिंसा को उच्च स्थान दिया गया है। वस्तुत अहिंसा और दया की भावना से शून्य होकर कोई भी धर्म धर्म की सज्ञा पाने का अधिकारी नही हो सकता।

---

१. गाथा —हा० ३४,३

२ लाओ तेह किंग।

३१

अहिंसा : विश्वशान्ति की आधारभूमि

भगवान् महावीर का अहिंसा-धर्म एक उच्चकोटि का आध्यात्मिक एवं सामाजिक धर्म है। यह मानव जीवन को अन्दर और बाहर—दोनों ओर से प्रकाशमान करता है। महावीर ने अहिंसा को भगवती कहा है। मानव की अन्तरात्मा को, अहिंसा भगवती, बिना किसी बाहरी दबाव, भय, आतंक अथवा प्रलोभन के सहज अन्तःप्रेरणा देती है कि मानव विश्व के अन्य प्राणियों को भी अपने समान ही समझे, उनके प्रति बिना किसी भेद-भाव के मित्रता एवं बन्धुता का प्रेमपूर्ण व्यवहार करे। मानव को जैसे अपना अस्तित्व प्रिय है, अपना सुख अभीष्ट है, वैसे ही अन्य प्राणियों को भी अपना अस्तित्व तथा सुख प्रिय एवं अभीष्ट है—यह परिबोध ही अहिंसा का मूल स्वर है। अहिंसा 'स्व' और 'पर' की, 'अपने' और 'पराए' की, घृणा एवं वैर के आधार पर खड़ी की गई भेदरेखा को तोड़ देती है।

अहिंसा का धरातल :

अहिंसा विश्व के समस्त चैतन्य को एक धरातल पर खड़ा कर देती है। अहिंसा समग्र जीवन में एकता लाती है, सब प्राणियों में समानता लाती है। इसी दृष्टि को स्पष्ट करते हुए भगवान् महावीर ने कहा था—'एगे आया'—आत्मा एक है, एक रूप है, एक समान है। चैतन्य के जाति, कुल, समाज, राष्ट्र, स्त्री, पुरुष आदि के रूप में जितने भी भेद हैं, वे सब आरोपित भेद हैं, बाह्य निमित्तों के द्वारा परिकल्पित किए गए मिथ्या भेद हैं। आत्माओं के अपने मूल स्वरूप में कोई भेद नहीं है। और जब भेद नहीं है, तो फिर मानव जाति में यह कलह, यह विग्रह कैसा? घात एवं संघर्ष कैसा? घृणा एवं वैर कैसा? यह सब भेदबुद्धि की देन है। और अहिंसा में भेदबुद्धि के लिये कोई स्थान नहीं है। अहिंसा और भेदबुद्धि में न कभी समन्वय हुआ है और न कभी होगा। आज जो विश्व शान्ति की कल्पना कुछ प्रबुद्ध मस्तिष्कों में उभर रही है, 'जय जगत्' का उद्घोष कुछ समर्थ विचारकों की जिह्वा पर मुखरित हो रहा है, किन्तु उसको मूर्तरूप अहिंसा के द्वारा ही दिया जा सकता है। दूसरा कोई ऐसा आधार ही नहीं है, जो विभिन्न परिस्थितियों के कारण खण्ड-खण्ड हुई मानव जाति को एकरूपता दे सके। अतः भारत के अनेक [illegible] आचार्य एवं मौलिक चिं-

खुश-खुशाल सिफारिश करते हैं, उनको अहुरमज्द बुरा समझते हैं।[1] अतः अपने मन मे किसी से बदला लेने की भावना मत रखो। सोचो कि तुम अपने दुश्मन से बदला लोगे तो तुम्हें किस प्रकार की हानि, किस प्रकार की चोट और किस प्रकार का सर्वनाश भुगतना पड सकता है, और किस प्रकार बदले की भावना तुम्हें लगातार सताती रहेगी। अत. दुश्मन से भी बदला मत लो। बदले की भावना से अभिप्रेरित होकर कभी कोई पापकर्म मत करो। मन मे सदा-सर्वदा सुन्दर विचारो के दीपक सँजोए रखो।

ताओ धर्म के महान् प्रणेता—'लाओत्से' ने अहिंसात्मक विचारो की अभिव्यक्त करते हुए कहा है कि—"जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार करते हैं, उनके प्रति मैं अच्छा व्यवहार करता हूं। जो लोग मेरे प्रति अच्छा व्यवहार नही करते, उनके प्रति भी मैं अच्छा व्यवहार करता हूं।"[2]

कनफ्यूशस धर्म के प्रवर्त्तक कागफ्यूत्सी ने कहा है कि—"तुम्हे जो चीज नापसन्द है, वह दूसरे के लिए हर्गिज मत करो।"

इस प्रकार विविध धर्मों मे अहिंसा को उच्च स्थान दिया गया है। वस्तुत' अहिंसा और दया की भावना से शून्य होकर कोई भी धर्म धर्म की संज्ञा पाने का अधिकारी नही हो सकता।

१. गाथा —हा० ३४,३
२ लाओ तेह किंग।

अहिंसा भगवती के अनन्त रूपों में से यह भी एक रूप है। इस रूप को अहिंसा के मंगल-क्षेत्र से बाहर धकेल कर मानव मानवता के पथ पर एक चरण भी ठीक तरह नहीं रख सकता।

अहिंसा की प्रक्रिया :

अहिंसा मानवजाति को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य-द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या-डाह, दुःसंकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अभिमान, दम्भ, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसमूलक विकृतियाँ हैं, सब हिंसा के ही रूप हैं। मानव मन हिंसा के उक्त विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता आ रहा है। मानव उक्त प्रहारों के प्रतिकार के लिए भी कम प्रयत्नशील नहीं रहा है। परन्तु वह प्रतिकार इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करने में लगा रहा कि 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता गया।' बात यह हुई कि मानव ने वैर का प्रतिकार वैर से, दमन का प्रतिकार दमन से करना चाहा, अर्थात् हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना चाहा, और यह प्रतिकार की पद्धति ऐसी ही थी, जैसी कि आग को आग से बुझाना, रक्त से सने वस्त्र को रक्त से धोना। वैर से वैर बढ़ता है, घटता नहीं है। घृणा से घृणा बढ़ती है, घटती नहीं है। यह उक्त प्रतिकार ही था, जिसमें से युद्ध का जन्म हुआ, सूली और फाँसी का आविर्भाव हुआ। लाखों ही नहीं, करोड़ों मनुष्य भयंकर-से-भयंकर उत्पीड़न के शिकार हुए, निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिये गए परन्तु समस्या ज्यों-की-त्यों सामने खड़ी रही। मानव को कोई भी ठीक समाधान नहीं मिला। हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं, अहिंसा से होना चाहिए था, घृणा का प्रतिकार घृणा से नहीं, प्रेम से होना चाहिए था। आग का प्रतिकार आग नहीं, जल है। जल ही जलते दावानल को बुझा सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—'क्रोध को क्रोध से नहीं, क्षमा से जीतो। अहंकार को अहंकार से नहीं, विनय एवं नम्रता से जीतो। दंभ को दंभ से नहीं, सरलता और निश्छलता से जीतो। लोभ को लोभ से नहीं, सन्तोष से जीतो, उदारता से जीतो। इसी प्रकार भय को अभय से, घृणा को प्रेम से जीतना चाहिए और विजय की यह सात्त्विक प्रक्रिया ही अहिंसा है। अहिंसा प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, सद्भाव की वैर पर, अच्छाई की बुराई पर विजय का अमोघ उद्घोष है।

अहिंसा की दृष्टि :

भगवान् महावीर कहते थे—वैर हो, घृणा हो, दमन हो, उत्पीड़न हो—कुछ भी हो, अन्ततः सब लौट कर कर्ता के ही पास आते हैं। यह मत समझो कि बुराई वहीं रह जाएगी, तुम्हारे पास लौट कर नहीं आएगी। वह आएगी, अवश्य आएगी, कृत कर्म निष्फल नहीं जाता है। कुएँ में की गई ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में वापस लौटती है। और भगवान् महावीर तो यहाँ तक भी कहते थे कि वह और तू कोई दो नहीं हैं। चैतन्य चैतन्य एक है। जिसे तू पीड़ा देता है वह और कोई नहीं, तू ही तो है। अरे आत्मन्! यदि तू दूसरे को सताता है, तो वह दूसरे को नहीं, अपने को ही सताता है। इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में आज भी उनका यह प्रवचन उपलब्ध है—

'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।

कारों की सुरक्षा की गारण्टी, जो विश्वनागरिकता तथा जय-जगत् का मूलाधार है—उसे अहिंसा ही दे सकती है, अन्य कोई नही। अहिंसा विश्वास की जननी है। और, विश्वास परिवार, समाज और राष्ट्र के पारस्परिक सद्भाव, स्नेह और सहयोग का मूलाधार है। अहिंसा, अविश्वास के कारण इधर-उधर बेतरतीब बिखरे हुए मानव-मन को विश्वास के मंगल सूत्र मे जोडती है, एक करती है। अहिंसा 'संगच्छध्वम्, संवदध्वम्' की ध्वनि को जन-जन मे अनुगु जित करती है, जिसका अर्थ है—साथ चलो, साथ बोलो। मानव जाति की एकसूत्रता के लिए यह 'एक साथ' का मन्त्र सबसे बडा मन्त्र है। यह 'एक साथ' का महामन्त्र मानव जाति को व्यष्टि की क्षुद्र भावना से समष्टि की व्यापक भावना की दिशा में अग्रसर करता है। अहिंसा का उपदेश है, सदेश है, आदेश है कि व्यक्तिगत अच्छाई, प्रेम और त्याग से—आपसी सद्भावनापूर्ण पावन परामर्श से, केवल साधारणस्तर की सामाजिक एव राजनीतिक समस्याओ को ही नही, जाति, सम्प्रदाय, संस्कृति और राष्ट्रो की विषम से विषम उलझनो को भी सुलझाया जा सकता है। और यह सुलझाव ही भेद मे अभेद का, अनेकता मे एकता का विधायक है।

अहिंसा भावना का विकास :

मानव अपने विकास के आदिकाल मे अकेला था, वैयक्तिक सुख-दु:ख की सीमा मे घिरा हुआ, एक जगली जानवर की तरह। उस युग मे न कोई पिता था, न कोई माता थी, न पुत्र था, न पुत्री थी, न भाई था और न बहिन थी। पति और पत्नी भी नही थे। देह-सम्बन्ध की दृष्टि से ये सब सम्बन्ध थे, फिर भी सामाजिक नही थे। इसलिए कि माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन और पति-पत्नी आदि के रूप मे तब कोई भी भावनात्मक स्थिति नही थी। एकमात्र नर-मादा का सम्बन्ध था, जैसा कि पशुओ मे होता है। सुख-दु:ख के क्षणो मे एक-दूसरे के प्रति लगाव का, सहयोग का जो दायित्व होता है, वह उस युग में नही था। इसलिए नही था कि जब मानवचेतना ने विराट् रूप ग्रहण नही किया था। वह एक क्षुद्र वैयक्तिक स्वार्थ की तटबन्दी मे अवरुद्ध थी। एक दिन वह भी आया, जब मानव इन क्षुद्र सीमा से बाहर निकला, केवल अपने सम्बन्ध मे ही नही, अपितु दूसरो के सम्बन्ध में भी उसने कुछ सोचना शुरू किया। उसके अन्तर्मन मे सहृदयता, सद्भावना की ज्योति जगी और यह सहयोग के आधार पर परस्पर के दायित्वो को प्रसन्न मन से वहन करने को तैयार हो गया। और जब वह तैयार हो गया, तो परिवार बन गया, परिवार बन गया, तो माता-पिता, पुत्र-पुत्री, भाई-बहिन और पति-पत्नी आदि सभी सम्बन्धो का आविर्भाव हो गया। और, जैसे-जैसे मानव मन भावनाशील होकर व्यापक होता गया, वैसे-वैसे पारिवारिक भावना के मूल मानव जाति मे गहरे उतरते गए। फिर तो परिवार से समाज और समाज से राष्ट्र आदि के विभिन्न क्षेत्र भी व्यापक एव विस्तृत होते चले गए। यह सब भावनात्मक विकास की प्रक्रिया, एक प्रकार से, अहिंसा का ही एक सामाजिक रूप है। मानव-हृदय की आन्तरिक संवेदना की व्यापक प्रगति ही तो अहिंसा है। और यह संवेदना की व्यापक प्रगति ही परिवार, समाज और राष्ट्र के उद्भव एवं विकास का मूल है। यह ठीक है कि उक्त विकास-प्रक्रिया मे रागात्मक भावना का भी एक बहुत बडा अंश है, पर इससे क्या होता है? आखिर तो यह मानवचेतना की ही एक मानव प्रक्रिया है, और यह अहिंसा है।

अहिंसा भगवती के अनन्त रूपों मे से यह भी एक रूप है। इस रूप को अहिंसा के मंगल-क्षेत्र से बाहर धकेल कर मानव मानवता के पथ पर एक चरण भी ठीक तरह नहीं रख सकता।

अहिंसा की प्रक्रिया :

अहिंसा मानवजाति को हिंसा से मुक्त करती है। वैर, वैमनस्य-द्वेष, कलह, घृणा, ईर्ष्या-डाह, दु.सकल्प, दुर्वचन, क्रोध, अभिमान, दम्भ, लोभ-लालच, शोषण, दमन आदि जितनी भी व्यक्ति और समाज की ध्वंसमूलक विकृतियाँ हैं, सब हिंसा के ही रूप हैं। मानव मन हिंसा के उक्त विविध प्रहारों से निरन्तर घायल होता आ रहा है। मानव उक्त प्रहारों के प्रतिकार के लिए भी कम प्रयत्नशील नहीं रहा है। परन्तु वह प्रतिकार इस लोकोक्ति को ही चरितार्थ करने में लगा रहा कि 'ज्यों-ज्यों दवा की, मर्ज बढ़ता गया।' बात यह हुई कि मानव ने वैर का प्रतिकार वैर से, दमन का प्रतिकार दमन से करना चाहा, अर्थात् हिंसा का प्रतिकार हिंसा से करना चाहा, और यह प्रतिकार की पद्धति ऐसी ही थी, जैसी कि आग को आग से बुझाना, रक्त से सने वस्त्र को रक्त से धोना। वैर से वैर बढ़ता है, घटता नहीं है। घृणा से घृणा बढ़ती है, घटती नहीं है। यह उक्त प्रतिकार ही था, जिसमें से युद्ध का जन्म हुआ, सूली और फाँसी का आविर्भाव हुआ। लाखों ही नहीं, करोड़ों मनुष्य भयंकर-से-भयंकर उत्पीड़न के शिकार हुए, निर्दयता के साथ मौत के घाट उतार दिये गए, परन्तु समस्या ज्यों-की-त्यों सामने खड़ी रही। मानव को कोई भी ठीक समाधान नहीं मिला। हिंसा का प्रतिकार हिंसा से नहीं, अहिंसा से होना चाहिए था, घृणा का प्रतिकार घृणा से नहीं; प्रेम से होना चाहिए था। आग का प्रतिकार आग नहीं, जल है। जल ही जलते दावानल को बुझा सकता है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा था—'क्रोध को क्रोध से नहीं, क्षमा से जीतो। अहंकार को अहंकार से नहीं, विनय एवं नम्रता से जीतो। दंभ को दंभ से नहीं, सरलता और निश्छलता से जीतो। लोभ को लोभ से नहीं, सन्तोष से जीतो, उदारता से जीतो। इसी प्रकार भय को अभय से, घृणा को प्रेम से जीतना चाहिए और विजय की यह सात्त्विक प्रक्रिया ही अहिंसा है। अहिंसा प्रकाश की अन्धकार पर, प्रेम की घृणा पर, सद्भाव की वैर पर, अच्छाई की बुराई पर विजय का अमोघ उद्घोष है।

अहिंसा की दृष्टि :

भगवान् महावीर कहते थे—वैर हो, घृणा हो, दमन हो, उत्पीड़न हो—कुछ भी हो, अन्ततः सब लौट कर कर्ता के ही पास आते हैं। यह मत समझो कि बुराई यहीं रह जाएगी, तुम्हारे पास लौट कर नहीं आएगी। वह आएगी, अवश्य आएगी, कृत कर्म निष्फल नहीं जाता है। कुएँ में की गई ध्वनि प्रतिध्वनि के रूप में वापस लौटती है। और भगवान् महावीर तो यह भी कहते थे कि वह और तू कोई दो नहीं है। चैतन्य चैतन्य एक है। जिसे तू पीड़ा देता है, वह और कोई नहीं, तू ही तो है। अरे आदमी! यदि तू दूसरे को सताता है, तो वह दूसरे को नहीं, अपने को ही सताता है। इस सम्बन्ध में आचारांग सूत्र में आज भी उनका यह प्रवचन उपलब्ध है—

'जिसे तू मारना चाहता है, वह तू ही है।
जिसे तू शासित करना चाहता है, वह तू ही है।

जिसे तू परिताप देना चाहता है, वह तू ही है।"

यह भगवान् महावीर की अद्वैत दृष्टि है, जो अहिंसा का मूलाधार है। जबतक किसी के प्रति पराएपन का भाव रहता है, तबतक मनुष्य परपीडन से अपने को मुक्त नहीं कर सकता। सर्वत्र 'स्व' की अभेद दृष्टि ही मानव को अन्याय से, अत्याचार से बचा सकती है। उक्त अभेद एव अद्वैत दृष्टि के आधार पर ही भगवान् महावीर ने परस्पर के आघात-प्रत्याघातो से त्रस्त मानव जाति को अहिंसा के स्वर मे शान्ति और सुख का सन्देश दिया था कि "**किसी भी प्राणी को ··किसी भी सत्व को न मारना चाहिए, न उस पर अनुचित शासन करना चाहिए, न उसको एक दास (गुलाम) की तरह पराधीन बनाना चाहिए—उसको स्वतन्त्रता से वचित नहीं करना चाहिए, न उसे परिताप देना चाहिए और न उसके प्रति किसी प्रकार का उपद्रव ही करना चाहिए।**" यह अहिंसा का वह महान् उद्घोष है, जो हृदय और शरीर के बीच, बाह्य प्रवृत्तिचक्र और अन्तरात्मा के बीच, स्वय और आस-पास के साथियो के बीच एक सद्भावनापूर्ण व्यावहारिक सामजस्य पैदा कर सकता है। मानव मानव के बीच बन्धुता की मधुर रसधारा बहा सकता है। मानव ही क्यो अहिंसा के विकास पथ पर निरन्तर प्रगति करते-करते एक दिन अखिल प्राणि जगत् के साथ तादात्म्य स्थापित कर सकता है। अहिंसा क्या है? समग्र चैतन्य के साथ बिना किसी भेदभाव के तादात्म्य स्थापित करना ही तो अहिंसा है। अहिंसा मे तुच्छ-से-तुच्छ जीव के लिए भी बन्धुत्व का स्थान है। महावीर ने कहा था— जो जीव व्यक्ति सर्वात्मभूत है, सब प्राणियो को अपने हृदय मे बसाकर विश्वात्मा बन गया है, उसे विश्व का कोई भी पाप कभी स्पर्श नही कर सकता दशवैकालिक सूत्र मे आज भी यह अमर वाणी सुरक्षित है—'**सव्वभूयप्पभूयस्स··· पावकम्म न बंधई।**'

दड और अहिंसा .

अहिंसा के उपर्युक्त सदर्भ मे एक जटिल प्रश्न उपस्थित होता है—'दण्ड' का। एक व्यक्ति अपराधी है, समाज की नीतिमूलक वैधानिक स्थापनाओ को तोडता और उच्छृङ्खल भाव मे अपने अनैतिक स्वार्थ की पूर्ति करता है। प्रश्न है—उसे दण्ड दिया जाए या नही? यदि दण्ड दिया जाता है, तो यह परिताप है, परिताडन है, अतः हिंसा है। और यदि दण्ड नही दिया जाता है, तो समाज मे अन्याय-अत्याचार का प्रसार होता है। अहिंसा दर्शन इस सम्बन्ध मे क्या कहता है?

अहिंसा दर्शन हृदयपरिवर्तन का दर्शन है। वह मारने का नही, सुधारने का दर्शन है। वह ससार का नही, उद्धार का एव निर्माण का दर्शन है। अहिंसा दर्शन ऐसे प्रयत्नो का पक्षधर है, जिनके द्वारा मानव के अन्तर मे मनोवैज्ञानिक परिवर्तन किया जा सके, अपराध की भावनाओ को ही मिटाया जा सके। क्योंकि अपराध एक मानसिक बीमारी है, जिसका उपचार (इलाज) प्रेम, स्नेह एव सदभाव के माध्यम मे ही होना चाहिए।

महावीर के अहिंसा दर्शन का सन्देश है कि पापी-से-पापी व्यक्ति से भी घृणा न करो। बुरे आदमी और बुराई के बीच अन्तर करना चाहिए। बुराई सदा बुराई है, वह कभी भलाई नही हो सकती। परन्तु बुरा आदमी यथाप्रसग भला हो सकता है। मूल में कोई आत्मा बुरी है ही नहीं। असत्य के बीच मे भी सत्य, अन्धकार के बीच मे भी प्रकाश छिपा हुआ है। विष भी अपने अन्दर मे अमृत को सुरक्षित रखे हुए है। अच्छे-बुरे सब मे

ईश्वरीय ज्योति जल रही है। अपराधी व्यक्ति में भी वह ज्योति है, किन्तु दबी हुई है। हमारा प्रयत्न ऐसा होना चाहिए कि वह ज्योति बाहर आए, ताकि समाज में से अपराध-मनोवृत्ति का अन्धकार दूर हो।

अपराधी को कारागार की निर्मम यंत्रणाओं से भी नहीं सुधारा जा सकता। अधिकतर ऐसा होता है कि कारागार से अपराधी गलत काम करने की अधिक तीव्र भावना लेकर लौटता है। वह जरूरत से ज्यादा कठोर हो जाता है, एक प्रकार से समाज का उद्दण्ड, विद्रोही, बेलगाम बागी। फाँसी आदि के रूप में दिया जाने वाला प्राणदण्ड एक कानूनी हत्या ही है, और क्या ? प्राणदण्ड का दण्ड तो सर्वथा अनुपयुक्त दण्ड है। न्यायाधीश भी एक साधारण मानव है। वह कोई सर्वज्ञ नहीं है कि उससे कभी कोई भूल हो ही नहीं सकती। कभी-कभी भ्रान्तिवश निरपराध भी दण्डित हो जाता है। भगवान् महावीर ने अपने एक प्रवचन में नेमि राजर्षि के वचन को प्रमाणित किया है कि कभी-कभी मिथ्या दण्ड भी दे दिया जाता है। मूल अपराधी साफ बच जाता है और बेचारा निरपराध व्यक्ति मारा जाता है—'अकारिणोऽत्थ बज्झन्ति, मुच्चई कारगो जणो।' कल्पना कीजिए, इस स्थिति में यदि किसी निरपराध को प्राणदण्ड दे दिया जाए तो क्या होगा ? वह तो दुनिया से चला जाएगा, और उसके पीछे यदि यही सही स्थिति प्रमाणित हुई, तो न्याय के नाम पर निरपराध व्यक्ति के खून के धब्बे ही तो शेष रहेंगे ? रोगी को रोगमुक्त करने के लिए रोगी को ही नष्ट कर देना, कहाँ का बौद्धिक चमत्कार है ? अहिंसा दर्शन इस प्रकार के दण्ड विधान का विरोधी है। उसका कहना है कि दण्ड देते समय अपराधी के प्रति भी अहिंसा का दृष्टिकोण रहना चाहिए। अपराधी को मानसिक रोगी मानकर उसका मानसिक उपचार होना चाहिए, ताकि समय पर वह एक सभ्य एवं सुसंस्कृत अच्छा नागरिक बन सके। समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति हो सके। ध्वंस महान नहीं है, निर्माण महान है। अपराधियों की पाशविक भावनाओं को बदलने के स्थान पर कुचलने में ज्यादा विश्वास रखना मानव की पवित्र मानवता के प्रति अपना विश्वास खो देना है। कुचलने का दृष्टिकोण मूल में ही असमीचीन है, अनुचित है। इससे तो अपराधियों के चरित्र का अच्छा पक्ष भी दब जाता है। परिणामतः सुन्दर परिवर्तन की आशा के अभाव में एक बार अपराध करने वाला व्यक्ति सदा के लिए अपराधी हो जाता है। अपराधी से अपराधी व्यक्ति के पास भी एक उज्ज्वल चरित्र होता है, जो कि कुछ सामाजिक परिस्थितियों में कारण या तो दब जाता है, या अविकसित रह जाता है। अतः न्यायालय के बौद्धिक वर्ग को अहिंसा के प्रकाश में दण्ड के प्रति उदार, सभ्य, सुसंस्कृत मनोवैज्ञानिक दृष्टिकोण अपनाना चाहिए, जिससे अपराधियों का सुप्त उज्ज्वल चरित्र जागृत होकर वह समाज के लिए उपयोगी व्यक्ति हो सके।

अहिंसा का सही मार्ग :

हो सकता है, कुछ अपराधी ऐसे भी किस्म के हों, उन पर मनोविज्ञान के व्यवस्थित सब प्रयोग असफल हो जाएँ तब उनको शारीरिक दण्ड देना आवश्यक हो जाता है। इस अनिवार्य स्थिति में भी अहिंसादर्शन कहता है कि जहाँ तक हो सके, करुणा से काम लो। शारीरिक दण्ड भी मर्यादित होना चाहिए मर्यादित होना चाहिए, विवेक पूर्ण

अमर्यादित नही। शान्त से शान्त माता भी कभी-कभी अपनी उद्धत सन्तान को चाँटा मारने के लिए विवश हो जाती है, क्रुद्ध भी हो जाती है, किन्तु अन्तर मे उसका मातृत्व क्रूर नहीं होता, कोमल ही रहता है। माता के द्वारा दिये जाने वाले शारीरिक दण्ड मे भी हितबुद्धि रहती है, विवेक रहता है, एक उचित मर्यादा रहती है। भगवान् महावीर का अहिंसा दर्शन अन्त तक इसी भावना को लेकर चलता है। वह मानवचेतना के परिष्कार एवं संस्कार में आखिर तक अपना विश्वास बनाए रखता है। उनका आदर्श है—अहिंसा से काम लो। यह न हो सके तो अल्प से अल्पतर हिंसा का, कम से कम हिंसा का पथ चुनो, वह भी हिंसा के लिए नही, अपितु भविष्य की बडी हिंसा के प्रवाह को रोकने के लिए। इस प्रकार हिंसा मे भी अहिंसा की दिव्य चेतना सुरक्षित रहनी चाहिए।

अहिंसा : आज के परिप्रेक्ष्य में

अन्यायपूर्ण स्थिति को सहते रहना, अन्याय एव अत्याचार को प्रोत्साहन देना है। यह दब्बूपन का मार्ग अहिंसा का मार्ग नही है। कायरता कायरता है, अहिंसा नहीं है। अहिंसा मानव से अन्याय-अत्याचार के प्रतिकार का न्यायोचित अधिकार नहीं छीनती है। वह कहती है, प्रतिकार करो, परन्तु प्रतिकार के आवेश मे मुझे मत भूल जाना। प्रतिकार के मूल मे विरोधी के प्रति सदभावना रखनी चाहिए, बुरी भावना नहीं। प्रेम, सदभाव, नम्रता, आत्मत्याग अपने मे एक बहुत बडी शक्ति है। कैसा भी प्रतिकार हो, इस शक्ति का चमत्कार एक दिन अवश्य होता है। इसमे तनिक भी सन्देह नही है।

भगवान् महावीर की अहिंसा दृष्टि

भगवान् महावीर ने अहिंसा को केवल आदर्श ही नही दिया, अपने जीवन मे उतार कर उसकी शत-प्रतिशत यथार्थता भी प्रमाणित की। उन्होने अहिंसा के सिद्धान्त और व्यवहार को एक करके दिखा दिया। उनका जीवन उनके अहिंसा योग के महान् आदर्श का ही एक जीता-जागता मूर्तिमान प्रदर्शन था। विरोधी से विरोधी के प्रति भी उनके मन मे कोई घृणा नही थी, कोई द्वेष नही था। वे उत्पीडक एव घातक विरोधी के प्रति भी मगल कल्याण की पवित्र भावना ही रखते रहे। सगम जैसे भयकर उपसर्ग देने वाले व्यक्ति के लिए भी उनकी आँखें करुणा से गीली हो आई थी। वस्तुतः उनका कोई विरोधी था ही नहीं। उनका कहना था—विश्व के सभी प्राणियो के साथ मेरी मैत्री है, मेरा किसी के भी साथ कुछ भी वैर नही है—'मित्ती मे सव्वभूएसु, वेरं मज्झं न केणई।'

भगवान् महावीर का यह मैत्रीभावमूलक अहिंसाभाव इस चरम कोटि पर पहुँच गया था कि उनके श्री चरणो मे सिंह और मृग, नकुल और सर्प—जैसे प्राणी भी अपना जन्मजात वैर भुला कर सहोदर बन्धु की तरह एक साथ बैठे रहते थे। न सबल में क्रूरता की हिंस्रवृत्ति रहती थी, और न निर्बल मे भय, भय की आशका। दोनो ओर एक जैसा स्नेह का, सद्व्यवहार। इसी सन्दर्भ मे प्राचीन कथाकार कहता है कि भगवान् के समवसरण मे सिंहिनी का दूध मृगशिशु पीता रहता और हिरनी का सिंहशिशु—'दुग्धं मृगेन्द्रवनितास्तनजं पिबन्ति।' भारत के आध्यात्मिक जगत् का वह महान् एव चिरंतन सत्य, भगवान् महावीर के जीवन मे साक्षात् साकार रूप मे प्रकट हो रहा था कि साधक के भी जीवन में अहिंसा की प्रतिष्ठा—पूर्ण जागृति होने पर उसके समक्ष जन्मजात् वैरवृत्ति के प्राणी अपना वैर त्याग देते हैं, प्रेम की निर्मल धारा में अवगाहन करने लगते हैं—'अहिंसाप्रतिष्ठायां तत्सन्निधौ वैरत्यागः।'

★★★★

३२

सत्य का विराट् रूप

हमारे जीवन में सत्य का बड़ा महत्त्व है। लेकिन साधारण बोल-चाल की प्रचलित भाषा में यदि हम सत्य का प्रकाश ग्रहण करना चाहें, तो सत्य का महान् प्रकाश हमें नहीं मिलेगा। सत्य का दिव्य प्रकाश प्राप्त करने के लिए तो हमें अपने अन्तरात्म की गहराई में दूर तक झाँकना होगा।

आप विचार करेंगे, तो पता चलेगा कि जैनधर्म ने सत्य के विराट् रूप को स्वीकारते हुए ईश्वर के अस्तित्व के सम्बन्ध में एक बहुत बड़ी क्रान्ति की है।

हमारे जो दूसरे साथी हैं, दर्शन हैं, और आसपास जो मत-मतान्तर हैं, उनमें ईश्वर को बहुत महत्त्वपूर्ण स्थान प्राप्त है। वहाँ साधक की सारी साधनाएँ ईश्वर को केन्द्र बनाकर चलती हैं। उनके अनुसार यदि ईश्वर को स्थान नहीं रहा, तो साधना का भी कोई स्थान नहीं रह जाता। किन्तु जैनधर्म ने इस प्रकार ईश्वर को साधना का केन्द्र नहीं माना है।

सत्य ही भगवान् है :

तो फिर प्रश्न यह है कि जैनधर्म की साधना का केन्द्र क्या है? इस प्रश्न का उत्तर भगवान् महावीर के शब्दों के अनुसार यह है—

"तं सच्चं खु भगवं।"[1]

मनुष्य ईश्वर के रूप में एक अलौकिक व्यक्ति के चारों ओर घूम रहा था। उसकी कल्पना में ईश्वर एक विराट् व्यक्ति था और उसी की पूजा एवं उपासना में वह अपनी सारी शक्ति और समय खर्च कर रहा था। वह उसी को प्रसन्न करने के लिए कभी पत्थर और कभी कहीं माथा रगड़ता और प्रार्थना करके माला फेरता! जिस किसी भी विधि से उसको प्रसन्न करना उसके जीवन का प्रधान और एकमात्र ध्येय था। इस प्रकार हजारों वर्षों की साधना के नाम पर मानव-समाज में अंधेर हो गई थी। ऐसी स्थिति में भगवान् महावीर आगे आए और उन्होंने एक ही बात बहुत थोड़े-से शब्दों में कहकर समस्त परिस्थिति दूर कर दी।

१. प्रश्न व्याकरण सूत्र, द्वि० सं०

भगवान् कौन है ? महावीर स्वामी ने बतलाया कि वह भगवान् तो सत्य ही है। सत्य ही आपका भगवान् है। अतएव जो भी साधना कर सकते हो और करना चाहते हो, सत्य को सामने रखकर ही करो। अर्थात् सत्य होगा तो साधना होगी, अन्यथा कोई भी साधना सम्भव नही है।

सच्ची उपासना :

अस्तु, हम देखते हैं कि जब-जब मनुष्य सत्य के आचरण मे उतरा, तो उसने प्रकाश पाया और जब सत्य को छोड़कर केवल ईश्वर की पूजा में लगा और उसी को प्रसन्न करने मे प्रयत्नशील हुआ, तो ठोकरें खाता फिरा, भटकता रहा।

आज हजारो मन्दिर हैं और वहाँ ईश्वर के रूप मे कल्पित व्यक्ति-विशेष की पूजा की जा रही है, किन्तु वहाँ भगवान् सत्य की उपासना का कोई सम्बन्ध नही होता। चाहे कोई जैन हो या जैनेतर हो, मूर्तिपूजा करने वाला हो या न हो, अधिकांशत वह अपनी शक्ति का उपयोग एकमात्र ईश्वर को प्रसन्न करने के लिए ही कर रहा है, उसमें वह न न्याय को देखता है, न अन्याय का विचार करता है। हम देखते हैं और कोई भी देख सकता है कि भक्त लोग मन्दिर मे जाकर ईश्वर को अशर्फी चढाएँगे और हजारो-लाखो के स्वर्ण-मुकुट पहना देंगे किन्तु मन्दिर से बाहर आएँगे तो उनकी सारी उदारता न जाने कहाँ गायब हो जायगी ? मन्दिर के बाहर, द्वार पर, गरीब लोग पैसे-पैसे के लिए सिर झुकाते हैं, बेहद मिन्नतें और खुशामदें करते हैं, धक्का-मुक्की होती है, परन्तु ईश्वर का वह उदार पुजारी मानो आँखें बन्द करके, नाक-भौंह सिकोड़ता हुआ और उन दरिद्रो पर घृणा एव तिरस्कार बरसाता हुआ, अपने घर का रास्ता पकड़ता है। इस प्रकार जो पिता है—उसके लिए तो लाखो के मुकुट अर्पण किए जाते हैं, किन्तु उसके लाखों बेटो के लिए, जो पैसे-पैसे के लिए दर-दर भटकते फिरते हैं, कुछ भी नही किया जाता। उनके जीवन की समस्या को हल करने के लिए तनिक भी उदारता नही दिखलाई जाती।

जन-साधारण के जीवन मे यह विसंगति आखिर क्यो है ? कहाँ से आई है ? आप विचार करेंगे तो मालूम होगा कि इस विसंगति के मूल मे सत्य को स्थान न देना ही है। क्या जैन और क्या जैनेतर, सभी आज बाहर की चीजो मे उलझ गए है। परिणाम-स्वरूप धूमधाम मचती है, क्रियाकाण्ड का आडम्बर किया जाता है, अमुक को प्रसन्न करने का प्रयास किया जाता है, कभी भगवान् को और कभी गुरुजी को रिझाने की चेष्टाएँ की जाती हैं, और ऐसा करने मे हजारो-लाखो पूरे हो जाते है। लेकिन आपका कोई सधर्मी भाई है, वह जीवन के कर्त्तव्य के साथ जूझ रहा है, उसे समय पर यदि थोडी-सी सहायता भी मिल जाए, तो वह जीवन के मार्ग पर पहुँच सकता है और अपना तथा अपने परिवार का जीवन-निर्माण कर सकता है, किन्तु उसके लिए आप कुछ भी नहीं करते।

तात्पर्य यह है कि जबतक सत्य को जीवन मे नही उतारा जाएगा, सही समाधान नहीं मिल सकेगा, जीवन मे व्याप्त अनेक असंगतियाँ दूर नही की जा सकेंगी और सच्ची धर्म-साधना का फल भी प्राप्त नही किया जा सकेगा।

सत्य का सही मंदिर . अन्तर्मन :

लोग ईश्वर के नाम पर भटकते-फिरते थे और देवी-देवताओं के नाम पर काम करते थे, किन्तु अपने जीवन के लिए कुछ भी नहीं करते थे। भगवान् महावीर ने उन्हें बतलाया कि सत्य ही भगवान् है। भगवान् का यह कथन मनुष्य को अपने ही भीतर सत्य

भली-भाँति चिन्तन करेंगे, तो मालूम होगा कि जैनधर्म देवी-देवताओ की ओर जाने के लिए है, या देवताओ को अपनी ओर लाने के लिए है ? वह देवताओ को साधक के चरणो मे झुकाने के लिए चला है, साधक को देवताओ के चरणो मे झुकाने के लिए नही चला है। सम्यक् श्रुति के रूप मे प्रवाहित हुई भगवान् महावीर की वाणी दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ मे ही बतलाती है—"धर्म अहिंसा है। धर्म सयम है। धर्म तप और त्याग है। यह महामगलमय धर्म है। जिसके जीवन मे इस धर्म की रोशनी पहुँच चुकी, देवता भी उसके चरणो मे नमस्कार करते हैं।"[1]

सत्य का बल :

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैनधर्म ने एक बहुत बडी बात ससार के सामने रखी है। तुम्हारे पास जो जन-शक्ति है, धन-शक्ति है, समय है और जो भी चन्द साधन-सामग्रियाँ तुम्हे मिली हुई हैं, उन्हे अगर तुम देवताओ के चरणो मे अर्पित करने चले हो, तो उन्हे निर्माल्य बना रहे हो। लाखो और करोड रुपए देवी-देवताओ को भेंट करते हो, तो भी जीवन के लिए उनका कोई उपयोग नही हो रहा है। अतएव यदि सचमुच ही तुम्हें ईश्वर की उपासना करनी है, तो तुम्हारे आस-पास की जनता ही ईश्वर के रूप में है। छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ और दूसरे जो दीन और दु खी प्राणी हैं, वे सब नारायण के स्वरूप हैं, उनकी सेवा और सहायता, ईश्वर की ही आराधना है।

अत. जहाँ जरूरत है, वहाँ इस धन को अर्पण करते चलो। इस रूप मे अर्पण करने से तुम्हारा अन्दर मे सोया हुआ देवता जाग उठेगा और वह बन्धनो को तोड देगा। कोई दूसरा बाहरी देवता तुम्हारे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओ के बन्धनो को नही तोड सकता। वस्तुत' अन्तरग के बन्धनो को तोडने की शक्ति अन्तरग आत्मा मे ही है।

इस प्रकार जैनधर्म देवताओ की ओर नही चला, अपितु देवताओ को मानव के चरणो मे लाने के लिए चला है।

हम पुराने इतिहास की ओर अपने आसपास की घटनाओ को देखते है, तो मालूम होता है कि ससार की प्रत्येक ताकत नीची रह जाती है और समय पर असमर्थ और निकम्मा साबित होती है। किसी मे रूप-सौन्दर्य है। जहाँ वह बैठता है, हजारो आदमी टकटकी लगाकर उसकी तरफ देखने लगते हैं। नातेदारी मे या सभा-सोसायटी मे उसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं। अपने असाधारण रूप-सौन्दर्य को देखकर वह स्वयं भी बहुत इतराता है। परन्तु क्या वह रूप सदा रहने वाला है ? अचानक ही कोई दुर्घटना हो जाती है, तो वह क्षण भर मे विकृत हो जाता है। सोने-जैसा रूप मिट्टी मे मिल जाता है। इस प्रकार रूप का कोई स्थायित्व नहीं है।

इसके बाद, धन का बल आता है, और मनुष्य उसको लेकर चलता है। मनुष्य समझता है कि सोने की चमक इतनी तेज है कि उसके बल पर वह सभी कुछ कर

---

१. "धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा संजमो तवो।
देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥" –दशवैकालिक १/१

सकता है। पर वास्तव में देखा जाए तो धन की शक्ति भी निकम्मी साबित होती है। रावण के पास सोने की कितनी शक्ति थी? जरासंध के पास सोने की क्या कमी थी? दुनिया के लोग बड़े-बड़े सोने के महल खड़े करते आए और संसार को खरीदने का दावा करते रहे, संसार तो ही क्या, ईश्वर को भी खरीदने का दावा करते रहे, किन्तु सोने-चाँदी के सिक्कों का वह बल कब तक रहा? उनके जीवन में ही वह समाप्त हो गया। सोने की वह लंका रावण के देखते-देखते ध्वस्त हो गई। धन की भी शक्ति है अवश्य, किन्तु उसकी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह काम नहीं आ सकती।

इससे आगे चलिए और जन-बल एवं परिवार-बल पर चिंतन-मनन कीजिए। मालूम होगा कि वह भी एक सीमा तक ही काम आ सकता है। महाभारत पढ़ जाइए और द्रौपदी के उस दृश्य का स्मरण कीजिए, जबकि हजारों की सभा के बीच द्रौपदी खड़ी है। उसके गौरव को बर्बाद करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी लज्जा को समाप्त करने की भयानक चेष्टाएँ की जाती हैं। संसार के सबसे बड़े शक्तिशाली पुरुष और नातेदार बैठे हैं, किन्तु सब के सब जड़ बन गए हैं और प्रचण्ड बलशाली पाँचों पाण्डव भी नीचा मुँह किए, पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे हैं। उनमें से कोई भी काम नहीं आया। द्रौपदी की लाज किसने बचाई? ऐसी विकट एवं दारुण प्रसंग उपस्थित होने पर मनुष्य को सत्य के सहारे ही खड़ा रहना पड़ता है।

मनुष्य दूसरों के प्रति मोह-माया रखता है, और सोचता है कि वह वक्त पर काम आएँगे, परन्तु वास्तव में कोई काम नहीं आता। द्रौपदी के लिए न धन काम आता और न पति के रूप में मिले असाधारण शूरवीर, पृथ्वी को कँपाने वाले पाण्डव ही काम आए। कोई भी उसकी लज्जा बचाने के लिए आगे न बढ़ा। उस समय एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी की लाज रखने में समर्थ हो सका।

इस रूप में हम देखते हैं कि ईश्वर के पास जाने में, ईश्वरत्व की उपलब्धि करने में न रूप, न धन और न परिवार का ही बल काम आता है, और न बुद्धि का बल ही सहायक साबित होता है। द्रौपदी की बुद्धि या चातुर्य भी किस काम आया? आखिरकार, हम देखते हैं कि उसके चीर को बढ़ाने के लिए देवता आ गए। किन्तु हमें यह जानना होगा कि देवताओं में यह प्रेरणा जगाने वाला, उन्हें खींच लाने वाला कौन था? इस प्रश्न का उत्तर है, सत्य। सत्य की दैवी शक्ति से ही देवता खिंचे चले आए।

दुनिया भर में उलटे-सीधे काम हो रहे हैं। देवता कब आते हैं? किन्तु द्रौपदी पर संकट पड़ा, तो देवता आ गए। सीता को संकट पड़ा, तो भी देवता आ पहुँचे। सीता के सामने अग्नि का कुण्ड धधक रहा था। उससे उसको बचाने के लिए उसके पति ही आगे आए, जिन पर सीता की रक्षा का उत्तरदायित्व था। राम कहते हैं—'सत्य का जो तुमने प्रकाश किया है, उसकी परीक्षा दो।' ऐसे विकट संकट के अवसर पर सीता का सत्य ही काम आता है।

इन घटनाओं के प्रकाश में हम देखते हैं कि सत्य का बल कितना महान् है। भारत के धर्माचार्यों और ऋषि-मुनियों ने भी कहा है कि सारे संसार के बल एक तरफ हैं और सत्य का बल एक तरफ है।

भली-भाँति चिन्तन करेंगे, तो मालूम होगा कि जैनधर्म देवी-देवताओं की ओर जाने के लिए है, या देवताओ को अपनी ओर लाने के लिए है ? वह देवताओ को साधक के चरणो में झुकाने के लिए चला है, साधक को देवताओ के चरणो मे झुकाने के लिए नही चला है। सम्यक् श्रुति के रूप मे प्रवाहित हुई भगवान् महावीर की वाणी दशवैकालिक सूत्र के प्रारम्भ मे ही बतलाती है—"धर्म अहिंसा है। धर्म सयम है। धर्म तप और त्याग है। यह महामगलमय धर्म है। जिसके जीवन मे इस धर्म की रोशनी पहुँच चुकी, देवता भी उसके चरणो मे नमस्कार करते हैं।"[1]

सत्य का बल :

इसका अभिप्राय यह हुआ कि जैनधर्म ने एक बहुत बडी बात ससार के सामने रखी है। तुम्हारे पास जो जन-शक्ति है, धन-शक्ति है, समय है और जो भी चन्द साधन-सामग्रियाँ तुम्हें मिली हुई हैं, उन्हें अगर तुम देवताओ के चरणो मे अर्पित करने चले हो, तो उन्हे निर्माल्य बना रहे हो। लाखो और करोड रुपए देवी-देवताओ को भेंट करते हो, तो भी जीवन के लिए उनका कोई उपयोग नही हो रहा है। अतएव यदि सचमुच ही तुम्हे ईश्वर की उपासना करनी है, तो तुम्हारे आस-पास की जनता ही ईश्वर के रूप मे है। छोटे-छोटे दुधमुँहे बच्चे, असहाय स्त्रियाँ और दूसरे जो दीन और दुःखी प्राणी हैं, वे सब नारायण के स्वरूप हैं, उनकी सेवा और सहायता, ईश्वर की ही आराधना है।

अत जहाँ जरूरत है, वहाँ इस धन को अर्पण करते चलो। इस रूप मे अर्पण करने से तुम्हारा अन्दर मे सोया हुआ देवता जाग उठेगा और वह बन्धनो को तोड देगा। कोई दूसरा बाहरी देवता तुम्हारे क्रोध, मान, माया, लोभ और वासनाओ के बन्धनो को नही तोड़ सकता। वस्तुत' अन्तरंग के बन्धनो को तोडने की शक्ति अन्तरग आत्मा मे ही है।

इस प्रकार जैनधर्म देवताओ की ओर नही चला, अपितु देवताओ को मानव के चरणो मे लाने के लिए चला है।

हम पुराने इतिहास की ओर अपने आसपास की घटनाओ को देखते है, तो मालूम होता है कि ससार की प्रत्येक ताकत नीची रह जाती है और समय पर असमर्थ और निकम्मा साबित होती है। किसी मे रूप-सौन्दर्य है। जहाँ वह बैठता है, हजारो आदमी टकटकी लगाकर उसकी तरफ देखने लगते हैं। नातेदारी में या सभा-सोसायटी मे उसे देखकर लोग मुग्ध हो जाते हैं। अपने असाधारण रूप-सौन्दर्य को देखकर वह स्वयं भी बहुत इतराता है। परन्तु क्या वह रूप सदा रहने वाला है ? अचानक ही कोई दुर्घटना हो जाती है, तो वह क्षण भर मे विकृत हो जाता है। सोने-जैसा रूप मिट्टी मे मिल जाता है। इस प्रकार रूप का कोई स्थायित्व नही है।

इसके बाद, धन का बल आता है, और मनुष्य उसको लेकर चलता है। मनुष्य समझता है कि सोने की चमक इतनी तेज है कि उसके बल पर वह सभी कुछ कर

---

१. "धम्मो मगलमुक्किट्ठं, अहिंसा सजमो तवो।
देवा वि त नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो॥" —दशवैकालिक १/१

सकता है। पर वास्तव मे देखा जाए तो धन की शक्ति भी निकम्मी साबित होती है। रावण के पास सोने की कितनी शक्ति थी ? जरासंध के पास सोने की क्या कमी थी ? दुनिया के लोग बडे-बडे सोने का महल खडे करते आए और ससार को खरीदने का दावा करते रहे, संसार को ही क्या, ईश्वर को भी खरीदने का दावा करते रहे, किन्तु सोने-चाँदी के सिक्को का वह बल कब तक रहा ? उनके जीवन मे ही वह समाप्त हो गया। सोने की वह लका रावण के देखते-देखते ध्वस्त हो गई। धन की भी शक्ति है अवश्य, किन्तु उसकी एक सीमा है और उस सीमा के आगे वह काम नही आ सकती।

इससे आगे चलिए और जन-बल एव परिवार-बल पर चिंतन-मनन कीजिए। मालूम होगा कि वह भी एक सीमा तक ही काम आ सकता है। महाभारत पढ जाइए और द्रौपदी के उस दृश्य का स्मरण कीजिए, जबकि हजारो की सभा के बीच द्रौपदी खडी है। उसके गौरव को बर्बाद करने का प्रयत्न किया जाता है, उसकी लज्जा को समाप्त करने की भरसक चेष्टाएँ की जाती हैं। ससार के सबसे बडे शक्तिशाली पुरुष और नातेदार बैठे हैं, किन्तु सब के सब जड बन गए हैं और प्रचण्ड बलशाली पाँचो पाण्डव भी नीचा मुँह किए, पत्थर की मूर्ति की तरह बैठे हैं। उनमे से कोई भी काम नही आया। द्रौपदी की लाज किसने बचाई ? ऐसी विकट एव दारुण प्रसग उपस्थित होने पर मनुष्य को सत्य के सहारे ही खडा रहना पडता है।

मनुष्य दूसरो के प्रति मोह-माया रखता है, और सोचता है कि यह वक्त पर काम आएँगे, परन्तु वास्तव मे कोई काम नही आता। द्रौपदी के लिए न धन काम आया और न पति के रूप मे मिले असाधारण शूरवीर, पृथ्वी को कँपाने वाले पाण्डव ही काम आए। कोई भी उसकी लज्जा बचाने के लिए आगे न बढा। उस समय एकमात्र सत्य का बल ही द्रौपदी की लाज रखने में समर्थ हो सका।

इस रूप मे हम देखते हैं कि ईश्वर के पास जाने मे, ईश्वरत्व की उपलब्धि करने मे न रूप, न धन और न परिवार का ही बल काम आता है, और न बुद्धि का बल ही कारगर साबित होता है। द्रौपदी की बुद्धि का चातुर्य भी किस काम आया ? आखिरकार, हम देखते हैं कि उसके चीर को बढाने के लिए देवता आ गए। किन्तु हमे यह जानना होगा कि देवताओं मे यह प्रेरणा जगाने वाला, उन्हें खीच लाने वाला कौन था ? इस प्रश्न का उत्तर है, सत्य। सत्य की दैवी शक्ति से ही देवता खिचे चले आए।

दुनिया भर मे उलटे-सीधे काम हो रहे हैं। देवता कब आते हैं ? किन्तु द्रौपदी पर सकट पडा, तो देवता आ गए। सीता को काम पडा, तो भी देवता आ पहुँचे। सीता के सामने अग्नि का कुण्ड धधक रहा था। उसमे प्रवेश कराने के लिए उसके पति ही आगे आए, जिन पर सीता की रक्षा का उत्तरदायित्व था ! राम कहते हैं—'सत्य का जो कुछ भी प्रकाश तुम्हे मिला है, उसकी परीक्षा दो।' ऐसे विकट संकट के अवसर पर सीता का सत्य ही काम आता है।

इन घटनाओं के प्रकाश में हम देखते हैं कि सत्य का बल कितना महान् है। भारत के दर्शनकारो और चिन्तको ने भी कहा है कि सारे संसार के बल एक तरफ है और सत्य का बल एक तरफ है।

निराश्रय का आश्रय : सत्य

संसार की जितनी भी ताकतें हैं, वे कुछ दूर तक तो साथ देती हैं, किन्तु उससे आगे जवाब दे जाती हैं। उस समय सत्य का ही बल हमारा आश्रय बनता है, और वही एक मात्र काम आता है।

जब मनुष्य मृत्यु की आखिरी घडियो मे पहुँच जाता है, तब उसे न धन बचा पाता है, न ऊँचा पद तथा न परिवार ही। वह रोता रहता है और ये सब के सब व्यर्थ सिद्ध हो जाते हैं। किन्तु कोई-कोई महान् आत्मा व्यक्ति उस समय भी मुस्कराता हुआ जाता है, रोना नही जानता है। अपितु एक विलक्षण स्फूर्ति के साथ संसार से विदा होता है। तो बताएँ उसे कौन रोशनी देता है ? ससार के सारे सम्बन्ध टूट रहे हैं, एक कौडी भी साथ नही जा रही है और शरीर की हड्डी का एक टुकडा भी साथ नही जा रहा है, बुद्धि-बल भी वहीं समाप्त हो जाता है, फिर भी वह संसार से हँसता हुआ विदा होता है। इसमे स्वत. स्पष्ट है कि यहाँ पर सत्य का अलौकिक प्रकाश ही उसे यह बल प्रदान कर रहा होता है।

विश्व का विधायक तत्त्व . सत्य :

सत्य और धर्म का प्रकाश अगर हमारे जीवन मे जगमगा रहा है, तो हम दूसरे की रक्षा करने के लिए अपने अमूल्य जीवन की भेंट देकर और मृत्यु का आलिंगन करके भी ससार मे मुस्कराते हुए विदा हो लेते हैं। यह प्रेरणा और यह प्रकाश सत्य और धर्म के सिवाय और कोई देने वाला नही है। सत्य जीवन की समाप्ति के पश्चात् ही प्रेरणा प्रदान करता है। हमारे आचार्यों ने कहा है—

"सत्येन धार्यते पृथ्वी, सत्येन तपते रवि ।
सत्येन वाति वायुश्च, सर्वं सत्ये प्रतिष्ठितम् ॥"

कहने को तो लोग कुछ भी कह देते हैं। कोई कहते हैं कि जगत् साँप के फन पर टिका है, और किसी की राय मे बैल के सीग पर। किन्तु यह सब कल्पनाएँ हैं। इनमे कोई तथ्य नही है। तथ्य तो यह है कि इतना विराट् ससार पृथ्वी पर टिका हुआ है। पृथ्वी का अपने-आप में यह विधान और नियम है कि जबतक वह सत्य पर टिकी हुई है, तबतक सारा संसार उस पर खडा हुआ है।

सूर्य समय पर ही उदित और अस्त होता है और संसार की यह अनोखी घडी निरन्तर चलती रहती है। इसकी चाल मे जरा भी गडबड हो जाए, तो संसार की सारी व्यवस्थाएँ ही बिगड़ जाएँ। किन्तु प्रकृति का यह सत्य नियम है कि सूर्य का उदय और अस्त ठीक समय पर ही होता है।

इसी प्रकार यह वायु भी केवल सत्य के बल पर ही चल रही है। जीवन की जितनी भी साधनाएँ है, वे चाहे प्रकृति की हो या चैतन्य की हो, सब की सब अपने आप मे सत्य पर प्रतिष्ठित हैं। इस प्रकार क्या जड प्रकृति और क्या चेतन, सभी सत्य पर प्रतिष्ठित है। चेतन जबतक अपने चैतन्य शक्ति की सीमा में चल रहा है तबतक कोई गडबड नहीं होने पाती। और, जड-प्रकृति भी जबतक अपनी सत्य की धुरी पर चल रही है, सब कुछ व्यवस्थित चलता है। जब प्रकृति मे तनिक-सा भी व्यतिक्रम होता है, तो भीषण संहार हो जाता है। एक छोटा-सा भूकम्प ही प्रलय की कल्पना को प्रत्यक्ष बना देता है। अतः यह कथन सत्य है कि संसार-भर के नियम और विधान सब सत्य पर ही प्रतिष्ठित हैं।

सत्य का आध्यात्मिक विश्लेषण

भगवान् महावीर के दर्शन मे, सवसे वडी क्रान्ति, सत्य के विषय मे, यह रही है कि वे वाणी के सत्य को तो महत्त्व देते ही हैं, किन्तु उससे भी अधिक महत्त्व मन के सत्य को, विचार या मनन करने के सत्य को देते है। जवतक मन मे सत्य नही आता, मन मे पवित्र विचार और सकल्प जागृत नहीं होते और मन सत्य के प्रति आग्रहशील नही वनता, वल्कि मन मे झूठ, कपट और छल भरा होता है, तव तक वाणी का सत्य, सत्य नही माना जा सकता। सत्य की पहली कडी मानसिक पावनता है और दूसरी कडी वचन की पवित्रता है।

सत्य का विघातक . अभाव एव अहंकार

आज लोगो के जीवन मे जो सघर्ष और गडवडी दिखाई देती है चारो ओर जो वेचैनी फैली हुई है, उसके मूल कारण की ओर दृष्टिपात किया जाए, तो यह पता लगेगा कि मन के सत्य का अभाव ही इस विपम परिस्थिति का प्रवान कारण है। जवतक मन के सत्य की भली-भांति उपासना नही की जाती, तवतक घृणा-द्वेप आदि वुराइयां, जो आज सर्वत्र अपना अड्डा जमाए वैठी हैं, समाप्त नही हो सकती।

असत्य भाषण का एक कारण क्रोध है। जव क्रोध उभरता है, तो मनुष्य अपने आपे मे नही रहता है। क्रोध की आग प्रज्वलित होने पर मनुष्य की शान्ति नष्ट हो जाती है, विवेक भस्म हो जाता है और वह असत्य भाषण करने लग जाता है। आपा भुला देने वाले उस क्रोध की स्थिति मे वोला गया असत्य तो असत्य है ही, किन्तु सत्य भी असत्य हो जाता है।

इस प्रकार जव मन मे अभिमान भरा होता है और अहकार की वाणी ठोकरें मार रही होती है, तो ऐसी स्थिति मे असत्य तो असत्य रहता ही है, परन्तु यदि वाणी से सत्य भी वोल दिया जाए, तो वह भी, जैनधर्म की भाषा मे, असत्य हो जाता है।

यदि मन मे माया है, छल-कपट और धोखा है और उस स्थिति मे कोई अटपटा-सा शब्द तैयार कर लिया गया, जिसका यह आशय भी हो सकता है और दूसरा अभिप्राय भी निकला जा सकता है, तो वह सत्य भी असत्य की श्रेणी मे है।

मनुष्य जव लोभ-लालच मे फँस जाता है, वासना के विष से मूर्च्छित हो जाता है और अपने जीवन के महत्त्व को भूल जाता है उसे जीवन की पवित्रता का स्मरण नही रहता है, तव उसे विवेक नही रहता कि वह साधु है या गृहस्थ है ? वह नही सोच पाता कि अगर मैं गृहस्थ हूँ तो गृहस्थ की भूमिका भी ससार को लूटने की नही है और ससार में डाका डालने के लिए ही मेरा जन्म नही हुआ है। मनुष्य ससार मे लेने ही लेने के लिए नही जन्मा है, किन्तु मेरा जन्म ससार को कुछ देने के लिए भी हुआ है, ससार की सेवा के लिए भी हुआ है। जो कुछ मैंने पाया है, उसमे मेरा भी अधिकार है और समाज तथा देश का भी अधिकार है। जव तक सँभाल कर रख रहा हूँ, और जव देश को तथा समाज को जरूरत होगी, तो कर्त्तव्य समझ कर खुशी से अर्पित कर दूँगा।

मनुष्य की इस प्रकार की मनोवृत्ति उसके मन को विशाल एवं विराट् वना देती है। जिसके मन मे ऐसी उदार भावना रहती है, उसके मन मे ईश्वरीय प्रकाश चमकता रहता है और ऐसा भला आदमी जिस परिवार मे रहता है, वह परिवार फूला-फला रहता

है। जिस समाज मे ऐसे उदार मनुष्य विद्यमान रहते हैं, वह समाज जीता-जागता समाज है। जिस देश मे ऐसे मनुष्य उत्पन्न होंगे, उस देश की सुख-समृद्धि फूलती-फलती रहेगी।

सत्य का आचरण

जबतक मनुष्य के मन मे उदारता बनी रहती है, उसे लोभ नही घेरता है। उत्पन्न होते हुए लोभ से वह टकराता रहता है, सघर्ष करता है और उस जहर को अन्दर नही आने देता है। जबतक वह मनुष्य बना रहता है और उदारता की पूजा करता है, तभी तक उसकी उदारता सत्य है और क्षमा भी सत्य है।

क्षमा करना भी सत्य का आचरण करना है। किसी मे निरभिमानता है और सेवा की भावना है, अर्थात् वह जनता के सामने नम्र सेवक के रूप मे पहुँचता है, तो उसकी नम्रता भी सत्य है। जो ससार की सेवा के लिए नम्र बन कर चल रहा है, वह सत्य का ही आचरण कर रहा है।

इसी प्रकार जो सरलता के मार्ग की ओर जिन्दगी ले जाता है, जिसका जीवन खुला हुआ है, स्पष्ट है--चाहे कोई भी देख ले, दिन मे या रात मे परख ले; चाहे एकान्त मे परखे, चाहे हजार आदमियो मे परखे, उसकी जिन्दगी वह जिन्दगी है कि अकेले में रह रहा है, तो भी वही काम कर रहा है और हजारो के बीच मे रह रहा है, तो भी वही काम रहा है। भगवान् महावीर ने कहा है-"तू अकेला है और तुझे कोई देखने वाला नही है, पहचानने वाला नही है, तुझे गिनने के लिए कोई उँगली उठाने वाला नही है, तो तू क्यो सोचता है कि ऐसा या वैसा क्यो न कर लूँ; यहाँ कौन देखने बैठा है? अरे, सत्य तेरे आचरण के लिए है, कर तेरी बीमारी को दूर करने के लिए है। इसलिए तू अकेला बैठा है, तो भी उस सत्य की पूजा और हजारो की सभा मे बैठा है, तो भी उसी सत्य का अनुसरण कर। यदि लाखो और करोड़ो की संख्या मे जनता बैठी है, तो उसे देखकर तुझे अपनी राह नही बदलनी है। यह क्या कि जनता की आँखें तुझे घूरने लगें, तो तू राह बदल दे? सत्य का मार्ग बदल दे? नही, तुझे सत्य की ही ओर चलना है और प्रत्येक परिस्थिति में सत्य को ही तेरा उपास्य होना है।"[1]

सर्वज्ञता सत्य की चरमपरिणति :

जब मनुष्य सर्वज्ञता की भूमिका पर पहुँचता है, तभी उसका ज्ञान पूर्ण होता है, तभी उसे उज्ज्वलतम प्रकाश मिलता है, तभी उसे परिपूर्ण वास्तविक सत्य का पता लगता है। किन्तु उससे नीचे की जो भूमिकाएँ हैं, वहाँ क्या है? जहाँ तक विचार सत्य को आज्ञा देते हैं मनुष्य सोचता है और आचरण करता है। फिर भी सम्भव है कि सोचते-सोचते और आचरण करते-करते ऐसी धारणाएँ बन जाएँ, जो सत्य से विपरीत हो। किन्तु जब कभी सत्य का पता चल जाए और भूल मालूम होने लगे, यह समझ आ जाए कि यह गलत बात है, तो उसे एक क्षण भी मत रखो, तुरत सत्य को ग्रहण कर लो। गलती को गलती के रूप मे स्वीकार कर लो--यह सत्य की दृष्टि है, सम्यग्दृष्टि की भूमिका है।

---

१. "दिआ या, राओ या, परिसागओ या,
सुत्ते वा, जागरमाणे वा।"--दशवैकालिक, ४

सत्य की भूमिका :

छठे गुणस्थान मे सत्य महाव्रत होता है, किन्तु वहाँ पर भी गलतियाँ और भूलें हो जाती हैं । पर गलती या भूल हो जाना एक बात है और उसके लिए आग्रह होना दूसरी बात । सम्यग्दृष्टि भूल करता हुआ भी उसके लिए आग्रहशील नही होता, उसका आग्रह तो सत्य के लिए ही होता है । वह असत्य को असत्य जानकर कदापि आग्रहशील न होगा । जब उसे सत्य का पता लगेगा, वह स्पष्ट शब्दो मे, अपनी प्रतिष्ठा को जोखिम मे डालकर भी यही कहेगा—"पहले मैंने ऐसा कहा था, इस बात का समर्थन किया था और अब यह सत्य बात सामने आ गई है, तो इसे कैसे अस्वीकार करूँ ?" इस प्रकार वह उसी क्षण सत्य को स्वीकार करने के लिए उद्यत हो जाएगा । इसका अभिप्राय यह है कि जहाँ सत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य है और जहाँ असत्य की दृष्टि है, वहाँ सत्य नही है ।

जीवन के मार्ग मे कही सत्य का और कही असत्य का ढेर नही लगा होता कि उसे बटोर कर ले आया जाए । सत्य और असत्य तो मनुष्य की अपनी दृष्टि मे रहा करता है । इसी बात को भगवान् महावीर ने भी नन्दी-सूत्र मे कहा है—

"एआणि मिच्छादिट्ठिस्स मिच्छत्तपरिग्गहियाइ मिच्छासुय,
एआणि चेव सम्मदिट्ठिस्स सम्मत्तपरिग्गहियाइ सम्मसुय ।"

कौन शास्त्र सच्चा है और कौन झूठा है, जब इस महत्त्वपूर्ण प्रश्न पर विचार किया गया, तो एक बहुत बडा निरूपण हमारे सामने आया । इस सम्बन्ध मे बडी गम्भीरता के साथ विचार किया गया है ।

हम बोलचाल की भाषा मे जिसे सत्य कहते है, सिद्धान्त की भाषा मे वह कभी असत्य भी हो जाता है, और कभी-कभी बोलचाल का असत्य भी सत्य बन जाता है । अतएव सत्य और असत्य की दृष्टि ही प्रधान वस्तु है । जिसे सत्य की दृष्टि प्राप्त है, वह वास्तव मे सत्य का आराधक है । सत्य की दृष्टि कहो या मन का सत्य कहो, एक ही बात है । इस मन के सत्य के अभाव मे वाणी का सत्य मूल्यहीन ही नही, वरन् कभी-कभी धूर्तता का चिन्ह भी बन जाता है । अतएव जिसे सत्य भगवान् की अराधना करनी है, उसे अपने मन को सत्यमय बनाना होगा, सत्य के पीछे विवेक को जागृत करना होगा ।

आज तक जो भी धर्म आए हैं और जिन्होंने मनुष्य को प्रेरणाएँ दी हैं, यह न समझिए कि उन्होंने जीवन मे बाहर से कोई प्रेरणाएँ डाली है। यह एक दार्शनिक प्रश्न है कि हम मनुष्यों को जो सिखाता है और प्रेरणा देता है, जो हमारे भीतर अहिंसा, सत्य, दया एव करुणा का रस डालता है और हमें अहकार के क्षुद्र दायरे से निकाल कर विशाल-विराट् जगत् मे भलाई करने की प्रेरणा देता है, क्या वह बाहर की वस्तु है ? जो डाला जा रहा है, वह तो बाहर की ही वस्तु हो सकती है और इस कारण हम समझते हैं कि वह विजातीय पदार्थ है । विजातीय पदार्थ कितना ही घुल-मिल जाए, आखिर उसका अस्तित्व अलग ही रहने वाला होता है । वह हमारी अपनी वस्तु हमारे जीवन का अग नही बन सकती ।

मिश्री डाल देने से पानी मीठा हो जाता है । मिश्री की मिठास पानी में एकमेक हुई-सी मालूम होती है और पीने वाले को आनन्द देती है, किन्तु क्या कभी वह पानी का स्वरूप बन सकती है ? आप पानी को मिश्री से अलग नही कर सकते, किन्तु एक वैज्ञानिक बन्धु कहते हैं कि मीठा, मीठे की जगह और पानी, पानी की जगह है । दोनो मिल अवश्य गए हैं और एकरस प्रतीत होते हैं, किन्तु एक विश्लेषण करने पर दोनों ही अलग-अलग हो जाएँगे।

इसी प्रकार अहिंसा, सत्य आदि हमारे जीवन में एक अद्भुत माधुर्य उत्पन्न कर देते हैं, जीवनगत कर्त्तव्यों के लिए महान् प्रेरणा को जागृत करते हैं, और यदि यह चीजें पानी से मिश्री की तरह विजातीय हैं, मनुष्य की अपनी स्वाभाविक नहीं हैं, जातिगत विशेषता नहीं हैं, तो वे जीवन का स्वरूप नहीं बन सकतीं, हमारे जीवन मे एक रस नहीं हो सकती। सम्भव है, कुछ समय के लिए वे एकरूप प्रतीत हो, फिर भी समय पाकर उनका अलग हो जाना अनिवार्य होगा।

निश्चित है कि हमारे जीवन का महत्त्वपूर्ण सन्देश बाह्य तत्त्वों की मिलावट से पूरा नहीं हो सकता। एक वस्तु, दूसरी को परिपूर्णता प्रदान नहीं कर सकती। विजातीय वस्तु, किसी भी वस्तु मे बोझ बन कर रह सकती है, उसकी असलियत को विकृत कर सकती है, उसमें अशुद्धि उत्पन्न कर सकती है, उसे स्वाभाविक विकास और पूर्णता एव विशुद्धि नहीं दे सकती।

इस सम्बन्ध मे भारतीय दर्शनों ने और जैन-दर्शन ने चिन्तन किया है। भगवान् महावीर ने बतलाया है कि धर्म के रूप मे जो प्रेरणाएँ दी जा रही हैं, उन्हें हम बाहर से नहीं डाल रहे हैं। वे तो मनुष्य की अपनी ही विशेषताएँ हैं, अपना ही स्वभाव है, निज का ही रूप है।

"वत्थुसहावो धम्मो।"

अर्थात्—धर्म आत्मा का ही स्वभाव है।

धर्मशास्त्र की वाणियाँ मनुष्य की सोई हुई वृत्तियों को जगाती हैं। किसी सोते हुए आदमी को जगाया जाता है, तो वह जगाना बाहर से नहीं डाला जाता है और जागने का भाव पैदा नहीं किया जाता है! इस प्रकार वह जाग भी गया, तो उसकी जागृति क्या खाक काम आएगी? ऐसे जगाने का कोई मूल्य भी नहीं है। शास्त्रीय अथवा दार्शनिक दृष्टि से उस जागने और जगाने का क्या महत्त्व है? वास्तव मे आवाज देने का अर्थ—सोई हुई चेतना को उद्बुद्ध कर देना ही है। सुप्त चेतना का उद्बोधन ही जागृति है।

यह जागृति क्या है? कान मे डाले गए शब्दों की भाँति जागृति भी क्या बाहर से डाली गई है? नहीं। जागृति बाहर से नहीं डाली गई, जागने की वृत्ति तो अन्दर मे ही है। जब मनुष्य सोता होता है, तब भी वह छिपे तौर पर उसमे विद्यमान रहती है। स्वप्न मे भी मनुष्य के भीतर निरन्तर चेतना दौड़ती रहती है और सूक्ष्म चेतना के रूप में अपना काम करती रहती है। इस प्रकार जब जागृति सदैव विद्यमान रहती है, तो समझ लेना होगा कि जागने का भाव बाहर से भीतर नहीं डाला गया है। सुषुप्ति ने पर्दे की तरह जागृति को आच्छादित कर लिया था। वह पर्दा हटा कि मनुष्य जाग उठा।

हमारे आचार्यों ने दार्शनिक दृष्टिकोण से कहा है कि मनुष्य अपने-आप में एक प्रेरणा है। मनुष्य की विशेषताएँ अपने-आप में अपना अस्तित्व रखती हैं। शास्त्र का या उपदेश का सहारा लेकर हम जीवन का सन्देश बाहर से प्राप्त नहीं करते, वरन् वासनाओं और दुर्बलताओं के कारण हमारी जो चेतना अन्दर छिप गई है, उसी को जागृत करते हैं। तुलसीदास ने सत्य ही कहा है—

"बड़े भाग मानुस-तन पावा,
सुरदुर्लभ सब ग्रन्थहि गावा।"

मनुष्य की महिमा आखिर किस कारण है ? क्या इस सप्त धातुओ के बने शरीर के कारण ? इन्द्रियो के कारण ? मिट्टी के इस ढेर के कारण ? नही, मनुष्य का शरीर तो हमें कितनी ही वार मिल चुका है और इससे भी सुन्दर मिल चुका है, किन्तु मनुष्य का शरीर पाकर भी मनुष्य का जीवन नही पाया। और जिसने मानव-तन के साथ मानव-जीवन भी पाया, वह यथार्थ मे कृतार्थ हो गया।

हम पहली वार ही मनुष्य बने हैं, यह कल्पना करना दार्शनिक दृष्टि से भयकर भूल है। इससे वढकर और कोई भूल नही हो सकती। जैन-धर्म ने कहा है कि—आत्मा अनन्त-अनन्त वार मनुष्य वन चुकी है और इससे भी अधिक सुन्दर तन पा चुकी है, किन्तु मनुष्य का तन पा लेने से ही मनुष्य-जीवन के उद्देश्य की पूर्ति नहीं हो सकती। जब तक आत्मा नही जागती है, तव तक मनुष्य-शरीर पा लेने का भी कोई मूल्य नही है।

यदि मनुष्य के रूप मे तुमने आचरण नही किया, मनुष्य के साथ कैसा व्यवहार करना चाहिए, यह चीज नही पैदा हुई, तो यह शरीर तो मिट्टी का पुतला ही है। यह कितनी ही वार लिया गया है और कितनी ही वार छोडा गया है। भगवान् महावीर ने कहा है—"मनुष्य होना उतनी बडी चीज नही, वडी चीज है, मनुष्यता का होना। मनुष्य होकर जो मनुष्यता प्राप्त करते हैं, उन्ही का जीवन वरदान-रूप है। केवल नर का आकार तो बन्दरो को भी प्राप्त होता है।"[1]

हमारे यहाँ एक शब्द आया है—'द्विज'। एक तरफ साधु या व्रतधारक श्रावक को भी द्विज कहते हैं और दूसरी तरफ पक्षी को भी द्विज कहते हैं। पक्षी पहले अण्डे के रूप मे जन्म लेता है। अण्डा प्राय लुढकने के लिए है, टूट-फूट कर नष्ट हो जाने के लिए है। जव वह नष्ट न हुआ हो और सुरक्षित वना हुआ हो, तव भी वह उड नही सकता। पक्षी को उडाने की कला का विकास उसमे नही हुआ है। किन्तु, भाग्य से अण्डा सुरक्षित वना रहता है और अपना समय तय कर लेता है, तव अण्डे का खोल टूटता है और उसे तोड कर पक्षी वाहर आता है। इस प्रकार पक्षी का पहला जन्म अण्डे के रूप मे होता है, और दूसरा जन्म खोल तोडने के वाद पक्षी के रूप मे होता है। पक्षी अपने पहले जन्म मे कोई काम नही कर सकता—अपने जीवन की ऊँची उडान नही भर सकता। यह दूसरा जीवन प्राप्त करने के पश्चात् ही वह लम्बी और ऊँची उडान भरता है।

इसी प्रकार माता के उदर से प्रसूत होना मनुष्य का प्रथम जन्म है। कुछ पुरातन सस्कार उसकी आत्मा के साथ थे, उनकी वदौलत उसने मनुष्य का चोला प्राप्त कर लिया। मनुष्य का चोला पा लेने के पश्चात् वह राम वनेगा या रावण, उस चोले मे शैतान जन्म लेगा या मनुष्य अथवा देवता—यह नहीं कहा जा सकता। उसका वह रूप साधारण है,

---

१ चत्तारि परमंगाणि, दुल्लहाणीह जंतुणो।
माणुसत्तं सुइं सद्धा, संजमम्मि य वीरियं॥
—उत्तराध्ययन ३।१

दोनो के जन्म की सम्भावनाएँ उसमे निहित हैं। आगे चलकर जब वह विशिष्ट सज्ञा प्राप्त करता है, चिन्तन और विचार के क्षेत्र मे आता है, अपने जीवन का स्वयं निर्माण करता है और अपनी सोई हुई मनुष्यता की वृत्तियो को जगाता है, तब उसका दूसरा जन्म होता है। यही मनुष्य का द्वितीय जन्म है।

जब मनुष्यता जाग उठती है, तो ऊँचे कर्त्तव्यो का महत्त्व सामने आ जाता है, मनुष्य ऊँची उडान लेता है। ऐसा 'मनुष्य' जिस किसी भी परिवार, समाज या राष्ट्र मे जन्म लेता है, वही अपने जीवन के पावन सौरभ का प्रसार करता है और जीवन की महत्त्व-पूर्ण ऊँचाइयो को प्राप्त करता है।

अगर तुम अपने मनुष्य-जीवन मे मनुष्य के मन को जगा लोगे अपने भीतर मानवीय वृत्तियो को विकसित कर लोगे और अपने जीवन के सौरभ को संसार में फैलाना शुरू कर दोगे, तब दूसरा जन्म होगा। उस समय तुम मानव द्विज बन सकोगे। यह मनुष्य जीवन का एक महान् सन्देश है।

जब भगवान् महावीर की आत्मा का पावापुरी मे निर्वाण हो रहा था और हजारो-लाखो लोग उनके दर्शन के लिए चले आ रहे थे, तब उन्होने अपने अन्तिम प्रवचन मे एक बडा हृदयग्राही, करुणा से परिपूर्ण सन्देश दिया—

"माणुस्सं खु सुदुल्लहं।"

निस्सदेह, मनुष्य-जीवन बडा ही दुर्लभ है।

इसका अभिप्राय यह है कि मनुष्य का शरीर लिए हुए तो लाखो की सख्या सामने है, सब अपने को मनुष्य समझ रहे हैं, किन्तु केवल मनुष्य-तन पा लेना ही मनुष्य-जीवन को पा लेना नही है, वास्तविक मनुष्यता पा लेने पर ही कोई मनुष्य कहला सकता है।

यह जीवन की कला इतनी महत्त्वपूर्ण है कि सारा का सारा जीवन ही उसकी प्राप्ति मे लग जाता है। क्षुद्र जीवन ज्यो-ज्यो विशाल और विराट् बनता जाता है और उसमें सत्य, अहिंसा और दया का विकास होता जाता है, त्यो-त्यो सोया हुआ मनुष्य का भाव जागृत होता जाता है। अतएव शास्त्रीय शब्दो मे कहा जा सकता है कि मनुष्यत्व का भाव आना ही मनुष्य होना कहलाता है।

मनुष्य जीवन मे प्रेरणा उत्पन्न करने वाली चार बातें भगवान् महावीर ने बत-लाई हैं। उनमे सर्वप्रथम 'प्रकृतिभद्रता' है। मनुष्य को अपने-आप से प्रश्न करना चाहिए कि तू प्रकृति से भद्र है अथवा नहीं ? तेरे मन मे या जीवन मे कोई अभद्रता की दीवारें तो नही हैं ? उसमें तू अपने परिवार को और समाज को स्थान देता है या नहीं ? आस-पास के लोगो मे समरसता लेकर चलता है या नही ? ऐसा तो नही है कि तू अकेला होता है, तो कुछ और सोचता है, परिवार मे रहता है, तो कुछ और ही सोचता है और समाज मे जाकर कुछ और ही सोचने लगता है ? इस प्रकार अपने अन्तर को तूने कहीं बहुरूपिया तो नहीं बना रखा है ?

स्मरण रखें, जहां जीवन मे एकरूपता नही है, वहां जीवन का विकास भी नहीं है। मैं समझता हूँ, अगर आप गृहस्थ हैं, तब भी आपको इस कला की बहुत बडी आवश्यकता है, और यदि साधु बन गए है, तब तो उनसे भी बडी आवश्यकता है। जिसे छोटा-सा

परिवार मिला है, उसे भी आवश्यकता है और जो ऊँचा अधिकारी बना है, और जिसके कन्धो पर समाज एव देश का उत्तरदायित्व आ पडा है, उसको भी इस कला की आवश्यकता है। जीवन मे एक ऐसा सहज-भाव उत्पन्न हो जाना चाहिए कि मनुष्य जहाँ कही भी रहे, किसी भी स्थिति मे हो, एकरूप होकर रहे। यही एकरूपता, भद्रता या सरलता कहलाती है और यह जीवन के हर पहलू में रहनी चाहिए। सरलता की उत्तम कसौटी यही है कि मनुष्य सुनसान जगल मे जिस भाव से अपने उत्तरदायित्व को पूरा कर रहा है, उसी भाव से वह नगर मे भी करे और जिस भाव से दूसरो के सामने कर रहा है, उसी भाव से एकान्त मे भी करे।

प्रत्येक मनुष्य को अपना कर्त्तव्य, कर्त्तव्यभाव से, स्वत· ही पूर्ण करना चाहिए। किसी की आँखें हमारी ओर घूर रही हैं या नही, यह देखने की उसे आवश्यकता ही क्या है ?

भगवान् महावीर का पवित्र सन्देश है कि मनुष्य अपने-आप मे सरल बन जाए और द्वैत-बुद्धि—मन, वचन, काया की वक्रता—नही रखे। हर प्रसग पर दूसरो की आंखो से अपने कर्त्तव्य को नापने की कोशिश न करे। जो इस ढग से काम नही कर रहा है और केवल भय से प्रेरित होकर हाथ-पाँव हिला रहा है, वह आतक मे काम कर रहा है ऐसे काम करने वाले के कार्य मे सुन्दरता नही पैदा हो सकती, महत्त्वपूर्ण प्रेरणा नही जाग सकती।

ऋग्वेद मे कहा गया है—

"यत्र विश्व भवत्येकनीडम्।"

सारा भूमण्डल तेरा देश है और सारा देश एक घोसला है तथा हम सब उसमे पक्षी के रूप मे बैठे है। फिर कौन भूमि है कि जहाँ हम न जाएँ ? समस्त भूमण्डल मनुष्य का वतन है और वह जहाँ कही भी जाए या रहे, एकरूप होकर रहे। उसके लिए कोई पराया न हो। जो इस प्रकार की भावना को अपने जीवन मे स्थान देगा, वह अपने जीवन-पुष्प को सौरभमय बनाएगा। गुलाब का फूल टहनी पर है, तब भी महकता है और टूटकर अन्यत्र जाएगा, तब भी महकता रहेगा। महक ही उसका जीवन है, उसका प्राण है।

सहज-भाव से अपने कर्त्तव्य को निभाने वाला मनुष्य सिर्फ अपने-आपको देखता है। उसकी दृष्टि दूसरो की ओर नही जाती। कौन व्यक्ति मेरे सामने है अथवा किस समाज के भीतर मैं हूँ, यह देखकर वह काम नही करता। सूने पहाड मे जब वनगुलाब खिलता है, महकता है, तो क्या उसके विकास को देखने वाला और महक को सूँघने वाला आस-पास मे कोई होता है ? परन्तु गुलाब को इसकी कोई परवाह नहीं कि कोई उसे दाद देने वाला है या नही, भ्रमर है या नही। गुलाब जब विकास की चरम सीमा पर पहुँचता है, तो अपने-आप खिल उठता है। उससे कोई पूछे—तुम्हारा उपयोग करने वाला यहाँ कोई नहीं है, फिर तू क्यो वृथा खिल रहे हो ? क्यो अपनी महक लुटा रहे हो ? गुलाब जवाब देगा—कोई है या नही, इसकी मुझको चिन्ता नही। मेरे भीतर उल्लास आ गया है, विकास आ गया है और मैंने महकना शुरू कर दिया है। यह मेरे वश की बात नही है। इसके बिना मेरे जीवन की और कोई गति ही नहीं है। यही तो मेरा जीवन है।

बस, यही भाव मनुष्य मे जागृत होना चाहिए। वह सहजभाव से अपना कर्त्तव्य पूरा करे और इसी मे अपने जीवन की सार्थकता समझे।

इसके विपरीत, जब मनुष्य स्वत समुद्भूत उल्लास के भाव से अनेक कर्त्तव्य और दायित्व को नही निभाता, तो चारो ओर से उसे दबाया और कुचला जाता है। इस प्रकार एक तरह की गदगी और बदबू फैलती है। आज दुर्भाग्य से समाज और देश में सर्वत्र गन्दगी और बदबू ही नजर आ रही है और इसीलिए वह जीवन अत्यन्त पामर बना रहता है।

सत्य की अतर में अनुभूति ही सच्ची अनुभूति :

भारतीय दर्शन, जीवन के लिए एक महत्त्वपूर्ण सन्देश लेकर आया है कि तू अन्दर से क्या है ? तुझे अन्तरतम मे विराजमान महाप्रभु के प्रति सच्चा होना चाहिए। वहाँ सच्चा है, तो संसार के प्रति भी सच्चा है और वहाँ सच्चा नहीं, तो ससार के प्रति भी सच्चा नही है। अन्त.प्रेरणा और स्फूर्ति से, बिना दबाव के भय से जब अपना कर्त्तव्य निभाया जाएगा, तो जीवन एकरूप होकर कल्याणमय बन जाएगा।

दूसरी बात है—मनुष्य के हृदय मे दया और करुणा की लहर पैदा होना। हमारे भीतर, हृदय के रूप में, मांस का एक टुकडा है। निस्सन्देह, वह मांस का टुकड़ा ही है और मांस के पिण्ड के रूप मे ही हरकत कर रहा है। हमे जिन्दा रखने के लिए सांस छोड रहा है और ले रहा है। पर उस हृदय का मूल्य अपने-आप में कुछ नहीं है। उसमें अगर महान् करुणा की लहर पैदा नही होती, तो उस मांस के टुकडे की कोई कीमत नही है।

जब हमारे जीवन मे समग्र विश्व के प्रति दया और करुणा का भाव जागृत होगा, तभी प्रकृति-भद्रता उत्पन्न हो सकेगी। तभी हमारा जीवन भगवत्स्वरूप हो सकेगा।

सत्य का विराट् रूप

इस प्रकार सारे समाज के प्रति कर्त्तव्य की बुद्धि उत्पन्न हो जाना, विश्व-चेतना का विकास हो जाना है और उसी को जैन-धर्म ने भागवत रूप दिया है। यही मानव-धर्म है।

तो, धर्म का मूल इन्सानियत है, मानवता है और मानव की मानवता ज्यों-ज्यों विराट् रूप ग्रहण करती जाती है, त्यों-त्यों उसका धर्म भी विराट् बनता चला जाता है। इस विराटता मे जैन, वैदिक, बौद्ध, मुस्लिम, सिख और ईसाई आदि का कोई भेद नही रहता, सब एकाकार हो जाते हैं। यही सत्य का स्वरूप है, प्राण है और इस विराट् चेतना मे ही सत्य की उपलब्धि होती है।

★★★★

३३

अस्तेय-व्रत

शास्त्रकारो ने कहा है कि—

> "चित्तमन्तमचित्त वा, अप्पं वा जइ वा बहु ।
> दंत-सोहणमेत्तं पि उग्गहंसि अजाइया ॥"

अजीव वस्तु हो या निर्जीव, कम हो या ज्यादा, पर मालिक के आज्ञा को विना कोई भी वस्तु नही लेनी चाहिए। दांत कुरेदने का तिनका भी विना आज्ञा के नही लिया जा सकता है। जब अस्तेय-व्रत पर सम्यक् रूप से विचार करेंगे, तो यह प्रतीत होगा कि इस व्रत का पालक ही अहिंसा और सत्य व्रत का पालक बन सकता है।

अपनी वस्तु को छोडकर दूसरे की किसी भी वस्तु को हाथ लगाना चोरी है। दूसरे की वस्तु को बिना उसकी अनुमति के अपने उपयोग मे लाना अदत्तादान है। इस अदत्तादान का त्याग ही अस्तेय व्रत है। इसीलिए शास्त्रकारो ने कहा है कि मार्ग मे पडी हुई दूसरे की वस्तु को अपनी समझना भी चोरी है। मन, वचन और काय से ऐसी चोरी को न स्वयं करना और न दूसरो से कराना, यही इस व्रत का आशय है।

किसी भी वस्तु को विना आज्ञा लेने का नियम इस व्रत मे बताया गया है। जिस वस्तु की हमको आवश्यकता न हो, वह वस्तु दूसरो के पास से लेना भी चोरी है। फिर भले ही वह वस्तु दूसरो की आज्ञा से ही क्यो न ली गई हो, पर विना जरूरत के वस्तु लेना चोरी ही है। अमुक फल खाने की मनुष्य को आवश्यकता नही होती है, फिर भी यदि वह उन्हें खाने लग जाए तो वह भी चोरी ही है। मनुष्य अपना स्वभाव समझता नही है, इसी से उससे ऐसी चोरी हो जाती है। इस व्रत के आराधक को इस प्रकार अचौर्य का व्यापक अर्थ घटाना चाहिए। जैसे-जैसे वह इस व्रत का विशाल रूप मे पालन करता जाएगा वैसे-वैसे इस व्रत की महत्ता और उसका रहस्य भी समझता जाएगा।

अस्तेय का इससे भी गहरा अर्थ यह है कि पेट भरने और शरीर ढकने के लिए जरूरत से अधिक संग्रह करना भी चोरी ही है। एक मनुष्य आवश्यकता से अधिक

रखने लग जाय, तो यह स्वाभाविक ही है कि दूसरो को आवश्यकता पूर्ति के लिए भी नही मिल सके। दो जोडी कपड़ों के बजाय यदि कोई मनुष्य बीस जोड़ी कपडे रखे, तो इससे उसे दूसरे पाँच-सात आदमियो को वस्त्र-हीन करना पड़ता है। अत किसी भी वस्तु का अधिक सग्रह करना चोरी है।

जो वस्तु जिस उपयोग के लिए मिली है, उसका वैसा उपयोग नही करना भी चोरी है। शरीर, इन्द्रिय, बुद्धि, शक्ति आदि की प्राप्ति आराधना के लिए हुई है, उनका उपयोग आत्माराधना मे न कर भोगोपभोग मे करना भी सूक्ष्म दृष्टि से चोरी ही है। शारीरादि का उपयोग परमार्थ के लिए न करते हुए, स्वार्थ के लिए करना भी एक तरह की चोरी ही है।

उपनिषद मे अश्वपति राजा अपने राज्य की महत्ता बताते हुए एक वाक्य में कहता है कि—'न मे स्तेनो जनपदे न कदर्यः' चोर और कृपण को वह एक ही श्रेणी मे बैठाता है। गहरा विचार करेंगे, तो प्रतीत होगा कि कृपण ही चोर के जनक होते हैं। अत· समाज मे अस्तेय व्रत की प्रतिष्ठा कायम करने के लिए कृपणो को अपनी कृपणता त्याग देनी चाहिए और बदले मे उदारता प्रकट करनी चाहिए।

चोरी के प्रमुख चार प्रकार होते हैं—द्रव्य, क्षेत्र, काल और भाव। द्रव्य से चोरी करना यानि वस्तुओ की चोरी। सजीव और निर्जीव इन दोनो प्रकार की चोरी द्रव्य कही जाती है। किसी के पशु चुरा लेना या किसी की स्त्री का अपहरण कर लेना, किसी का बालक चुरा लेना या किसी के फलफूल तोडना यह सजीव चोरी कही जाती है। सोना-चाँदी हीरा, माणिक, मोती आदि की चोरी निर्जीव चोरी है। कर या महसूल की चोरी का भी निर्जीव चोरी मे समावेश होता है। जैसा कि ऊपर कहा जा चुका है, मार्ग मे पडी हुई ऐसी कोई निर्जीव वस्तु, जिसका कोई मालिक न हो, ले लेना भी चोरी है। किसी के घर या खेत पर अनुचित रीति से अपना कब्जा जमा लेना—क्षेत्र की चोरी कही जाती है। वेतन, किराया, ब्याज आदि देने-लेने के समय की न्यूनाधिकता बताना काल की चोरी है। किसी कवि, लेखक या वक्ता के भावो को लेकर अपने नाम मे लिखना भाव की चोरी है।

एक लेखक ने लिखा है कि 'He who purposely cheats his friend, would cheat his God' अर्थात् जो व्यक्ति अपने मित्र को ठगता है, वह एकदिन ईश्वर को भी ठगेगा। दूसरे एक लेखक ने लिखा है कि—'Dishonesty is a forsaking of permanent for temporary advantages' अर्थात् अप्रामाणिकता बताना या चोरी करना, यह क्षणिक लाभ के लिए शाश्वत श्रेय को गुम कर देने जैसा है।

अपने हक के अतिरिक्त की वस्तु चाहे जिस किसी प्रकार से ले लेना चोरी है। कोई सरकारी नौकर किसी का काम करके उसके बदले मे रिश्वत या इनाम ले, तो यह भी चोरी है।

अपने असाध्य रोग की खबर होने पर भी बीमा कराना यह भी एक तरह की चोरी ही है।

आयदिनों समाज मे चोरियां बढती जा रही है। पाप चोरी करने वाले को तो लगता ही है, परन्तु परोक्ष रूप में वे मनुष्य भी इस पाप के पूर्ण भागीदार नहीं बनते,

जो समाज की परिस्थिति की तरफ ध्यान नही देते। आज एक तरफ कारखाने माल पैदा कर रहे हैं, तो दूसरी तरफ उद्योगपति और श्रीमन्तो की शोषण-नीति और सग्रहवृत्ति प्रतिदिन चोरी के नये-नये तरीके पैदा कर रही है।

चोरी का अतरंग कारण :

यदि चोरी का अन्तरग कारण खोजेंगे, तो प्रतीत होगा कि उसका मूल इस बढती हुई द्रव्य-लोलुपता मे ही स्थित है। जिसके पास आज पाँच रुपए हैं, वह सौ रुपए कमाने की धुन मे है। सौ रुपए वाला हजार, हजार वाला दस हजार और दस हजार वाला एक लाख करने की लालसा मे फँसा हुआ है। पैसो की इस दौडधूप मे मनुष्य नीति और प्रामाणिकता को भी भूल गया है। और येन केन प्रकारेण धन-सचय करने की ओर ही लगा हुआ है। इस प्रकार 'द्रव्य-लोलुपता' चोरी का अतरग कारण है।

चोरी के बहुत से कारण हैं, जिनमे चार कारण मुख्य हैं। बेकारी इनमे प्रथम कारण है बेरोजगारी। काम-धन्धा नही मिलने से, बेकार हो जाने से और अपनी आजीविका नही चला सकने से कितने मनुष्य चोरी करना सीखते हैं। जो खानदानी और प्रामाणिक मनुष्य होते हैं, वे तो मरण पसन्द करते हैं, पर चोरी करना कभी नही चाहते हैं। परन्तु ऐसे व्यक्ति बहुत ही कम होते हैं। अधिकाश वर्ग तो बेकारी से घबराकर, काम-धन्धा नही मिलने से आखिरकार पेट का खड्डा भरने के लिए ही चोरी का मार्ग ग्रहण करते हैं।

अपव्यय करना ही चोरी करना सिखाती है। अधिकाशतः श्रीमन्ताई मे मनुष्य फिजूलखर्ची बन जाता है। एक बार हाथ के खुल जाने पर फिर उसे काबू मे रखना कठिन हो जाता है। अपव्ययी के पास पैसा टिकता नही है, और जब वह निर्धन हो जाता है, तब वह अपनी फिजूल खर्ची की आदत से चोरी करने लग जाता है।

अनेक मनुष्य विवाह आदि प्रसग मे कर्ज लेकर खर्च करते हैं, परन्तु बाद मे जब उसे चुकाना पडता है, और कोई आमदनी का जरिया नही होता, तब वे चोरी का मार्ग ग्रहण करते हैं। इस प्रकार किसी भी प्रकार की फिजूल खर्ची या निरर्थक खर्च मनुष्य को अनैतिक मार्ग पर खीच ले जाता है। आज के मनुष्य, दुनिया की नजरो मे, जो चोरी कही जाती है, उससे भले ही दूर रहें, पर शोषण और अनीति की सभ्य चोरी की तरफ तो वे झुकते ही हैं। चोरी का तीसरा कारण है—मान-प्रतिष्ठा। मनुष्य बडा बनने के लिए लग्नादि प्रसंग मे बहुत खर्च करता है। परन्तु यह सब धन वह पैदा कैसे करता है? अनीति और शोषण द्वारा ही तो यह सब धन कमाया होता है न?

चोरी का चौथा कारण है—स्वभाव। अशिक्षा और कुसगति से कितने ही मनुष्यों की आदत चोरी करने की हो जाती है।

चोरी का आन्तरिक कारण द्रव्य-लोलुपता है, जो कि सतोषवृत्ति प्राप्त करने से ही दूर हो सकती है। और वह सतोषवृत्ति धर्माचरण से ही प्राप्त की जा सकती है।

अस्तेय के अतिचार :

अस्तेय व्रत के पाँच अतिचार हैं—

"स्तेन-प्रयोग-तदाहृतादान-विरुद्धराज्यातिक्रम-हीनाधिक-मानोन्मान-प्रतिरूपक-व्यवहाराः।"

स्तेन-प्रयोग—किसी को चोरी करने की प्रेरणा देना अथवा उसके काम मे सहमत होना, इस अतिचार का दोष है। काला बाजार से चोरो का अनाज लेकर किसी ने जीमनवार किया हो, उसमे जीमने जाना भी चोरी मे सहमत होने जैसा ही है। कई मनुष्य लग्नादि प्रसग पर रूढियो के वशीभूत हो अथवा बडे घर की बडी रीति के वशीभूत हो जीमनवार करते हैं और अज्ञानी मानवो की वाहवाही सुनने के लिए काला बाजार करते हैं। कालाबाजार की वस्तु खरीदने वाला स्वय तो पाप का भागीदार बनता ही है, पर साथ कालाबाजार करने वाले को भी इससे उत्तेजन मिलता है। चोरी किसी एक मनुष्य ने की हो, फिर भी उस काम मे किसी भी तरह भाग लेने वाला दोषी माना गया है। इस प्रकार शास्त्रकारो ने १८ प्रकार के चोर कहे हैं। काला बाजार से वस्तुओ की विक्री करने वाले, खरीदने वाले, रसोई करने वाले, जीमने वाले, इस कार्य की प्रशंसा करने वाले, ये सभी कम-ज्यादा अंश मे चोरी के पाप के भागीदार कहे जाते हैं।

तदाहृतादान—चोर की चुराई हुई वस्तुएँ लेना तदाहृतादान है। चोरी की हुई वस्तु हमेशा सस्ती ही बेची जाती है, जिससे लेने वाले का दिल भी ललचाता है। कोई शक्कर, चावल या अन्य राशन की वस्तुएँ चोरी करके लाया हो, और आप उन्हे खरीदें, तो उससे यह अतिचार लगता है।

विरुद्ध-राज्यातिक्रम—प्रजा के हित के लिए सरकार ने जो तरीके बनाये हों, उनका भग करना 'विरुद्ध-राज्यातिक्रम' है। अगर प्रजा इस अतिचार दोष से मुक्त रहे, तो सरकार को प्रजाहित के कार्य करना सरल बन जाए।

हिनाधिक-मानोन्मान—कम ज्यादा तोल से माप रखना या न्यूनाधिक देना इस अतिचार मे आता है। आपकी दुकान पर समझदार या नासमझ वृद्ध या बालक चाहे कोई भी वस्तु खरीदने आवे तो आपको सबके साथ प्रामाणिकता का ही व्यवहार रखना चाहिए। अप्रामाणिकता का भी समय चोरी मे शुमार होता है। अनजान मनुष्यो से अधिक भाव लेना साहूकारी ठगाई है। ऐसी चोरी दिन की चोरी है। चोरी चाहे दिन की हो या रात की, चोरी ही कही जाती है। चोर उजाला या मैला, काला हो या सफेद, परन्तु जो चोरी करता है, वह चोर ही कहा जाता है।

प्रतिरूपक-व्यवहार—वस्तु मे भेल-सेल करना या असली वस्तु के बजाय नकली वस्तु बनाकर बेचना 'प्रतिरूपक व्यवहार' है, जो कि पाँचवा अतिचार है। आज लगभग हर एक चीज मे भेल-सेल देखी जाती है।

घी के व्यापारी घी मे वनस्पति का मेल करते हैं। दूध वाले दूध मे पानी डालते हैं। शक्कर मे आटा डाला जाता है। कपडे धोने के सोडे मे चूना मिलाया जाता है। जीरा और अजवाइन मे उसी रंग की मिट्टी मिलाई जाती है। जीरा में किस प्रकार मिलावट की जाती है, इस सम्बन्ध मे अभी एक लेख कुछ दिनों पहिले हरिजन सेवक मे प्रकाशित हुआ था। घास को जीरा के आकार मे काटने के कई कारखाने चलते हैं। जीरे की आकार मे घास के टुकडे किए जाते हैं और फिर उन पर गुड का पानी छिडका जाता है। इस प्रकार नकली जीरा तैयार किया जाता है, जो थैली मे भरकर असली जीरे के नाम से बेचा जाता

है। खाने के तेल मे शुद्ध किया हुआ गन्ध रहित घासलेट का तेल मिलाया जाता है। खाद्य पदार्थों मे इस प्रकार जहरीली वस्तुओ का सम्मिश्रण करना कितना भयकर काम है? क्या यह नैतिक पतन की पराकाष्ठा नही है? कालीमिर्च के भाव बहुत बढ़ जाने से व्यापारी लोग उनमे पपीते के बीजो का सम्मिश्रण करने लग गये हैं। गेहूँ, चावल, चना आदि मे भी उसी रग के ककरो का मिश्रण किया जाता है। इस प्रकार जो हिन्दू नैतिक दृष्टि से विदेशो मे सबसे ऊँचा समझा जाता था, वही आज सबसे नीचा समझा जाने लगा है। दवाएँ भी नकली बनने लग गई हैं। नैतिक पतन की भी क्या कोई सीमा रही है? बीमार मनुष्यो के उपयोग मे आने वाली वस्तुओ मे भी जहाँ इस तरह मिलावट किया जाता हो गलत एव हानिकारक दवाएँ बेची जाती हो, तो कहिए यह हिन्द जैसे धर्मप्रधान देश के लिए यह कितना लज्जास्पद बात है।

पत्र-पत्रिकाओ में विज्ञापन छपाकर, वस्तुओं मे जो गुण हो, उनका अतिशयोक्ति-पूर्ण उल्लेख करना भी इस अतिचार मे आ जाता है।

इन अतिचारो का यदि सामान्यजन त्याग कर दें, तो पृथ्वी पर स्वर्ग उतारा जा सकता है। इन सभी अतिचारो से मुक्त बनने मे ही मानव जीवन का श्रेय है।

३४

ब्रम्हचर्य : सिद्धान्त एवं साधना

ब्रह्मचर्य का अर्थ है—मन, वचन एव काय मे समस्त इन्द्रियो का सयम करना। जबतक अपने विचारो पर इतना अधिकार न हो जाए कि अपनी धारणा एव भावना के विरुद्ध एक भी विचार न आए, तबतक वह पूर्ण ब्रह्मचर्य नही है। पाइथागोरस कहता है—No man is free, who cannot command himself जो व्यक्ति अपने आप पर नियन्त्रण नही कर सकता है, वह स्वतन्त्र नहीं हो सकता। अपने आप पर शासन करने की शक्ति बिना ब्रह्मचर्य के नही आ सकती। भारतीय सस्कृति मे शील को परम भूषण कहा गया है। आत्मसयम मनुष्य का सर्वोत्कृष्ट सद्गुण है।

ब्रह्मचर्य का अर्थ—स्त्री-पुरुष के संयोग एव सस्पर्श से बचने तक ही सीमित नही है। वस्तुत. आत्मा को अशुद्ध करने वाले विषय-विकारो एव समस्त वासनाओं से मुक्त होना ही ब्रह्मचर्य का मौलिक अर्थ है। आत्मा की शुद्ध परिणति का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य आत्मा की निर्धूम ज्योति है। अत. मन, वचन एव कर्म मे वासना का उन्मूलन करना ही ब्रह्मचर्य है।[1]

स्त्री-सस्पर्श एवं सहवास का परित्याग ब्रह्मचर्य के अर्थ को पूर्णतः स्पष्ट नहीं करता। एक व्यक्ति स्त्री का स्पर्श नही करता और उसके साथ सहवास भी नहीं करता, परन्तु विकारो से ग्रस्त है। रात-दिन विषय-वासना के बीहड़ वनो मे मारा-मारा फिरता है, तो उसे हम ब्रह्मचारी नही कह सकते। और, किसी विशेष परिस्थिति मे निर्विकार-भाव से स्त्री को छू लेने मात्र से ब्रह्म-साधना नष्ट हो जाती है, ऐसा कहना भी भूल होगी। गांधीजी ने एक जगह लिखा है—"ब्रह्मचारी रहने का यह अर्थ नही है कि मैं किसी स्त्री का स्पर्श न करूँ, अपनी बहन का स्पर्श भी न करूँ। ब्रह्मचारी होने का अर्थ है कि स्त्री का स्पर्श करने से

---

1. To attain to perfect purity one has to become absolutely passion-free in thought, speech and action.

—*Gandhi (My Experiment with Truth)*

मेरे मन में किसी प्रकार का विकार उत्पन्न न हो, जिस तरह कि कागज को स्पर्श करने से नही होता।" अन्तर्मन की निर्विकार दशा को ही वस्तुत: ब्रह्मचर्य कहा गया है।

जैनागमों मे ही साधु-साध्वी को आपत्ति के समय आवश्यकता पड़ने पर एक-दूसरे का स्पर्श करने का आदेश दिया गया है। साधु सरिता के प्रवाह मे प्रवहमान साध्वी को अपनी बाहुओं में उठाकर बाहर ला सकता है। असाध्य बीमारी के समय, यदि अन्य साधु-साध्वी सेवा करने योग्य न हो, तो साधु भ्रातृ-भाव से साध्वी की और साध्वी भगिनी-भाव से साधु की परिचर्या कर सकती है। आवश्यक होने पर एक-दूसरे को उठा-बैठा भी सकते हैं। फिर भी उनका ब्रह्मचर्य-व्रत भग नही होता। परन्तु यदि परस्पर सेवा करते समय भ्रातृत्व एव भगिनी-भाव की निर्विकार सीमा का उल्लघन हो जाता है, मन-मस्तिष्क के किसी भी कोने मे वासना का बीज मुकुलित हो उठता है, तो उनकी ब्रह्म-साधना दूषित हो जाती है। ऐसी स्थिति मे वे प्रायश्चित्त के अधिकारी बताए गए हैं। विकार की स्थिति मे ब्रह्मचर्य की विशुद्ध साधना कथमपि सम्भवित नही रहती।

इससे स्पष्ट होता है कि आगम में साधु-साध्वी को उच्छृंखल रूप से परस्पर या अन्य स्त्री-पुरुष का स्पर्श करने का निषेध है। क्योंकि उच्छृङ्खल भाव से सुषुप्त वासना के जागृत होने की सम्भावना है, और वासना का उदय होना साधना का दोष है। अतः वासना का त्याग एव वासना को उद्दीप्त करने वाले साधनो का परित्याग ही ब्रह्मचर्य है। वासना, विकार एव विषयेच्छा आत्मा के शुद्ध भावो की विनाशक है। अत जिस समय आत्मा के परिणामों मे मलिनता आती है, उस समय ब्रह्म-ज्योति स्वत ही धूमिल पड जाती है।

'ब्रह्मचर्य' शब्द भी इसी अर्थ को स्पष्ट करता है। ब्रह्मचर्य शब्द का निर्माण—'ब्रह्म' और 'चर्य' इन दो शब्दो के सयोग से हुआ है। गांधी जी ने इसका अर्थ किया है—'ब्रह्मचर्य अर्थात् ब्रह्म की, सत्य की शोध मे चर्या अर्थात् तत्सम्बन्धी आचार।' ब्रह्म का अर्थ है—आत्मा का शुद्ध-भाव और चर्या का अभिप्राय है—चलना, गति करना या आचरण करना। शुद्ध-भाव कहिए, या परमात्म-भाव कहिए, या सत्य-साधना कहिए—बात एक ही है। सब का ध्येय यही है, कि आत्मा को विकारी भावों से हटाकर शुद्धपरिणति मे केन्द्रित करना। आत्मा की शुद्ध परिणत ही परमात्म-ज्योति है, परब्रह्म है, अनन्त सत्य की सिद्धि है, और इसे प्राप्त करने की साधना का नाम ही ब्रह्मचर्य है। ब्रह्मचर्य की साधना, सत्य की साधना है, परमात्म-स्वरूप की साधना है। ब्रह्म-व्रत की साधना, वासना के अन्धकार को समूलत विनष्ट करने की साधना है।

भारत के प्राचीन योगी, ऋषि एवं मुनियों ने ब्रह्मचर्य शब्द की व्याख्या करते हुए बताया है कि आठ प्रकार के मैथुन से विरत होना ही ब्रह्मचर्य है। वे आठ मैथुन इस प्रकार हैं[1]—स्मरण, कीर्तन, केलि, प्रेक्षण, गुह्य-भाषण, संकल्प, अध्यवसाय और सम्भोग। इन आठ प्रकार के मैथुन-भाव का परित्याग ही वस्तुत ब्रह्मचर्य शब्द का मौलिक अर्थ है। भारत के विभिन्न धर्मशास्त्रों में ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक को चेतावनी देते हुए कहा गया है कि वत्स! इन आठ प्रकार के मैथुन में से किसी एक का भी सेवन मत करो।

---

१. स्मरणं कीर्तनं केलिः प्रेक्षणं गुह्य-भाषणम्।
संकल्पोऽध्यवसायश्च क्रिया-निवृत्तिरेव च ॥३१॥

काम का जन्म पहले मन मे होता है, फिर वह शरीर मे पल्लवित, पुष्पित और फलित होता है। स्मरण से लेकर और सम्भोग तक मैथुन के जो आठ भेद बतलाए हैं, उनमे मानसिक, वाचिक एव कायिक सभी प्रकार का अ-ब्रह्मचर्य आ जाता है। इस अब्रह्मचर्य से, अपनी वीर्य शक्ति के संरक्षण करने का आदेश और उपदेश समय-समय पर शास्त्रकारो ने दिया है। मनुष्य के मन को विकार और वासना की ओर ले जाने वाले, उसके मनोवेग और इन्द्रियाँ है। मनुष्य जैसा विचार करता है, वैसा ही वह बोलता है और जैसा बोलता है, वैसा ही वह आचरण करता है। अतः विचार, वाणी और आचार पर उसे सयम रखना चाहिए। ब्रह्मचर्य के उपदेश मे एक-एक इन्द्रिय को वश मे करने पर विशेष बल दिया गया है। इन्द्रियो के निग्रह को ब्रह्मचर्य कहा गया है।

ब्रह्मचर्य के लिए भारतीय साहित्य मे इन शब्दो का प्रयोग उपलब्ध होता है—"उपस्थ-सयम, वस्ति-निरोध, मैथुन-विरमण, शील और वासना-जय।" योग-सम्बन्धी ग्रन्थो मे ब्रह्मचर्य का अर्थ इन्द्रिय-संयम किया गया है। अथर्ववेद मे वेद को भी ब्रह्म कहा गया है। अत॰ वेद के अध्ययन के लिए आचरणीय कर्म, ब्रह्मचर्य है। ब्रह्म का अर्थ परमात्वभाव किया जाता है। उस परमात्मभाव के लिए जो अनुष्ठान एव साधना की जाती है, वह ब्रह्मचर्य है। बौद्ध पिटको मे ब्रह्मचर्य शब्द तीन अर्थों मे प्रयुक्त हुआ है। दीघनिकाय के 'महापरिनिव्वाण सुत्त' मे ब्रह्मचर्य शब्द का प्रयोग—बुद्ध प्रतिपादित धर्म-मार्ग के अर्थ मे हुआ है। दीघनिकाय के पोट्ठपाद मे ब्रह्मचर्य का अर्थ है—बौद्ध धर्म मे निवास। विशुद्धि-मार्ग के प्रथम भाग मे ब्रह्मचर्य का अर्थ वह धर्म है, जिससे निर्वाण की प्राप्ति हो।

जैनदृष्टि में ब्रह्मचर्य :

जैन-दर्शन मे ब्रह्मचर्य शब्द के लिए मैथुन-विरमण और शील शब्द का प्रयोग विशेष रूप से उपलब्ध होता है। 'सूत्रकृताग सूत्र' की आचार्य शीलाङ्क कृत संस्कृत टीका में, ब्रह्मचर्य की व्याख्या इस प्रकार से की गई है—"जिसमे सत्य, तप, भूत-दया और इन्द्रिय निरोध रूप ब्रह्म की चर्या– अनुष्ठान हो, वह ब्रह्मचर्य है।" वाचक उमास्वाति के 'तत्त्वार्थ सूत्र' ९-६ भाष्य मे गुरुकुल-वास को ब्रह्मचर्य कहा गया है। ब्रह्मचर्य का उद्देश्य बताया है कि व्रत-परिपालन, ज्ञानवृद्धि और कषाय-जय। भाष्य मे मैथुन शब्द की व्युत्पत्ति इस प्रकार की है—स्त्री और पुरुष का युगल मिथुन कहलाता है।

गीता मे कहा गया है कि जो साधक परमात्वभाव को अधिगत करना चाहता है, उसे ब्रह्मचर्य-व्रत का पालन करना चाहिए। बिना इसके परमात्व-भाव की साधना नही की जा सकती है। क्योंकि विषयासक्त मनुष्य का मन बाहर मे इन्द्रियजन्य भोगों के जगल में ही भटकता रहता है, वह अन्दर की ओर नही जाता। अन्तर्मुख मन ही ब्रह्मचर्य का साधक हो सकता है। विषयोन्मुख मन सदा चञ्चल बना रहता है।

ब्रह्मचर्य की परिधि :

भारतीय धर्म और संस्कृति मे, साधना के अनेक मार्ग विहित किए गए हैं, किन्तु सर्वाधिक श्रेष्ठ और सबसे अधिक प्रखर साधना का मार्ग, ब्रह्मचर्य की साधना है। 'ब्रह्मचर्य' शब्द मे जो शक्ति, जो बल, और जो पराक्रम निहित है, वह भाषाशास्त्र के किसी अन्य शब्द

मे नही है। वीर्य-रक्षा ब्रह्मचर्य का एक स्थूल रूप है। ब्रह्मचर्य, वीर्य-रक्षा से भी अ
कही गम्भीर एव व्यापक है। भारतीय धर्मशास्त्रो मे ब्रह्मचर्य के तीन भेद किए गए हैं
कायिक, वाचिक और मानसिक। इन तीनो प्रकारो मे मुख्यता मानसिक ब्रह्मचर्य की
यदि मन मे ब्रह्मचर्य नही है, तो वह वचन मे एव शरीर मे कहाँ से आएगा।
व्यक्ति अपने मन को सयमित नही रख सकता, वह कभी भी ब्रह्मचर्य की साधना मे स
नही हो सकता। ब्रह्मचर्य की साधना एक वह साधना है, जो अन्तर्मन मे अल्प विकार
आने पर भी खण्डित हो जाती है। महर्षि पतञ्जलि ने अपने 'योग-शास्त्र' मे ब्रह्मचर्य
परिभाषा करते हुए बताया है कि, "ब्रह्मचर्य-प्रतिष्ठायां वीर्य-लाभ"। इसका अर्थ
कि जब साधक के मन मे, वचन में और तन मे, ब्रह्मचर्य प्रति ष्ठित हो जाता है, स्थिर
जाता है, तब उसे वीर्य का लाभ मिलता है, शक्ति की प्राप्ति होती है। ब्रह्मचर्य की महि
प्रदर्शित करने वाले उपर्युक्त योग-सूत्र मे प्रयुक्त वीर्य शब्द की व्याख्या करते हुए, टीकाक
एव भाष्यकारो ने वीर्य का अर्थ, शक्ति एव बल भी किया है। यह ब्रह्मचर्य का तेज
तत्त्व है।

भोजन और ब्रह्मचर्य ·

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए साधक को अपने भोजन पर विचार करना चाहि
भोजन का और ब्रह्मचर्य का परस्पर घनिष्ठ सम्बन्ध है। आयुर्वेद-शास्त्र के अनुसार यह क
गया है कि मनुष्य के विचारो पर उसके भोजन का पर्याप्त प्रभाव पडता है। मनुष्य जै
भोजन करता है, उसी के अनुसार विचार बनते है और जैसे उसके विचार होते हैं, उसी
अनुसार उसका आचरण होता है। लोक मे कहावत है कि—'जैसा आहार, वैसा विचार अ
जैसा अन्न वैसा मन।' इन कहावतो मे जीवन का गहरा तथ्य छुपा हुआ है। मनुष्य
कुछ और जैसा भोजन करता है, उसका मन वैसा ही अच्छा या बुरा बनता है। क्यो
भुक्त भोजन से जीवन के मूलतत्त्व रुधिर की उत्पत्ति होती है और इसमे वे ही गुण आते
जो गुण भोजन में होते है। भोजन हमारे मन और बुद्धि के अच्छे और बुरे होने मे निमि
बनता है। इसी आधार पर भारतीय सस्कृति मे यह कहा गया है कि सात्त्विक गुणो की साध
करने वाले के लिए सात्त्विक भोजन की नितान्त आवश्यकता है। सात्त्विक भोजन हमा
साधना का आधार है।

मनुष्य के जीवन की उन्नति तब होती है, जब वह प्राकृतिक रूप से मिलने व
भोजन से अपने आपको पुष्ट करता रहे। मृदुता, सरलता, सहानुभूति शान्ति और इ
विपरीत उग्रता, क्रोध, कपट एवं घृणा आदि सब मानव-प्रकृति के गुण-दोष प्रायः भोजन
ही निर्भर करते हैं। जो व्यक्ति उत्तेजक भोजन करते हैं, वे सयम से किस तरह रह स
है? राजसी और तामसी आहार करने वाला व्यक्ति यह भूल जाता है कि राजस
तामस उसकी साधना मे प्रतिकूलता ही उत्पन्न करते हैं, क्योंकि भोजन का तथा हम
विचारो का अन्योन्याश्रित सम्बन्ध है। भोजन हमारे सस्कार बनाता है, जिनके द्वारा हम
विचार बनते हैं। यदि भोजन सात्त्विक है, तो मन मे उत्पन्न होने वाले विचार सात्त्विक
पवित्र होंगे। इसके विपरीत, राजस और तामस भोजन करने वालो के विचार अशुद्ध
विलासमय होंगे।

सात्विक भोजन :

जो ताजा, रसयुक्त, हल्का, सुपाच्य, पौष्टिक और मधुर हो। जिससे जीवन-शक्ति, सत्य, बल, आरोग्य, सुख और प्रीति बढती हो, उसे सात्विक भोजन कहा जाता है। सात्विक भोजन से चित्त की और मन की निर्मलता एव एकाग्रता की प्राप्ति होती है।

राजसिक भोजन :

कडवा, खट्टा, अधिक नमकीन, बहुत गरम, तीखा, रूखा, एव जलन पैदा करने वाला, साथ ही दुःख, शोक और रोग उत्पन्न करने वाला भोजन राजसिक होता है। इसका प्रत्यक्ष प्रभाव मन तथा इन्द्रियो पर पडता है।

तामसिक भोजन :

मास, मछली, अण्डे और मदिरा तथा अन्य नशीले पदार्थ तामसिक भोजन मे परिगणित किए जाते हैं। इसके अतिरिक्त अधपका, दुप्पक्व, दुर्गन्धयुक्त और बासी भोजन भी तामसिक मे है। तामसिक भोजन से मनुष्य की विचारशक्ति मन्द हो जाती है। तामसिक भोजन करने वाला व्यक्ति दिन-रात आलस्य मे पडा रहता है। इन तीन प्रकार के भोजनो का वर्णन 'गीता' के सतरहवें अध्याय मे विस्तार से किया गया है। इन तीनो प्रकार के भोजनो मे ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले के लिए सात्विक भोजन ही सर्वश्रेष्ठ बतलाया गया है।

'छान्दोग्य उपनिषद' मे कहा गया है कि आहार की शुद्धि से सत्व की शुद्धि होती है। सत्व की शुद्धि से बुद्धि निर्मल बनती है। स्मृति ताजा बनी रहती है। सात्विक भोजन से चित्त निर्मल हो जाता है, बुद्धि मे स्फूर्ति रहती है।

ब्रह्मचर्य के भेद

मानवमन की वासना, इच्छा या कामना आध्यात्मिक नही, भौतिक शक्ति है। वह स्वतत्र नही है, उसका नियत्रण मनुष्य के हाथ मे है। यदि मनुष्य उसे अपने नियंत्रण से बाहर नही जाने देता है, तो वह इन्सान का कुछ भी बिगाड नही कर सकती। आँखो का काम देखना है और अन्य इन्द्रियो के भी अपने-अपने काम हैं। ब्रह्मचारी की इन्द्रियाँ भी देखने, सुनने, सूँघने, चखने आदि के काम तो करती ही हैं, परन्तु वे उसके नियत्रण से बाहर नही हैं, इसलिए वासना की आग उसका जरा भी बाल बाँका नही कर सकती। परन्तु जब मनुष्य का वासना पर से नियत्रण हट जाता है, वह बिना किसी रोक-टोक के मन और इन्द्रियो को खुला छोड देता है, तो वे अनियत्रित एव उच्छृंखल वासनाएँ उस को तबाह कर देती हैं, पतन के महागर्त मे गिरा देती हैं।

वस्तुत शक्ति, शक्ति ही है। निर्माण या ध्वस की ओर मुडने उसे देर नही लगती। इसलिए यह अनुशासक (Controller) के हाथ मे है कि वह उसका विवेक के साथ उपयोग करे। वह उस शक्ति को नियत्रण से बाहर न होने दे। आवश्यकता पडने पर शक्ति का उपयोग हो सकता है, परन्तु विवेक के साथ। विवेकशील का काम एक कुशल इजीनियर (Expert Engineer) का काम है। उसे अपने काम मे सदा सावधान रहना पडता है और समय एव परिस्थितियो का भी ध्यान रखना पडता है।

मान लो, एक इजीनियर पानी के प्रवाह को रोककर उसकी ताकत का मानव-जाति के हित मे उपयोग करना चाहता है। उसके लिए वह तीनो ओर से मजबूत पहाडियों से आवृत्त स्थान को एक ओर दीवार बनाकर बाँध (Dam) का रूप देता है। वह उसमें

की जा सके। बाँध मे जितने पानी को रखने की क्षमता है, उतने पानी के भरने तक तो बाँध को कोई खतरा नही होता। परन्तु जब उसमे उसकी क्षमता से अधिक पानी भर जाता है, उस समय भी इजीनियर उनके द्वार को खोलकर फालतू पानी को बाहर नही निकालता है, तो वह पानी का प्रबल स्रोत इधर-उधर कही भी बाँध की दीवार को तोड देता है और लक्ष्यहीन बहने वाला उद्दाम जल-प्रवाह मानव-जाति के लिए विनाशकारी प्रलय का दृश्य उपस्थित कर देता है। अत. कोई भी कुशल इजीनियर इतनी बडी भूल नही करता कि जो देश के लिए खतरा पैदा कर दे।

यही स्थिति हमारे मन के बाँध की है वासनाओ के प्रवाह को पूर्णतः नियंत्रण मे रखना, यह साधक का परम कर्त्तव्य है। परन्तु उसे यह अवश्य देखना चाहिए कि उसकी क्षमता कितनी है। यदि वह उन पर पूर्णत नियत्रण कर सकता है और समुद्र-पायी पौराणिक अगस्त्य ऋषि की भाँति, वासना के समुद्र को पीकर पचा सके, तो यह आत्म-विकास के लिए स्वर्ण अवसर है। परन्तु यदि वह वासनाओ पर पूरा नियत्रण करने की क्षमता नही रखता है, फिर भी वह उस प्रचण्ड प्रवाह को बाँधे रखने का असफल प्रयत्न करता है, तो यह उसके जीवन के लिए खतरनाक भी बन सकता है।

भगवान् महावीर ने साधना के दो रूप बताए है—१ वासनाओ पर पूर्ण नियंत्रण और २ वासनाओ का केन्द्रीकरण। या यो कहिए—पूर्ण ब्रह्मचर्य और आशिक ब्रह्मचर्य। जो साधक पूर्ण रूप से वासनाओ पर नियत्रण करने की क्षमता नही रखता है, वह यदि यथावसर वासना के स्रोत को निर्धारित दिशा मे बहने के लिए उसका द्वार खोल देता है, तो कोई भयकर पाप नही करता है। वह उच्छृङ्खल रूप से प्रवहमान वासना के प्रवाह को केन्द्रित करके अपने को भयकर अध पतन से बचा लेता है।

जैन-धर्म की दृष्टि से विवाह वासनाओ का केन्द्रीकरण है। असीम वासनाओ को सीमित करने का मार्ग है। नीतिहीन पाशविक जीवन से मुक्त होकर, नीतियुक्त मानवीय जीवन को स्वीकार करने का साधन है। पूर्ण ब्रह्मचर्य की ओर बढने का कदम है अतः जैन-धर्म मे विवाह के लिए स्थान है, परन्तु पशु-पक्षियो की तरह अनियन्त्रित रूप से भटकने के लिए कोई स्थान नही है। वेश्यागमन और परदार सेवन के लिए कोई छूट नही है। जैन-धर्म वासना को केन्द्रित एव मर्यादित करने की बात को स्वीकार करता है और साधक की शक्ति एव अशक्ति को देखते हुए विवाह को अमुक अशो मे उपयुक्त भी मानता है। परन्तु वह वासनाओ को उच्छृङ्खल रूप देने की बात को बिल्कुल उपयुक्त नही मानता। वासना का अनियन्त्रित रूप, जीवन की बर्बादी है, आत्मा का पतन है।

वासना को केन्द्रित करने के लिए प्रत्येक स्त्री-पुरुष (गृहस्थ) के लिए यह आवश्यक है कि वह जिसके साथ विवाह बन्धन मे बँध चुका है या बँध रहा है, उसके अतिरिक्त प्रत्येक स्त्री-पुरुष को वासना की दृष्टि से नही, भ्रातृत्व एवं भगिनीत्व की दृष्टि से देखे। भले ही वह स्त्री या पुरुष किसी के द्वारा गृहीत हो या अगृहीत हो, अर्थात वह विवाहित हो या अविवाहित, विवाहानन्तर परित्यक्त हो या परित्यक्ता, श्रावक एवं श्राविका का उनके साथ पवित्र सम्बन्ध रहता है। वह कभी भी उन्हे अपवित्र दृष्टि से नही देखता।

श्रावक-श्राविका के लिए यह भी आवश्यक है कि वह स्पर्श-इन्द्रियजन्य वासना पर ही नही, प्रत्युत अन्य इन्द्रियो पर भी नियत्रण रखे। उन्हे ऐसे पदार्थों को नही खाना चाहिए, जो वासना की आग को प्रज्वलित करने वाले है। उनका खाना स्वाद के लिए नहीं बल्कि साधना के लिए शरीर को स्वस्थ रखने के हेतु है। इसलिए उन्हे खाना खाते समय सदा मादक वस्तुओ मे, अधिक मिर्च मसालेदार पदार्थों से, तामस पदार्थों से एव प्रकाम भोजन से बचना चाहिए। उनकी खुराक नियमित होनी चाहिए और उन्हें पशु-पक्षी की तरह जब चाहा तब नही, प्रत्युत नियत समय का ध्यान रखना चाहिए। इससे स्वास्थ्य भी नही बिगडता और विकार भी कम जागृत होते है।

खाने की तरह सुनने, देखने एव बोलने पर भी सयम रखना आवश्यक है। उन्हे ऐसे शृङ्गारिक एव अश्लील गीत न गाना चाहिए और न सुनना चाहिए जिससे सुपुप्त वासना जागृत होती हो। उन्हे अश्लील एव असभ्य हँसी-मजाक मे भी बचना चाहिए। उन्हे न तो अश्लील सिनेमा एव नाटक देखना चाहिए और न ऐसे भद्दे एव गन्दे उपन्यासो एव कहानियो को पढने मे समय बर्बाद करना चाहिए।

अश्लील गीत, असभ्य हँसी-मजाक, शृङ्गारिक सिने-चित्र और गन्दे उपन्यास देश, समाज एवं धर्म के भावी कर्णधार बनने वाले युवक-युवतियों के हृदय मे वासना की आग भडकाने वाले हैं। कुलीनता और शिष्टता के लिए खुली चुनौती हैं और समग्र सामाजिक वायुमण्डल को विषाक्त बनाने वाले हैं। अतः प्रत्येक सद्गृहस्थ का यह परम कर्त्तव्य है कि वह इस सक्रामक रोग से अवश्य ही बचकर रहे।

विवाह और ब्रह्मचर्य :

विवाह वासना को नियन्त्रित करने का एक साधन है। यह एक मलहम (Ointment) है। और मलहम का उपयोग उसी समय किया जाता है, जब शरीर के किसी अंग-प्रत्यंग पर जख्म हो गया हो। परन्तु घाव के भरने के बाद कोई भी समझदार व्यक्ति शरीर पर मलहम लगाकर पट्टी नहीं बांधता, क्योंकि मलहम सुख का साधन नही बल्कि रोग को शान्त करने का उपाय है। इसी तरह विवाह वासना के उद्दाम वेग को रोकने के लिए, विकारों के रोग को क्षणिक-उपशान्त करने के लिए है, न कि उसे बढाने के लिए। अत. दाम्पत्य जीवन भी अमर्यादित नही, मर्यादित होना चाहिए। उन्हे सदा भोगो मे आसक्त नही रहना चाहिए। अस्तु दाम्पत्य जीवन मे भी परस्पर ऐसी मर्यादाहीन क्रीडा नहीं करनी चाहिए, जिससे वासना को भडकने का प्रोत्साहन मिलता हो। अत. श्रावक को भगवत्स्मरण करते हुए नियत समय पर सोना चाहिए, नियत समय पर ही उठना चाहिए और विवेक को न ही भूलना चाहिए।

विवाह शब्द का क्या अर्थ है? यह संस्कृत भाषा का शब्द है। 'वि' का अर्थ है—विशेष रूप से और 'वाह' का अर्थ है—वहन करना या ढोना। तो विशेष रूप से एक-दूसरे के उत्तरदायित्व को वहन करना, उसकी रक्षा करना, विवाह कहलाता है। स्त्री, पुरुष के जीवन के सुख-दुःख एव दायित्व को वहन करने की कोशिश करे और पुरुष, स्त्री के सुख-दुःख को एव जवाब-देही को वहन करने की कोशिश करे।

केवल वहन करना ही नहीं है, किन्तु विशेष रूप से वहन करना है, उठाना है, निभाना है और अपने उत्तरदायित्व को पूरा करना है। इतना ही नही, अपने जीवन की आहुति देकर भी उसे वहन करना है।

जैन-धर्म की दृष्टि मे विवाह जीवन का केन्द्रीकरण है असीम वासनाओ को सीमित करने का मार्ग है, पूर्ण संयम की ओर अग्रसर होने का कदम है और पाशविक जीवन से निकल कर नीतिपूर्ण मर्यादित मानव-जीवन को अगीकार करने का साधन है। जैनधर्म मे विवाह के लिए जगह है, परन्तु पशु-पक्षियो की तरह भटकने के लिए जगह नही है। वेश्यागमन और पर-दार-सेवन के लिए कोई जगह नही है और इस रूप मे जैनधर्म जन-चेतना के समक्ष एक महान् आदर्श उपस्थित करता है।

ब्रह्मचर्य की साधना :

ब्रह्मचर्य जीवन की साधना है, अमरत्व की साधना है। महापुरुषों ने कहा है—ब्रह्मचर्य जीवन है, वासना मृत्यु है। ब्रह्मचर्य अमृत है, वासना विष है। ब्रह्मचर्य अनन्त शान्ति है, अनुपम सुख है। वासना अशांति एव दुःख का अथाह सागर है। ब्रह्मचर्य शुद्ध ज्योति है, वासना कालिमा। ब्रह्मचर्य ज्ञान-विज्ञान है, वासना भ्रान्ति एव अज्ञान। ब्रह्मचर्य अजेय शक्ति है, अनन्त बल है वासना जीवन की दुर्बलता, कायरता एव नपुंसकता।

ब्रह्मचर्य, शरीर की मूलशक्ति है। जीवन का ओज है। जीवन का तेज है। ब्रह्मचर्य सर्वप्रथम शरीर को सशक्त बनाता है। वह हमारे मन को मजबूत एव स्थिर बनाता है। हमारे जीवन को सहिष्णु एव सक्षम बनाता है। क्योंकि आध्यात्मिक साधना के लिए शरीर का सक्षम एव स्वस्थ होना आवश्यक है। वस्तुतः मानसिक एवं शारीरिक क्षमता आध्यात्मिक साधना की पूर्व भूमिका है। जिस व्यक्ति के मन मे अपने आपको एकाग्र करने की, विचारो को स्थिर करने की तथा शरीर मे कष्टो एव परीषहो को सहने की क्षमता नही है, आपत्तियो की सतप्त दुपहरी मे हँसते हुए आगे बढने का साहस नही है, वह आत्मा की शुद्ध ज्योति का साक्षात्कार नही कर सकता। भारतीय संस्कृति का यह वज्र आघोष रहा है कि—"जिस शरीर मे बल नही है, शक्ति नही है, क्षमता नही है, उसे आत्मा का दर्शन नही होता।"[1] सबल शरीर में ही सबल आत्मा का निवास होता है। इसका तात्पर्य इतना ही है कि परीषहो की आंधी मे भी मेरु के समान स्थिर रहने वाला सहिष्णु व्यक्ति ही आत्मा के यथार्थ स्वरूप को पहचान सकता है। परन्तु कष्टों मे डरकर पथ-भ्रष्ट होने वाला कायर व्यक्ति आत्मदर्शन नही कर सकता।

ब्रह्मचर्य के आधार-बिन्दु

ब्रह्मचर्य की साधना के लिए और उसकी परिपूर्णता के लिए शास्त्रकारों ने कुछ साधन एव उपायो का वर्णन किया है, जिनके अभ्यास से साधारण से साधारण साधक भी ब्रह्मचर्य का पालन आसानी से कर सकता है यद्यपि ब्रह्मचर्य की साधना मे बड़े-बड़े योगी, ध्यानी और तपस्वी भी कभी-कभी विचलित हो जाते हैं। इस प्रकार के एक नही, अनेक उदाहरण शास्त्रों मे आज भी उपलब्ध होते हैं, फिर भी साधक को हताश और निराश होने

1. नायमात्मा बलहीनेन लभ्य.—मुण्डकोपनिषद्, ३।२।४।

की आवश्यकता नही है। जो मनुष्य भूल कर सकता है, वह अपना सुधार भी कर सकता है। जो मनुष्य पतन के मार्ग पर चला है, वह उत्थान के मार्ग की ओर भी चल सकता है। जो मनुष्य आज दुर्बल है, कल वह सबल भी हो सकता है। मनुष्य के जीवन का पतन तभी होता है, जब वह अपने अन्दर के आध्यात्म भाव को भूलकर, बाहर के लुभावने एवं क्षणिक भोगविलास में फंस जाता है। विषयासक्त मनुष्य किसी भी प्रकार की आध्यात्म-साधना को करने मे सफल नही होता, क्योंकि उसके मानस मे वासनाओ, कामनाओं और विभिन्न विकल्पनाओं का ताण्डव नृत्य होता रहता है। जो व्यक्ति नाना प्रकार के विकल्प और विकारो मे फँसा रहता है, वह ब्रह्मचर्य तो क्या, किसी भी साधना मे सफल नही हो सकता।

समाधि · नव वाड़ :

ब्रह्मचर्य की साधना की सफलता के लिए भगवान् महावीर ने दस प्रकार की समाधि और ब्रह्मचर्य की नव वाड़ो का उपदेश दिया है, जिसका आचरण करके ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना करने वाला साधक अपने उद्देश्य मे सफल हो सकता है। ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए जिन उपायो एवं साधनो को परम प्रभु भगवान् महावीर ने समाधि और गुप्ति कहा है, लोक-भाषा मे उन्ही को वाड़ कहा जाता है। जिस प्रकार किसान अपने खेत की रक्षा के लिए अथवा बागवान अपने बाग से नन्हे-नन्हे पौधो की रक्षा के लिए उनके चारो ओर कांटों की वाड लगा देता है, जिससे कि कोई पशु उस खेत और पौधों को किसी प्रकार की हानि न पहुँचा सके। साधना के क्षेत्र मे भी प्रारम्भिक ब्रह्मचर्य रूप बाल-पौधे की रक्षा के लिए, वाड़ की नितान्त आवश्यकता है। भगवान् महावीर ने 'स्थानाङ्ग सूत्र' मे समाधि, गुप्ति और वाडों का कथन किया है। उत्तरकालीन आचार्यों ने भी अपने-अपने ग्रन्थों मे ब्रह्मचर्य की रक्षा के इन उपायों का विविध प्रकार मे उल्लेख किया है, जिसे पढकर साधक ब्रह्मचर्य की साधना मे सफल हो सकता है और अपने मन के विकारो पर विजय प्राप्त कर सकता है।

स्थानाङ्ग सूत्र

१. ब्रह्मचारी स्त्री[1] से विविक्त शयन एवं आसन का सेवन करने वाला हो। स्त्री, पशु एवं नपुंसक से संसक्त स्थान मे न रहे।

२ स्त्री-कथा न करे।

३. किसी भी स्त्री के साथ एक आसन पर न बैठे।

४ स्त्रियों की मनोहर इन्द्रियो का अवलोकन न करे।

५ नित्यप्रति सरस भोजन न करे।

६ अति मात्रा मे भोजन न करे।

७ पूर्व-सेवित काम-क्रीडा का स्मरण न करे।

८ शब्दानुपाती और रूपानुपाती न बने।

९. साता और सुख मे प्रतिबद्ध न हो।

---

१ ब्रह्मचर्य के प्रसंग मे यहाँ एवं अन्यत्र जहाँ कहीं पुरुष ब्रह्मचारी के लिए स्त्री-संसर्ग का निषेध किया है, वहाँ स्त्री ब्रह्मचारियों के लिए पुरुष-संसर्ग का भी निषेध है।

उत्तराध्ययन सूत्र .

१ ब्रह्मचारी स्त्री, पशु एव नपु सक-सहित मकान का सेवन न करे।
२ स्त्री-कथा न करे।
३ स्त्री के आसन एव शय्या पर न बैठे।
४ स्त्री के अग एव उपागो का अवलोकन न करे।
५ स्त्री के हास्य एवं विलास के शब्दो को न सुने।
६ पूर्व-सेवित काम-क्रीडा का स्मरण न करे।
७ नित्य प्रति सरस भोजन न करे।
८ अति मात्रा मे भोजन न करे।
९ विभूषा एव शृ गार न करे।
१० शब्द, रूप, गन्ध, रस और स्पर्श का अनुपाती न हो।

अनगार धर्मामृत .

१ ब्रह्मचारी रूप, रस, गन्ध, स्पर्श तथा शब्द के रसो का पान करने की इच्छा न करे।

२ ब्रह्मचारी वह कार्य न करे, जिससे किसी भी प्रकार के लैङ्गिक विकार होने की सम्भावना हो।

३ कामोद्दीपक आहार का सेवन न करे।
४ स्त्री से सेवित शयन एव आसन का उपयोग न करे।
५ स्त्रियो के अगो को न देखे।
६ स्त्री का सत्कार न करे।
७ शरीर का सस्कार (शृंगार) न करे।
८ पूर्वसेवित काम का स्मरण न करे।
९ भविष्य मे काम-क्रीडा करने का न सोचे।
१०. इष्ट रूप आदि विषयो मे मन को ससक्त न करे।

इस प्रकार हम देखते हैं कि मूल आगम और आगमकाल के बाद होने वाले श्वेताम्बर एव दिगम्बर आचार्यों ने अपने-अपने समय मे समाधि, गुप्ति और बाडो का विविध प्रकार से सक्षेप एव विस्तार मे, मूल आगमो का आधार लेकर वर्णन किया है। समाधि का अर्थ है—मन की शान्ति। गुप्ति का अर्थ है—विषयो की ओर जाते हुए मन का गोपन करना, मन का निरोध करना। समाधि और गुप्ति के अर्थ मे ही मध्यकाल के अपभ्रंश साहित्यकारो ने बाड़ शब्द का प्रयोग किया है। अत' तीनो शब्दो का एक ही अर्थ है कि वह उपाय एव साधन जिनसे ब्रह्मचर्य की रक्षा भलीभांति हो सके।

इनके अतिरिक्त ब्रह्मचर्य की रक्षा के लिए शास्त्रकारो ने कुछ अन्य उपाय भी बतलाए है, जिनका सम्यक् परिपालन करने से ब्रह्मचर्य की साधना दुष्कर नही रहती। इन साधनो का अवलम्बन एव सहारा लेकर साधक सरलता के साथ ब्रह्मचर्य की साधना कर सकता है। यद्यपि समाधि, गुप्ति एव बाडो के नियमो मे सभी प्रकार के उपायो का समावेश हो जाता है, तथापि एक अन्य प्रकार से भी ब्रह्मचर्य को स्थिर बनाने के लिए उपदेश दिया गया है जिसे भावना कहा जाता है। यह भावनायोग द्वादश प्रकार का है। उस द्वादश प्रकार के भावना-योग मे ब्रह्मचर्य से सविशेष रूप मे सम्बन्धित अशुचि

भावना का वर्णन मूल आगम मे, उसके बाद आचार्य हेमचन्द्र के 'योगशास्त्र' मे, आचार्य शुभचन्द्र के 'ज्ञानार्णव' मे और स्वामी कार्तिकेय विरचित 'द्वादशानुप्रेक्षा' मे विस्तार के साथ किया गया है। मनुष्य के मन मे जो विचार उठता है, उसी को भावना एव अनुप्रेक्षा कहा जाता है। परन्तु प्रस्तुत मे पारिभाषिक भावना एव अनुप्रेक्षा का अर्थ है—किसी विषय पर पुन.-पुनः चिन्तन करना, मनन करना विचार करना। 'पुन' पुनश्चेतसि निवेशन भावना'। आगम मे शरीर की अशुचि का विचार इसलिए किया गया है, कि मनुष्य के मन मे अपने रूप और सौन्दर्य पर आसक्ति-भाव न हो। क्योकि शरीर ही ममता एव आसक्ति का सबसे बड़ा केन्द्र है। मनुष्य जब किसी सुन्दर नारी के मोहक रूप एव सौन्दर्य को देखता है, तब वह मुग्ध होकर अपने अध्यात्म-भाव को भूल जाता है। इसी प्रकार नारी भी किसी पुरुष के सौन्दर्य को देखकर मुग्ध बन जाती है। फलत. दोनो के मन मे काम-राग की उत्पत्ति हो जाती है। इस स्थिति मे ब्रह्मचर्य का परिपालन कैसे किया जा सकता है? अस्तु, अपने एव दूसरो के शरीर की आसक्ति एव व्यामोह को दूर करने के लिए ही शास्त्रकारो ने अशुचि भावना का उपदेश दिया है।

द्वादशानुप्रेक्षा :

स्वामी कार्तिकेय ने अशुचि-भावना का वर्णन करते हुए लिखा है कि—हे साधक! तू देह पर आसक्ति क्यो करता है? जरा इस शरीर के अन्दर के रूप को तो देख, इसमे क्या कुछ भरा हुआ है। इसमे मल-मूत्र, हाड-मांस और दुर्गन्ध के अतिरिक्त रखा भी क्या है? चर्म का पर्दा हटते ही इसकी वास्तविकता तेरे सामने आ जाएगी। इस शरीर पर चन्दन एव कपूर आदि सुगन्धित द्रव्य लगाने मे वे स्वय भी दुर्गन्धित हो जाते हैं। जो कुछ सरस एव मधुर पदार्थ मनुष्य खाता है, वह सब कुछ शरीर के अन्दर पहुँचकर मलरूप मे परिणत हो जाता है। और तो क्या, इस शरीर पर पहना जाने वाला वस्त्र भी इसके सयोग से मलिन हो जाता है। हे भव्य! जो शरीर इस प्रकार अपवित्र एव अशुचिपूर्ण है, उस पर तू मोह क्यो करता है, आसक्ति क्यो करता है? तू अपने अज्ञान के कारण ही उस शरीर से स्नेह और प्रेम करता है। यदि इसके अन्दर का सच्चा रूप तेरे सामने आ जाए, तो एक क्षण भी तू इसके पास बैठ नही सकेगा। खेद की बात है कि मनुष्य अपने पवित्र आत्म-भाव को भूलकर, इस अशुचिपूर्ण शरीर पर मोह करता है। यह शरीर तो अशुचि, अपवित्र और दुर्गन्धयुक्त है। इस प्रकार अशुचि भावना के चिन्तन मे साधक के मानस मे त्याग और वैराग्य की भावना प्रबल होती है। इससे रूप की आसक्ति मन्द होती है। जिससे ब्रह्मचर्य के पालन में सहयोग मिलता है।

योगशास्त्र :

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'योगशास्त्र' के चतुर्थ प्रकाश मे द्वादश भावनाओ का बड़ा सुन्दर एव मनोवैज्ञानिक वर्णन किया है। उसमे छठी अशुचि-भावना का वर्णन करते हुए कहा गया है कि—यह शरीर जिसके रूप और सौन्दर्य पर मनुष्य अहंकार एवं आसक्ति करते है, वह वास्तव मे क्या है? वह शरीर रस, रक्त, मांस मेद (चर्बी), अस्थि (हाड), मज्जा, वीर्य, आंत एव मल-मूत्र आदि अशुचि पदार्थों मे परिपूर्ण है। चर्म के पर्दे को हटाकर देखा जाए, तो वह सब कुछ उसमे देखने को मिलेगा। अत. यह शरीर किस प्रकार पवित्र हो सकता

है ? यह तो अशुचि एव मलिन है । इस देह के नव द्वारो से सदा दुर्गन्धित रस झरता रहता है और इस रस से यह शरीर सदा लिप्त रहता है । इस अशुचि शरीर मे और अपवित्र देह मे सुन्दरता और पवित्रता की कल्पना करना, ममता और मोह की विडम्बना मात्र है । इस प्रकार निरन्तर शरीर की अशुचि का चिन्तन करते रहने से मनुष्य के मन मे वैराग्य-भावना तीव्र होती है और काम-ज्वर उपशान्त हो जाता है ।

ज्ञानार्णव

आचार्य शुभचन्द्र ने अपने 'ज्ञानार्णव' मे जिसका दूसरा नाम 'योग-प्रदीप' है, कहा है कि—इस ससार मे विविध प्रकार के जीवो को जो शरीर मिला है, वह स्वभाव से ही गलन और सडन-धर्मी है । अनेक धातु और उपधातुओ से निर्मित है । शुक्र और शोणित से इसकी उत्पत्ति होती है । यह शरीर अस्थि-पजर है । हाड, मांस और चर्बी की दुर्गन्ध इसमे से सदा आती रहती है । भला जिस शरीर मे मल-मूत्र भरा हो, कौन बुद्धिमान उस पर अनुराग करेगा ? इस भौतिक शरीर मे एक भी तो पदार्थ पवित्र और सुन्दर नही जिस पर अनुराग किया जा सके । यह शरीर इतना अपवित्र और अशुचि है कि क्षीर-सागर के पवित्र पय से भी यदि इसे धोया जाए तो उसे भी यह अपवित्र बना देता है । इस भौतिक तन की वास्तविक स्थिति पर जरा विचार तो कीजिए, यदि इस शरीर के बाहरी चर्म को हटा दिया जाए, तो मक्खी, कृमि, काग और गिद्धो से इसकी रक्षा करने मे कोई समर्थ नही हो सकता । यह शरीर अपवित्र ही नही है, बल्कि हजारो-हजार प्रकार के भयकर रोगो का घर भी है । इस शरीर मे भयकर रोग भरे पडे हैं, इसीलिए तो शरीर को व्याधि का मन्दिर कहा जाता है । बुद्धिमान मनुष्य वह है जो अशुचि भावना के चिन्तन और मनन से शरीर की गर्हित एव निन्दनीय स्थिति को देखकर एव जानकर, इसे भोग-वासना मे न लगाकर, परमार्थ-भाव की साधना मे लगाता है । विवेकशील मनुष्य विचार करता है कि इस अपवित्र शरीर की उपलब्धि के प्रारम्भ मे भी दुःख था, अन्त मे भी दुःख होगा और मध्य मे भी यह दुःख रूप ही है । भला जो स्वय दुःख रूप है, वह सुख रूप कैसे हो सकता है ? इस अपवित्र तन मे सुख की आशा रखना मृग-मरीचिका के तुल्य है । इस अशुचि भावना के चिन्तन का फल यह है कि मनुष्य के मानस मे त्याग और वैराग्य के विचार तरगित होने लगते है और वह अपनी वासना पर विजय प्राप्त कर लेता है ।

तत्त्वार्थ-भाष्य

आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' मे ब्रह्मचर्य-व्रत की पांच भावनाओ का बडा सुन्दर वर्णन किया है । उसमे कहा गया है कि ब्रह्मचर्य-व्रत की साधना करने वाले साधक के लिए आवश्यक है कि वह अनुदिन ब्रह्मचर्यव्रत की पाच भावनाओ का चिन्तन और मनन करे । जो साधक प्रतिदिन इन पांच भावनाओ का चिन्तन और मनन करता है, उसकी वासना धीरे-धीरे क्षीण होने लगती है । ब्रह्मचर्य-व्रत की पांच भावनाएँ इस प्रकार है—

१ जिस स्थान में स्त्री, पशु और नपुंसक रहते हों, ऐसे स्थान पर ब्रह्मचारी को नही रहना चाहिए । जिस आसन एव शय्या पर स्त्री बैठी हो अथवा पुरुष बैठा हो, तो दोनों को एक दूसरे के शय्या एव आसन पर नही बैठना चाहिए ।

२. राग-भाव से पुरुष को स्त्री-कथा और स्त्री को पुरुष की कथा नही करनी चाहिए। क्योंकि इससे राग-भाव बढता है।

३. स्त्रियो के मनोहर अग एव उपागो का तथा कटाक्ष और विलासों का अवलोकन नही करना चाहिए। राग-भाव के वशीभूत होकर बार-बार पुरुषो को स्त्रियो की ओर तथा स्त्रियो को पुरुषो की ओर नही देखना चाहिए।

४. पूर्व-सेवित रति-सम्भोग आदि का नहीं स्मरण करना चाहिए और भविष्य के लिए भी इनकी अभिलाषा नही करनी चाहिए।

५ ब्रह्मचर्य-व्रत की भावना करने वाले को, भले ही वह स्त्री हो या पुरुष, प्रणीत (गरिष्ठ), कामोत्तेजक सरस एव मधुर भोजन प्रतिदिन नही करना चाहिए। यह पांच ब्रह्मचर्य-व्रत की भावनाएँ हैं। इनका निरंतर चिन्तन करते रहने स ब्रह्मचर्य स्थिर होता है।

आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत 'तत्त्वार्थ-भाष्य' के नवम अध्याय मे द्वादश भावनाओ का भी अति सुन्दर वर्णन किया है। अशुचि भावना का वर्णन करते हुए कहा है कि—यह शरीर अशुचि एव अपवित्र है। क्योंकि यह शुक्र और शोणित से बना है, जो अपने आप मे स्वय ही अपवित्र हैं। इस शरीर का दूसरा आधार आहार है। आहार भी शरीर के अन्दर पहुँच कर रस एव खल आदि भागो मे परिणत होता है। खल भाग से मल एव मूत्र बनते हैं और रस भाग से रक्त, मांस, मज्जा एव वीर्य आदि बनते हैं। इस अशुचिता के कारण शरीर पवित्र कैसे हो सकता है? शरीर मे जितने भी अशुचि पदार्थ हैं, यह शरीर उन सबका आधार है। कान का मल, आँख का मल, दात का मल और पसीना ये सब शरीर के अन्दर से पैदा होते हैं और बाहर निकलकर भी शरीर को अपवित्र ही करते हैं। जो शरीर अन्दर और बाहर दोनो ओर से अशुचि एव अपवित्र है, उसके क्षणिक रूप और सौन्दर्य पर मुग्ध होना एक प्रकार की विचार-मूढता ही है। इस शरीर का सब कुछ क्षणभगुर है। क्षण-क्षण मे परिवर्तित होने वाला है। मन से कम इस शरीर की चार अवस्थाएँ शास्त्रकारो ने मानी हैं—शैशव, यौवन, प्रौढ और वृद्धत्वभाव। इन चार अवस्थाओ मे कोई-सी भी अवस्था स्थायी नही है। ऋतुकाल मे पिता के वीर्य-बिन्दुओ के और माता के रजकणो के आधान से लेकर, यह शरीर क्रम से अनेक अवस्थाओ मे अनुबद्ध हुआ करता है, जिसका वर्णन शरीर-शास्त्र मे विस्तार के साथ किया गया है। शरीर की इन विभिन्न अवस्थाओं के देखने से और जानने से विचार आता है कि मनुष्य इतने अपवित्र शरीर पर भी आसक्ति और ममता क्यों करता है? अशुचि भावना का चिन्तन मनुष्य को राग से विराग की ओर ले जाता है।

संवेग और वैराग्य .

ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधक के लिए यह आवश्यक है कि वह अपने मन को सदा संवेग और वैराग्य में संलग्न रखे। किन्तु प्रश्न होता है कि मनुष्य के मानस मे संवेग और वैराग्य की भावना को स्थिर कैसे किया जाए? इसके समाधान में आचार्य उमास्वाति ने स्वप्रणीत तत्त्वार्थ-भाष्य के सातवें अध्याय मे वर्णन किया है कि—संवेग और वैराग्य को स्थिर करने के लिए ब्रह्मचर्य के साधक को अपने मानस मे शरीर और जगत् के

स्वभाव का चिन्तन करते रहना चाहिए। जगत् अर्थात् संसार का चिन्तन इस प्रकार करना चाहिए कि यह ससार षड्द्रव्यो का समूह रूप है। द्रव्यो का प्रादुर्भाव और तिरोभाव—उत्पाद और विनाश निरन्तर होता रहता है। ससार का स्वभाव है—बनना और बिगडना। ससार के नाना रूप दृष्टिगोचर होते हैं। उनमे से किसको सत्य मानें! ससार का जो रूप कल था, वह आज नही है और जो आज है, वह कल नही रहेगा। यह विश्व द्रव्य रूप मे स्थिर होते हुए भी पूर्वपर्याय के विनाश और उत्तरपर्याय के उत्पाद से नित्य निरन्तर परिवर्तनशील है। इस ससार मे एक भी पदार्थ ऐसा नही है, जो क्षणभगुर और परिवर्तनशील न हो। जब ससार का एक भी पदार्थ स्थिर और शाश्वत नही है, तब भौतिक तत्त्वो से निर्मित यह देह और उसका रूप स्थिर और शाश्वत कैसे हो सकता है? बाल अवस्था मे जो शरीर सुन्दर लगता है, यौवनकाल मे जो कमनीय लगता है, वही तन वृद्धावस्था में पहुँचकर अरुचिकर, असुन्दर और घृणित बन जाता है। फिर इस तन पर ममता करने मे लाभ भी क्या है? तन की इस ममता से ही वासना का जन्म होता है, जो ब्रह्मचर्य को स्थिर नही रहने देती। अत तन की ममता को दूर करने के लिए साधक को शरीर और ससार के स्वभाव का चिन्तन करना चाहिए।

दुःख-भावना :

आचार्य उमास्वाति ने अपने 'तत्त्वार्थ-भाष्य' मे ब्रह्मचर्य की स्थिरता के लिए दुःख भावना का वर्णन भी किया है। कहा गया है, कि मैथुन-सेवन से कभी सुख प्राप्त नही होता। जैसे खुजली होने पर मनुष्य उसे खुजलाता है, खुजलाते समय कुछ काल के लिए उसे सुखानुभूति अवश्य होती है, किन्तु फिर चिरकाल के लिए उसे दुःख उठाना पडता है। खुजलाने से खाज मे रक्त बहने लगता है और फिर पीडा भी भयकर होने लगती है। इसी प्रकार विषय-सुख के सेवन से क्षण भर के लिए स्पर्शजन्य सुख भले ही प्राप्त हो जाए, किन्तु उस सुख की अपेक्षा व्यभिचार करने मे मनुष्य को दुःख ही अधिक उठाना पड़ता है। यदि परस्त्री गमन रूप अपराध करता हुआ पकडा जाता है, तो समाज और राज्य उसे कठोर से कठोर दण्ड देने का विधान करता है। लोक मे उसका अपवाद और अपयश फैल जाता है। कभी-कभी तो इस प्रकार के अपराधी के हाथ, पैर, कान और इन्द्रिय आदि अवयव का छेदन भी करा दिया जाता है। अब्रह्मचर्य के सेवन से प्राप्त होने वाले ये दुःख तो इसी लोक के हैं, किन्तु परलोक मे तो इनमे भी कही अधिक भयंकर दुःख-पीडा और संत्रास प्राप्त होते हैं। मैथुन व्यभिचार और अब्रह्मचर्य के सेवन मे प्राप्त होने वाले इन दुःखो का चिन्तन करने मे मनुष्य मैथुन से विरत हो जाता है, व्यभिचार का परित्याग कर देता है। आचार्य उमास्वाति ने इसीलिए कहा है कि निरन्तर दोषों का चिन्तन करो। उससे प्राप्त होने वाले दुःख और क्लेशो का विचार करो। इस प्रकार के विचार से और मैथुन के रोग-दर्शन मे वासना शान्त हो जाती है और ब्रह्मचर्य का पालन सुगम हो जाता है।

धर्मशास्त्र और ब्रह्मचर्य

भारतीय संस्कृति मे धर्म को परम मगल कहा गया है। 'धम्मो मगल मुक्किट्ठं'। धर्म को परम मगल कहने का अभिप्राय यही है कि धर्म, मानव जीवन को पतन से उत्थान

की ओर ले जाता है। ह्रास से विकास की ओर ले जाता है। भारतीय संस्कृति के मूल में धर्म इतना रूढ हो चुका है कि भारत का एक साधारण से साधारण नागरिक भी धर्महीन समाज और धर्महीन संस्कृति की कल्पना नही कर सकता। भारतीय धर्मों की किसी भी परम्परा को लें, उनके समस्त सम्प्रदाय और उप-सम्प्रदाय के भवनो की आधार-शिला धर्म ही है। भारतीय ही नहीं, ग्रीक का महान् दार्शनिक तथा सुकरात का योग्यतम शिष्य प्लेटो भी, धर्म को Highest Virtue परम मगल एव परम सद्गुण मानता है। इसका अर्थ यही है कि धर्म से बढकर आत्म-विकास एवं आत्म-कल्याण के लिए अन्य कोई साधन मानव-संस्कृति मे स्वीकृत नही किया गया है। श्रमण-संस्कृति के शान्तिदूत, करुणावतार जन-जन की चेतना के अधिनायक, अहिंसा और अनेकान्त का दिव्य प्रकाश प्रदान करने वाले भगवान् महावीर ने धर्म के सम्बन्ध मे कहा है कि जिस मनुष्य के हृदय मे धर्म का आवास है, उस मनुष्य के चरणों में स्वर्ग के देवता भी नमस्कार करते हैं। 'देवा वि तं नमंसंति, जस्स धम्मे सया मणो'[1]—धर्मशील आत्मा के दिव्य अनुभाव की सत्ता को मानने से इन्कार करने की शक्ति, जगतीतल के किसी भी चेतनाशील प्राणी मे नही है। विश्व के विचारको ने आजतक जो चिन्तन एवं अनुभव किया है, उसका निष्कर्ष उन्होंने यही पाया कि जगत् के इस अभेदमय भेद की, और भेदमय अभेद की स्थापना करने वाला तत्त्व धर्म से बढकर अन्य कुछ नही हो सकता। परन्तु प्रश्न होता है कि वह धर्म क्या है? एक जिज्ञासु सहज भाव से यह प्रश्न कर सकता है कि "कोऽयं धर्मः कुतो धर्मः" अर्थात् वह धर्म क्या है, जिसकी सत्ता और शक्ति से कभी इन्कार नही किया जा सकता? मानव-जीवन के इस दिव्य प्रयोजन से इन्कार करने का अर्थ आत्मघात ही होता है। तथा-भूत धर्म के स्वरूप को समझने के लिए प्रत्येक चेतनाशील व्यक्ति के हृदय में जिज्ञासा उत्पन्न होती है। मानव-मन की उक्त जिज्ञासा के समाधान मे परम प्रभु भगवान् महावीर ने धर्म का स्वरूप बतलाते हुए कहा कि जन-जन मे प्रेम-बुद्धि रखना, जीवन की प्रतिकूल परि-स्थिति में भी अपनी सहिष्णुता का परित्याग न करना तथा अपने मन की उद्दाम वृत्तियो पर अंकुश रखना, यही सबसे बडा धर्म है। इस परम पावन धर्म की अभिव्यक्ति उन्होंने तीन शब्दो मे की—अहिंसा, सयम और तप। "अहिंसा संजमो तवो।" जहाँ जीवन मे स्वार्थ का ताण्डव नृत्य हो रहा है, वहाँ अहिंसा के दिव्यदीप को स्थिर रखने के लिए, संयम आवश्यक है और सयम को विशुद्ध रखने के लिए तप की आवश्यकता है। जीवन मे जब अहिंसा, संयम और तपस्वरूप त्रिपुटी का सयोग मिल जाता है, तब जीवन पावन और पवित्र बन जाता है। अत धर्म मानव-जीवन का एक दिव्य प्रयोजन है।

दर्शनशास्त्र और ब्रह्मचर्य

भारतीय संस्कृति का मूल आधार है—तप, त्याग और सयम। संयम मे जो सौन्दर्य है, वह भौतिक भोग-विलास मे कहाँ है। भारतीय धर्म और दर्शन के अनुसार सच्चा सौन्दर्य तप और त्याग मे ही है। सयम ही यहाँ का जीवन है। 'संयम खलु जीव-नम्।' संयम में से आध्यात्मिक सगीत प्रकट होता है। सयम का अर्थ है—अध्यात्म-शक्ति। संयम एक सार्वभौम वस्तु है। पूर्व और पश्चिम उभय संस्कृतियो मे इसका आदर एव

1. दशवैकालिक सूत्र।

सत्कार है। सयम शील और सदाचार ये जीवन के पवित्र प्रतीक हैं। संयम एवं शील क्या है ? जीवन को सुन्दर बनाने वाला प्रत्येक विचार ही तो सयम एव शील है। असयम की दवा सयम ही हो सकती है। विष की चिकित्सा अमृत ही हो सकता है। भारतीय संस्कृति में कहा गया है कि—"सागरे सर्व-तीर्थानि' संसार के समस्त तीर्थ जिस प्रकार समुद्र मे समाहित हो जाते हैं, उसी प्रकार दुनिया भर के सयम, सदाचार एव शील ब्रह्मचर्य मे अन्तर्निहित हो जाते हैं। एक गुरु अपने शिष्य से कहता है—"यथेच्छसि तथा कुरु" यदि तेरे जीवन मे त्याग, सयम और वैराग्य है, तो फिर तू भले ही कुछ भी कर, कही भी जा, कही पर भी रह, तुझे किसी प्रकार का भय नही है। आचार्य मनु कहते हैं कि—"मन पूतं समाचरेत्" यदि मन पवित्र है, तो फिर जीवन का पतन हो नही सकता। इसलिए जो कुछ भी साधना करनी हो, वह पवित्र मन मे करो। यही ब्रह्मचर्य की साधना है।

सुकरात, प्लेटो और अरस्तू जो अपने युग के महान् दार्शनिक, विचारक और समाज के समालोचक एव सशोधक थे, अपनी ग्रीक-सस्कृति का सारतत्त्व बतलाते हुए उन्होंने भी यही कहा है कि सयम और शील के बिना मानव-जीवन निस्तेज एव निष्प्रभ है। मनुष्य यदि अपने जीवन मे सदाचारी नही हो सकता, तो वह कुछ भी नहीं हो सकता। संयम और सदाचार ही मानव-जीवन के विकास के आधारभूत तत्त्व हैं। प्लेटो ने लिखा है कि मनुष्य-जीवन के तीन विभाग है—Thought (विचार) Desires (इच्छाएँ) और Feelings (भावनाएँ)। मनुष्य अपने मस्तिष्क मे जो कुछ सोचता है, अपने मन मे वह वैसी ही इच्छा करता है और उसकी इच्छाओ के अनुसार ही उसकी भावना बनती है। मनुष्य व्यवहार मे वही करता है, जो कुछ उसके हृदय के अन्दर भावनाएँ उठती है। विचार से आचार प्रभावित होता है और आचार से मनुष्य का विचार भी प्रभावित होता है।

अध्यात्म दृष्टि :

भारतीय धर्म, दर्शन और सस्कृति भौतिक नहीं, आध्यात्मिक है। यहाँ प्रत्येक व्रत, तप, जप और संयम को भौतिक दृष्टि से नही, आध्यात्मिक दृष्टि से आँका जाता है। साधक जब भोग-वाद के दल-दल में फँस जाता है, तो अपनी आत्मा के शुद्ध स्वरूप को वह भूल जाता है। इसलिए भारतीय विचारक, तत्त्व-चिन्तक और सुधारक साधक को बार-बार चेतावनी देते हैं कि आसक्ति, मोह, तृष्णा और वासना के कुचक्रो से बचो। जो व्यक्ति वासना के झझावात से अपने शील की रक्षा नही कर पाता, वह कथमपि अपनी साधना मे सफलता प्राप्त नहीं कर सकता। न जाने कब वासना की तरंग मन मे उठ खडी हो। उस वासना की दूषित तरग के प्रभाव से बचने के लिए सतत् जागरूक और सावधान रहने की आवश्यकता है।

अध्यात्म और ब्रह्मचर्य

कवि कालिदास ने अपने महाकाव्य 'कुमार संभव' मे परमयोगी शंकर के जिस तप का उग्र वर्णन किया है, वह पाठक और श्रोता को निश्चय ही चकित कर देने वाला है। परन्तु अन्त मे महाकवि कालिदास ने यह दिखलाया कि उस योगी का वह योग, और उस तपस्वी का वह तप, गौरी के सौंदर्य को एक बार देखने मात्र से ही विलुप्त हो गया। इस

जीवन-गाथा से यह आभास मिलता है और पाठक यह निर्णय निकाल लेता है कि ब्रह्मचर्य की साधना असम्भव है। मनुष्य इसकी साधना मे सफलता प्राप्त नही कर सकता।

परन्तु महाकवि भारवी ने अपने 'किरातार्जुनीय' महाकाव्य मे अर्जुन के तप और योग का जो विशद वर्णन किया है, वह पाठक को चकित और स्तब्ध कर देने वाला है। महाभारत के युद्ध से पूर्व, शिव का वरदान पाने के लिए अर्जुन जब योग साधना मे लीन हो जाता है, तब उसकी योग-साधना की परीक्षा के लिए अथवा उसे साधना से भ्रष्ट करने के लिए, इन्द्र अनेक सुन्दर अप्सराओ को भेजता है और वे मिलकर, अपने मधुर-संगीत, सुन्दर नृत्य और मादक हाव-भाव मे अर्जुन के साधना-लीन चित्त को विचलित करने का पूरा प्रयत्न करती है, किन्तु उन्हे अपने उस कार्य मे तनिक भी सफलता प्राप्त नही होती। वीर अर्जुन के जीवन की यह घटना ब्रह्मचर्य के साधकों के लिए एक दिव्य आलोक बन गई है। इसका निष्कर्ष यह निकलता है कि ब्रह्मचर्य की साधना करने वालो ने उसे जो असम्भव समझ लिया है, वह असम्भव तो नही, पर कठिनतर एव दुष्कर अवश्य है। ब्रह्मचर्य की साधना को हमारे प्राचीन शास्त्रो मे जो कठिनतर कहा गया है, उसका अर्थ केवल इतना ही है कि ब्रह्मचर्य की साधना प्रारम्भ करते समय, चित्त को विशुद्ध रखने का सतर्कता के साथ पूरा प्रयत्न किया जाना चहिए। यदि कभी चित्त मे जरा भी मलिनता का प्रवेश हो जाता है, असावधानता की कुज्झटिका से ज्ञानदीप का प्रकाश धुंधला हो जाता है, तब यह साधना कठिनतम ही नहीं, अपितु असम्भव भी हो जाती है। अत: इस साधना के मार्ग पर चलने वाले साधक के लिए यह सकेत दिया गया कि वह अपने मन और मस्तिष्क को सदा पवित्र रखे।

बौद्ध-शास्त्रो मे भी ब्रह्मचर्य की साधना के सम्बन्ध मे, अनेक प्रकार के रूपक एव आख्यान उपलब्ध होते हैं, जिनके अध्ययन एव परिशीलन से यह ज्ञात होता है कि बौद्ध साधक इस साधना को कितना महत्त्व देते थे और अपनी साधना की सफलता के लिए कितना सत्यप्रयत्न करते थे। स्वय भगवान् बुद्ध के जीवन की वह घटना हमे कितनी पवित्र प्रेरणा देती है जिसमें यह बतलाया गया है कि जब बुद्ध साधना कर रहे थे, बोधि प्राप्त करने के लिए तप कर रहे थे, उस समय मार (काम) उन्हे साधना मे विचलित करने के लिए मादक तथा रंगीन वातावरण उनके सामने प्रस्तुत करता है। इस सन्दर्भ मे महाकवि अश्वघोष ने अपने 'बुद्ध-चरित' मे वर्णित किया है कि मार ने सुन्दर से सुन्दर अप्सराएँ भेजकर, उनके सगीत-नृत्य और विविध प्रकार के हाव-भावो से बुद्ध के साधना-लीन चित्त को विचलित करने का पूर्ण प्रयत्न किया, किन्तु बुद्ध अपनी साधना मे एक स्थिर योद्धा की भाँति अजेय रहे, अकम्प और अडोल रहे। महाकवि अश्वघोष ने अन्त मे यह भी लिखा कि वासना के इस भयकर युद्ध मे, मार पराजित हुआ और बुद्ध विजेता बने। बौद्ध संस्कृति मे यह बतलाया गया है कि जबतक साधक अपने मन के मार पर विजय प्राप्त नहीं कर लेता है, तबतक वह बुद्ध बनने के योग्य नही है, बुद्ध बनने के लिए मार अर्थात् काम पर विजय प्राप्त करना आवश्यक है।

श्रमण-संस्कृति के ज्योतिर्मय इतिहास मे तो एक नही, अनेक हृदयस्पर्शी जीवन-गाथाओ का अंकन किया गया है, जिनमें ब्रह्मचर्य की साधना के सम्बन्ध में पर्याप्त प्रकाश

डाला गया है। मनुष्य जीवन के लिए प्रेरणाप्रद एवं दिशा-दर्शक रूपक आख्यानो से ब्रह्मचर्य की साधना करने वाले साधको के लिए पवित्र प्रेरणा और बल प्राप्त होता है। मूल आगमो मे 'राजीमती' और 'रथनेमि' का वर्णन आज भी उपलब्ध है। रथनेमि, जो अपने युग का कठोर साधक था, रैवताचल की गुफा के एकान्त स्थान मे राजीमती के अद्भुत सौंदर्य को देख कर मुग्ध हो जाता है, वह अपनी साधना को भूल जाता है और वासना का दास बनकर राजीमती से प्रणय की याचना करने लगता है। परन्तु उस ज्योतिर्मयी नारी ने उसकी इस सयम-भ्रष्टता की भर्त्सना की और कहा कि कोई भी साधक अपनी साधना मे तब तक सफल नही हो सकता, जब तक कि वह अपने मन के विकल्पो को न जीत ले। रूप को देख कर भी जिसके मन मे रूप के प्रति आसक्ति उत्पन्न न हो, वह वस्तुत सच्चा साधक है। काम और वासना पर बिना विजय प्राप्त किए, कोई भी अपनी साधना के अभीष्ट फल को अधिगत नही कर सकता। और तो क्या, भ्रष्ट जीवन की अपेक्षा तो मरण ही श्रेयस्कर है। राजीमती के दिव्य उपदेश को सुनकर रथनेमि पुनः सयम मे स्थिर हो गया।

आचार्य हेमचन्द्र ने अपने 'त्रिषष्टिशलाका पुरुषचरित' मे एक महान् साधक के जीवन का बड़ा ही सुन्दर एव भव्य चित्र अकित किया है। वे महान् साधक थे 'स्थूल भद्र' जिन्होंने अपने जीवन की ज्योति मे ब्रह्मचर्य की साधना को सदा के लिए ज्योतिर्मय बना दिया। दो हजार वर्ष जितना लम्बा एव दीर्घ समय व्यतीत हो जाने पर भी आज तक के साधक, ब्रह्मचर्य व्रत के अमर साधक स्थूलभद्र को भूल नही सके हैं। स्थूलभद्र के जीवन के सम्बन्ध मे आचार्य हेमचन्द्र ने लिखा है कि वे योगियो मे श्रेष्ठ योगी, ध्यानियो मे श्रेष्ठ ध्यानी और तपस्वियों में श्रेष्ठ तपस्वी थे। स्थूलभद्र की इस यशो-गाथा को सुनने के बाद सुनने वाले के दिमाग मे यह प्रश्न उठ सकता है कि आखिर वह क्या साधना थी ? कैसे की गई थी ? और कहाँ की गई थी ? उन्होंने इस बात के लिए दृढ शब्दो में कहा था कि—"मेरी साधना मे जो एक विघ्न था, वह भी भगवान् की इच्छा से स्वत ही दूर हो गया। जब मैं एक बार बन्धन-मुक्त हो गया हूँ, तब फिर दुबारा बन्धन मे क्यो फँसूँ ?" निश्चय ही उनका का जीवन सरल, शान्त, शीतल एव प्रकाशमय था। उनके जीवन के इस सयम के कारण ही, उनकी धारणा-शक्ति अपूर्व बन सकी थी। किसी भी शास्त्र मे उनकी बुद्धि रुकती नही थी। यह बौद्धिक बल उन्हे ब्रह्मचर्य से प्राप्त हुआ था।

स्वामी विवेकानन्द का नाम कौन नही जानता ? विवेकानन्द के जीवन में जो एकाग्रता, एकनिष्ठता और तन्मयता थी, वह किसी दूसरे पुरुष मे देखने को नहीं मिलती। उनकी प्रतिभा एव मेधा-शक्ति के चमत्कार के विषय मे कहा जाता है कि वे जब किसी ग्रन्थ का अध्ययन करने बैठते थे, तब एक आसन पर एक साथ ही अध्याय के अध्याय पढ़ लेते थे और किसी के पूछने पर वे उन्हे ज्यो का त्यो सुना भी देते थे। उनकी स्मरण-शक्ति अद्भुत थी। कोई भी विषय ऐसा नही था, जिसे वे आसानी से न समझ सकते हों। स्वामी विवेकानन्द कहा करते थे कि ब्रह्मचर्य के बल से सारी बातें साधी जा सकती है।

आधुनिक युग के अध्यात्म योगी साधक श्रीमद्रामचन्द से सभी परिचित हैं। उनमे शताधिक अवधान करने की क्षमता एवं योग्यता थी। जिस भाषा का उन्होंने अध्ययन नही किया था, उस भाषा के कठिन से कठिन शब्दो को भी वे आसानी से हृदयगम कर लेते थे। यह उनके ब्रह्मचर्य योग की साधना का ही शुभ परिणाम है। उन्होने ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे अपने एक ग्रन्थ में कहा है कि—

"निरखी ने नव यौवना, लेश न विषय निदान।
गणे काष्ठ नी पूतली, ते भगवंत समान॥"

ब्रह्मचर्य की इससे अधिक परिभाषा एवं व्याख्या नही की जा सकती, जो ब्रह्मचर्य-योगी श्रीमद्रामचन्द ने अपने इस एक दोहे मे करदी है।

ब्रह्मचर्य का प्रभाव

ब्रह्मचर्य के सम्बन्ध मे जैन-धर्म ने और दूसरे धर्मों ने भी एक बहुत महत्वपूर्ण बात कही है। वह यह कि ब्रह्मचर्य आत्मा की आन्तरिक शक्ति होते हुए भी बाह्य पदार्थों मे परिवर्तन कर देने की अद्भुत क्षमता रखता है। वह प्रकृति के भयंकर से भयकर पदार्थों की भयकरता को नष्ट कर उनको आनन्दमय एवं मगलमय बना देता है।

ब्रह्मचर्य की साधना, जीवन की एक कला है। अपने आचार-विचार और व्यवहार को बदलने की साधना है। कला वस्तु को सुन्दर बनाती है, उसके सौन्दर्य मे अभिवृद्धि करती है। और आचार भी यही काम करता है। वह जीवन को सुन्दर, सुन्दरतर और सुन्दरतम बनाता है। जीवन मे शारीरिक सौन्दर्य से, आचरण का सौन्दर्य हजारों-हजार गुणा अच्छा है। श्रेष्ठ आचरण मूर्ति, चित्र एवं अन्य कलाओं की अपेक्षा अधिक आनन्द प्रदाता है।[1] वह केवल अपने जीवन के लिए ही नही, बल्कि अन्य व्यक्तियो के लिए भी आनन्दप्रद होता है। आचरण-हीन व्यक्ति सबके मन मे काँटे की तरह खटकता है और आचार-संपन्न पुरुष सर्वत्र सम्मान पाता है। प्रत्येक व्यक्ति उसके श्रेष्ठ आचरण का अनुकरण करता है। वह अन्य व्यक्तियो के लिए एक आदर्श स्थापित करता है।[2] अतः आचार समस्त कलाओं मे सुन्दरतम कला है।[3]

आचरण जीवन का एक दर्पण है। इसके द्वारा प्रत्येक व्यक्ति के जीवन को देखा-परखा जा सकता है।[4] आचरण व्यक्ति की श्रेष्ठता और निकृष्टता का मापक यन्त्र (Thermometre) है। आचरण की श्रेष्ठता उसके जीवन की उच्चता एवं उसके उच्चतम रहन-सहन तथा व्यवहार को प्रकट करती है। इसके अन्दर कार्य करने वाली मानवता और दानवता का, मनुष्यता और पाशविकता का स्पष्ट परिचय मिलता है। मनुष्य के पास आचार, विचार एव व्यवहार से बढ़कर कोई प्रमाण-पत्र नही है, जो उसके जीवन की सच्चाई

---

1 A beautiful behaviour is better than a beautiful form it gives a higher pleasure than statues and pictures —Emerson
2 यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जन., स यत्प्रमाण कुरुते लोकस्तदनुवर्तते ॥—गीता।
3 Behaviour is the finest of fine art —Emerson.
4. Behaviour is mirror in which every one displays his image. —Goethe

एव यथार्थ स्थिति को खोलकर रख सके। यह एक जीवित प्रमाण-पत्र है, जिसे दुनिया की कोई भी शक्ति झुठला नही सकती।

आचरण की गिरावट, जीवन की गिरावट है, जीवन का पतन है। रूढिवाद के द्वारा माने जाने वाले किसी नीच कुल मे जन्म लेने मात्र से कोई व्यक्ति पतित एवं अपवित्र नही हो जाता है। वस्तुतः पतित वह है, जिसका आचार-विचार निकृष्ट है। इसके भाव, भाषा और कर्म निम्न कोटि के हैं, जो रात-दिन भोगवासना मे डूबा रहता है, वह उच्च कुल मे पैदा होने पर भी नीच है, पामर है। यथार्थ मे चाण्डाल वह है जो सज्जनो को उत्पीडित करता है[1] व्यभिचार मे डूबा रहता है और अनैतिक व्यवसाय करता है या उसे चलाने मे सहयोग देता है।

देश के प्रत्येक युवक और युवती का कर्त्तव्य है कि वह अपने आचार की श्रेष्ठता के लिए "Simple living and high thinking"—सादा जीवन और उच्च विचार का आदर्श अपनाएँ। वस्तुत. सादगी ही जीवन का सर्वश्रेष्ठ अलकार है। क्योकि स्वाभाविक सुन्दरता (Natural beauty) ही महत्त्वपूर्ण है और उसे प्रकट करने के लिए किसी तरह की बाह्य सजावट (Make-up) की आवश्यकता नहीं है। इसका यह अर्थ नहीं है कि शरीर की सफाई एव स्वस्थता के लिए योग्य साधनो का प्रयोग ही न किया जाए। यहाँ शरीर की सफाई के लिए इन्कार नही है, परन्तु इसका तात्पर्य इतना ही है कि वास्तविक सौन्दर्य को दबाकर कृत्रिमता को उभारने के लिए विलासी प्रसाधनो का उपयोग करना निषिद्ध है। इससे जीवन मे विलासिता बढती है और काम-वासना को उद्दीप्त होने का अवसर मिलता है। अत. सामाजिक व्यक्ति को अपने यथाप्राप्त रूप को कुरूप करके वास्तविक सौन्दर्य को छिपाने की आवश्यकता नही है, परन्तु उसे कृत्रिम बनाने का प्रयत्न न करे। उसे कृत्रिम साधनो से चमकाने के लिए समय एव शक्ति की बर्बादी करना मूर्खता है। हमारा बाहरी जीवन सादा और आन्तरिक जीवन सद्गुणो एव सद्विचारो से सम्पन्न होना चाहिए।[2]

सौन्दर्य आत्मा का गुण है। उसे चमकाने के लिए आत्म-शक्ति को बढ़ाने का प्रयत्न करें। अपने आप पर नियन्त्रण रखना सीखें। वासनाओ के प्रवाह मे न बह कर, उन्हें नियन्त्रित करने की कला सीखें। यही कला जीवन को बनाने की कला है। और इसी का नाम आचार है, चरित्र (Character) है और नैतिक शक्ति (Moral Power) है। इसका विकास आत्मा का विकास है, जीवन का विकास है।

ब्रह्मचर्य की महिमा का गान समस्त शास्त्रो ने एक स्वर से किया है।

"देव-दाणव गन्धव्वा, जक्ख-रक्खस-किन्नरा।
बम्भयारिं नमंसन्ति, दुक्करं जे करेन्ति तं॥"

—उत्तराध्ययन सूत्र, १६

---

१. जे अहिहवन्ति साहूं, ते पावा ते अ चाण्डाला। —मृच्छकटिक, १०, २२।

2. Let our life be simple in its outer aspect and rich in its inner gain
— Ravindra Nath Tagore.

—जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, समस्त दैवी शक्तियाँ उनके चरणो मे सिर झुका कर खडी हो जाती हैं। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ब्रह्मचारी के चरणो मे समक्तिभाव नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य सयम का मूल है। परब्रह्म्—मोक्ष का एकमात्र कारण है। ब्रह्मचर्य पालन करने वाला, पूज्यो का भी पूज्य है। सुर, असुर एव नर—सभी का वह पूज्य होता है, जो विशुद्ध मन से ब्रह्मचर्य की साधना करता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य स्वस्थ, प्रसन्न और सम्पन्न रहता है। ब्रह्मचर्य की साधना से मनुष्य का जीवन तेजस्वी और ओजस्वी वन जाता है।

३५

अपरिग्रह

जड वस्तुओ के अधिक सग्रह से मनुष्य की आत्मा दब जाती है और उसका विकास का मार्ग अवरुद्ध हो जाता है। अत. आत्मविकास के लिए अपरिग्रह की विशेष आवश्यकता होती है।

उत्तराध्ययन सूत्र के चौथे अध्ययन मे भगवान् महावीर ने कहा है कि—"हे प्रमादी जीव! इस लोक या परलोक मे धन शरण देने वाला नही है। अन्धकार मे जैसे दीपक बुझ जाए, तो देखा हुआ मार्ग भी बिन देखे जैसा हो जाता है, वैसे ही पौद्गलिक वस्तुओं के मोहान्धकार मे न्याय मार्ग का देखना और न देखना दोनो ही समान हो जाते हैं। ममत्ववृत्ति के त्याग से ही धर्म-मार्ग का आचरण किया जा सकता है।"[1]

संग्रहखोरी, संचयवृत्ति या पूँजीवाद आज के सभी पापो के जनक हैं। कीट से लेकर राजा तक सभी आज सग्रह करने मे ही मग्न हैं। मनुष्य चाहे जितने छोटे-बडे व्रत-नियम करें, पर सग्रहवृत्ति पर नियन्त्रण न रखें, तो वे सच्चे अर्थों में अपना विकास नही कर सकेंगे।

शंकराचार्य ने ठीक ही कहा है कि 'अर्थमनर्थं भावय नित्यम्'। अर्थ वस्तुत अनर्थ ही है। शास्त्रकारो ने 'अर्थ' के इतने अधिक अनर्थ बताए हैं, फिर भी इस अर्थप्रधान युग मे पैसो को ही प्राण समझा जा रहा है। अपना कोई प्रियजन मर जाय, तो उसका दुःख छह महीने बाद भुला दिया जाता है, परन्तु पैसो का नुकसान होता है, तो उसका दुःख

---

१. वित्तेण ताणं न लभे पमत्ते, इमम्मि लोए अदुवा परत्था।
दीवप्पणट्ठेव अणंत मोहे, नेयाउयं दट्ठु-मदट्ठुमेव॥—उत्तराध्ययन सूत्र, ४

—जो महान् आत्मा दुष्कर ब्रह्मचर्य का पालन करते हैं, समस्त दैवी शक्तियाँ उनके चरणो में सिर झुका कर खडी हो जाती हैं। देव, दानव, गंधर्व, यक्ष, राक्षस और किन्नर ब्रह्मचारी के चरणों मे समक्तिभाव नमस्कार करते हैं।

ब्रह्मचर्य सयम का मूल है। परब्रह्म—मोक्ष का एकमात्र कारण है। ब्रह्मचर्य पालन करने वाला, पूज्यो का भी पूज्य है। सुर, असुर एव नर—सभी का वह पूज्य होता है, जो विशुद्ध मन से ब्रह्मचर्य की साधना करता है। ब्रह्मचर्य के प्रभाव से मनुष्य स्वस्थ, प्रसन्न और सम्पन्न रहता है। ब्रह्मचर्य की साधना से मनुष्य का जीवन तेजस्वी और ओजस्वी वन जाता है।

पालन करना लाभदायी होता है। उनके अभाव मे इनका पालन करना, मूल को छोडकर पत्तो को पानी पिलाने का प्रयत्न करना जैसा है। अतः मनुष्य को मूल व्रतो की तरफ पहले ध्यान देना चाहिए।

प्राणिमात्र के सरक्षक भगवान् महावीर ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नही बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है।

पूर्ण-सयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहो का त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते हैं, वे सब एकमात्र सयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं—काम मे लाते हैं। इनके रखने मे किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नही है।

ज्ञानी पुरुष, सयम-साधक उपकरणो के लेने और रखने मे कही भी किसी प्रकार का ममत्व नही करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नहीं रखते। सच्चे अर्थ मे अपरिग्रह की यही बहुत बडी मर्यादा है।

अपरिग्रह-के सदर्भ मे भी यही बातें आएँगी। दर्शन शास्त्र के आचार्यो मे पूछा कि परिग्रह क्या है? तो उन्होंने बताया—"मूर्च्छा परिग्रह" मन की ममता, आसक्ति ही परिग्रह है। वस्तु का त्याग अपरिग्रह नही हो सकता, मोह या आसक्ति का त्याग अपरिग्रह है।

प्रश्न हो सकता है कि वस्तु का छोडना क्या है? आप कहते हैं मैंने कपडे का त्याग कर दिया, धन का त्याग कर दिया, मकान का त्याग कर दिया, किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या वह कपडा आपका था? वह धन और मकान आपका था? आप चैतन्य है, वह वस्तु जड है, जड और चैतन्य का क्या सम्बन्ध? गधे और घोडे का क्या रिश्ता, क्या नातेदारी? जड पर चेतन का कोई अधिकार नहीं, और चेतन पर जड का कोई अधिकार नही, फिर यह त्याग किसका?

आपका अपना क्या है? ज्ञानमय आत्मा अपना है, अखण्ड चैतन्य अपना है? इसका त्याग हो नही सकता। और, वस्तु का तो त्याग, वास्तव मे त्याग है ही नहीं। तो प्रश्न यह है कि फिर त्याग का, अपरिग्रह का क्या मतलब हुआ? इसका अर्थ है कि वस्तु के प्रति जो ममता बुद्धि है, राग है, मूर्छा है, उसका त्याग आप कर सकते हैं और यही वास्तव मे त्याग है, अपरिग्रह है। ममता हट जाने पर, राग बुद्धि मिट जाने पर शरीर रहते हुए भी अपरिग्रही अवस्था है, देह होते हुए भी देहातीत अवस्था है, श्री मद्राजचन्द्र के शब्दो मे—"देह छता जेहनी दशा, वरतं देहातीत।" देह के होते हुए भी इसके प्रति निष्काम और निर्विकल्प अवस्था जब प्राप्त हो जाती है, तब सम्पूर्ण अपरिग्रह की साधना होती है।

* * * *

सारी जिन्दगी तक मनुष्य भूलता नही है। मनुष्य की आज धन के लिए जितनी प्रवल आकांक्षा है, उतनी अन्य किसी के लिए प्रतीत नही होती है।

सन्त तुकाराम ने अपरिग्रह के सम्बन्ध मे कहा है—

"तुका म्हणे धन आम्हां गोमांसा समान।"

अर्थात्—धन का आवश्यकता से अधिक स्नेह करना गोमास की तरह त्याज्य होना चाहिए।

विनोवा भावे ने कहा है कि 'जिस पैसे की तुम परमेश्वर की तरह पूजा करते हो, वह पैसा परमेश्वर नही, पिशाच है, जिसका भूत तुम पर सवार हो गया है। जो रात-दिन तुमको सताता रहता है और तनिक भी आराम नहीं लेने देता है। पैसा रूपी पिशाच को तुम देवतुल्य समक्ष कर कव तक पूजते रहोगे और नमस्कार कर उसके आगे कव तक अपनी नाक रगडते रहोगे।'

यह परिग्रह काम, क्रोध, मान और लोभ का जनक है। धर्म रूपी कल्पवृक्ष को जला देने वाला है। न्याय, क्षमा, सन्तोष, नम्रता आदि सद्‌गुणो को खा जाने वाला कीडा है। परिग्रह वोधवीज का यानि समकित का विनाशक है और सयम, सवर तथा ब्रह्मचर्य का घातक है। यह जन्म, जरा और मरण के भय को पैदा करने वाला है। मोक्षमार्ग में विघ्न खडा करने वाला और कडवे किंपाक फलो को देने वाला है। चिन्ता और शोक रूप सागर को वढाने वाला, तृष्णा रूपी विषवल्लरी को सीचने वाला, कूड-कपट का भण्डार और क्लेश का घर है।

कुछ लोग परिग्रह की मर्यादा तो ले लेते हैं, पर उसमे छूट वहुत रख लेते हैं। ऐसा करने से व्रत का आशय सिद्ध नही होता है। सचमुच देखा जाय तो यह व्रत परिग्रह को घटाने के लिए है। हमारे पास जितना हो, उसमे से भी धीरे-धीरे कम करते जाना चाहिए। परिग्रह कम करते जाने पर ही परिग्रह परिमाण व्रत तेजस्वी वन सकता है। मानव समाज को सुखी वनाने के लिए और विविध सघर्षणो मे मुक्त करने के लिए इस व्रत की नितान्त आवश्यकता है।

अपरिग्रह के अतिचार :

"क्षेत्र-वस्तु-हिरण्य-सुवर्ण धन-धान्य-दासीदास, कुप्यप्रमाणतिक्रमाः"

इस व्रत के पांच अतिचार हैं। खेत, घर, धन-धान्य, दास-दासी, सोना-चांदी आदि की वँधी हुई मर्यादा या उल्लंघन का करना इस व्रत के अतिचार हैं। इन अतिचारो से वचते हुए क्रमशः परिग्रह को कम करते जाना ही आत्म-शान्ति को पाने का और विकार [illegible] करने का राजमार्ग है।

वारह व्रतो मे अहिंसा, सत्य, अचौर्य, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह के पांच व्रत मूल व्रत है। धर्म रूपी वृक्ष के ये मूल हैं? सामायिक, पौषध, तप आदि नियमो को [illegible] उत्तर व्रत के रूप मे माना गया है। धर्मरूपी वृक्ष के ये पत्ते हैं। मूल व्रतो के साथ ही इनका

पालन करना लाभदायी होता है। उनके अभाव मे इनका पालन करना, मूल को छोड़कर पत्तो को पानी पिलाने का प्रयत्न करना जैसा है। अतः मनुष्य को मूल व्रतो की तरफ पहले ध्यान देना चाहिए।

प्राणिमात्र के संरक्षक भगवान् महावीर ने कुछ वस्त्र आदि स्थूल पदार्थों को परिग्रह नही बतलाया है। वास्तविक परिग्रह तो उन्होने किसी भी पदार्थ पर मूर्च्छा का—आसक्ति का रखना बतलाया है।

पूर्ण-सयमी को धन-धान्य और नौकर-चाकर आदि सभी प्रकार के परिग्रहो का त्याग करना होता है। समस्त पाप-कर्मों का परित्याग करके सर्वथा निर्ममत्व होना तो और भी कठिन बात है।

परिग्रह-विरक्त मुनि जो भी वस्त्र, पात्र, कम्बल और रजोहरण आदि वस्तुएँ रखते है, वे सब एकमात्र संयम की रक्षा के लिए ही रखते हैं—काम मे लाते हैं। इनके रखने मे किसी प्रकार की आसक्ति का भाव नही है।

ज्ञानी पुरुष, सयम-साधक उपकरणो के लेने और रखने में कही भी किसी प्रकार का ममत्व नही करते। और तो क्या, अपने शरीर तक पर भी ममता नही रखते। सच्चे अर्थ में अपरिग्रह की यही बहुत बडी मर्यादा है।

अपरिग्रह-के सदर्भ मे भी यही बातें आएँगी। दर्शन शास्त्र के आचार्यो से पूछा कि परिग्रह क्या है? तो उन्होने बताया—"मूर्च्छा परिग्रह:" मन की ममता, आसक्ति ही परिग्रह है। वस्तु का त्याग अपरिग्रह नहीं हो सकता, मोह या आसक्ति का त्याग अपरिग्रह है।

प्रश्न हो सकता है कि वस्तु का छोडना क्या है? आप कहते हैं मैंने कपडे का त्याग कर दिया, धन का त्याग कर दिया, मकान का त्याग कर दिया, किन्तु मैं पूछता हूँ कि क्या वह कपडा आपका था? वह धन और मकान आपका था? आप चैतन्य हैं, वह वस्तु जड है, जड और चैतन्य का क्या सम्बन्ध? गधे और घोडे का क्या रिश्ता, क्या नातेदारी? जड पर चेतन का कोई अधिकार नही, और चेतन पर जड का कोई अधिकार नही, फिर यह त्याग किसका?

आपका अपना क्या है? ज्ञानमय आत्मा अपना है, अखण्ड चैतन्य अपना है? इसका त्याग हो नही सकता। और, वस्तु का तो त्याग, वास्तव मे त्याग है ही नहीं। तो प्रश्न यह है कि फिर त्याग का, अपरिग्रह का क्या मतलब हुआ? इसका अर्थ है कि वस्तु के प्रति जो ममता बुद्धि है, राग है, मूर्च्छा है, उसका त्याग आप कर सकते है और यही वास्तव मे त्याग है, अपरिग्रह है। ममता हट जाने पर, राग बुद्धि मिट जाने पर शरीर रहते हुए भी अपरिग्रही अवस्था है, देह होते हुए भी देहातीत अवस्था है, श्री मदराजचन्द्र के शब्दो मे—"देह छता जेहनी दशा, वरतें देहातीत।" देह के होते हुए भी इसके प्रति निष्काम और निर्विकल्प अवस्था जब प्राप्त हो जाती है, तब सम्पूर्ण अपरिग्रह की साधना होती है।

* * * *

३६

सर्वधर्म समन्वय

धारणाद् धर्मानित्याहु—जो धारण करता है वही धर्म है। यह उक्ति बहुत ही प्रसिद्ध है और इसकी प्रसिद्धि का कारण मात्र इसकी यथार्थता है कुछ और नही। किसी वस्तु को धारण करने का अर्थ होता है, उसके अस्तित्व को कायम रखना। हर एक पदार्थ मे चाहे वह चल हो या अचल, चेतन हो या अचेतन, कोई न कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होता है, जिसके कारण उसका अस्तित्व बना रहता है। यदि उस तत्त्व को उस वस्तु मे से हटा दिया जाए तो निश्चित ही वह विनष्ट हो जाएगा, उसकी सत्ता नाम की कोई भी चीज नही रह जाएगी। वह तत्त्व सदा एकसा रहता है, वह कभी मिटता नही, भले ही उसके बाह्यरूप क्यो न बदल जाएँ। स्वर्ण से कभी कुन्दन बनता है, तो कभी अँगूठी, किन्तु स्वर्णत्व जो उसका वास्तविक गुण है, वह कभी नही बदलता। मनुष्य के साथ भी यही बात है। उसकी आत्मा अमिट है, अपरिवर्तनशील है, पर उसका शरीर जिसे उसकी बाह्य रूपरेखा कहते हैं, हमेशा बदलता रहता है। जब-जब वह नया जन्म धारण करता है, तब-तब उसका रूप बदलता जाता है। यदि आत्मा न हो, तो शरीर चेतनाशून्य और उपयोगिता रहित हो जाता है।

इसी प्रकार धर्म का जो मौलिक तत्त्व है, वह उसकी आत्मा है और जो सम्प्रदाय है, वह इसका शरीर है। आत्मा की तरह किसी भी धर्म का जो मौलिक सिद्धान्त है, वह बदलता नही और उसकी व्यापकता किसी एक स्थान या एक काल तक ही सीमित नहीं होती। क्योकि धर्म का जो वास्तविक रूप है, वह शाश्वत है, सर्वव्यापी है। यदि कोई सीमा इसमे दिखाई पडती है, तो वास्तव में उसका कारण हमारा दृष्टिगत वैविध्य है। ब्राह्मण कहते हैं, जो बातें वेदो मे कही गई हैं, वे ही सत्य हैं, वेदो मे जिन सिद्धान्तो का विवेचन हुआ है वही धर्म है, शेप जो भी है, उसे धर्म की सीमा मे स्थान प्राप्त नही होता। जैन मतावलम्बी कहते हैं कि मात्र आगम ही, जिनमे भगवान् महावीर की वाणी संकलित है, धर्म के स्रोत हैं। बौद्ध धर्म के मानने वालो का कहना है कि पिटको में वर्णित भगवान् बुद्ध के उपदेश के सिवा और कुछ धर्म नही कहला सकता। ईसाई-मतानुयायी बाईबिल को ही सब कुछ मानते

है। यही बात इस्लाम-मतावलम्बियों के साथ है। ये कहते हैं कि कुरान ही धर्म का एकमात्र आधार है। किन्तु तटस्थ होकर सभी धर्मों या मतों को देखने से लगता है कि सब मे वही तत्त्व प्राण की तरह काम कर रहा है, जो शाश्वत है, सदा एक-सा है।

प्रश्न उठता है कि शाश्वत धर्म आखिर है क्या ? इस प्रश्न के उत्तर के रूप मे यदि यह कहा जाए कि अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य तथा अपरिग्रह ही मौलिक अथवा शाश्वत धर्म है, तो कोई अतिशयोक्ति न होगी, क्योंकि धर्म या आचार सम्बन्धी जो भी अन्य नियम हैं, वे इन्हें ही केन्द्र मानकर इनके पास अथवा दूर नाचते-से दिखाई पड़ते हैं। इन पाँच सिद्धान्तों के अलावा जो भी धर्म या आचार सम्बन्धी नियम हैं, वे अमौलिक हैं, ऐसा भी कहना कोई अनुचित न होगा। पर अमौलिक होते हुए भी ऐसे सिद्धान्त समाज पर अपना कम प्रभाव नहीं रखते, क्योंकि यही साम्प्रदायिकता को जन्म देने वाले होते हैं।

जब धर्म सिद्धान्त से व्यवहार की ओर आता है, तब उसे देश और काल की मर्यादा से सम्बन्धित होना पड़ता है और यहीं से सम्प्रदाय या संघ का प्रारम्भ होता है। सम्प्रदाय की मान्यता वहाँ तक सही है, जहाँ तक कि इसका उद्देश्य धर्म के मौलिक सिद्धान्तों का प्रचार या प्रसार करना है, लेकिन जब वह विभिन्न रूढ़ियों को जन्म दे देता है तो परिणाम कुछ और ही निकल आता है। कारण, एक दिन वे ही रूढ़ियाँ इस तरह बलवती हो जाती हैं कि वे धर्म के मौलिक सिद्धान्तों को ही उसी प्रकार ढक लेती हैं जैसे सूर्य को काले बादल ढक लेते हैं, तो निश्चय ही सम्प्रदाय एक गलत राह पर आ जाता है। सूर्य के बादलों से ढक जाने के बाद जो दशा पृथ्वी की होती है, वही दशा शाश्वत धर्म के छुप जाने से समाज की होती है और ऐसी स्थिति किसी समाज के लिए ही क्या बल्कि पूरे संसार के लिए बड़ी घातक होती है।

अब प्रश्न उठता है कि रूढ़िग्रस्त साम्प्रदायिकता को दूर करने का कौन-सा उपाय है ? रूढ़ि पैदा होने के दो कारण हैं—अन्ध विश्वास और अपने सिद्धान्त को पूर्ण, सत्य एवं सर्वमान्य समझना। यदि प्राचीन काल मे धर्माचार्यों ने कोई नियम बना दिया, तो आज भी हम उन सारे नियमों को ढोते रहें, यह आवश्यक नहीं। ऐसा करने का अर्थ यह नहीं होता कि पूर्व-प्रतिपादित आचारों को बदल कर हम पूर्णतः उन्हें एक नया रूप दें अथवा आचारों का विरोध करें। बल्कि जिन विधि-विधानों का वर्तमान से मेल नहीं हो रहा यानि जिनका देश-काल से समुचित सम्बन्ध स्थापित नहीं हो रहा है, उन्हें देश-काल के अनुसार रूप देने का सफल प्रयास अपेक्षित है; क्योंकि साम्प्रदायिक या अमौलिक नियमों के आधार ही होते हैं देश और काल।

जहाँ तक अपने आपको पूर्ण मानने का प्रश्न है, यह भी किसी धर्म या समाज के लिए हितकर नहीं होता। इसी गलती को दूर करने के लिए जैनाचार्यों ने अनेकान्त तथा स्याद्वाद के सिद्धान्तों का प्रतिपादन किया है। जब तक व्यक्ति सर्वज्ञ नहीं हो जाता, तब तक उसका यह घोषित करना कि हम पूर्णरूपेण सत्य हैं और दूसरा गलत, ऐसा कहना बिल्कुल सही नहीं होता। क्योंकि अन्य सभी सिद्धान्त गलत हैं, ऐसा तो तभी कहा जा सकता है, जब सभी सिद्धान्तों को पूर्णतः जान लिया जाए। क्योंकि एक वस्तु के अनेक विधायक एवं

निषेधात्मक सम्बन्ध होते है जिन्हें जानना सामान्य व्यक्ति के लिए असम्भव होता है। हाँ, जो सर्वज्ञ हैं, उनकी तो बात ही कुछ और है। फिर कोई कैसे कह सकता है कि वह स्वय पूर्णत· ठीक है और दूसरे गलत। अतः सीमित ज्ञान की अभिव्यक्ति के लिए स्याद्वाद का जो सिद्धान्त बताता है कि यदि कोई सत्य है, तो किसी खास सीमा तक अथवा किसी खास सम्बन्ध मे; और इस चीज को ध्यान मे रखते हुए ही उसे अपने ज्ञान की अभिव्यक्ति करनी चाहिए।

"आज समय आ गया है कि हम एकता की भावना मे इकट्ठे हों, ऐसी एकता को यह समृद्धि समेटती है जिसमे दूसरे धार्मिक विश्वासो की धार्मिक यथार्थताएँ नष्ट न हो, बल्कि एक सत्य को मूल्यवान अभिव्यक्ति के रूप मे सजोयी जाएँ। हम उन यथार्थ और स्वत. स्फूर्त प्रवृत्तियो को समझते हैं जिन्होंने विभिन्न धार्मिक विश्वासो को रूप दिया। हम मानवीय प्रेम के उस स्पर्श, करुणा और सहानुभूति पर जोर देते हैं जो धार्मिक आस्थाओ के क्रांति-व्यक्तित्वो की कृतियो से भरी पडी हैं। धार्मिक आयाम के अतिरिक्त मनुष्य के लिए कोई भविष्य नही है। धर्म के तुलनात्मक जानकारी रखने वाला कोई भी व्यक्ति अपने सम्प्रदाय के सिद्धान्त मे अनन्य आस्था नही रख सकता। हम जिस ससार मे श्रम करते हैं उसके साथ हमे एक संवाद स्थापित करना चाहिए। इसका अर्थ यह नही कि हम धर्मों की लक्षणहीन एकता के लिए काम करें। हम उस भिन्नता को नही खोना चाहते जो मूल्यवान आध्यात्मिक अन्तर्दृष्टि को घेरती है। चाहे पारिवारिक जीवन में हो या राष्ट्रो के जीवन मे या आध्यात्मिक जीवन मे, यह भेदों को एक साथ मिलाती है, जिससे कि प्रत्येक की सत्यनिष्ठा बनी रह सके। एकता एक तीव्र यथार्थ होना चाहिए, मात्र मुहावरा नही। मनुष्य अपने को भविष्य के सभी अनुभवो के लिए खोल देता है। प्रयोगात्मक धर्म ही भविष्य का धर्म है। धार्मिक ससार का उत्साह इसी ओर जा रहा है।"[1]

निष्कर्षत हम यह कह सकते हैं कि सभी धर्मों के सिद्धान्तो को, उनकी आस्था को दृढ करना है। यह वह पृष्ठभूमि है, जहाँ पर हम विश्वधर्म के महान् धरातल पर खडे होते हैं। हमे आज, सिद्धान्त के धर्म को, ग्रन्थो मे वर्णित धर्मकाडो को एक तरफ रखकर जीवन-व्यवहार्य धर्म की प्ररूपणा करनी है, उन्हे कार्यान्वित करनी है और सबकी मूल आस्था को एकसाथ सघबद्ध करके समन्वय का आदर्श परिचालित करना है। पारस्परिक सम्मान एव प्रेम की उदात्त भावना, इस दशा मे हमारा महान् सहयोगी बनकर कृष्ण-सरीखे सारथी का काम करेगा। वही से धर्म का एक विराट् रूप, सर्वधर्म समन्वय की भावना से उद्भूत हो सकता है।

इस प्रकार अपने अस्तित्व को कायम रखने के लिए यह आवश्यक है कि कोई भी धर्म समन्वय का स्वस्थ दृष्टिकोण अपनाए। और, समन्वय का सिद्धान्त तभी सुदृढ़ बन सकता है जबकि अपने आपको ही पूर्ण सत्य और दूसरो को सर्वांशत गलत मानने की आदत दूर हो यानि दूसरो के विचार को भी सही माना जाए। साथ ही देश और काल के साथ अपने को अभियोजित किया जाय अर्थात् देश और काल के साथ भी समन्वय किया जाए।

---

१. आधुनिक युग मे धर्म—डा० एस० राधाकृष्णन् पृ० ९४-९५ (हि० अनु०)

* * * *

सांस्कृतिक
सामाजिक
एवं
राजनीतिक
दृष्टिकोण

३७
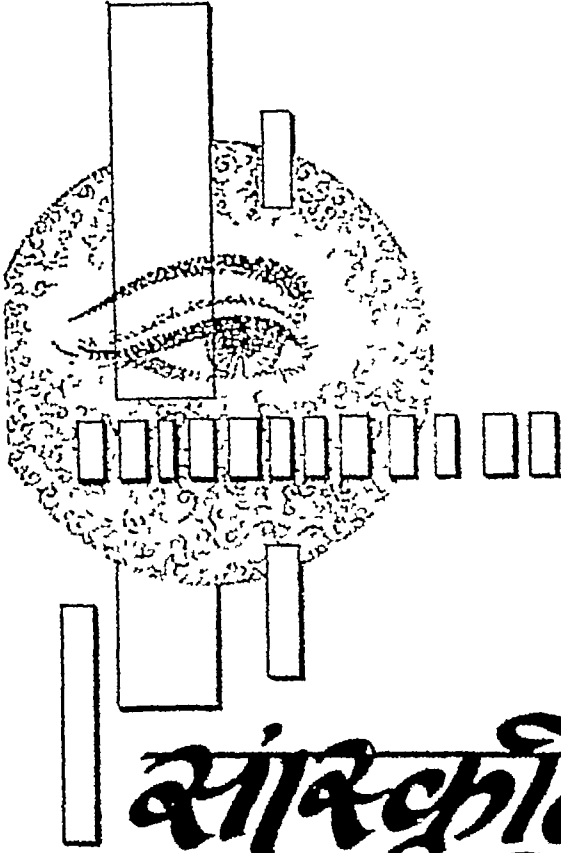
संस्कृति और सभ्यता

संस्कृति और संस्कार एक ही धातु से निष्पन्न शब्द हैं। संस्कृति का अर्थ है—संस्कार और संस्कार का अर्थ है—संस्कृति। संस्कृति शब्द की एक व्याख्या और एक परिभाषा नहीं की जा सकती। संस्कृति उस सुन्दर सरिता के समान है, जो अपने स्वच्छन्द भाव से निरन्तर प्रवाहित होती रहती है। यदि सरिता के प्रवाह को बाँध दिया जाए, तो फिर सरिता, सरिता न रह जाएगी। इसी प्रकार संस्कृति को और उस संस्कृति को, जो जन-मन के जीवन में घुल-मिल चुकी है, शब्दों की सीमा में बाँधना, राष्ट्र की परिधि में बाँधना और समाज के बन्धनों में बाँधना कथमपि उचित नहीं कहा जा सकता। संस्कृति की सरिता को किसी भी प्रकार की सीमा में सीमित करना, मानव-मन की एक बड़ी भूल है। संस्कृति के सम्बन्ध में पाश्चात्य विचारक मैथ्यू आर्नल्ड ने कहा है—"विश्व के सर्वोच्च कथनों और विचारों का ज्ञान ही सच्ची संस्कृति है।"[1] महान् विचारक बोवी के कथनानुसार संस्कृति दो प्रकार की होती है—परिमित संस्कृति और अपरिमित संस्कृति। बोवी का कथन है—"परिमित संस्कृति शृंगार एवं विलासिता की ओर धावित होती है। जबकि अपरिमित संस्कृति सरलता एवं संयम की ओर प्रवाहित होती है।"[2] यहाँ पर संस्कृति के सन्दर्भ में एक बात और विचारणीय है। और वह यह है, कि क्या संस्कृति और सभ्यता दोनों एक हैं, अथवा भिन्न-भिन्न हैं? इस सम्बन्ध में श्री प्रकाशजी ने बहुत सुन्दर कहा है—"सभ्यता शरीर है, और संस्कृति आत्मा, सभ्यता ज्ञानराशि और विविध क्षेत्रों की महान् एवं विराट् खोज का परिणाम है, जबकि संस्कृति विपुल ज्ञान का परिणाम है।"[3] इसके अतिरिक्त जिसे हम सच्ची संस्कृति कहते हैं,

---

1 Culture is to know the best that has been said and thought in the world

2 Partial Culture runs to the ornate, extreme culture to simplicity

3 While civilization is the body, culture is the soul, while civilization is the result of knowledge and great painful researches in divers field, culture is the result of wisdom

उसका एक आध्यात्मिक पहलू भी है । इसके सम्बन्ध मे महान् विचारक मार्डेन ने कहा है—"स्वभाव की गम्भीरता, मन की ममता, सस्कृति के अन्तिम पृष्ठो मे से एक है और यह समस्त विश्व को वश में करने वाली शक्ति मे पूर्ण विश्वास से उत्पन्न होती है ।"[1] इस कथन का अभिप्राय यह है, कि आत्मा की अजरता और अमरता मे अटल विश्वास होना ही, वास्तविक सस्कृति है । संस्कृति के सम्बन्ध मे भारत के महान् चिन्तक सानेगुरु का कथन है कि—"जो सस्कृति महान् होती है, वह दूसरो की सस्कृति को भय नही देती, बल्कि उसे साथ लेकर पवित्रता देती है । गगा की गरिमा इसी मे है कि दूसरे प्रवाहो को अपने मे मिला लेती है और इसी कारण वह पवित्र, स्वच्छ एव आदरणीय कही जा सकती है । लोक मे वही सस्कृति आदर के योग्य है, जो विभिन्न धाराओ को साथ मे लेकर अग्रसर होती रहती है ।'

संस्कृति का सही अर्थ :

आज ससार मे सर्वत्र सस्कृति की चर्चा है । सभा में, सम्मेलनो मे और उत्सवो मे सर्वत्र ही आज संस्कृति का बोलबाला है । सामान्य क्षितिज व्यक्ति से लेकर, विशिष्ट विद्वान् तक आज सस्कृति पर बोलते और लिखते हैं, परन्तु सस्कृति की परिभाषा एव व्याख्या आज तक भी स्थिर नही हो सकी है । सस्कृति क्या है ? विद्वानो ने विभिन्न पद्धतियो से इस पर विचार किया है । आज भी विचार चल ही रहा है । सस्कृति की सरिता के प्रवाह को शब्दो की सीमा रेखा मे बांधने का प्रयत्न तो बहुत किया गया है, पर उसमे सफलता नहीं मिल सकी है । भारत के प्राचीन साहित्य मे धर्म, दर्शन और कला की चर्चा तो बहुत है, पर सस्कृति की नही । इसके विपरीत आज के जन-जीवन में और आज के साहित्य मे सर्वत्र सस्कृति ही मुखर हो रही है । उसने अपने आप मे धर्म, दर्शन और कला तीनो को समेट लिया है । मैं पूछना हूं आपसे कि सस्कृति मे क्या नहीं है ? उसमे आचार की पवित्रता है, विचार की गम्भीरता है और कला की प्रियता एव सुन्दरता है । अपनी इसी अर्थव्यापकता के आधार पर सस्कृति ने धर्म, दर्शन और कला—तीनो को आत्मसात् कर लिया है । जहां सस्कृति है, वहां धर्म होगा ही । जहां सस्कृति है, वहां दर्शन होगा ही । जहां सस्कृति है, वहां कला होगी ही । भारत के अध्यात्म-साहित्य मे सस्कृति से बढकर अन्य कोई शब्द व्यापक, विशाल और बहु अर्थ का अभिव्यजक नही है । कुछ विद्वान् सस्कृति के पर्यायवाची रूप मे सस्कार, परिष्कार और सुधार शब्द का प्रयोग करते हैं, परन्तु यह उचित नही है । वस्तुत सस्कृति की पवित्रता को धारण करने की सामर्थ्य इन तीनों शब्दों मे से किसी मे भी नही है । अधिक से अधिक खीचातानी करके सस्कार, परिष्कार एव सुधार शब्द से आचार का ग्रहण तो कदाचित् किया भी जा सके, परन्तु विचार और कला की अभिव्यक्ति इन शब्दो से कथमपि नही हो सकती । एक सस्कृति शब्द से ही धर्म, दर्शन और कला—तीनो की अभिव्यक्ति की जा सकती है ।

संस्कृति एवं सभ्यता :

संस्कृति एक बहती धारा है । जिस प्रकार सरिता का प्राणतत्त्व है, उसका प्रवाह; ठीक उसी प्रकार सस्कृति का प्राणतत्त्व भी उसका सतत प्रवाह है । सस्कृति का अर्थ है निरन्तर

---

१. Serenity of spirit, poise of mind, is one of the last lesson of culture and comes from a perfect trust in the all controlling force of univers

विकास की ओर बढ़ना। संस्कृति विचार, आदर्श और भावना तथा संस्कार-प्रवाह का वह संगठित एवं सुस्थिर संस्थान है, जो मानव को अपने पूर्वजों से सहज ही अधिगत हो जाता है। व्यापक अर्थ में संस्कृति को भौतिक और आध्यात्मिक—इन दो भागों में बाँटा जा सकता है। भौतिक संस्कृति को सभ्यता भी कहते हैं। इसमें भवन, वसन, वाहन एवं यन्त्र आदि वह समस्त भौतिक सामग्री आ जाती है, जिसका समाज ने अपने श्रम से निर्माण किया है। कला का सम्बन्ध इसी भौतिक संस्कृति से है। आध्यात्मिक संस्कृति में आचार, विचार और विज्ञान का समावेश किया जाता है। संस्कृति का अर्थ संस्कार भी किया जाता है। संस्कार के दो प्रकार हैं—एक वैयक्तिक, जिसमें मनुष्य अपने गुण से एवं अपनी शिष्टता से चमकता है। दूसरा सामूहिक, जो समाज विरोधी दूषित आचार का प्रतिकार करता है। समान आचार, समान विचार, समान विश्वास, समान भाषा और समान पथ—ये सभी मिलकर संस्कृति को एकता प्रदान करते हैं।

संस्कृति मानव के भूत, वर्तमान और भावी-जीवन का सर्वांगीण चित्रण है। जीवन जीने की कला अथवा पद्धति को संस्कृति कहते हैं। संस्कृति आकाश में नहीं, इसी धरती पर रहती है। वह कल्पना मात्र नहीं है, जीवन का ठोस सत्य है एवं जीवन का प्राणभूत तत्त्व है। मानवीय जीवन के नानाविध रूपों का समुदाय ही संस्कृति है। संस्कृति में विकास और परिवर्तन सदा होता आया है। जीवन के 'सत्य, शिव, सुन्दरम्' का सर्जन एवं संवर्द्धन मनुष्य के मन, प्राण और देह के प्रबल एवं दीर्घ कालिक प्रयत्नों के फलस्वरूप हुआ है। मनुष्य-जीवन कभी गतिहीन नहीं होता, पीढ़ी दर पीढ़ी आगे बढ़ता रहता है। धर्म, दर्शन, साहित्य और कला—ये सब मनुष्य जीवन के विकास के सूचक हैं। इस दृष्टि से संस्कृति मानवी जीवन के प्रयत्न की उपलब्धि है। संस्कृति से जब निष्ठा पक्की होती है, तब मन की परिधि भी विस्तृत हो जाती है, उदारता का भण्डार भी भर जाता है। अतः संस्कृति जीवन के लिए परमावश्यक है। संस्कृति, राजनीति और अर्थशास्त्र—दोनों को अपने में समन्वित कर विस्तृत एवं विराट् मनस्तत्व को जन्म देती है। इसी को भारतीय संस्कृति में अर्थ और काम का सुन्दर समन्वय कहा गया है। संस्कृति जीवन-वृक्ष का संवर्द्धन करने वाला रस है। यदि राजनीति और अर्थशास्त्र केवल पथ की साधना है, तो संस्कृति उस पथ का साध्य है। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र का संवर्द्धन बिना संस्कृति के नहीं हो सकता।

संस्कृति : साधना की सर्वोत्तम परिणति

संस्कृति मनुष्य की विविध साधनाओं की सर्वोत्तम एवं सर्वश्रेष्ठ परिणति कही जा सकती है। संस्कृति मानव जीवन का एक अविरोधी तत्त्व है। यह समस्त विरोधों में सामंजस्य स्थापित करती है। नाना प्रकार की धर्म-साधना, कलात्मक प्रयत्न, योग-मूलक अनुभूति और तर्क मूलक कल्पना-शक्ति से मनुष्य उस महान् तत्त्व के व्यापक तथा परिपूर्ण स्वरूप को अधिगत करता है, जिसे हम संस्कृति कहते हैं। वास्तव में, मैं [illegible] कहूँगा कि संस्कृति की सर्वांगपूर्ण परिभाषा अभी तक नहीं बन सकी है, प्रत्येक व्यक्ति अपनी रुचि और विचार के अनुसार इसका अर्थ कर लेता है। संस्कृति का अर्थ है—मानव की [illegible]। मनुष्य अपनी साधना से [illegible] स्थिति से संस्कृति और संस्कृति से [illegible] की ओर निरन्तर [illegible] रहा है। [illegible] इसीलिए संस्कृति की आवश्यकता [illegible] है। किन्तु संस्कृति की [illegible] [illegible]

बढकर प्रकृति को, अपने स्वभाव को प्राप्त करना होगा। यहाँ संस्कृति का अर्थ है—आत्म-शोधन। संस्कृति के ये विविध रूप और नाना अर्थ आज के साहित्य मे उपलब्ध होते हैं। संस्कृति एक विशाल महासागर है।

भारतीय संस्कृति की आत्मा : समन्वय :

भारतीय संस्कृति की विशेषता उसके आचार-पूत स्वतन्त्र चिन्तन मे, सत्य की शोध में और उदार व्यवहार मे रही है। युद्ध जैसे दारुण अवसर पर भी यहाँ के चिन्तको ने शान्ति की सीख दी है। वैर के बदले प्रेम, क्रूरता के बदले मृदुता और हिंसा के बदले अहिंसा दी है। भारतीय संस्कृति की अन्तरात्मा है—विरोध मे भी विनोद, विविधता में भी समन्वय-बुद्धि तथा एक सामञ्जस्य दृष्टिकोण। भारतीय संस्कृति हृदय और बुद्धि की पूजा करने वाली उदारपूर्ण भावना और विमल परिज्ञान के योग से जीवन मे सरसता और मधुरता बरसाने वाली है। यह संस्कृति ज्ञान का कर्म के साथ और कर्म का ज्ञान के साथ मेल बैठाकर ससार मे मधुरता का प्रचार तथा सरसता का प्रसार करने वाली है। भारतीय संस्कृति का अर्थ है—विश्वास विचार और आचार की जीती जागती महिमा। भारत की संस्कृति का अर्थ है—स्नेह, सहानुभुति, सहयोग, सहकार और सह-अस्तित्व। इस संस्कृति का सलक्ष्य है—सान्त से अनन्त की ओर जाना, अन्धकार से प्रकाश की ओर जाना, भेद से अभेद की ओर जाना तथा कीचड से कमल की ओर जाना। असुन्दर से सुन्दर की ओर जाना और विरोध से विवेक की ओर जाना। भारत की संस्कृति का अर्थ है—राम की पवित्र मर्यादा, कृष्ण का तेजस्वी कर्म योग, महावीर की सर्वभूत हितकारी अहिंसा, त्याग एवं विरोधो की समन्वय-भूमि अनेकान्त, बुद्ध की मधुर करुणा एवं विवेक-युक्त वैराग्य और गांधी की धर्मानुप्राणित राजनीति एव सत्य का प्रयोग। अत. भारतीय संस्कृति के सूत्रधार हैं—राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध और गाधी। यह भारतीय संस्कृति की सम्पूर्णता है।

भारतीय संस्कृति की त्रिवेणी :

भारत की संस्कृति का मूल स्रोत है—"दयतां, दीयतां, दाम्यताम्'।" इस एक ही सूत्र मे समग्र भारत की संस्कृति का सार आ गया है। जहाँ दया, दान और दमन है, वही पर भारत की संस्कृति की मूल आत्मा है। यह संस्कृति, भारत के जन-जन की और भारत के मन-मन की संस्कृति का मूल आधार है—दया, दान और दमन। प्राण-प्राण के प्रति दया करो, मुक्त भाव से दान करो और अपने मन के विकल्पो का दमन करो। भारत के जन-जन के मन-मन मे दया, दान एव दमन का ऊर्जस्वी भाव भरा है। वेदो ने इसी को गाया, पिटको ने इसी को ध्याया और आगमो ने इसी को जन-जीवन के कण-कण मे रमाया। क्रूरता से मनुष्यता को सुख नही मिला, तब दया जागी। सग्रह मे मनुष्य को शान्ति नही मिली, तब दान आया। भोग मे मनुष्य को चैन नही मिला, तब दमन आया। विकृत जीवन को संस्कृत बनाने के लिए भारतीय संस्कृति के भण्डार मे दया, दान और दमन से बढकर, अन्य धरोहर नही है, अन्य सम्पत्ति नही है। अपने मूल रूप मे भारत की संस्कृति एक होकर भी धारा रूप मे वह अनेक है। वेद-मार्ग से बहने वाली धारा वैदिक संस्कृति है। पिटक मार्ग से बहने वाली धारा बौद्ध संस्कृति है। आगम मार्ग मे बहने वाली धारा जैन संस्कृति है। भारत की संस्कृति मूल मे एक होकर भी वेद, जिन और बुद्ध रूप में वह त्रिधाराओ मे प्रवाहित है। वेद दान का, बुद्ध दया का और जिन दमन का प्रतीक है। अपने मनोविकारो को

दमित करने वाला विजेता ही जिन होता है और जिन देव की संस्कृति ही वस्तुत विजेता की संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति के सम्पूर्ण स्वरूप को समझने के लिए और उसकी सम्पूर्ण सीमा का अंकन करने के लिए, उसे दो भागो मे विभक्त करना होगा—ब्राह्मण की संस्कृति और श्रमण की संस्कृति। ब्राह्मण और श्रमण ने युग-युग से भारतीय संस्कृति का प्रतिनिधित्व किया है और किसी न किसी रूप मे वह आज भी करता है। ब्राह्मण विस्तार का प्रतीक है और श्रमण शम, श्रम और सम का प्रतीक माना जाता है। जो अपना विस्तार करता है, वह ब्राह्मण है और जो शान्ति, तपस्या तथा समत्वयोग का साधक है, वह श्रमण है। श्रम और साधना दोनो का एक ही अर्थ है। प्रत्येक साधना श्रम है और प्रत्येक श्रम साधना है—यदि उसमे मन का पवित्र रस उँडेल दिया गया हो। ब्राह्मण-संस्कृति विस्तारवादी संस्कृति है, वह सर्वत्र फैल जाना चाहती है, जब कि श्रमण-संस्कृति अपने को सीमित करती है एव संयमित करती है। जहाँ विस्तार है, वहाँ भोग है। जहाँ सीमा है, वहाँ त्याग है। इसका अर्थ यह है कि ब्राह्मण-संस्कृति भोग पर आधारित है और श्रमण-संस्कृति त्याग पर। मेरे विचार मे भारतीय समाज को यथोचित भोग और यथोचित त्याग दोनो की आवश्यकता है। क्योकि शरीर के लिए भोग की आवश्यकता है और आत्मा के लिए त्याग की। भोग और योग का यथार्थ विकासमूलक सतुलन एव सामञ्जस्य ही भारतीय संस्कृति का मूल रूप है। भारत के ब्राह्मण ने ऊँचे स्वर मे शरीर की आवश्यकताओ पर अधिक बल दिया। मेरे कहने का अभिप्राय इतना ही है, कि ब्राह्मण-संस्कृति प्रवृत्तिवादी है और श्रमण-संस्कृति निवृत्तिवादी है। प्रवृत्ति और निवृत्ति मानवीय जीवन के दो समान पक्ष हैं। जबतक साधक, साधक अवस्था मे है, तबतक उसे शुभ प्रवृत्ति की आवश्यकता रहती है किन्तु जब साधक अपनी साधना के द्वारा साध्यता की चरम कोटि को छू लेता है, तब उसके जीवन मे निवृत्ति स्वत. ही आ जाती है। अशुभ से शुभ और अन्तत शुभ से शुद्ध पर पहुँचना ही संस्कृति का चरम परिपाक है। मेरे विचार मे भारतीय समाज को स्वस्थता प्रदान करने के लिए ब्राह्मण और श्रमण दोनो की आवश्यकता रही है और अनन्त भविष्य मे भी दोनो की आवश्यकता रहेगी। आवश्यकता है, केवल दोनो के दृष्टिकोण मे सन्तुलन स्थापित करने की और समन्वय साधने की। वस्तुतः यही भारतीय संस्कृति है।

भारतीय संस्कृति का स्वरूप :

भारत के जन-जीवन की संस्कृति का रूप सामासिक एव सामूहिक रहा है और उसका विकास भी धीरे-धीरे हुआ है। इतिहास के कुछ विद्वान यह भी दावा करते है कि भारतीय संस्कृति का प्रारम्भ आर्यों के आगमन के साथ हुआ था। किन्तु यह विचार समीचीन नहीं कहा जा सकता। क्योकि जिन्होने 'हड़प्पा' और 'मोहनजोदड़ो' की सभ्यता और संस्कृति का अध्ययन किया है, वे इस तथ्य को स्वीकार करते है कि तथाकथित एव तथा प्रचारित आर्यों के आगमन से पूर्व भी भारतीय सभ्यता और संस्कृति बहुत ऊँची उठ चुकी थी। हाँ, इस तथ्य से इनकार नही किया जा सकता कि आर्यों के यहाँ आने के बाद और उनके यहाँ स्थापित हो जाने के बाद आर्यो और द्रविडों के मिलन, मिश्रण और समन्वय से जिस समवेत संस्कृति का जन्म हुआ था, वस्तुत: वही भारत की प्राचीनतम संस्कृति और शुद्ध अर्थ मे मूल संस्कृति भी कही जा सकती है। यह स्मरणीय है कि हमारी राष्ट्रीय संस्कृति ने धीरे-धीरे बढ़कर अपना वर्तमान आकार ग्रहण किया है, जिसमे भारत के मूल निवासी

द्रविडों, आर्यों, शक एवं हूणो तथा मुसलमान और ईसाइयो का धीरे-धीरे योग-दान मिलता रहा है। यह बात तो सत्य है कि भारत की प्राचीन सस्कृति मे समन्वय करने की तथा नये उपकरणो को पचाकर आत्मसात् करने की अद्भुत योग्यता थी। जबतक इसका यह गुण शेप रहा, तब तक यह सस्कृति जीवित और गतिशील रही, लेकिन बाद में इसकी गतिशीलता स्थिरता मे परिणत हो गई। स्थिरता भी बुरी नही थी। परन्तु, वह आगे चलकर रूढिवादिता मे परिणत हो गई। काफी लम्बे इतिहास के अन्तराल मे भूगोल ने भारत को जो रूप दिया, उससे वह एक ऐसा विशाल देश बन गया, जिसके दरवाजे बाहर की ओर से बन्द थे। क्योकि महासागर और महाशैल हिमालय से घिरा होने के कारण बाहर से किसी का इस देश मे आना आसान नही था। फिर भी जो कुछ लोग साहस करके यहाँ पर आए, वे यही के होकर रह गए। उदाहरण के लिए, सीथियन और हूण लोग तथा उनके बाद भारत मे आने वाली कुछ अन्य जातियो के लोग यहाँ आकर राजपूत जाति की शाखाओ मे घुल मिल गए और यह दावा करने लगे कि हम भी प्राचीन भारत की सन्तान हैं। भारत की सस्कृति, जन-जन की सस्कृति रही है और इसीलिए वह सदा से उदार और सहिष्णु रही है। यहाँ पर सबका समादर होता रहा है।

जिसे हम भारतीय संस्कृति कहते हैं, वह आदि से अन्त तक न तो आर्यों की रचना है और न केवल द्रविडो का ही प्रयत्न है। बल्कि उसके भीतर अनेक जातियों का अश-दान है। यह सस्कृति रसायन की प्रक्रिया से तैयार हुई है और उसके अन्दर अनेक औषधियो का रस समाहित है। भारत मे समन्वय की प्रक्रिया चीटियो की प्रक्रिया नही, जो अनाज के कणो को एक स्थान पर एकत्रित कर देती है। इस प्रकार का समन्वय वास्तविक समन्वय नही कहा जा सकता। क्योकि अनेक अनाजो के अनगिनत दाने एक बर्तन मे एकत्रित किए जाने पर भी अलग-अलग गिने और पहचाने जा सकते हैं। चीटियाँ अनाज के कणो को एकत्रित तो कर देती हैं, किन्तु उनका एक-दूसरे मे विलय नही कर पाती। भारतीय सस्कृति मधु-मक्खियो की प्रक्रिया जैसी रही है। मधुमक्खियाँ अनेक वर्णों के फूलो से विभिन्न प्रकार का रस एकत्रित करके मधु के रूप मे उसे एक ऐसा स्वरूप देती है कि कोई भी फूल वहाँ सबसे ऊपर नही बोलता। भारतीण सस्कृति, अनेक सस्कृतियों के योग से बना हुआ वह मधु है, जिसमे विभिन्न वर्णों के पुष्पो का योगदान रहा है, किन्तु फिर भी सबका सामान्यीकरण हो चुका है।

भारत की सास्कृतिक एकता :

भारत की यह सास्कृतिक एकता, मुख्यत. दो कारणो पर आधारित है—पहला कारण तो भारत का भूगोल है, जिसने उत्तर और पूरब की ओर पहाडो मे तथा दक्षिण और पश्चिम की ओर समुद्रो से घेर कर भारत को स्वतन्त्र भू-भाग का रूप दे दिया है। दूसरा कारण, इस एकता का एक प्रमुख कारण हिन्दू धर्म भी है, जो किसी भी विश्वास के लिए दुराग्रह नही करता, जो सहिष्णुता, स्वाधीन चिन्तन एव वैयक्तिक स्वतन्त्रता का ससार मे बडा समर्थक रहा है। यही कारण है कि भारत के विशाल मैदानो मे सभी प्रकार के धर्मो को पनपने का समान अवसर मिला है। यहाँ पर कट्टर ईश्वरवादी धर्म भी पनपा है और परम नास्तिक चार्वाक जैसा दर्शन भी पल्लवित हुआ है। भारत मे साकार की उपासना करने वाले भी रहे हैं। धर्म के विकास के लिए और अपने-अपने विचार का प्रचार करने के लिए, भारत मे कभी किसी प्रकार का प्रतिबन्ध नही रहा है। यहाँ पर साधक एवं उपासक

को इतनी स्वतन्त्रता रही है कि वह अपने आदर्श के अनुसार चाहे किसी एक देवता को माने, अथवा अनेक देवताओं को माने। भारत में वेद का समर्थन करने वाले भी हुए हैं। और वेद का घोर विरोध करने वाले भी हुए हैं। भारत की धरती पर मन्दिर, मस्जिद और चर्च तीनों का सुन्दर समन्वय हुआ है। मेरे विचार में इस एकता और समन्वय का कारण भारतीय दृष्टिकोण की उदारता एवं सहिष्णुता ही है। यही कारण है कि भारतीय संस्कृति एक ऐसी संस्कृति है, जिसमें अधिक से अधिक संस्कृतियों का रंग मिला हुआ है और जो अधिक से अधिक विभिन्न जातियों की मानसिक एवं आध्यात्मिक एकता का प्रतिनिधित्व कर सकती है।

आज के नवीन विश्व को यदि भारत से कुछ पाना है, तो वह प्राचीन भारत से ही प्राप्त कर सकता है। प्राचीन भारत के उपनिषद्, आगम और त्रिपिटक आज भी इस राह भूली दुनिया को बहुत कुछ प्रकाश दे सकते हैं। आज के विश्व की पीड़ाओं का आध्यात्मिक निदान यह है, कि अभिनव मनुष्य अतिभोगी हो गया है। वह अपनी रोटी दूसरों के साथ बाँट कर नहीं खाना चाहता। उसे हर हालत में पूरी रोटी चाहिए, भले ही उसे भूख आधी रोटी की ही क्यों न हो।

मेरा अपना विचार यह है कि भारतीय संस्कृति में जो रूढ़िवादिता आ गई है, यदि उन्हें दूर किया जाए तो भारत के पास आज भी दूसरों को देने के लिए बहुत कुछ शेष बचा रह सकता है। विश्व की भावी एकता की भूमिका, भारत की सामासिक संस्कृति ही हो सकती है। जिस प्रकार भारत ने किसी भी धर्म का दलन किए बिना, अपने यहाँ धार्मिक एकता स्थापित की, जिस प्रकार भारत ने किसी भी जाति की विशेषता नष्ट किए बिना, सभी जातियों को एक संस्कृति के सूत्र में आबद्ध किया, उसी प्रकार भारतीय संस्कृति के उदार विचार इतने विराट् एवं विशाल रहे हैं कि उसमें संसार के सभी विचारों का समाहित हो जाना असम्भव नहीं है। ऋषभदेव से लेकर राम तक और राम से लेकर वर्तमान में गांधी-युग तक भारतीय संस्कृति सतत गतिशील रही है। यह ठीक है कि बीच-बीच में उसमें कहीं रुकावटें भी अवश्य आती रही हैं, किन्तु ये रुकावटें उसके गन्तव्य पथ को बदल नहीं सकीं। रुकावट आ जाना एक अलग बात है और पथ को छोड़कर भटक जाना एक अलग बात है।

हजारों और लाखों वर्षों की इस भारत की प्राचीन संस्कृति में वह कौन तत्त्व है, जो इसे अनुप्राणित और अनुप्रेरित करता रहा है? यह एक विकट प्रश्न है। मेरे विचार में, कोई ऐसा तत्त्व अवश्य होना चाहिए, जो युग-युग में विभिन्न धाराओं को मोड़ देकर उनको एक विशाल और विराट् धारा बनाता रहा हो। प्रत्येक संस्कृति का और प्रत्येक सभ्यता का अपना एक प्राण-तत्त्व होता है, जिसके आधार पर वह संस्कृति और सभ्यता तन कर खड़ी रहती है और संसार के विनाशक तत्त्वों को चुनौती देती रहती है। रोम और मिश्र की संस्कृति धूलिमान् हो चुकी है, जबकि वे संस्कृतियाँ भी उतनी ही प्राचीन थीं, जितनी कि भारत की संस्कृति।

भारतीय संस्कृति का प्राणतत्त्व :

भारत की संस्कृति का मूल-तत्त्व अथवा प्राणतत्त्व है—अहिंसा और अनेकान्त, समता और समन्वय। वस्तुत. विभिन्न संस्कृतियों के बीच सात्विक समन्वय का काम अहिंसा और अनेकान्त के बिना नहीं चल सकता। तलवार के बल पर हम मनुष्य को विनष्ट कर

सकते हैं, पर उसे जीत नही सकते। असल मे मनुष्य को सही रूप मे जीतना, उसके हृदय पर अधिकार पाना है; और उसका शाश्वत उपाय समर-भूमि की रक्त-धारा से लाल कीच नही, सहिष्णुता का शीतल प्रदेश ही हो सकता है। आज से ही नही, अनन्तकाल से भारत अहिंसा और अनेकान्त की साधना मे लीन रहा है। अहिंसा और अनेकान्त को समता और समन्वय भी कहा जा सकता है। अहिंसा और अनेकान्त पर किसी सम्प्रदायविशेष का लेबिल नहीं लगाया जा सकता। ये दोनो तत्त्व भारतीय सस्कृति के कण-कण मे रम चुके हैं और भारत के कोटिश लोगो के अंतर्मन मे प्रवेश पा चुके हैं। भले ही कुछ लोगो ने यह समझ लिया हो कि अहिंसा और अनेकान्त, जैन धर्म के सिद्धान्त हैं। बात वस्तुतः यह है कि सिद्धान्त सदा अमर होते हैं, न वे कभी जन्म लेते हैं और न वे कभी मरते हैं। अहिंसा और अनेकान्त को श्रमण भगवान् महावीर ने जन-चेतना के समक्ष प्रस्तुत किया एव प्रकट किया, इसका अर्थ यह नही है कि वह जैन धर्म के ही सिद्धान्त हैं, बल्कि सत्य यह है कि वे भारत के और भारतीय सस्कृति के अमर सिद्धान्त हैं। क्योकि भगवान् महावीर और जैन धर्म अभारतीय नही थे। यह बात अलग है कि भारत की अहिंसा-साधना जैन धर्म मे अपने चरम उत्कर्ष पर पहुँची और जैन-धर्म मे भी समन्वयात्मक विचार का उच्चतम शिखर—अनेकान्तवाद—अहिंसा का ही चरम विकास है। अनेकान्तवाद नाम यद्यपि जैनाचार्यों के द्वारा प्रस्तुत किया गया है, किन्तु जिस स्वस्थ दृष्टिकोण की ओर यह सिद्धान्त सकेत करता है, वह दृष्टिकोण भारत मे आदिकाल से ही विद्यमान था।

भारतीय सस्कृति में अहिंसा एवं अनेकान्त

सहिष्णुता, उदारता, सामासिक सस्कृति, अनेकान्तवाद, समन्वयवाद, अहिंसा और समता—ये सब एक ही तत्त्व के अलग-अलग नाम हैं। अनेकान्तवादी वह है, जो दुराग्रह नही करता। अनेकान्तवादी वह है, जो दूसरो के मतो को भी आदर से देखना और समझना चाहता है। अनेकान्तवादी वह है, जो अपने सिद्धान्तो को भी निष्पक्षता के साथ परखता है। अनेकान्तवादी वह है, जो समझौते को अपमान की वस्तु नही मानता। सम्राट् अशोक और सम्राट् हर्षवर्धन बौद्धिक दृष्टि से अहिंसावादी और अनेकान्तवादी ही थे, जिन्होने एक सम्प्रदाय विशेष मे रहकर भी सभी धर्मो की समान भाव से सेवा की। इसी प्रकार मध्ययुग मे सम्राट् अकबर भी निष्पक्ष सत्यशोधक के नाते अनेकान्तवादी था, क्योकि परम सत्य के अनुसन्धान के लिए उसने आजीवन प्रयत्न किया था। परमहस रामकृष्ण सम्प्रदायातीत दृष्टि से अनेकान्तवादी थे, क्योकि हिन्दू होते हुए भी सत्य के अनुसन्धान के लिए उन्होंने इस्लाम और ईसाई मत की भी साधना की थी और गान्धी जी का तो एक प्रकार से सारा जीवन ही अहिंसा और अनेकान्त के महापथ का यात्री रहा है। मेरा यह दृढ निश्चय है कि अहिंसा और अनेकान्त के बिना तथा समता और समन्वय के बिना भारतीय सस्कृति चिरकाल तक खडी नही रह सकती। जन-जन के जीवन को पावन बनाने के लिए, समता और समन्वय की बडी आवश्यकता है। विरोधो का परिहार करना तथा विरोध मे मे भी विनोद निकाल लेना, इसी को समन्वय कहा जाता है। समन्वय कुछ बौद्धिक सिद्धान्त नही है, वह तो मनुष्यो की इस जीवन भारती का जीता-जागता रचनात्मक सिद्धान्त है। समता का अर्थ है—स्नेह, सहानुभूति और सद्भाव। भला, इस समता के बिना मानव-जाति कैसे सुखी और समृद्ध हो सकती है? परस्पर की कटुता और कठोरता को दूर करने के लिए, समता की बडी आवश्यकता है।

संस्कृति और सम्यता एक मौलिक विवेचन :

संस्कृति के स्वरूप तथा उसके मूल तत्त्वो के सम्बन्ध मे बहुत कुछ कहा जा चुका है। अव एक प्रश्न और है, जिस पर विचार करना आवश्यक है, और वह प्रश्न यह है कि क्या सस्कृति और सम्यता एक है अथवा भिन्न-भिन्न दो दृष्टिकोण? सस्कृति और सम्यता शब्दो का प्रयोग अनेक अर्थों मे किया जाता है। पाश्चात्य विद्वान् टाइलर का कथन है कि—सम्यता और सस्कृति एक-दूसर के पर्याय हैं। वह संस्कृति के लिए सम्यता और परम्परा शब्द का प्रयोग भी करता है। इसके विपरीत प्रसिद्ध इतिहासकार टायनवी सस्कृति शब्द का प्रयोग करना पसन्द नहीं करता। उसने सम्यता शब्द का प्रयोग ही पसन्द किया है। एक दूसरे विद्वान् का कथन है कि—"सम्यता किसी संस्कृति की चरम अवस्था होती है। प्रत्येक सस्कृति की अपनी एक सम्यता होती है। सम्यता सस्कृति की अनिवार्य परिणति है। यदि सस्कृति विस्तार है, तो सम्यता कठोर स्थिरता।" सस्कृति का सवसे महत्त्वपूर्ण एव तथ्यमूलक अनुसन्धान (Anthropology) मानव-विज्ञान शास्त्र मे हुआ है। सस्कृति की सवसे पुरानी और व्यापक परिभाषा टायलर की है, जो उन्नीसवी शताब्दी के प्रारम्भिक चरण मे दी गई थी। टायलर की, सस्कृति की परिभाषा इस प्रकार है—"सस्कृति अथवा सम्यता एक वह जटिल तत्त्व है, जिसमे ज्ञान, नीति, न्याय, विधान, परम्परा और दूसरी उन योग्यताओ और आदतो का समावेश है, जिन्हे मनुष्य सामाजिक प्राणी होने के नाते प्राप्त करता है।" मेरे विचार मे, सम्यता और सस्कृति एक ही सिक्के के दो पहलू हैं—एक भीतर का और दूसरा वाहर का। सस्कृति और सम्यता बहुत कुछ उसी भावना को अभिव्यक्ति करती हैं, जिसे विचार और आचार कहते हैं। जीवन का स्थूल रूप यदि सम्यता है, तो उसका सूक्ष्म-आतरिक रूप सस्कृति है।

सस्कृति का आधार

मनुष्य की प्रतिष्ठा का मूल आधार, उसका अपना मनुष्यत्व, ही माना गया है। चरित्र, त्याग, सेवा और प्रेम—इसी आधार पर मानव की महत्ता तथा प्रतिष्ठा का महल खडा किया गया था। पर, आज लगता है—मनुष्य स्वय इन आधारो पर विश्वास नहीं कर रहा है। अपनी प्रतिष्ठा को चार चाँद लगाने के लिए, उसकी दृष्टि भौतिक साधनो पर जा रही है, वह धन, सत्ता और नाम के आधार पर अपनी प्रतिष्ठा का नया प्रासाद खडा करना चाह रहा है। आज महत्ता के लिए एकमात्र भौतिक विभूति को ही आधार मान लिया गया है।

आज समाज और राज्य ने प्रतिष्ठा का आधार बदल दिया है, मनुष्य के दृष्टिकोण को बदल दिया है। आज की संस्कृति और सम्यता धन और सत्ता पर केन्द्रित हो गई है। इसलिए मनुष्य की प्रतिष्ठा का आधार भी धन और सत्ता बन गये हैं। धन और सत्ता बदलती रहती है, हस्तान्तरित होती रहती है, इसलिए प्रतिष्ठा भी बदलती रहती है। आज जिनके पास सोने का भण्डार भरा है, या कहना चाहिए, नोटो का ढेर लगा है, जिनके हाथ मे सत्ता है, शासन है, वह यदि चरित्रहीन और दुराचारी भी होगा तो भी उसे सम्मान और प्रतिष्ठा मिलती रहेगी, समाज उसकी जय-जयकार करता रहेगा, सैकड़ो लोग उनकी कुर्सी की परिक्रमा करते रहेंगे। चूँकि मानो प्रतिष्ठा उनकी तिजोरी में बन्द हो गई है या कुर्सी के चारो पैरो के नीचे दुबकी बैठी है। सस्कृति के ये आधार न तो स्थायी हैं और न सही ही है।

धन और सत्ता के आधार पर प्राप्त होने वाली प्रतिष्ठा कभी स्थायी नही होती। वह इन्द्रधनुष की तरह एकबार अपनी रंगीन छटा से ससार को मुग्ध भले ही करले, किन्तु कुछ काल के बाद उसका कोई अस्तित्व आसमान और धरती के किसी कोने मे नही मिल सकता। यदि धन को स्थायी प्रतिष्ठा मिली होती, तो आज ससार मे धनकुबेरो के मन्दिर बने मिलते। उनकी पूजा होती रहती। ब्रह्मदत्त चक्रवर्ती और रावण जैसों की मालाएँ फेरी जाती, जरासन्ध और दुर्योधन को संसार आदर्श पुरुष मानता। जिनकी सोने कीं नगरी थी, जिनके पास अपार शक्ति थी, सत्ता थी, अपने युग मे उन्हे प्रतिष्ठा भी मिली थी, ख्याति भी मिली थी। पर याद रखिए, प्रतिष्ठा और ख्याति मिलना दूसरी बात है—श्रद्धा मिलना कुछ और बात है। जनश्रद्धा उसे मिलती है जिसके पास आत्मश्रद्धा होती है, चरित्र होता है। ख्याति, प्रशसा और प्रतिष्ठा क्रूरता से भी मिल सकती है, मिली भी है, पर युग के साथ उनकी ख्याति के बुलबुले भी समाप्त हो गए, उनकी प्रतिष्ठा आज खडहरो मे सोयी पडी है।

मनुष्य के मन की यह सबसे बडी दुर्बलता है कि वह इस बाह्य प्रतिष्ठा के बहाव मे अन्धा होकर बहता चला जा रहा है।

सिंहासन की होड़ ·

मैं देखता हूं, सिंहासनो की होड मे मनुष्य अधा होकर चला है। सम्राट् अजातशत्रु बड़ा ही महत्त्वाकांक्षी सम्राट् हो गया है। युवावस्था मे प्रवेश करते ही उसकी सीमाहीन महत्वाकांक्षाएँ सुरसा की भांति विराट् रूप धारण कर लेती हैं। सोचता है—"बाप बूढा हो गया है। चलता-चलता जीवन के किनारे पहुँच गया है। अभी तक तो सिंहासन मुझे कभी का मिल जाना चाहिए था। मैं अभी युवक हूं, भुजाओ मे भी बल है। बुढापे मे साम्राज्य मिलेगा तो क्या लाभ? कैसे राज्य विस्तार कर सकूँगा? कैसे साम्राज्य का आनन्द उठा सकूँगा?" बस, वह राज्य के लिए बाप को मारने की योजना बनाता है। सिंहासन के सामने पिता के जीवन का कोई मूल्य नही रह जाता है।

श्रेणिक भी बूढा हो गया है, पर मरना तो किसी के हाथ की बात नही। गृहस्थाश्रम का त्याग उसने किया नहीं। कभी-कभी सोचा करता हूं कि भारत की यह पुरानी परम्परा कितनी महत्त्वपूर्ण थी कि बुढापा आ गया, शरीर अक्षम होने लगा, तो नई पीढी के लिए मार्ग खोल दिया—"आओ! अब तुम इसे सभालो, हम जाते हैं।" और ससार त्याग कर के चल दिए। महाकवि कालिदास ने रघुवंशी राजाओ का वर्णन करते हुए कहा है—

"शैशवेऽभ्यस्तविद्यानां यौवने विषयैषिणाम्।
वार्द्धक्ये मुनिवृत्तीनां योगेनान्ते तनुत्यजाम्॥"

बचपन मे विद्याओ का अभ्यास करते रहे, शास्त्रविद्या भी सीखी और शस्त्रविद्या भी। यौवन की चहल-पहल हुई तो विवाह किया, गृहस्थाश्रम मे प्रवेश किया। न्याय और नीति के आधार पर प्रजा का पालन किया। जब जवानी ढलने लगी, बुढापे की छाया आने लगी तो यह नही कि राज सिंहासन से चिपटे रहे, भोगो मे फँसे रहे। राज सिंहासन अपने उत्तराधिकारी को सौंपा और मुनिवृत्ति स्वीकार करके चल पडे। गृह और राज्य से मुक्त होना ही मात्र उनका कोई ध्येय नही था। उस निवृत्ति के साथ ही आत्मा की प्रवृत्ति भी निहित थी।

त्याग की संस्कृति :

जिनके जीवन मे प्रतिष्ठा और महत्ता का आधार त्याग, चरित्र एव प्रेम रहा है, वे चाहे राजसिंहासन पर रहे या जगल मे रहे, जनता के दिलो मे बसे रहे हैं, जनता उन्हे श्रद्धा से सिर झुकाती रही है। भारतीय संस्कृति मे जनक का उदाहरण हमारे सामने है। जनक के जीवन का आधार साम्राज्य या वैभव नहीं रहा है, बल्कि त्याग, तप, न्यायनिष्ठा और जनता की सेवा का रहा है, इसीलिए वे जनता का पूज्य भी बन पाए। जनता ने उसका नाम भी 'जनक' अर्थात् पिता रख दिया, जबकि उसका वास्तविक नाम कुछ और ही था। वह राजमहलो मे रहा, फिर भी उसका जीवन-दर्शन जनता के प्रेम मे था, प्रजा की भलाई मे था। वह वास्तव मे ही प्रजा का जनक अर्थात् पिता था।

हमारी संस्कृति धन, ऐश्वर्य या सत्ता की प्रतिष्ठा मे विश्वास नही करती है। हमारे यहाँ महल और बँगलो मे रहने वाले महान् नही माने गये है। रेशमी और बहुमूल्य वस्त्र पहनने वालो का आदर नही हुआ है, बल्कि अकिंचन भिक्षुओ की प्रतिष्ठा रही है। झोंपडी और जगल मे रहने वालो की पूजा हुई है और बिल्कुल सादे, जीर्ण शीर्ण वस्त्र पहनने वालो पर जनता उत्सर्ग होती रही है।

स्वामी विवेकानन्द जब अमेरिका मे गये, तो एक साधारण सन्यासी की वेशभूषा मे ही गये। लोगों ने उनसे कहा—"यह अमेरिका है, संसार की उच्च सभ्यता वाला देश है, आप जरा ठीक से कपडे पहनिए।

विवेकानन्द ने इसके उत्तर मे कहा—"ठीक है, आपके यहाँ की संस्कृति दर्जियो की संस्कृति रही है, इसलिए आप उन्ही के आधार पर वस्त्रो की काँटछाँट एव बनावट के आधार पर ही सभ्यता का मूल्याकन करते हैं। किन्तु जिस देश मे मैंने जन्म लिया है, वहाँ की संस्कृति मनुष्य के निर्मलचरित्र एव उच्च आदर्शो पर आधारित है। वहाँ जीवन में बाहरी तडक-भडक और दिखावे की प्रतिष्ठा नही है, बल्कि सादगी और सच्चाई की प्रतिष्ठा है।"

उपनिषद मे एक कथा आती है कि—एक बार कुछ ऋषि एक देश की सीमा के बाहर-बाहर से कही दूर जा रहे थे। सम्राट् को मालूम हुआ तो वह आया और पूछा—"आप लोग मेरे जनपद को छोड़कर क्यो जा रहे है? मेरे देश में ऐसा क्या दोष है?

"न मे स्तेनो जनपदे, न कदर्य्यो न मद्यप,
नानाहिताग्निर्नाविद्वान्, न स्वैरी स्वैरिणी कुत: ?"

मेरे देश मे कोई चोर-उचक्के नही है, कोई दुष्ट या कृपण मनुष्य नही रहते हैं, शराबी, चरित्रहीन, मूर्ख अनपढ भी मेरे देश मे नहीं है, तो फिर क्या कारण है कि आप मेरे देश को यों ही छोडकर आगे जा रहे है?"

मै सोचता हूँ भारतीय राष्ट्र की यह सच्ची तस्वीर है, जो उस युग मे प्रतिष्ठा और सम्मान से देखी जाती थी। जिस देश और राष्ट्र की संस्कृति, सभ्यता इतनी महान् होती है, उसी की प्रतिष्ठा और महत्ता के मानदण्ड ससार मे सदा आदर्श उपस्थित करते हैं। यही संस्कृति वह संस्कृति है, जो गरीबी और अमीरी - दोनों मे नया प्रकाश देती है। महलों और झोंपड़ियो मे निरन्तर प्रसन्नता बाँटती रहती है। आनन्द उफानती रहती है। जिस जीवन मे इन संस्कृति के अंकुर पल्लवित-पुष्पित होते रहे हैं, हो रहे है, वह जीवन ससार का आदर्श जीवन है, महान् जीवन है।

★★★★

३८

भारतीय संस्कृति में व्रतों का योगदान

मानव-जाति के इतिहास पर दृष्टि डालने से ज्ञात होता है कि आदिकाल के अकर्म-युग से मनुष्य ने जब कर्म-युग मे प्रवेश किया, तब उसके जीवन का लक्ष्य अपने पुरुषार्थ के आधार पर निर्धारित हुआ। जैन परम्परा और इतिहास के अनुसार उस मोड के पहले का युग एक ऐसा युग था, जब मनुष्य अपना जीवन प्रकृति के सहारे पर चला रहा था, उसे अपने आप पर भरोसा नही था, या यो कहें कि उसे अपने पुरुषार्थ पर विश्वास नही हुआ था। उसकी प्रत्येक आवश्यकता प्रकृति के हाथों पूरी होती थी, भूख प्यास की समस्या से लेकर बडी से बडी समस्याएँ प्रकृति के द्वारा हल होती थी, इसीलिए वह प्रकृति की उपासना करने लगा। कल्पवृक्षो के निकट जाकर उनकी आरजू, मिन्नतें करता और उनसे प्राप्त सामग्रियो के आधार पर अपना जीवननिर्वाह करता। इस प्रकार आदियुग का मानव प्रकृति के हाथो मे खेला था। उत्तर कालीन ग्रन्थो से पता चलता है कि उस युग के मानव की आवश्यकताएँ बहुत ही कम थी। उस समय भी पति-पत्नी होते थे, पर उनमे परस्पर एक-दूसरे का सहारा पाने की आकांक्षा, उत्तरदायित्व की भावना नही थी। सभी अपनी अभिलाषाओं और अपनी आवश्यकताओ के सीमित दायरे मे बंधे थे। एक प्रकार से वह युग उत्तरदायित्व-हीन एवं सामाजिक तथा पारिवारिक सीमाओं से मुक्त एक स्वतन्त्र जीवन था, कल्पवृक्षो के द्वारा तत्कालीन आवश्यकताओं की पूर्ति होती थी, इसलिए किसी को भी उत्पादन-श्रम एव जिम्मेदारी की भावना से बांधा नही गया था, सभी अपने मे मस्त थे, लीन थे।

व्रत और रीति-रिवाज

पुराने युग मे एक ऐसा रिवाज प्रचलित था कि विवाह के समय बैल को ताजा मार कर उसके गीले खून से भरा लाल चमडा वर-वधू को ओढाया जाता था। परन्तु जैनो को यह रिवाज कब मान्य हो सकता था ? इसका अनुकरण करने से तो अहिंसा व्रत दूषित होता है। व्रतो के सामने रीति-रिवाजो का क्या मूल्य है ? तो जैन इस रिवाज के

लिए क्या करे ? वैदिक परम्परा के कुछ लोग तो ऐसा किया करते थे और सम्भव है उन्होंने इस चीज को धर्म का भी रूप दिया हो। परन्तु जैन लोग इस प्रथा को स्वीकार नही कर सकते थे। उन्होंने इसमे सम्यक्त्व और व्रत—दोनो की हानि देखी। अतएव जैन गृहस्थो और जैनाचार्यों ने उस हिंसापूर्ण परम्परा में सशोधन कर लिया। उन्होंने कहा—गीला चमडा न ओढ़ाए जाएँ, उसके स्थान पर लाल कपडा ओढ लिया जाए, तो अति उत्तम हो। ऐसा करने से प्रचलित परम्परा का मूल उद्देश्य भी कायम रह जाएगा और सम्यक्त्व तथा व्रतो मे दूषण भी न लगने पाएगा।

लाल कपडा प्रसन्नता का ,अनुराग का द्योतक माना जाता है। इस प्रकार जैनो ने रक्त से लथपथ चमडे के बदले लाल कपडा ओढ़ने की जो परम्परा चलाई, वह आज भी चल रही है। आज भी विवाह आदि अवसरो पर स्त्रियाँ लाल कपडे पहनती हैं। तो जैनो ने उस दूषित परम्परा को बदलने के साथ कितनी बडी क्रान्ति की है, इस बात का सहज ही अनुमान लगाया जा सकता है। इस विषय मे अधिक देखना चाहें तो 'गोभिल्ल गृह्यसूत्र' मे विस्तार से देख सकते हैं।

उसी युग मे एक परम्परा और थी। उत्सव के अवसर पर लोग मनुष्य की खोपड़ी लेकर चलते थे। परन्तु जब जैनधर्म का प्रचार बढा, तो खोपडी रखने की भद्दी परम्परा समाप्त कर दी गई। जैनधर्म ने उसके स्थान पर नारियल रखने की परम्परा प्रचलित की। इस प्रकार जैनधर्म की बदौलत खोपडी की जगह नारियल की परम्परा धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गई। आप देखेंगे कि नारियल ठीक खोपडी की शक्ल का होता है, वह मानव की सी आकृति का है। इस रूप मे नारियल नरमुण्ड का प्रतीक है। उस समय के जैनियो ने विचारा—खोपडी रखने से क्या लाभ ? खोपटी तो अपावन और अशोभन वस्तु है और जगलीपन की निशानी है। नारियल रखने से उस परम्परा का पालन भी हो जाएगा और जगलीपन की निशानी भी दूर हो जाएगी।

इस प्रकार उस समय के जगली रिवाजो को जैनधर्म ने दूर किया, जिसमें देवी-देवताओं के आगे मनुष्य की खोपडी चढ़ाई जाती थी। मैं समझता हूँ, जैनियो ने उन हिंसक परम्पराओ का खात्मा करके और उनकी जगह इन नवीन अहिंसक परम्पराओ को कायम करके मानवीय वृत्ति की स्थापना की। जैनो ने नारियल के रूप में खोपडी को प्रतीक रक्खा, उसे अन्य धर्मावलम्बियों ने भी स्वीकार कर लिया और आज तक वह कायम है। इस प्रकार, जैनधर्म द्वारा स्थापित की हुई प्रथाओ और परम्पराओं में सर्वत्र आप अहिंसा की ही स्फुरणा देखेंगे।

पौराणिक युग की परम्परा :

अकर्म-भूमि की उस अवस्था में मनुष्य सागरो के सागर चलता गया। मानव की पीढ़ियाँ दर पीढ़ियाँ बढ़ती गईं। किन्तु फिर भी उस जाति का विकास नहीं हुआ। उनके जीवन का क्रम विकसित नही हुआ, उनके जीवन मे संघर्ष कम थे, लालसाएँ और आकांक्षाएँ कम थी। जीवन मे नम्रता, सरलता का वातावरण था। कषाय की प्रवृत्तियाँ भी मंद थी, यद्यपि कषायभाव की यह मन्दता ज्ञानपूर्वक नही थी, उनका स्वभाव, प्रकृति ही शान्त और कोमल थी। सुखी होते हुए भी उनके जीवन मे ज्ञान एवं विवेक की कमी थी, वे सिर्फ शरीर के क्षुद्र घेरे मे बन्द थे। संयम, साधना तथा आदर्श का विवेक उस जीवन

मे नही था। यही कारण था कि उस काल मे एक भी आत्मा मोक्ष मे नही गई और कर्म तथा वासना के बन्धन को नही तोड सकी। उनकी दृष्टि केवल 'मैं' तक ही सीमित थी। शरीर के अन्दर मे शरीर से परे क्या है, मालूम होता है, इस सम्बन्ध मे उन्होंने कभी सोचा ही नही, और यदि किसी ने सोचा भी तो आगे कदम नही बढा सका। जब कभी उस भूमिका का अध्ययन करता हूं, तो मन मे ऐसा भाव आता है कि मैं उस जीवन से बचा रहूँ। जिस जीवन मे ज्ञान का कोई प्रकाश न हो, सत्यता का कोई मार्ग न हो, भला उस जीवन मे मनुष्य भटकने के सिवा और क्या कर सकता है? उस जीवन मे यदि पतन नही है, तो उत्थान भी तो नही है। ऐसी निर्माल्य दशा मे, इस त्रिशंकु जीवन का कोई भी महत्त्व नही है। कुछ ऐसी ही क्रान्ति और प्रगतिविहीन सामान्य दशा मे वह अकर्म-युग चल रहा था उसे जैन भाषा से पौराणिक युग कहते हैं।

नवयुग का नया सन्देश

धीरे-धीरे कल्पवृक्षो का युग समाप्त हुआ। इधर प्राकृतिक उत्पादन क्षीण पडने लगे, उधर उपभोक्ताओ की सख्या बढने लगी। ऐसी परिस्थितियो मे प्राय विग्रह, वैर और विरोध पैदा हो ही जाते हैं। जब कभी उत्पादन कम होता है और उपभोक्ताओ की सख्या अधिक होती है, तब परस्पर सघर्षों का होना अवश्यभावी है। ऐसी स्थिति मे स्वाभाविक तौर पर उस युग मे भी यही हुआ कि पारस्परिक प्रेम एव स्नेह टूट कर घृणा, द्वेष, कलह और द्वन्द्व बढने लगे, सघर्ष की चिनगारियाँ छिटकने लग गईं। समाज मे सब ओर कलह, घृणा, द्वन्द्व का सर्जन होने लगा।

मानव जाति की उन सकटमयी घडियो मे, सक्रमणशील परिस्थितियो मे भगवान् ऋषभदेव ने मानवीय भावना का उद्बोधन किया। उन्होने मनुष्य जाति को समझाया कि—अब प्रकृति के भरोसे रहने से काम चलने का नही है। हमारे हाथो का उपयोग सिर्फ खाने के लिए ही नही, प्रत्युत कमाने, उपार्जन करने के लिए भी होना चाहिए। उन्होने यह भी कहा कि—युग बदल गया है, वह अकर्म-युग का मानव अब कर्म-युग (पुरुषार्थ के युग) मे प्रविष्ट हो रहा है। इतने दिन पुरुष सिर्फ भोक्ता बना हुआ था। प्रकृति के कर्तृत्व पर उसका जीवन टिका हुआ था। किन्तु अब यह वैषम्य चलने का नही है। अब कर्तृत्व और भोक्तृत्व दोनों ही पुरुष मे हैं। पुरुष ही कर्त्ता है और पुरुष ही भोक्ता है। तुम्हारी भुजाओ मे बल है, तुम पुरुषार्थ से आनन्द का उपभोग करो। भगवान् आदिनाथ के कर्म-युग का यह उद्घोष अब भी वैदिक वाङ्मय मे प्रतिध्वनित होता दिखाई पडता है—

"अय मे हस्तो भगवान् अय मे भगवत्तरः।
कृत मे दक्षिणे हस्ते जयो मे सव्ये आहितः॥"

मेरा हाथ ही भगवान् है, भगवान् से भी बढकर है। मेरे दाएं हाथ मे कर्तृत्व है, पुरुषार्थ है; तो बाएं हाथ मे विजय है, सफलता है।

पुरुषार्थ जागरण की उस वेला मे भगवान् ऋषभदेव ने युग को नया मोड दिया। मानवजाति को, जो धीरे-धीरे अभावग्रस्त हो रही थी, पराधीनता के फन्दे में फँसकर तडपने लगी थी, उसे उत्पादन का मन्त्र दिया, श्रम और स्वतन्त्रता का मार्ग दिखाया। और, मानव समाज मे फिर से उल्लास एव आनन्द बरसने लग गया। सुख-चैन की मुरली बजने लग गई।

मनुष्य के जीवन मे जब-जब ऐसी सुख की घडियां आती हैं, आनन्द की स्रोतस्विनी बहने लग जाती है, वह नाचने लगता है। सबके साथ बैठकर आनन्द और उत्सव मनाता है और बस वे ही घडियां, वे ही तिथियां जीवन मे व्रत का रूप ले लेती हैं और इतिहास की महत्त्वपूर्ण तिथियां बन जाती हैं। इस प्रकार उस नये युग का नया सन्देश जन-जीवन मे नई चेतना फूंककर उल्लास का त्योहार बन गया। और वही परम्परा आज भी हमारे जीवन मे आनन्द-उल्लास की घडियो को त्योहार के रूप मे प्रकट करके सबको सम्यक् आनन्द का अवसर देती है।

भगवान् ऋषभदेव के द्वारा कर्मभूमि की स्थापना के बाद मनुष्य पुरुषार्थ के युग में आया और उसने अपने उत्तरदायित्वों को समझा। परिणाम यह हुआ कि सुख-समृद्धि और उल्लास के झूले पर झूलने लगा, और जब सुख-समृद्धि एवं उल्लास आया, तो फिर व्रतो मे से व्रत निकलने लगे। हर घर, हर परिवार त्योहार मनाने लगा और फिर सामाजिक जीवन मे पर्वों, त्योहारो की लडियां बन गई। समाज और राष्ट्र मे त्योहारो की शृंखला बनी। जीवन का क्रम जो अबतक व्यक्तिवादी दृष्टि पर घूम रहा था, अब व्यष्टि से समष्टि की ओर घूमा। व्यक्ति ने सामूहिक रूप धारण किया और एक की खुशी, एक का आनन्द, समाज की खुशी और समाज का आनन्द बन गया। इस प्रकार सामाजिक भावना की भूमिका पर चले हुए व्रत, सामाजिक चेतना के अग्रदूत सिद्ध हुए। नई स्फूर्ति, नया आनन्द और नया जीवन समाज की नसो मे दौड़ने लगा।

प्राचीन जैन, बौद्ध एव वैदिक ग्रन्थो के अनुशीलन से ऐसा लगता है कि उस समय मे पर्व, त्योहार जीवन के आवश्यक अंग बन गए थे। एक भी दिन ऐसा नहीं जाता, जबकि समाज मे पर्व, त्योहार व उत्सव का कोई आयोजन नही हो। इतना ही नही, बल्कि एक-एक दिन और तिथियां मे दस-दस और उससे भी अधिक पर्वों का सिल-सिला चलता रहता था। सामाजिक जीवन मे बच्चों के पर्व अलग, औरतो के पर्व अलग, और वृद्धो के पर्व अलग। इस दृष्टि से भारत का जन-जीवन नित्यप्रति बहुत ही उल्लसित और आनन्दित रहा करता था।

व्रतों का सन्देश

हमारे व्रतो की वह लडी, कुछ छिन्न भिन्न हुई परम्परा के रूप मे आज भी हमे महान् अतीत की याद दिलाती है। हमारा अतीत उज्ज्वल रहा है, इसमे कोई सन्देह नही। किन्तु वर्तमान कैसा गुजर रहा है, यह थोडा विचारणीय है। इन व्रतों के पीछे सिर्फ अतीत की याद को ताजा करना ही हमारा लक्ष्य नही है, बल्कि उसके प्रकाश मे वर्तमान को देखना भी आवश्यक है। अतीत का वह गौरव जहां एक ओर हमारे जीवन का एक सुनहला पृष्ठ खोलता है, वहां दूसरी ओर नया पृष्ठ लिखने का भी सन्देश देता है। इसलिए व्रतो की खुशी के साथ-साथ हमे अपने नव-जीवन के अध्याय को भी खोलना चाहिए और उसका अवलोकन करके अतीत को वर्तमान के साथ मिलाना चाहिए।

जीने की कला

यद्यपि जैन धर्म की परम्परा निवृत्ति-मूलक रही है; उसके अनुसार जीवन का लक्ष्य भोग नहीं, त्याग है; बन्धन नही, मोक्ष है, तथापि इसका यह अर्थ नहीं कि वह निष्क

परलोक की ही बात करता है। इस जीवन से उसने आँखें मूँद ली हो। हम इस संसार मे रहते हैं, तो हमे ससार के ढंग से ही जीना होगा, हमे जीने की कला सीखनी होगी। जब तक जीने की कला नही आती है, तबतक जीना वास्तव मे आनन्ददायक नही होता। जैन परम्परा, जैन पर्व, एव जैन विचार हमे जीने की कला सिखाते हैं, हमारे जीवन को सुख और शान्तिमय बनाने का मन्त्र देते हैं। जैन धर्म का लक्ष्य मुक्ति है, किन्तु इसका यह अभिप्राय नहीं कि उसके पीछे इस जीवन को बर्बाद कर दिया जाए। वह नही कहता है कि मुक्ति के लिए शरीर, परिवार व समाज के बन्धनो को तोड डाले, कोई किसी को अपना न माने, कोई पुत्र अपने पिता को पिता न माने, पति-पत्नी परस्पर कुछ भी स्नेह का नाता न रखें, बहन-भाई आपस मे एक-दूसरे से निरपेक्ष होकर चलें। जीवन की यात्रा में चलते हुए, परिवार, समाज व राष्ट्र के प्रति अपने उत्तरदायित्वो का भार उतार फेंके, इस प्रकार तो जीवन मे एक भयकर तूफान आ जाएगा, भारी अव्यवस्था और अशान्ति बढ जाएगी, मुक्ति की अपेक्षा स्वर्ग से भी गिरकर नरक मे चले जाएँगे। जैन धर्म का सन्देश है कि हम जहाँ भी रहे, अपने स्वरूप को समझकर रहें, शारीरिक, पारिवारिक एवं सामाजिक सम्बन्धो के बीच बँधे हुए भी उनमे कैद न हो। परस्पर एक-दूसरे की आत्मा को समझकर चलें, शारीरिक सम्बन्ध को महत्त्व न देकर आत्मिक पवित्रता का ध्यान रखे। जीवन मे सब कुछ करना पडता है, किन्तु आसक्त होकर नही, अपितु सिर्फ एक कर्त्तव्य के नाते किया जाए। शरीर व इन्द्रियो के बीच मे रहकर भी उसके दास नही, अपितु स्वामी बन कर रहें। भोग मे रहते हुए भी योग को भूल न जाएँ। महलो मे रहकर भी उनके दास बनकर नही, किन्तु उन्हें अपना दास बनाकर रखें। ऊँचे सिंहासन पर, या ऐश्वर्य के विशाल ढेर पर बैठकर भी उसके गुलाम न बनें, बल्कि उसे अपना गुलाम बनाए रखें, जब धन स्वामी बन जाता है, तभी मनुष्य को भटकाता है। धन और पद मूर्तिमान शैतान हैं। जब तक ये इन्सान के पैरो के नीचे दबे रहते हैं, तब तक तो ठीक हैं, परन्तु जब ये सर पर सवार हो जाते हैं तो इन्सान को भी शैतान बना देते हैं।

समाज का ऋण :

जैन धर्म मे भरत जैसे चक्रवर्ती भी रहे, किन्तु वे उस विशाल साम्राज्य के बन्धन मे नही फँसे। जब तक इच्छा हुई, उपभोग किया और जब चाहा तब छोड़कर योग स्वीकार कर लिया। उनका ऐश्वर्य, बल और बुद्धि, समाज व राष्ट्र के कल्याण के लिए ही होता था। उन लोगो ने यही विचार दिया कि जब हम इस जगत् मे आए थे, तो कुछ लेकर नहीं आए थे, जन्म के समय तो मक्खी-मच्छर को शरीर से दूर हटाने की भी शक्ति नही थी। शास्त्रों मे उस स्थिति को 'उत्तानशायी' कहा गया है। जब उसमे करवट बदलने की भी क्षमता नही थी, इतना अशक्त और असहाय प्राणी बाद मे इतना शक्तिशाली बना, इसका आधार भी कुछ है और वह यह है—अपने शुभ कर्मों का सचय एव उसके आधार पर प्राप्त होने वाला माता, पिता, परिवार व समाज का प्रत्यक्ष-अप्रत्यक्ष सहयोग।

यह निश्चित है कि जिन पुरुषार्थों ने हमें समाज की इतनी ऊँचाइयों पर लाकर खडा किया है, उनके प्रति हमारा बहुत बडा उत्तरदायित्व है। समाज का ऋण प्रत्येक मनुष्य के सिर पर है, जिसे वह लेते समय हर्ष के साथ लेता है। फिर उसको चुकाते समय वह कुलबुलाता क्यो है ? हमारी यह सब सम्पत्ति, सब ऐश्वर्य और ये सब सुख सामग्रियाँ

समाज की ही देन है। यदि मनुष्य लेता ही लेता जाए, वापस दे नही, तो वह समाज के अंग में विकार पैदा कर देता है। वह इन धन-ऐश्वर्य का दास बनकर क्यो रहे, उसका स्वामी बनकर क्यो न उपयोग करे ! उसे दो हाथ मिले हैं, एक हाथ से स्वयं खाए तो दूसरे हाथ से औरो को खिलाए। वेद का एक मन्त्र है।

"शत हस्त समाहर, सहस्रहस्त सकिर।"

सौ हाथ से इकट्ठा करो, तो हजार हाथ से बांटो। संग्रह करने वाला यदि विसर्जन नही करे तो उसकी क्या दशा होती है? पेट मे यदि अन्न आदि इकट्ठे होते जाएँ, न उनका रस बने, न मल का विसर्जन हो, तो क्या आदमी जी सकता है? मनुष्य यदि समाज से कमाता है, तो समाज की भलाई के लिए देना भी आवश्यक होता है। खुद खाता है तो दूसरों को खिलाना भी जरूरी है। हमारे अतीत-जीवन के उदाहरण बताते है कि अकेला खाने वाला राक्षस होता है और दूसरो को खिलाने वाला देवता।

एक बार की बात है कि देवताओ को भगवान् विष्णु की ओर से प्रतिभोज का आमत्रण दिया गया। सभी अतिथियो को दो पक्तियो मे आमने-सामने बिठलाकर भोजन परोसा गया और सभी से खाना शुरू करने का निवेदन किया गया। भगवान् विष्णु ने कुछ ऐसी माया रची कि सभी के हाथ सीधे रह गए, किसी का मुडता तक नही था। अब समस्या हो गई कि खाएँ तो कैसे खाएँ? जब अच्छा भोजन परोसा हुआ सामने पडा हो, पेट में भूख हो और हाथ नहीं चलता हो, तो ऐसी स्थिति मे आदमी झुँझला जाता है। कुछ अतिथि भौचक्के से देखते रह गए कि यह क्या हुआ? आखिर बुद्धिमान देवताओ ने एक तजवीज निकाली, जब देखा कि हाथ मुडकर घूमता नही है, तो आमने-सामने वाले एक-दूसरे को खिलाने लग गए। दोनो पक्ति वालो ने परस्पर एक-दूसरे को खिला दिया और अच्छी तरह से खाना खा लिया। जिन्होंने एक-दूसरे को खिलाकर पेट भर लिया, सभी तृप्त हो उठे, पर कुछ बैसे थे जो यो ही देखते ही रह गए, उन्हे एक-दूसरे को खिलाने की नहीं सूझी, वे भूखे पेट ही उठ खडे हुए। विष्णु ने कहा—जिन्होंने एक-दूसरे को खिलाया वे देवता हैं और जिन्होने किसी को नही खिलाया, सिर्फ स्वयं खाने की चिन्ता ही करते रहे, वे राक्षस हैं।

वास्तव मे यह रूपक जीवन की एक ज्वलंत समस्या का हल करता है। देव और राक्षस के विभाजन का आधार, इसमे एक सामाजिक ऊँचाई पर खडा किया गया है। जो दूसरो को खिलाता है, वह स्वयं भी भूखा नही रहता और दूसरी बात है कि उसका आदर्श देवत्व का आदर्श है, जबकि स्वय ही पेट भरने की चिता में पडा रहने वाला, स्वय भी भूखा ही रहता है और समाज मे उसका दानवीय रूप प्रकट होता है।

व्रतों की सार्थकता :

हमारे व्रत जीवन के इसी महान् उद्देश्य को प्रकट करते हैं। सामाजिक जीवन की आधार भूमि और उसके उज्ज्वल आदर्श हमारे व्रतों एवं त्योहारो की परम्परा में छिपे पडे है। भारत के कुछ पर्व इस लोक के साथ परलोक के विश्वास पर भी चलते हैं। उनमे मानव का विराट् रूप परिलक्षित होता है। जिस प्रकार इस लोक का हमारा आदर्श है उसी प्रकार परलोक के लिए भी होना चाहिए। वैदिक या अन्य संस्कृतियों में, मरने के

पश्चात् पिण्ड-दान की प्रक्रिया की जाती है। इसका रूप जो भी कुछ हो, किन्तु भावना व आदर्श इसमें भी बडे ऊँचे है। जिस प्रकार अपने सामाजिक सहयोगियो के प्रति अर्पण की भावना रहती है, उसी प्रकार, अपने पूर्वजो के प्रति एक श्रद्धा एवं समर्पण की भावना इसमे सन्निहित है । जैन धर्म व सस्कृति इसके धार्मिक स्वरूप मे विश्वास नही रखती। उसका कहना है कि तुम पिण्डदान या श्राद्ध करके उन मृतात्माओ तक अपना श्राद्ध नही पहुँचा सकते, और न इससे पर्व मनाने की ही सार्थकता सिद्ध होती है। पर्व की सार्थकता तो इसमें है कि जीवन के दोनो ओर-छोर पर उल्लास और आनन्द की उछाल आती रहे।

इस भावना को लेकर कि परलोक के लिए भी हमे जो कुछ सोचना है, करना है, वह इसी लोक मे कर लिया जाए, हमारी जैन सस्कृति मे अनेक पर्व चलते हैं। पर्युषण-पर्व भी इसी भावना से सम्बद्ध है। इन पर्वों की परम्परा लोकोत्तर पर्व के नाम से चली आती है। इनका आदर्श विराट् होता है। वे लोक-परलोक दोनो को आनन्दित करने वाले होते हैं। उनका सदेश होता है कि तुम सिर्फ इस जीवन के भोग विलास व आनन्द मे मस्त होकर अपने को भूलो नही, तुम्हारी दृष्टि व्यापक होनी चाहिए, आगे के लिए भी जो कुछ करना है, वह भी यही करलो। तुम्हारे दो हाथ हैं, एक हाथ में इहलोक के आनन्द हैं, तो दूसरे हाथ मे परलोक के आनन्द रहने चाहिए। ऐसा न हो कि यहाँ पर सिर्फ मौज-मजा के त्योहार मनाते यो ही चले जाओ और आगे फाकाकशी करनी पडे। अपने पास जो शक्ति है, सामर्थ्य है, उसका उपयोग इस ढग से करो कि इस जीवन के आनन्द के साथ परलोक का आनन्द भी नष्ट न हो, उसकी भी व्यवस्था तुम्हारे हाथ मे रह सके। जैन पर्वों का यही अन्तरग है कि वे आदमी को वर्तमान मे भटकने नही देते, मस्ती मे भी उसे होश मे रखते हैं और बेचैनी में भी। समय-समय पर उसके लक्ष्य को जो कभी प्रमाद की आंधियो से धूमिल हो जाता है, स्पष्ट करते रहते हैं। उसको दिङ्मूढ होने से बचाते रहते हैं और प्रकाश की किरण बिखेर कर अन्धकाराछन्न जीवन को आलोकित करते रहते हैं।

नया साम्राज्य :

त्रिपिटक साहित्य मे एक कथानक आता है कि भारत मे एक ऐसा सम्राट् था, जिसके राज्य की सीमाओ पर भयकर जंगल थे, जहाँ पर हिंस्र वन्य पशुओ की चीत्कारो और दहाडो से आस-पास के क्षेत्र आतकित रहते थे। वहाँ एक विचित्र प्रथा यह थी कि राजाओ के शासन की अवधि पांच वर्ष की होती। शासनावधि की समाप्ति पर बडे धूम-धाम और समारोह के साथ उस राजा को और उसकी रानी को राज्य की सीमा पर स्थित उस भयंकर जगल मे छोड दिया जाता था, जहाँ जाने पर बस मौत ही स्वागत मे खडी रहती थी।

इसी परम्परा मे एकबार एक राजा को जब गद्दी मिली, तो खूब जय-जयकार मनाए गए, बडी धूमधाम से उसका उत्सव हुआ। किन्तु राजा प्रतिदिन महल के कंगूरो पर से उस जगल को देखता और पांच वर्ष की अवधि के समाप्त होते ही आने वाली उस स्थिति को सोच-सोचकर कांप उठता। राजा का खाया-पीया जलकर भस्म हो जाता और वह सूख-सूख कर कांटा होने लग गया।

एक दिन कोई बूढ़ा दार्शनिक राजा के पास आया और राजा की इस गम्भीर व्यथा का कारण पूछा—जब राजा ने दार्शनिक से अपनी पीडा का भेद खोला—कि पांच

वर्ष बाद मुझे और मेरी रानी को उस सामने के जंगल में जंगली जानवरों का भक्ष्य बन जाना पड़ेगा, बस यही चिन्ता मुझे खाए जा रही है।

दार्शनिक ने राजा से कहा—पाँच वर्ष तक तो तेरा अखण्ड साम्राज्य है न ? तू जैसा चाहे वैसा कर तो सकता है न ?

राजा ने कहा—हाँ, इस अवधि में तो मेरा पूर्ण अधिकार है, मेरा आदेश सभी को मान्य होता है।

दार्शनिक ने बताया—"तो फिर अपने अधिकार का उपयोग क्यों नहीं करते ? उन समस्त जंगलों को कटवा कर साफ करवा दो और वहाँ पर नया साम्राज्य स्थापित करदो, अपने लिए महल बनवालो, जनता के रहने के लिए भी आवास बनवाकर अभी से उस जंगल को शहर के रूप में आबाद करदो। जबकि तुम्हें पूर्ण अधिकार है और विधान व परम्परा के अनुसार जब तुम्हें अवधि समाप्त होने पर जंगल में छोड़ा जाए तो हिंस्र पशुओं की गर्जनाओं व आतंक की जगह नागरजनों का मधुर स्वागत, धन व ऐश्वर्य क्रीड़ा करता मिलेगा।" राजा को यह बात जँच गई और तत्काल आदेश देकर जंगल को साफ करवा दिया। वहाँ पर सुन्दर-सुन्दर भवन, उद्यान आदि से खूब सजा दिया गया, और एक नए नगर का निर्माण कर दिया गया। अब राजा बहुत प्रसन्न रहने लगा, अपने उस नगर को देखता, तो पुलकित हो उठता। पाँच वर्ष की अवधि सम्पूर्ण हुई। जहाँ अन्य सम्राट् अवधि समाप्त होने पर रोते बिलखते थे, वहाँ यह हँस रहा था। विधानानुसार पाँच वर्ष की अवधि समाप्त होने पर राजा अपने ही द्वारा निर्मित उस नये साम्राज्य में, जो कभी भयंकर जंगल था, जाने लगा तो नगर के हजारों नर-नारी उसके पीछे हो गए। उस नवनिर्मित नगर के आकर्षण व सौन्दर्य के कारण लोग वहाँ जाकर बसने लगे और राजा आनन्द से रहने लगा।

यही बात जीवन की है। इस संसार से परे आगे नरक की भीषण-यातनाएँ, ज्वालाएँ हमें अभी से बेचैन कर रही हैं और हम सोचते हैं कि आगे नरक में यह कष्ट देखना पड़ेगा। किन्तु यह नहीं सोचते कि उस नरक को बदलकर स्वर्ग क्यों नहीं बना दिया जाए। यह सच है कि यहाँ से एक कौड़ी भी हमारे साथ नहीं जाएगी। किन्तु इस जीवन में रहते-रहते तो हम वहाँ का साम्राज्य बना सकते हैं। इस जीवन में तो हम सम्राट् हैं, शाहंशाह हैं। यह ठीक है कि इस जीवन के बाद मौत की भयंकर घाटी है, नरक आदि की भीषण यंत्रणाएँ हैं, जो जीव को उदरस्थ करने की प्रतीक्षा में रहती हैं किन्तु यदि मनुष्य अपने इस जीवन की अवधि में दान दे सके, तपस्या कर सके, त्याग, ब्रह्मचर्य, सत्य आदि का पालन कर सके, साधना का जीवन बिता सके, और इस प्रकार पहले से ही आगे की तैयारियाँ करके प्रस्तुत रहे, तो इस संसार की यात्रा में, इस जीवन में उसे हाय-हाय करने की आवश्यकता नहीं रहती। वह वर्तमान के साथ भविष्य को भी उज्ज्वल बना सकता है, उसके दोनों जीवन आनन्दमय हो सकते हैं।

व्रतों की फलश्रुति

इस प्रकार जितने भी पर्व-त्योहार आते हैं, उनका यही संदेश है कि तुम इस जीवन में आनन्दित रहो और अगले जीवन में भी आनन्दित रहने की तैयारी करो। जिस प्रकार यहाँ पर त्योहारों की खुशियों में मुस्कानें उछालते हो, उसी प्रकार अगले जीवन में भी उछालते रहो।

हमारे व्रत लोगो से यही कहते हैं कि आज तुम्हे जीवन का वह साम्राज्य प्राप्त है, जिस साम्राज्य के बल पर तुम दूसरे हजारो-हजार साम्राज्य खडे कर सकते हो। तुम अपने भाग्य के स्वय विधाता हो, अपने सम्राट् स्वय हो। तुम्हें अपनी शक्ति का ज्ञान होना चाहिए। मौत के भय से कांपते मत रहो, बल्कि ऐसी साधना करो, ऐसा प्रयत्न करो कि वे भय दूर हो जाएँ और परलोक का वह भयकर जगल तुम्हारे साम्राज्य का सुन्दर देश बन जाए। पर्व मनाने की यही परम्परा है, पर्युषण की यही फलश्रुति है कि जीवन के प्रति निष्ठावान बनकर जीवन को निर्मल बनाओ, इस जीवन मे अगले जीवन का प्रबन्ध करो। जब तुम्हे यहाँ की अवधि समाप्त होने पर आगे की ओर प्रस्थान करना पडे, तो रोते-बिलखते नही, बल्कि हँसते हुए करो। साधक इस जीवन को भी हँसते हुए जीए और अगले जीवन को चले, तो भी हँसते हुए चले, पर्युषण का यह पर्व हम सबको अपना यही सन्देश सुना रहा है।

हमारे सभी व्रत आत्म-साधना के सुन्दर प्रयास हैं। अन्दर के सुप्त ईश्वरत्व को जगाने की साधना है। मानव शरीर नही है, आत्मा है, चैतन्य है, अनन्त गुणो का अखण्ड पिण्ड है। लोक-पर्व शरीर के आसपास घूमते हैं, किन्तु लोकोत्तर पर्व आत्मा के मूल केन्द्र तक पहुँचते हैं। शरीर से आत्मा मे, और आत्मा से अन्त रहित निज शुद्ध सत्तारूप परमात्मा में पहुँचने का लोकोत्तर संदेश, ये व्रत देते हैं। इनका सन्देश है कि साधक कही भी रहे, किसी भी स्थिति मे रहे, परन्तु अपने को न बदले, अपने अन्दर के शुद्ध परमात्म-तत्त्व को न भूले।

३९

व्यक्ति और समाज

इस पृथ्वी पर मनुष्य एक सर्वाधिक विकसित एवं प्रभावशाली प्राणी है। उसके विचार, चिन्तन एवं मनन का संसार के वातावरण पर बहुत महत्त्वपूर्ण असर होता रहा है। सृष्टि के विकास-ह्रास तथा उत्थान-पतन में उसके विचारों का बहुत बड़ा योग रहा है। कुछ गहराई में जाने से पता चलता है कि मनुष्य वैसे तो स्वयं में एक क्षुद्र इकाई है, एक सीमित सत्ता है, किन्तु सृष्टि के साथ वह शत-सहस्र रूपों में जुड़ा हुआ है। परिवार के रूप में, समाज एवं राष्ट्र के रूप में, धर्म, संस्कृति, और सभ्यता के रूप में, वह एक होकर भी 'अनेकरूपा' होकर चल रहा है, यही उसकी विशेषता है।

पार्थिव-शरीर की दृष्टि से उसका 'अस्तित्व' उसका 'अपनत्व' एक मृत्पिण्ड तक ही सीमित रह जाता है। शरीर के वैयक्तिक सुख-दुःख के भोग में वह अवश्य अपने सीमित क्षेत्र में ही घूमता है, किन्तु सुख-दुःख का स्वतन्त्र-भोग करते हुए भी वह समाज एवं संसार से सर्वथा निरपेक्ष रहकर नहीं जी सकता। उसकी भावनाओं का, विचारों और प्रवृत्तियों का यदि ठीक से विश्लेषण करें तो उसका एक व्यापक एवं विराट् रूप हमारे सामने प्रस्तुत हो जाता है। उसके अन्तस्तल में छिपे हुए स्नेह और प्रेम की व्याख्या करें तो देखेंगे कि वह एक नहीं 'अनेकरूपा' है। उसका घेरा सीमित नहीं, असीम है। उसका अन्तर्जगत् बहुत विराट् है, वह अपने आप में सृष्टि का विराट् रूप लिए हुए चल रहा है। बाहर की सृष्टि अन्तर में भी है और वह उसके साथ सम्पूर्ण रूप से बँधा हुआ है।

समाज के विकास की भूमिका :

जबतक मनुष्य का चिन्तन अपने शरीर तक ही सीमित है, तबतक उसकी इच्छाएँ और प्रवृत्तियाँ केवल इस 'पिण्ड' को लेकर ही चलती हैं। ऐसी स्थिति में जब कभी वह विचार करता है, तो स्वयं का, केवल स्वयं का ही विचार करके रह जाता है, दृष्टि घूम-फिर कर अपने दायरे पर ही आकर केन्द्रित हो जाती है। तब शरीर के संकुचित घेरे में बँधा रहकर वह इतना संकुचित हो जाता है कि आस-पास में परिवार तथा समाज के सदस्य निज,

धर्म और संस्कृति की दिव्य परम्पराएँ, जो उसके अनन्त अतीत मे जुडी चली आ रही हैं, उन्हे भी वह ठीक तरह देख नही पाता। मनुष्य के लिए विकास की जो लम्बी कहानी है, उसे वह पढ नही पाता और केवल अपने पिण्ड की क्षुद्र-दृष्टि को लेकर ही जीवन के सीमित कठघरे मे बँध जाता है।

जब संकुचित दृष्टि का चश्मा हटता है, अपनी इच्छाओ और सद्भावनाओ को मानव विराट् एवं व्यापक रूप देता है, तो उसकी नजरो मे अनन्त अतीत उतर आता है, साथ-साथ अनन्त भविष्य की कल्पनाएँ भी दौड उठती हैं। वह क्षुद्र से विराट् होता चला जाता है, सहयोग और स्नेह के सूत्र से सृष्टि को अपने साथ बाँधने लगता है। अध्यात्म की भाषा मे वह जीव से ब्रह्म की ओर, आत्मा से परमात्मतत्त्व की ओर अग्रसर होता है। अग्नि की जो एक क्षुद्र चिनगारी थी, वह विराट् ज्योति के रूप मे प्रकाशमान होने लगती है। यही व्यक्ति से समाज की ओर तथा जीव से ब्रह्म की ओर बढना है। जो अपनी क्षुद्र दैहिक इच्छाओ और वासनाओ मे सीमित रहता है, वह क्षुद्र-संसार प्राणी की कोटि मे आता है, किन्तु जब वही आगे बढकर अपने स्वार्थ को, इच्छा और भावना को विश्व के स्वार्थ (लाभ) मे विलीन कर देता है, अनन्त के प्रति अपने आपको अर्पित कर देता है, हृदय के असीम स्नेह, करुणा एव दया को अनन्त प्राणियो के प्रति अर्पित कर देता है तब वह विराट् रूप धारण कर लेता है। व्यक्ति की भूमिका मे विराट् समाज चेतना का दर्शन होने लगता है। 'स्व' के विस्तार का यह उपक्रम ही व्यक्ति को समाज के रूप मे और आत्मा को परमात्मा के रूप मे उपस्थित करता है।

भारत की महान् दार्शनिक परम्परा मे ईश्वर को परम व्यापक माना गया है। यद्यपि दार्शनिक जगत् मे ईश्वर की सर्वव्यापकता एक गुत्थी बनी हुई है, किन्तु यदि इस गुत्थी को इस रूप मे सुलझाया जाय कि जब आत्मा मे दया और करुणा की अनन्त-धाराएँ फूटती हैं और वह सृष्टि के अनन्त जीवो को अपनी करुणा मे ओत-प्रोत देखने लग जाता है, तो आत्मा सृष्टि मे व्यापक हो जाती है, विराट् हो जाती है। उसके स्नेह और करुणा का अनन्त प्रवाह ससार मे सब ओर तटस्थ भाव से बहने लगता है। सृष्टि के अनन्तानन्त प्राणियो मे वह उसी चैतन्य को देखता है जो स्वयं उनमे भी विद्यमान है, सब मे उसी सुख और आनन्द की कामना के दर्शन करता है, जो उसके हृदय मे जग रही है। इस प्रकार वह विराट् और सर्वव्यापक रूप धारण कर लेती है। मेरे विचार मे और सिर्फ मेरे ही नही, बल्कि जैन दर्शन के विचार मे, ईश्वर इसी भावात्मक रूप मे सर्वव्यापक है। शब्दो का जोड-तोड कुछ और भी हो सकता है, हम सर्वव्यापक की जगह सर्वज्ञाता और सर्वद्रष्टा भी कह सकते हैं, चूँकि प्राणिमात्र मे अपने समान चैतन्य देवता के दर्शन करना, उनकी सुख-दुःख की धारणाओ को आत्म-तुल्य समझना—यही तो हमारे ईश्वरत्व पाने वाले महामानवो का सर्वव्यापक, सर्वज्ञता और सर्वद्रष्टा अनन्त चैतन्य है।

मनुष्य का विकासक्रम, या यो कहे कि उसकी मनुष्यता का विकास-क्रम यदि देखा जाए, तो ज्ञात होगा कि वह किस प्रकार क्षुद्र से विराट् स्थिति तक पहुँचा है। एक असहाय शरीर ने जन्म धारण किया तो आसपास मे जो अन्य सक्षम शरीरधारी थे, वे उसे सहयोग

करने लगे, उसके सुख-दुःख मे भाग बँटाने लगे। इस प्रकार, परस्पर मे स्नेह एव सद्भाव की कल्पना जगी और वह परिवार का एक रूप बन गया। परिवार जैसी व्यवस्था बहुत पुराने युग में नही थी, पर, जब मनुष्य आस-पास के सुख-दुःख को अपना बनाने लगा और अपने सुख-दुःख को आस-पास के पड़ोसियो मे बाँटने लगा, तो धीरे धीरे परिवार की कल्पना खडी हो गई। सुख-दुःख मे हिस्सा बँटाने वाले अपने 'निज' के हो गए और जो उससे दूर रहे, वे पराये बने रहे। इस प्रकार मनुष्य के जीवन मे सुख-दुःख का विनिमय शुरु हुआ। आगे चलकर उसके जीवन मे जो भौतिक और आधिदैविक दुःख आते, उनसे भी सब सहयोग पूर्वक लडते, दुःखो को दूर करने का मिल जुलकर प्रयत्न करते और जो सुख प्राप्त होता, उसे सद्भाव पूर्वक आपस मे बाँट लेते, मिलकर उसका उपयोग या उपभोग करते—बस व्यक्ति के जीवन की व्यापक होने की यह प्रक्रिया परिवार को जन्म देती चली गई, समाज का निर्माण करती चली गई। इसी वृत्ति ने धीरे-धीरे विराट् से विराट्तर रूप धारण किया, तो देश और राष्ट्र की समग्र कल्पनाएँ सामने आईं, धर्म और संस्कृति की व्यापक धारणाएँ बनने लगी।

मनुष्य का चिन्तन जब अपने परिपार्श्व मे विचरने वाले छोटे जीव-जन्तुओ पर गया, तो वह उनके साथ भी एक अज्ञात संवेदना तथा सहवेदना से जुडने लगा। वह पशु-पक्षी जगत् के सुख-दुःख को भी समझने लगा, उसके साथ भी उसकी सहानुभूति जागी, प्राणीदया की भावना ने उसके जीवन मे धर्म और अध्यात्म की सृष्टि खडी कर दी, धर्म ने उसे विराट्-तम रूप पर लाकर खड़ा कर दिया। प्रत्येक प्राणी के साथ आत्म-तुल्य विचार की भूमिका ने उसे आत्मा से परमात्मा तक के चिन्तन पर पहुँचा दिया। यही मनुष्यता के विकास की कहानी है।

समाज का महत्त्व :

इधर-उधर अनियन्त्रित रूप मे बिखरी हुई इकाइयो को एकत्र कर, समाज या संघ के रूप मे उपस्थित करने वाला पारस्परिक सहयोग ही मानवता का एक दिव्य तत्त्व है। यही समाज के निर्माण की आधारभूमि है।

प्रश्न यह है कि मनुष्य व्यष्टिरूप—इकाई मे जीता है या समष्टिरूप समाज मे? चिन्तन, मनन और अनुभव के बाद यह देखा गया कि मनुष्य अपने पिण्ड की क्षुद्र इकाई मे बद्ध रहकर एक अच्छे जीने के ढग से जी नही सकता, अपना पर्याप्त नैतिक और बौद्धिक विकास नही कर सकता, जीवन की सुख-समृद्धि का द्वार नहीं खोल सकता और न ही अध्यात्म की श्रेष्ठ भूमिका तक पहुँच सकता है। अकेला रहने में उसका दैहिक विकास भी भली भाँति नही हो पाता, तो, सांस्कृतिक विकास की कल्पना तो बहुत दूर की बात है।

जैन परम्परा मे वर्तमान मानवीय सभ्यता का मूल-स्रोत यौगलिक परम्परा से माना गया है। यौगलिक-परम्परा वह है, जहाँ मनुष्य एक इकाई के रूप मे चलता है। यह ठीक है कि वहाँ मनुष्य अकेला तो नहीं है, वह स्वयं पुरुष है और एक स्त्री भी है उसके साथ। किन्तु पत्नी नहीं है, स्त्री के साथ एक पुरुष को भी हम देखते हैं, पर वह पुरुष मात्र है, पति नहीं है। जीवन की कितनी जटिल व्याख्या है वहाँ! स्त्री-पुरुष वहाँ साथ-साथ घूम रहे हैं, पर उनमें पति-पत्नी भाव नहीं है, स्त्री-पुरुष के रूप में सिर्फ दैहिक सम्बन्ध है। पति-पत्नी के रूप में पवित्र सामाजिक सम्बन्ध की कल्पना वहाँ नहीं हुई है।

उस समय का चित्र आगम-साहित्य मे जिस प्रकार अंकित किया गया है, उससे यह स्पष्ट परिलक्षित होता है कि उस युग के स्त्री-पुरुष पति-पत्नी के रूप मे नही थे, वे एक-दूसरे के सुख-दु ख मे भागीदार नहीं थे। उन्हे एक-दूसरे के हितो की किसी को भी चिन्ता नही थी। पुरुष को भूख लगती थी तो इधर-उधर चला जाता था, और तत्कालीन कल्पवृक्षो के द्वारा वह अपनी क्षुधा को शान्त कर लेता था। स्त्री को भूख सताती थी तो वह भी निकल पडती थी और पुरुष की ही तरह कल्पवृक्षो के द्वारा वह भी अपनी क्षुधा-पूर्ति कर लेती थी। न पति पत्नी के लिए भोजनादि का प्रबन्ध करता था और न पत्नी ही पति के लिए भोजनादि तैयार करने की जरूरत देखती थी। न प्यास के लिए कोई किसी को लाकर पानी पिलाता था, और न अन्य किसी प्रकार की कोई व्यवस्था होती थी। जीवन का यह कितना विचित्र रूप है कि लाखो वर्षों तक के लम्बे काल-प्रवाह मे स्त्री और पुरुष की दो इकाइयां साथ-साथ रहकर भी इतनी अलग-अलग रही। एक-दूसरे के सुख दु ख मे भागीदार नही बन सकी। एक-दूसरे के लिए अर्पण होने की कल्पना नही कर सकी ? एक-दूसरे की समस्याओ मे रस नही ले सकी।

अकर्मभूमि के उस वैयक्तिक युग मे कोई परिवार नही था। समाज की कोई कल्पना नही थी, राष्ट्र भी नही था। भूगोल तो था, राष्ट्र नही था। यदि आप अमुक भूगोल को ही राष्ट्र की सीमा मान लें, तब तो वहां सब कुछ थे, पहाड थे, नदियां थी, नाले थे, जगल थे, और वन थे। परन्तु सही अर्थों मे यह भूगोल था, राष्ट्र नही था। मनुष्यो का समूह भी था, अलग-अलग इकाइयो मे मानव समूह खडा था, यदि उसे ही समाज मान लें, तब तो वह समाज भी था। पर नही, केवल मनुष्यो के अनियन्त्रित एव अव्यवस्थित समूह को समाज नही माना जा सकता। जब परस्पर मे भावनात्मक एकसूत्रता होती है, एक-दूसरे के लिए सहयोग की भावना से हृदय ओत-प्रोत हो जाता है, तभी मनुष्यो का समूह परस्पर मे नियन्त्रित एव व्यवस्थित समाज का रूप लेता है। सघ का रूप लेता है।

सामूहिक साधना

जैन धर्म की मूल परम्परा मे आप देखेंगे कि वहां साधना के क्षेत्र मे व्यक्ति स्वतन्त्र होकर अकेला भी चलता है और समूह या सघ के साथ भी। एक ओर जिनकल्पी मुनि संघ से निरपेक्ष होकर व्यक्तिगत साधना के पथ पर बढते हैं, दूसरी ओर विराट् समूह, हजारो साधु-साध्वियो का संघ सामूहिक जीवन के साथ साधना के क्षेत्र मे आगे बढता है। जहां तक मैं समझता हूं, जैन धर्म और जैन परम्परा ने व्यक्तिगत धर्म-साधना की अपेक्षा सामूहिक साधना को अधिक महत्त्व दिया है। सामूहिक चेतना और समूहभाव उसके नियमो के साथ अधिक जुडा हुआ है। अहिंसा और सत्य की वैयक्तिक साधना भी सघीय रूप में सामूहिक-साधना की भूमिका पर विकसित हुई है। अपरिग्रह, दया, करुणा और मैत्री की साधना भी सघीय धरातल पर ही पल्लवित-पुष्पित हुई है। जैन परम्परा का साधक अकेला नही चला है, बल्कि समूह के रूप मे साधना का विकास करता चला है। व्यक्तिगत हितो मे भी सर्वोपरि सघ के हितो का महत्त्व मानकर चला है। जिनकल्पी जैसा साधक कुछ दूर अकेला चलकर भी अन्ततोगत्वा संघीय जीवन मे ही अन्तिम समाधान कर पाया है।

जीवन मे जब सघीय भाव का विकास होता है, तो निजी स्वार्थों और व्यक्तिगत हितों का बलिदान करना पडता है। मन के केन्द्रो को समाप्त करना होता है। एकता और सघ की पृष्ठभूमि त्याग पर ही खडी होती है। अपने हित, अपने स्वार्थ और अपने सुख से

ऊपर संघ के हित को, संघ के स्वार्थ और सामूहिक हित को प्रधानता दी जाती है। संघीय जीवन मे साधक अकेला नही रह सकता, सब के साथ चलता है। एक-दूसरे के हितो को समझकर, अपने व्यवहार पर संयम रखकर चलता है। परस्पर एक-दूसरे के कार्य मे सहयोगी बनना एक-दूसरे के दु:खो और पीडाओ मे यथोचित साहस और धैर्य बँधाना, उसमे हिस्सा बँटाना, यही संघीय जीवन की प्रथम भूमिका होती है। जीवन मे जब अन्तर्द्वन्द्व खडे हो जाएँ और व्यक्ति अकेला स्वय उनका समाधान न कर सके, तो उस स्थिति मे दूसरा साथी उसके अन्तर्द्वन्द्वो को सुलझाने मे सस्नेह सहयोगी बने, अँधेरे मे प्रकाश दिखाये और पराभव के क्षणो मे विजय मार्ग की ओर उसे बढाता ले चले। सामूहिक साधना की यह एक महत्त्व-पूर्ण उपलब्धि है कि वहाँ किसी भी क्षण व्यक्ति अपने को एकाकी या असहाय अनुभव नही करता है, एक के लिए अनेक सहयोगी वहाँ उपस्थित रहते हैं। एक के सुख व हित के लिए, अनेक अपने सुख व हित का उत्सर्ग करने को प्रस्तुत रहते हैं।

जैसा कि मैंने बताया, बहुत पुराने युग मे, व्यक्ति अपने को तथा दूसरों को अलग-अलग एक इकाई के रूप मे सोचता रहा था, पर जब समूह और समाज का महत्त्व उसने समझा, संघ के रूप मे ही उसके जीवन की अनेक समस्याएँ सही रूप मे सुलझती हुई लगी, तो सामाजिकता मे, संघीय भावना मे उसकी निष्ठा बनती गई और जीवन मे संघ और समाज का महत्त्व बढ़ता गया। साधना के क्षेत्र मे भी साधक व्यक्तिगत साधना से निकल सामूहिक-साधना की ओर आता गया।

जीवन की उन्नति और समृद्धि के लिए संघ का आरम्भ से ही अपना विशिष्ट महत्त्व है। इसीलिए व्यक्ति से अधिक संघ को महत्त्व दिया गया है। साधना के क्षेत्र मे यदि आप देखेंगे तो हमने साधना के कुछ अंगो को व्यक्तिगत रूप मे उतना महत्त्व नहीं दिया है, जितना समूह के साथ चलने वाली साधना को दिया है। जीवन में संघ का क्या महत्त्व है? इसे समझने के लिए यही एक बहुत बडा उदाहरण हमारे सामने है कि 'जिन-कल्पी' साधक से भी अधिक 'स्थविरकल्पी' साधक का हमारी परम्परा में महत्व रहा है।

साधना के क्षेत्र मे जिनकल्पी साधना की कठोर और उग्र भूमिका पर चलता है। आगम ग्रन्थो मे जब हम 'जिनकल्पी' साधना का वर्णन पढते है तो आश्चर्य-चकित रह जाते है—कितनी उग्र, कितनी कठोर साधना है? हृदय कँपा देने वाली उसकी मर्यादाएँ हैं! 'जिनकल्पी' चला जा रहा है, सामने सिंह आ गया, तो वह नहीं हटेगा, सिंह भले ही हट जाए, न हटे तो उसका ग्रास भले बन जाए, पर जिनकल्पी मुनि अपना मार्ग छोड़कर इधर-उधर नहीं जाएगा। मौत को सामने देखकर भी उनकी आत्मा भयभीत नही होती, निर्भयता की कितनी बडी साधना है!

चम्पा के द्वार खोलने वाली सती सुभद्रा की कहानी आपने सुनी होगी। मुनि चले जा रहे है, मार्ग मे काँटेदार झाडी का भार सिर पर लिए एक व्यक्ति आ रहा है और झाडी का एक काँटा मुनि की आँख मे लग जाता है। आँख बिंध गई और खून आने लग गया। कल्पना कीजिए, आँख में एक मिट्टी का कण भी गिर जाने पर कितनी वेदना होती है, प्राण तडपने लग जाते हैं और यहाँ काँटा आँख में घुस गया, खून बहने लगा, आँख सूज गई, पर वह कठोर साधक बिलकुल बेपरवाह हुआ चला जा रहा है, उसने काँटा हाथ से निकाल कर फेंका भी नहीं। सुभद्रा के घर पर जब मुनि भिक्षा के लिए जाते हैं और सुभद्रा ने मुनि

की आँख देखी, तो उसका हृदय चीख उठा। वेदना मुनि को हो रही थी पर सुभद्रा देखते ही जैसे वेदना से तड़प उठी, मुनि को कितना घोर कष्ट हो रहा होगा ? वह जिनकल्पी मुनि के नियमो से परिचित थी, जिनकल्पी मुनि अपने हाथ से काँटा नही निकालेंगे, यदि मैं इन्हे कहूँ कि काँटा निकाले देती हूँ तो भी मुनि ठहरने वाले नही हैं। निस्पृह और निरासक्त है ये ! सुभद्रा श्रद्धा-विह्वल हो गई और आहार देते-देते झटापटी मे उसने अपनी जीभ से मुनि का काँटा निकाल दिया। परन्तु जल्दी मे सुभद्रा का मस्तक मुनि के मस्तक से छू गया और उसके मस्तक पर की ताजा लगाई हुई बिन्दी मुनि के मस्तक पर भी लग गई। यह घटना-प्रवाह आगे विकृत रूप मे बदल गया और इस पर जो विषाक्त वातावरण सुभद्रा के लिए तैयार किया गया, वह आप सुन ही चुके हैं। किन्तु हमे यहाँ देखना है कि जिनकल्पी साधक की कठोर साधना कैसी होती है ? काँटा लग गया, पाँव में नही, आँख मे। पाँव का काँटा भी चैन नही लेने देता, जिसमे यह तो आँख का काँटा ! आँख से रक्त बह रहा है, भयकर दर्द हो रहा है। पर समभावी मुनि उसे निकालने को सोच भी नही रहे हैं। कोई कहे कि ठहरो, हम काँटा निकाल देते हैं, तो ठहरने को भी तैयार नही। कितनी हृदय-द्रावक साधना है ! प्रश्न है कि ऐसी उग्र साधना करने वाला 'जिनकल्पी मुनि' उस अवस्था मे केवलज्ञान पा सकता है कि नही ? जैन परम्परा का समाधान है कि नही, जिनकल्पी अवस्था मे केवल-ज्ञान प्राप्त नही हो सकता।

सघ की सर्वोच्चता :

मैं समझता हूँ, साधना के क्षेत्र मे यह बहुत बडी बात कही गई है। जिनकल्पी अवस्था कठोर साधना की अवस्था है। उस स्थिति मे तपस्या और कष्ट-सहिष्णुता अपनी चरम सीमा पर पहुँच जाती है, फिर क्या रहस्य है इसका कि जिनकल्पी साधना मे मुक्ति नही होती ?

मेरी बात आपके गले उतरे तो ठीक है, न उतरे तब भी कोई बात नही, मैं अपनी बात तो कहूँगा कि हम आजकल साधक की कठोर साधना को सर्वाधिक महत्त्व देते है, अनशन एव कायक्लेश आदि उग्र तपश्चर्या को ही मुक्ति का एकमात्र सीधा मार्ग समझ बैठे हैं। परन्तु हमे इस प्रश्न की गहराई मे जाना होगा कि जिनकल्पी मुनि जैसी कठोर साधना अन्य किसी अवस्था मे नही हो सकती, किन्तु फिर भी, उस कठोर साधना काल मे भी मुक्ति नहीं मिले तो इसका क्या कारण है ? जिनकल्प से भी अधिक महत्त्व की कोई अन्य साधना भी है क्या ?

बात यह है कि जैन परम्परा ने समूह को महत्त्व दिया है। व्यक्तिगत साधना से भी अधिक सामूहिक साधना का महत्त्व यहाँ माना गया है। सामूहिक साधना की परम्परा में 'स्थविरकल्प' की अपनी परम्परा है। यह वह परम्परा है, जिसमे परस्पर के सद्भाव और सहयोग का विकास हुआ है। सेवा और समर्पण का आदर्श विकसित हुआ है। स्थविरकल्प की साधना में सामाजिक भाव का उदय हुआ है, विकास हुआ है। परस्पर के अवलम्बन एव प्रेरणा के मार्ग पर अग्रसर होती हुई चली गई है यह साधना। 'स्थविरकल्पी' साधक उसी अवस्था में साधना की सर्वोच्च निर्मलता प्राप्त करके कैवल्य पा सकता है। इस दृष्टि से 'जिनकल्प से भी अधिक महत्त्व 'स्थविरकल्प' का माना गया है।

बात यह है कि व्यक्ति महान् है, पर उससे भी महान् संघ है। व्यक्ति से समाज बड़ा है। राजनीति और समाज नीति में ही नहीं, अध्यात्म नीति में भी उसकी महत्ता से इन्कार नहीं किया जा सकता। यदि संघ या समाज नहीं है, तो व्यक्ति की ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि का कोई उपयोग नहीं। इसलिए संघ का व्यक्ति से भी अधिक महत्त्व है।

तीर्थंकर जैन परम्परा के सर्वोच्च व्यक्ति हैं, महामानव हैं। आध्यात्मिक उपलब्धि के क्षेत्र में उनकी साधना अनन्यतम है। उनके जीवन प्रसंगों में आप देखेंगे कि जब समवसरण लगता है, तीर्थंकर सभा में विराजमान होते हैं, तब वे देशना प्रारम्भ करने से पहले तीर्थ को नमस्कार करते हैं, 'नमो तित्थस्स' तीर्थ कहें या संघ, एक ही बात है। तो आप विचार कीजिए, कितनी बड़ी बात कही है जैन परम्परा ने। तीर्थंकर भी मंगलाचरण के रूप में तीर्थ को, संघ को नमस्कार करते हैं। जो सर्वज्ञ हो चुके हैं, अतिशय-सम्पन्न हैं, जिनकी साधना सिद्धि के द्वार पर पहुँच चुकी है, वे उस संघ को नमस्कार करते हैं, जिस संघ में छोटे-बड़े सभी साधु-साध्वी और श्रावक श्राविका सम्मिलित होते हैं। उस धर्म-संघ को भगवान् वन्दना करते हैं।

बुद्ध के जीवन में भी संघ की महत्ता का एक रोचक प्रसंग आता है। वहाँ भी श्रमण-संघ को एक पवित्र धारा के रूप में माना गया है। श्रावस्ती का सम्राट् प्रसेनजित जब तथागत बुद्ध को वस्त्र दान करने के लिए आता है, तो बुद्ध उससे पूछते हैं—"सम्राट्! तुम दान का पुण्य कम लेना चाहते हो या अधिक?"

सम्राट् ने उत्तर दिया—"भन्ते! कोई भी कुशल व्यापारी अपने माल का अधिक से अधिक लाभ चाहेगा, कम नहीं, मैं भी अपने दान का अधिक से अधिक लाभ ही चाहता हूँ।"

सम्राट् के उत्तर पर तथागत बुद्ध ने एक बहुत बड़ी बात कह दी—"सम्राट्! यदि अधिक से अधिक लाभ लेना चाहते हो, तो तुम्हारा यह दान वस्त्र) मुझे अर्पण नहीं करके संघ को अर्पण कर दो। मेरी अपेक्षा संघ को अर्पण करने में अधिक पुण्य होगा। संघ मुझसे भी अधिक महान् है।"

संघ के महत्त्व को प्रदर्शित करने वाली इस प्रकार की घटनाएँ संघीय जीवन का सुन्दर दर्शन उपस्थित करती हैं। हजारों वर्ष के बाद आज भी हमारे जीवन में संघ की मान्यता और गौरव-गाथा, इन संस्मरणों के आधार पर सुरक्षित है। भले ही बीच के काल में कितनी ही राजनीतिक हलचलें हुईं, उथल-पुथल हुईं, समाज के कई टुकड़े हो गए, संघ की शक्ति अलग-अलग खण्डों में विभक्त हो गई, पर टुकड़े-टुकड़े होकर भी हम जहाँ भी रहे, संघ बनकर रहे, समूह और समाज बनकर रहे। यही हमारी सांस्कृतिक परम्परा का इतिहास है। संघ की गौरव-गाथाओं ने आज भी हमारे जीवन में संघीय जीवन का आदर्श भर रखा है, संघीय सद्भाव को सहारा देकर टिकाए रखा है।

संगठन की शक्तिमत्ता :

संघ एक धारा है, एक निर्मल प्रवाह है, जो हजारों वर्षों से बहता रहा है, निकट से आता है, जो सब पवित्र भाव जीवन अर्पण करती चली आयी है। स्नेह, सद्भाव और सहयोग का अन्त-सिंचन कर उसकी जीवन-भूमि को हरा-भरा करते रहते

है। जो धारा इस धारा से टूट कर दूर पड गई, वह धारा आगे चलती-चलती किसी अज्ञान, अन्धविश्वास तथा निहितस्वार्थ के गड्ढे मे पडकर संकुचित हो गई और उसका प्रवाह खत्म हो गया, उसका जीवन समाप्त हो गया। गंगा की विराट् धारा बहती है, उसमे स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता रहती है, किन्तु उसमे से कुछ बहता जल यदि कभी पृथक् धारा के रूप मे अलग पड जाता है और किसी गड्ढे मे अवरुद्ध हो जाता है, तो वह अपनी पवित्रता बनाए नही रख पाता, वह जीवनदायिनी धारा नही रह पाता, बल्कि जीवननाशिनी धारा बन जाता है। वह विच्छिन्नधारा सडकर वातावरण मे सडांध पैदा करने लग जाती है और सड-सडकर चारो ओर मौत बांटने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। अन्ततोगत्वा जीवनदायी जल जीवन-घातक बन जाता है।

वृक्ष के साथ हजारो ही पत्ते रहते हैं, बडी-बडी शाखाएँ और छोटी-छोटी टहनियाँ लचक-लचककर वृक्ष की विराटता और महानता की शोभा बढ़ाती है। फल-फूल उसके सौन्दर्य को द्विगुणित करते रहते हैं। हरे-हरे असंख्य पत्तो से वृक्ष की काया लुभावनी लगती है। ये शाखाएँ, पत्ते फल-फूल विराट् वृक्ष के सौन्दर्य बनकर रहते हैं। इसमे वृक्ष की भी सुन्दरता है और उन सबकी भी सुन्दरता एवं शोभा है। फल है, तो फल बनकर रह रहा है, फूल है, तो फूल बनकर महक रहा है। यदि वे फल-फूल वृक्ष से अलग पड जाते हैं, टूट-टूटकर गिर जाते हैं, तो उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, वे सूखकर समाप्त हो जाते हैं। वृक्ष के साथ उनका जो अस्तित्व और सौन्दर्य था, वह वृक्ष से टूटने पर विलुप्त हो जाता है।

वस्तुतः जीवन मे जो प्रेम, सद्भाव और सहयोग का रस है, वही व्यक्ति के अस्तित्व का मूल है, प्राण है। जब वह रस सूखने लग जाता है तो जीवन निष्प्राण-सा कंकाल बनकर रह जाता है।

यह एक निश्चित तथ्य है कि जीवन की समस्याएँ व्यक्ति अकेला रहकर हल नही कर सकता, उसे समूह या सघ के साथ रहकर ही जीवन को सक्रिय और सजीव रखना होता है।

संगठन गणित की एक इकाई है। आपने गणित का अभ्यास तो किया ही है। बताइये, एक का अंक ऊपर लिखकर उसके नीचे फिर एक का अंक लिख दिया गया हो, ऊपर नीचे एक-एक बैठा हो तो दोनो का योग करने पर क्या आएगा? १+१=२ एक-एक दो। दोनो एक आमने-सामने भी हैं, बहुत निकट भी है, किन्तु निकट होते हुए भी यदि उनके बीच मे अन्तर है, उन्हें अलग-अलग रखने वाला एक चिन्ह बीच मे है, तो जबतक यह चिन्ह है, तबतक संख्या-निर्धारण करते समय १+१=२ दो ही कहे जाएँगे। अब यदि उनके बीच मे चिन्ह हटाकर उन्हे अगल-बगल मे पास-पास रख दिया जाए, तो एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाएँगे। एक-एक ऊपर-नीचे दूर-दूर रहने पर दो से आगे नहीं बढ सकता, एक-एक ही रहता है। पर एक-एक यदि समान पंक्ति मे, बिना कोई चिन्ह बीच मे लगाए, पास-पास अंकित कर दिए गए, तो वे ग्यारह हो गए।

जीवन मे गणित का यह सिद्धान्त लागू कीजिए। परिवार हो, समाज हो, धर्मसंघ हो अथवा राष्ट्र हो, समस्याएँ सब जगह हैं। सर्वत्र मनुष्य मे कुछ न कुछ मानवीय

दुर्बलताएँ रहती हैं। हम दुर्बलता को बढावा नही देते हैं, उन्हे दूर करना चाहते हैं, समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं। परन्तु समाधान कैसे हो ? इसके लिए एक-दूसरे से घृणा अपेक्षित नहीं है, शोरगुल करने से या संगठन को विभिन्न करने की घोषणाएं करने से, दल परिवर्तन मे समस्याओं का समाधान नहीं हो सकता। उसके लिए सद्भाव चाहिए, सहिष्णुता और धैर्य चाहिए। मानव कही पर भी हो, वह अपने लिए कुछ सदभाव चाहता है और कुछ समभाव (समान भाव) भी। सहयोग भी चाहता है और स्वाभिमान की रक्षा भी। जब एक चीज के लिए दूसरी का बलिदान करने का प्रसग आता है, तो समस्या खडी हो जाती है। उलझनें और द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। उस समय मे हमे मानव मन की अन्तः-स्थिति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि एक-एक को बगल-बगल मे अर्थात् समान पंक्ति मे बैठा कर उसका बल बढाना है अथवा ऊपर-नीचे या दूर-दूर रखकर उसे वैसे ही रखना है। सगठन, समाज और सघ की जो मर्यादा है, वह व्यक्ति को समान स्तर पर रखने की प्रक्रिया है। सब के हित और सब के सुख की समान भाव से रक्षा और अभिवृद्धि करना, यह समाज और संघ का प्रमुख उद्देश्य है। इसलिए भारतीय संस्कृति का अन्तर्नाद यही है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को सघ मे विलीन करदे और इस सघीय भावना में प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझे। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत हित-भावना, सुख और स्वार्थ को सघ या समाज की हित-भावना, सुख और स्वार्थ की दृष्टि से देखे। अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाए, विराट् बनाए। इसी मे व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है और सघीय जीवन की हजारों वर्ष पुरानी परम्परा का उत्कर्ष है।

है। जो धारा इस धारा से टूट कर दूर पड गई, वह धारा आगे चलती-चलती किसी अज्ञान, अन्धविश्वास तथा निहितस्वार्थ के गड्ढे मे पढकर संकुचित हो गई और उसका प्रवाह खत्म हो गया, उसका जीवन समाप्त हो गया। गंगा की विराट् धारा वहती है, उसमे स्वच्छता, निर्मलता और पवित्रता रहती है, किन्तु उसमे से कुछ वहता जल यदि कभी पृथक् धारा के रूप मे अलग पड जाता है और किसी गड्ढे मे अवरुद्ध हो जाता है, तो वह अपनी पवित्रता वनाए नही रख पाता, वह जीवनदायिनी धारा नही रह पाता, बल्कि जीवननाशिनी धारा वन जाता है। वह विछिन्नधारा सड़कर वातावरण मे सडांध पैदा करने लग जाती है और सड-सडकर चारो ओर मौत वाँटने के लिए प्रस्तुत हो जाती है। अन्ततोगत्वा जीवनदायी जल जीवन-घातक वन जाता है।

वृक्ष के साथ हजारो ही पत्ते रहते है, वडी-वडी शाखाएँ और छोटी-छोटी टह-नियाँ लचक-लचककर वृक्ष की विराटता और महानता की शोभा वढाती है। फल-फूल उसके सौन्दर्य को द्विगुणित करते रहते हैं। हरे-हरे असंख्य पत्तो से वृक्ष की काया लुभावनी लगती है। ये शाखाएँ, पत्ते फल-फूल विराट् वृक्ष के सौन्दर्य वनकर रहते हैं। इसमे वृक्ष की भी सुन्दरता है और उन सवकी भी सुन्दरता एवं शोभा है। फल है, तो फल बनकर रह रहा है, फूल है, तो फूल बनकर महक रहा है। यदि वे फल-फूल वृक्ष से अलग पड जाते हैं, टूट-टूटकर गिर जाते हैं, तो उनका सौन्दर्य नष्ट हो जाता है, वे सूखकर समाप्त हो जाते हैं। वृक्ष के साथ उनका जो अस्तित्व और सौन्दर्य था, वह वृक्ष से टूटने पर विलुप्त हो जाता है।

वस्तुतः जीवन मे जो प्रेम, सदभाव और सहयोग का रस है, वही व्यक्ति के अस्तित्व का मूल है, प्राण है। जव वह रस सूखने लग जाता है तो जीवन निष्प्राण-सा ककाल वनकर रह जाता है।

यह एक निश्चित तथ्य है कि जीवन की समस्याएँ व्यक्ति अकेला रहकर हल नही कर सकता, उसे समूह या सघ के साथ रहकर ही जीवन को सक्रिय और सजीव रखना होता है।

संगठन गणित की एक इकाई है। आपने गणित का अभ्यास तो किया ही है। वताइये, एक का अक ऊपर लिखकर उसके नीचे फिर एक का अंक लिख दिया गया हो, ऊपर नीचे एक-एक वैठा हो तो दोनो का योग करने पर क्या आएगा? १+१=२ एक-एक दो। दोनों एक आमने-सामने भी हैं, वहुत निकट भी है, किन्तु निकट होते हुए भी यदि उनके वीच मे अन्तर है, उन्हें अलग-अलग रखने वाला एक चिन्ह वीच मे है, तो जवतक यह चिन्ह है, तवतक संख्या-निर्धारण करते समय १+१=२ दो ही कहे जाएँगे। अव यदि उनके वीच से चिन्ह हटाकर उन्हे अगल-वगल मे पास-पास रख दिया जाए, तो एक और एक मिलकर ग्यारह हो जाएँगे। एक-एक ऊपर-नीचे दूर-दूर रहने पर दो से आगे नही वढ सकता, एक-एक ही रहता है। पर एक-एक यदि समान पक्ति मे, विना कोई चिन्ह वीच मे लगाए, पास-पास अंकित कर दिए गए, तो वे ग्यारह हो गए।

जीवन मे गणित का यह सिद्धान्त लागू कीजिए। परिवार हो, समाज हो, धर्मसंघ हो अथवा राष्ट्र हो, समस्याएँ सव जगह हैं। सर्वत्र मनुष्य मे कुछ न कुछ मानवीय

दुर्बलताएँ रहती हैं। हम दुर्बलता को बढावा नही देते हैं, उन्हें दूर करना चाहते हैं, समस्याओं का समाधान करना चाहते हैं। परन्तु समाधान कैसे हो ? इसके लिए एक-दूसरे से घृणा अपेक्षित नही है, शोरगुल करने से या संगठन को विभिन्न करने की घोषणाए करने से, दल परिवर्तन से समस्याओं का समाधान नही हो सकता। उसके लिए सद्भाव चाहिए, सहिष्णुता और धैर्य चाहिए। मानव कही पर भी हो, वह अपने लिए कुछ सद्भाव चाहता है और कुछ समभाव (समान भाव) भी। सहयोग भी चाहता है और स्वाभिमान की रक्षा भी। जब एक चीज के लिए दूसरी का बलिदान करने का प्रसग आता है, तो समस्या खडी हो जाती है। उलझनें और द्वन्द्व पैदा हो जाते हैं। उस समय मे हमे मानव मन की अन्तःस्थिति को समझने का प्रयत्न करना चाहिए कि एक-एक को अगल-बगल मे अर्थात् समान पंक्ति मे बैठा कर उसका बल बढाना है अथवा ऊपर-नीचे या दूर-दूर रखकर उसे वैसे ही रखना है। सगठन, समाज और सघ की जो मर्यादा है, वह व्यक्ति को समान स्तर पर रखने की प्रक्रिया है। सब के हित और सब के सुख की समान भाव से रक्षा और अभिवृद्धि करना, यह समाज और सघ का प्रमुख उद्देश्य है। इसलिए भारतीय सस्कृति का अन्तर्नाद यही है कि व्यक्ति अपने व्यक्तित्व को सघ मे विलीन करदे और इस सघीय भावना मे प्रत्येक व्यक्ति को अपने समान समझे। व्यक्ति अपनी व्यक्तिगत हित-साधना, सुख और स्वार्थ को संघ या समाज की हित-साधना, सुख और स्वार्थ की दृष्टि से देखे। अपने दृष्टिकोण को व्यापक बनाए, विराट् बनाए। इसी में व्यक्ति के व्यक्तित्व का विकास है और सघीय जीवन की हजारो वर्ष पुरानी परम्परा का उत्कर्ष है।

४०

मानव जीवन की सफलता

इस ससार मे जीवन-शक्ति की अभिव्यक्ति अनन्त-अनन्त रूपो मे होती है। पशु, पक्षी, देव और मनुष्य तथा कीट-पतग आदि के रूप मे जीवन के अनन्त प्रकार इस अनन्त ससार मे उपलब्ध होते हैं। जन्म, जीवन और मरण इन तीन शब्दो मे व्यक्ति की सम्पूर्ण कहानी समाप्त हो जाती है। जन्म और मरण के मध्य मे जो कुछ है, उसे ही हम जीवन की संज्ञा प्रदान करते है। जीवन की कहानी बहुत ही पुरानी है। इतनी पुरानी, जिसके आदि का पता नही लग रहा है। पता तो तब लगे, जबकि उसकी आदि हो। अभिप्राय यह है, कि जीवन की कहानी अनन्त-अनन्त काल मे चल रही है। कभी स्वर्ग मे, कभी नरक मे, कभी मनुष्य मे और कभी तिर्यञ्च मे, यह आत्मा जन्म और मरण को प्राप्त करती चल रही है। अनन्त-अनन्त पुण्योदय से आत्मा को मानव-तन उपलब्ध होता है। सृष्टि मे जीवन तो अनन्त है, परन्तु उनमे सर्वश्रेष्ठ जीवन मानव-जीवन ही है, क्योंकि इस जीवन मे ही व्यक्ति आध्यात्मिक साधना कर सकता है। इसी आधार पर भारत के धर्म, दर्शन और संस्कृति मे मानव-जीवन को दुर्लभ कहा गया है। भगवान् महावीर ने कहा है—'माणुस्सं खु सुदुल्लहं।' इस अनन्त ससार मे और उसके जीवन के अनन्त प्रकारो मे मानव-जीवन ही सबसे अधिक दुर्लभ है। आचार्य शकर भी अपने विवेकचूडामणि ग्रन्थ मे मानव-जीवन को दुर्लभ कहते हैं। भारतीय संस्कृति मे मानव जीवन को जो दुर्लभ कहा गया है, उसका एक विशेष अभिप्राय है। वह अभिप्राय क्या है? इसके उत्तर मे यह कहा जा सकता है कि मनुष्य-जीवन इस प्रकार का जीवन है कि जिसमे भयकर से भयकर पतन भी सम्भव है और अधिक से अधिक पवित्र एव उज्ज्वल उत्थान भी सभव है। मनुष्य-जीवन की उपयोगिता तभी है, जबकि उसे प्राप्त करके उसका सदुपयोग किया जाए और अधिकाधिक अपनी आत्मा का हित साधा जाए, अन्यथा मनुष्य-जीवन प्राप्त करने का कोई लाभ न होगा। मनुष्य तो राम भी थे और मनुष्य रावण भी था, किन्तु फिर भी दोनो के जीवन मे बहुत बडा अन्तर था। पुण्य के उदय से मनुष्य-जीवन राम ने भी प्राप्त किया था और पुण्य के उदय से मनुष्य जीवन रावण ने भी प्राप्त किया था। यह नही कहा जा सकता कि राम को जो मनुष्य जीवन मिला, वह

तो पुण्योदय से मिला और रावण को जो मनुष्य जीवन मिला था, वह पाप के उदय से मिला था, क्योंकि शास्त्रकारों ने मनुष्यमात्र के जीवन को पुण्य का फल बतलाया है। इस दृष्टि से राम और रावण के मनुष्य जीवन में स्वरूपतः किसी प्रकार का भेद नहीं है, भेद है केवल उसके उपयोग का, उसके प्रयोग का। राम ने अपने मनुष्य जीवन को लोक-कल्याण में एवं जनहित में व्यतीत किया था। इसी आधार पर राम का जीवन कोटि-कोटि जन-पूजित हो गया। रावण ने अपने जीवन का उपयोग एवं प्रयोग वासना की पूर्ति में किया था, लोक के अमंगल के लिए किया था, इसी आधार पर रावण का जीवन कोटि-कोटि जन-गर्हित हो गया। इसी प्रकार चाहे कृष्ण का जीवन हो अथवा कंस का जीवन हो, जहाँ तक जीवन, जीवन है, उसमें किसी प्रकार का विभेद नहीं होता। किन्तु कृष्ण ने अपने जीवन का प्रयोग जिस पद्धति से किया था, उससे वे पुरुषोत्तम हो गए और कंस ने जिस पद्धति से अपने जीवन का प्रयोग किया, उसमें वह निन्दित बन गया। मनुष्य जीवन की सफलता और सार्थकता, उसके जन्म पर नहीं, बल्कि इस बात पर है कि किस मनुष्य ने अपने जीवन का प्रयोग कैसे किया है!

सन्त तुलसीदास ने अपने 'रामचरितमानस' में कहा है—'बड़े भाग मानुस तन पावा।' बड़े भाग्य से नर-तन मिलता है। जो नर-तन इतनी कठिनता से उपलब्ध होता है, वह कितना अधिक मूल्यवान है, इसका पता प्राचीन साहित्य के अध्ययन से भली भाँति लग सकता है। 'भागवत' में व्यासजी ने कहा है कि—मानव-जीवन समस्त जीवनों में श्रेष्ठ है। यही सृष्टि का गूढ़तम रहस्य है। मनुष्य जीवन से बढ़कर अन्य कोई जीवन नहीं हो सकता। वैदिक, जैन और बौद्ध—भारत की इन तीनों परम्पराओं में मानव-जीवन को। सर्वश्रेष्ठ और सर्वोत्तम कहा गया है। एक कवि ने कहा है—

"नर का शरीर पुण्य से पाया कभी-कभी।
कंगाल के घर बादशाह आया कभी-कभी॥"

इस कवि ने अपने इस पद्य में यह कहा है कि मनुष्य का शरीर पुण्य से प्राप्त होता है, परन्तु सदा नहीं, कभी-कभी प्राप्त होता है। यह बात नहीं है, कि हर घड़ी और हर वक्त वह मिलता हो। किसी कंगाल के घर पर बादशाह का आना सम्भव नहीं है, फिर भी कदाचित्, किसी कंगाल के घर पर बादशाह का आना हो जाए, पर वह सदा नहीं, कभी-कभी ही हो सकता है। एक कंगाल व्यक्ति, एक दरिद्र व्यक्ति, जो कल भी भूखा था, आज भी भूखा है और आने वाले कल के लिए भी जिसके पास खाने को दाना नहीं है, जिसके घर में भूख ने डेरा लगा रखा है और जिसके जीवन में अभाव ने अपना साम्राज्य स्थापित कर लिया है, इस प्रकार के व्यक्ति की टूटी-फूटी झोंपड़ी में कदाचित् राह भूला बादशाह कोई आ निकले, तो यह उस दरिद्र का परम सौभाग्य होगा। कदाचित् बादशाह आ भी जाए, किन्तु वह कंगाल व्यक्ति बादशाह के आगमन से कोई लाभ न उठा सके, तो उसके जीवन में एक पश्चात्ताप की अग्नि के सिवा और कुछ शेष नहीं रह जा सकता है। बादशाह का आना और उससे लाभान्वित न होना, यह बड़े ही दुर्भाग्य की बात होगी। इसीलिए मैं यह कह रहा था, कि मनुष्य जीवन का प्राप्त करना भी उतना ही कठिन है, जितना कि किसी कंगाल के घर पर बादशाह का आना। मानव-जीवन दुर्लभ है इसमें सन्देह नहीं है, किन्तु इससे भी अधिक दुर्लभ है, उसका सदुपयोग। मानव जीवन का सदुपयोग यही है कि जितना भी हो सके अध्यात्म-साधना करे, परोपकार करे सेवा करे और दान करे।

जीवन क्या है ? यह एक बड़ा ही गम्भीर प्रश्न है। जीवन की व्याख्या एक वाक्य मे भी की जा सकती है और जीवन की व्याख्या हजार पृष्ठो मे भी न आ सके, इतना विशाल भी है यह। वस्तुत जीवन एक अविच्छिन्न सरिता के प्रवाह के समान है, उसे शब्दो मे बांधना उचित न होगा। जीवन क्या है ? जीवन एक दर्शन है। जीवन क्या है ? जीवन एक कला है। जीवन क्या है ? जीवन एक सिद्धि है। इस प्रकार जीवन की व्याख्या हजारो रूपो मे की जा सकती है। सबसे बड़ा प्रश्न यह है कि जिस जीवन की उपलब्धि हमे हो चुकी है, इसके उपयोग और प्रयोग की बात ही अब हमारे सामने शेष रह जाती है। शास्त्रकारो ने बताया है कि मानव-तन पाना ही पर्याप्त नही है। यदि मानव-तन मे मानवता का अधिवास नही है, तो वह कुछ भी नही है।

जिसके जीवन मे मिथ्याचार, पापाचार और दुराचार की कारी-कजरारी मेघ-घटाएँ छायी रहती हैं, उस व्यक्ति का जीवन शान्त और सुखी नही रह सकता। जिसे आत्म-परिबोध नही होता अथवा जिसे आत्मविवेक नही होता, जिसको यह भी भान नही है कि मैं कौन हूँ और मेरी कितनी शक्ति है, वह व्यक्ति दूसरे का विकास तो क्या करेगा, स्वयं अपना भी विकास नही कर सकता। अन्धे के सामने कितना भी सुन्दर दर्पण रख दिया जाए, तो क्या परिणाम होगा ? जिसमे स्वयं देखने की शक्ति नही है, उसको, दर्पण अपने मे प्रतिविम्बित उसके प्रतिविम्ब को कैसे दिखला सकता है ? यही स्थिति उस व्यक्ति की होती है, जिसे स्वय अपनी आत्मा का बोध नही है। जिसे स्वयं अपनी आत्मा का बोध नही है, वह व्यक्ति दूसरे को आत्मबोध कैसे करा सकता है ? हजारो प्रयत्न करने पर भी नही करा सकता।

जो व्यक्ति वासना-आसक्त है, वह अपने स्वरूप को समझ नही सकता। उसे आत्मबोध एव आत्मविवेक होना कठिन होता है। मैं कौन हूँ ? इस प्रश्न का उत्तर यदि इस रूप मे आता है कि मैं शरीर हूँ, मैं,इन्द्रिय हूँ और मैं मन हूँ,तो समझना चाहिए कि उसे आत्मबोध हुआ नही हैं। जिस व्यक्ति को आत्मा का यथार्थ बोध हो जाता है, वह तो यह समझता है कि मैं जड से भिन्न चेतन हूँ। यह शरीर पचभूतात्मक है, इन्द्रियाँ पौद्गलिक हैं, मन भौतिक है। इस प्रकार, आत्मा को जो इन सबसे भिन्न मानकर चलता है और आत्मा के दिव्य स्वरूप मे जिसका अटल विश्वास है, भगवान् की भाषा मे वही आत्मा बलवान् है। जिस व्यक्ति को आत्मा और परमात्मा मे विश्वास होता है, वह सदा ही बलवान रहता है। उसके दुर्बल होने का कभी प्रश्न ही नही उठता। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—"Trust in God and mind your bussiness." अपने हृदय मे सदा परमात्मा का स्मरण रखो और अपने कर्त्तव्य का सदा ध्यान रखो। जो व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है और अपने कर्त्तव्य को याद रखता है, वह कभी निर्बल नही हो सकता। निर्बल वही है, जिसे आत्मा में विश्वास न होकर भौतिक साधनो मे विश्वास होता है। बल एवं शक्ति के अनन्त रूप हैं। उनमे प्रमुख रूप दो हैं—(१) शस्त्र बल और (२) शास्त्र-बल। संसार मे शस्त्र-बल भयंकर है, किन्तु उससे भी अधिक भयंकर है, शास्त्र-बल। जिस व्यक्ति के हृदय में दया और करुणा नही है, वह अपने शस्त्र-बल से अन्याय और अत्याचार ही करता है। और, जिस व्यक्ति के हृदय मे बुद्धि और विवेक नहीं है, वह सुन्दर से सुन्दर शास्त्र का भी दुरुपयोग कर सकता है। जो व्यक्ति दुराचार और पापाचार मे संलग्न है, उसका शास्त्र-बल भी शस्त्र-बल

से कहीं अधिक भयंकर है। यदि हम भारतीय दर्शन के ग्रन्थ उठाकर देखें, तो मालूम होगा कि शास्त्रों की लड़ाई शस्त्रों की लड़ाई से कम भयंकर नहीं रही है। शस्त्र की लड़ाई तो एक बार समाप्त हो भी जाती है, लेकिन शास्त्रों की लड़ाई तो हजारों-लाखों वर्षों तक चलती है। शास्त्रों की लड़ाई एक-दो पीढ़ी तक नहीं, हजारों-लाखों पीढ़ियों तक चलती रहती है। शस्त्र की लड़ाई समाप्त हो सकती है, किन्तु शास्त्र की लड़ाई जल्दी समाप्त नहीं होती। अधर्मशील व्यक्ति शस्त्र के समान शास्त्र का भी दुरुपयोग करता है। अतः स्पष्ट है कि विवेक-विकल आत्मा के लिए सभी प्रकार के बल अभिशाप रूप ही होते हैं। चाहे वह बल और शक्ति शास्त्र की हो, शस्त्र की हो, ज्ञान की हो, विज्ञान की हो—उस शक्ति से विवेक विकल आत्मा को लाभ न होकर, हानि ही होती है। उसका स्वयं का भी पतन ही होता है और दूसरों को भी पतन की ओर ले जाता है, जिससे उसे शान्ति नहीं मिल पाती।

नीतिकार का कथन है—

> "विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्ति परेषां परिपीड़नाय।
> खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥"

जिस व्यक्ति की विद्या विवाद के लिए होती है, जिस व्यक्ति का धन अहंकार के लिए होता है और जिस व्यक्ति का बल दूसरों को पीड़ा देने के लिए होता है, वह व्यक्ति खल एवं दुष्ट होता है। जिस व्यक्ति की विद्या विवेक के लिए होती है, जिस व्यक्ति का धन दान के लिए होता है तथा जिस व्यक्ति का बल दूसरों के संरक्षण के लिए होता है, वह व्यक्ति साधु एवं सज्जन होता है। इस आचार्य ने अपने इस एक ही श्लोक में मानव-जीवन का सम्पूर्ण मर्म इस तरह खोलकर रख दिया है कि जिसे पढ़कर और जानकर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का निरीक्षण एवं परीक्षण भलीभाँति कर सकता है और जीवन के रहस्य को समझ सकता है।

इस जगत् में दो प्रकार के मनुष्य हैं—(१) सज्जन और (२) दुर्जन। यद्यपि जन दोनों हैं, किन्तु एक सत्‌जन है और दूसरा दुर्‌जन है। सत् और दुर् उनके स्वभाव की अभिव्यक्ति करते हैं। सज्जन वह होता है, जिसमें न्याय हो, नीति हो और सदाचार हो। दुर्जन वह होता है, जिसमें दुराचार हो, पापाचार हो और पाखण्ड हो। इन दो प्रकार के व्यक्तियों को भारत के प्राचीन साहित्य में देव और असुर भी कहा गया है, असुर वह होता है, जिसमें आसुरी वृत्ति होती है और देव वह होता है, जिसमें दैवी वृत्ति होती है। गीता में इसी को आसुरी सम्पदा और दैवी सम्पदा कहा गया है। मैं आपसे यहाँ पर किसी स्वर्ग में रहने वाले देवों की बात नहीं कर रहा हूँ, और न ही उन असुरों की बात कर रहा हूँ, जो किसी असुर लोक में रहते हैं, बल्कि उन देवों और असुरों की बात कर रहा हूँ, जो हमारी इसी दुनिया में रहते हैं। मानव-जीवन में बहुत से मानव देव हैं और बहुत से मनुष्य असुर हैं, राक्षस हैं। राम और रावण की कहानी, भले ही आज इतिहास की वस्तु बन गई हो, लेकिन आज भी इस वर्तमान जीवन में एक दो नहीं, हजारों-लाखों मनुष्य राम और रावण के रूप में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कहा गया है कि जो व्यक्ति दुर्जन है, आत्मज्ञान का जिसने पता नहीं पाया है, जिसने जीवन की श्रेष्ठता को नहीं पहचाना है और जिसने नहीं समझा है कि आत्म-विकास के लिए ही यह जीवन है, वह व्यक्ति अपने जीवन में किसी भी

जीवन क्या है ? यह एक बड़ा ही गम्भीर प्रश्न है। जीवन की व्याख्या एक वाक्य मे भी की जा सकती है और जीवन की व्याख्या हजार पृष्ठो मे भी न आ सके, इतना विशाल भी है यह। वस्तुत: जीवन एक अविच्छिन्न सरिता के प्रवाह के समान है, उसे शब्दो मे बांधना उचित न होगा। जीवन क्या है ? जीवन एक दर्शन है। जीवन क्या है ? जीवन एक कला है। जीवन क्या है ? जीवन एक सिद्धि है। इस प्रकार जीवन की व्याख्या हजारो रूपो मे की जा सकती है। सबसे बडा प्रश्न यह है कि जिस जीवन की उपलब्धि हमे हो चुकी है, इसके उपयोग और प्रयोग की बात ही अब हमारे सामने शेष रह जाती है। शास्त्रकारो ने बताया है कि मानव-तन पाना ही पर्याप्त नही है। यदि मानव-तन मे मानवता का अधिवास नही है, तो वह कुछ भी नही है।

जिसके जीवन मे मिथ्याचार, पापाचार और दुराचार की कारी-कजरारी मेघ-घटाएँ छायी रहती हैं, उस व्यक्ति का जीवन शान्त और सुखी नही रह सकता। जिसे आत्म-परिबोध नही होता अथवा जिसे आत्मविवेक नही होता, जिसको यह भी भान नही है कि मैं कौन हूं और मेरी कितनी शक्ति है, वह व्यक्ति दूसरे का विकास तो क्या करेगा, स्वय अपना भी विकास नही कर सकता। अन्धे के सामने कितना भी सुन्दर दर्पण रख दिया जाए, तो क्या परिणाम होगा ? जिसमे स्वयं देखने की शक्ति नही है, उसको, दर्पण अपने मे प्रतिबिम्बित उसके प्रतिबिम्ब को कैसे दिखला सकता है ? यही स्थिति उस व्यक्ति की होती है, जिसे स्वय अपनी आत्मा का बोध नही है। जिसे स्वयं अपनी आत्मा का बोध नही है, वह व्यक्ति दूसरे को आत्मबोध कैसे करा सकता है ? हजारो प्रयत्न करने पर भी नही करा सकता।

जो व्यक्ति वासना-आसक्त है, वह अपने स्वरूप को समझ नही सकता। उसे आत्मबोध एवं आत्मविवेक होना कठिन होता है। मैं कौन हूं ? इस प्रश्न का उत्तर यदि इस रूप मे आता है कि मैं शरीर हूं, मैं इन्द्रिय हूं और मैं मन हूं, तो समझना चाहिए कि उसे आत्मबोध हुआ नही हैं। जिस व्यक्ति को आत्मा का यथार्थ बोध हो जाता है, वह तो यह समझता है कि मैं जड से भिन्न चेतन हूं। यह शरीर पचभूतात्मक है, इन्द्रियां पौद्गलिक हैं, मन भौतिक है। इस प्रकार, आत्मा को जो इन सबसे भिन्न मानकर चलता है और आत्मा के दिव्य स्वरूप मे जिसका अटल विश्वास है, भगवान् की भाषा मे वही आत्मा बलवान् है। जिस व्यक्ति को आत्मा और परमात्मा मे विश्वास होता है, वह सदा ही बलवान रहता है। उसके दुर्बल होने का कभी प्रश्न ही नही उठता। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—"Trust in God and mind your bussiness" अपने हृदय मे सदा परमात्मा का स्मरण रखो और अपने कर्त्तव्य का सदा ध्यान रखो। जो व्यक्ति प्रभु का स्मरण करता है और अपने कर्त्तव्य को याद रखता है, वह कभी निर्बल नही हो सकता। निर्बल वही है, जिसे आत्मा मे विश्वास न होकर भौतिक साधनो मे विश्वास होता है। बल एवं शक्ति के अनन्त रूप है। उनमे प्रमुख रूप दो हैं—(१) शस्त्र बल और (२) शास्त्र-बल। संसार मे शस्त्र-बल भयंकर है, किन्तु उससे भी अधिक भयकर है, शास्त्र-बल। जिस व्यक्ति के हृदय मे दया और करुणा नही है, वह अपने शस्त्र-बल से अन्याय और अत्याचार ही करता है। और, जिस व्यक्ति के हृदय मे बुद्धि और विवेक नही है, वह सुन्दर से सुन्दर शास्त्र का भी दुरुपयोग कर सकता है। जो व्यक्ति दुराचार और पापाचार मे सलग्न है, उसका शास्त्र-बल भी शस्त्र-बल

से कहीं अधिक भयंकर है। यदि हम भारतीय दर्शन के ग्रन्थ उठाकर देखें, तो मालूम होगा कि शास्त्रों की लड़ाई शस्त्रों की लड़ाई से कम भयंकर नहीं रही है। शस्त्र की लड़ाई तो एक बार समाप्त हो भी जाती है, लेकिन शास्त्रों की लड़ाई तो हजारों-लाखों वर्षों तक चलती है। शास्त्रों की लड़ाई एक-दो पीढ़ी तक नहीं, हजारों-लाखों पीढ़ियों तक चलती रहती है। शस्त्र की लड़ाई समाप्त हो सकती है, किन्तु शास्त्र की लड़ाई जल्दी समाप्त नहीं होती। अक्षमशील व्यक्ति शस्त्र के समान शास्त्र का भी दुरुपयोग करता है। अतः स्पष्ट है कि विवेक-विकल आत्मा के लिए सभी प्रकार के बल अभिशाप रूप ही होते हैं। चाहे वह बल और शक्ति शास्त्र की हो, शस्त्र की हो, ज्ञान की हो, विज्ञान की हो—उस शक्ति से विवेक विकल आत्मा को लाभ न होकर, हानि ही होती है। उसका स्वयं का भी पतन ही होता है और दूसरों को भी पतन की ओर ले जाता है, जिससे उसे शान्ति नहीं मिल पाती।

नीतिकार का कथन है—

> "विद्या विवादाय धनं मदाय, शक्तिः परेषां परिपीडनाय।
> खलस्य साधोर्विपरीतमेतत् ज्ञानाय दानाय च रक्षणाय॥"

जिस व्यक्ति की विद्या विवाद के लिए होती है, जिस व्यक्ति का धन अहंकार के लिए होता है और जिस व्यक्ति का बल दूसरों को पीड़ा देने के लिए होता है, वह व्यक्ति खल एवं दुष्ट होता है। जिस व्यक्ति की विद्या विवेक के लिए होती है, जिस व्यक्ति का धन दान के लिए होता है तथा जिस व्यक्ति का बल दूसरों के संरक्षण के लिए होता है, वह व्यक्ति साधु एवं सज्जन होता है। इस आचार्य ने अपने इस एक ही श्लोक में मानव-जीवन का सम्पूर्ण मर्म इस तरह खोलकर रख दिया है कि जिसे पढ़कर और जानकर प्रत्येक व्यक्ति अपने जीवन का निरीक्षण एवं परीक्षण भलीभाँति कर सकता है और जीवन के रहस्य को समझ सकता है।

इस जगत् में दो प्रकार के मनुष्य हैं—(१) सज्जन और (२) दुर्जन। यद्यपि जन दोनों हैं, किन्तु एक सत्जन है और दूसरा दुर्जन है। सत् और दुर् उनके स्वभाव की अभिव्यक्ति करते हैं। सज्जन वह होता है, जिसमें न्याय हो, नीति हो और सदाचार हो। दुर्जन वह होता है, जिसमें दुराचार हो, पापाचार हो और पाखण्ड हो। इन दो प्रकार के व्यक्तियों को भारत के प्राचीन साहित्य में देव और असुर भी कहा गया है, असुर वह होता है, जिसमें आसुरी वृत्ति होती है और देव वह होता है, जिसमें दैवी वृत्ति होती है। गीता में इसी को आसुरी सम्पदा और दैवी सम्पदा कहा गया है। मैं आपसे यहाँ पर किसी स्वर्ग में रहने वाले देवों की बात नहीं कर रहा हूँ, और न ही उन असुरों की बात कर रहा हूँ, जो किसी असुर लोक में रहते हैं, बल्कि उन देवों और असुरों की बात कर रहा हूँ, जो हमारी इसी दुनिया में रहते हैं। मानव-जीवन में बहुत से मानव देव हैं और बहुत से मनुष्य असुर हैं, राक्षस हैं। राम और रावण की कहानी, भले ही आज इतिहास की वस्तु बन गई हो, लेकिन आज भी इस वर्तमान-जीवन में एक दो नहीं, हजारों-लाखों मनुष्य राम और रावण के रूप में अपना जीवन व्यतीत कर रहे हैं। कहा गया है कि जो व्यक्ति दुर्जन है, आत्मज्ञान का जिसने पता नहीं पाया है, जिसने जीवन की श्रेष्ठता को नहीं पहचाना है और जिसने यही समझा है कि भोग-विलास के लिए ही यह जीवन है, वह व्यक्ति अपने जीवन में किसी भी

प्रकार का विकास नही कर सकता। दुर्जन व्यक्ति, जिसे केवल अपने वर्तमान जीवन पर ही विश्वास है, अपने अनन्त अतीत और अनन्त अनागत पर जो विश्वास नही कर पाता, वह समझता है कि जो कुछ है, वह यही पर है। वह यह नही समझ पाता कि यह वर्तमान जीवन तो जल-बुदबुद के समान है, जो अभी बना और अभी मिट गया। इसी प्रकार के लोगो को अपने लक्ष्य मे रखकर एक कवि ने कहा है—

"ना कोई देखा आवता, ना कोई देखा जात।
स्वर्ग नरक और मोक्ष की, गोल मोल है बात॥"

इस पद्य मे उन नास्तिक वृत्ति के लोगो के मन का विश्लेषण किया गया है, जो अपने क्षणिक वर्तमान जीवन को ही सब कुछ मान बैठे हैं तथा जो रात-दिन शरीर के पोषण में ही संलग्न रहते हैं। जिन्हे यह भान भी नही हो पाता कि शरीर से भिन्न एक दिव्य शक्ति आत्मा भी है। भोगवादी व्यक्ति भोग को ही सब कुछ समझता है, त्याग और वैराग्य मे उसका विश्वास जम नही पाता। जिस व्यक्ति का दिव्य आत्मा मे विश्वास नही होता और जो इस नश्वर तन की आवश्यकता को ही सब कुछ समझता है, उस व्यक्ति का ज्ञान भी विवाद के लिए होता है, धन अहंकार के लिए होता है और शक्ति दूसरो के पीडन के लिए होती है। दुर्जन व्यक्ति यदि कही पर अपने प्रयत्न से विद्या प्राप्त कर भी लेता है, तो वह उसका उपयोग जीवन के अन्धकार को दूर करने के लिए नही करता, बल्कि शास्त्रार्थ मे विजय प्राप्त करके अपने पाण्डित्य की छाप दूसरो के मन पर अंकित करने लिए करता है। इस प्रकार का व्यक्ति शास्त्रज्ञान प्राप्त कर ले, विद्या प्राप्त करले, किन्तु अपने मन की गाँठ को वह खोल नही सकें, तो क्या लाभ? जो विद्या मन की गाँठ को नही खोल सके, वस्तुत. उसे विद्या कहना ही नही चाहिए। जो विद्या न अपने मन की गाँठ को खोल सके और न दूसरे के मन की गाँठ को खोल सके, उस विद्या को भारतीय दर्शन मे केवल मस्तिष्क का बोझ कहा गया है। बात यह है कि कुछ डण्डों से लडते हैं और कुछ लोग पोथी-पन्नो से लडते हैं। मेरे विचार मे दोनों जगह अज्ञान का ही साम्राज्य होता है। विद्या ही नही, दुर्जन व्यक्ति का धन भी उसके अहंकार की अभिवृद्धि करता है। यदि दुर्जन व्यक्ति के पास दुर्भाग्य से धन हो जाए, तो वह समझता है कि ससार मे सब कुछ मैं ही हूँ। मुझसे बढकर इस ससार मे अन्य कौन हो सकता है? धन से अहंकारी बना हुआ मनुष्य जब किसी बाजार या गली से निकलता है, तब वह समझता है कि यह रास्ता संकरा है और धन मेरी छाती चौडी है, मैं इसमे से कैसे निकल सकूँगा। बात यह है कि धन का मद और धन का नशा दुनिया मे सबसे भयंकर है। हिन्दी के नीतिकार कवि बिहारीलाल ने कहा है—

"कनक कनक ते सौगुनी, मादकता अधिकाय।
वा खाए बौरात नर, वा पाए बौराय॥"

कवि ने इस दोहे मे 'कनक' शब्द का प्रयोग करके कमाल कर दिया है। संस्कृत भाषा मे कनक शब्द के दो अर्थ होते है—(१) सोना और (२) धतूरा। कनक शब्द का प्रयोग सोना के लिए भी किया जाता है और धतूरा के लिए भी किया जाता है। स्वर्ण को भी कनक

कहते हैं और धतूरे को भी कनक कहते हैं। यहाँ पर कवि का अभिप्राय यह है कि नशा देने वाले धतूरे से भी बढ़ कर सौगुनी मादकता स्वर्ण में अर्थात् धन में है। नशा दोनों में है, धतूरे में भी नशा है और सोने में भी नशा है। सोने से मतलब धन एवं सम्पत्ति से है। सोना है जड़ वस्तु, किन्तु उसमें अत्यधिक मादकता होती है। धतूरा कितना ही इकट्ठा कर ले, उसमें कोई नशा नहीं चढ़ता है। उसको हाथ में लिए रहे, कोई नशा नहीं चढ़ सकता। लेकिन उसे खाएँगे, तभी नशा चढ़ेगा। लेकिन सोने के सम्बन्ध में यह बात नहीं। इसका स्वभाव तो यह है कि उसके हाथ में आते ही मनुष्य को नशा चढ़ जाता है। मनुष्य पागल और बेभान हो जाता है। धतूरे को खाने पर नशा चढ़ता है, पर सोने को देखने मात्र से नशा चढ़ जाता है। धन की आसक्ति एक ऐसी आसक्ति है, जिसके समक्ष धतूरे का नशा नगण्य है। मैं आपसे यह कह रहा था कि दुर्जन व्यक्ति की विद्या विवाद के लिए होती है, धन अहंकार के लिए होता है और शक्ति दूसरों को पीड़ा देने के लिए होती है। दुर्जन व्यक्ति की शक्ति—वह भले ही किसी भी प्रकार की क्यों न हो, किन्तु वह अपने और दूसरे के विनाश के लिए ही होती है। दुर्जन की दुर्जनता यही है कि वह इन साधनों को प्राप्त करके अपने आपको पतन के गहन गर्त में गिरा लेता है, वह उत्थान के मार्ग पर नहीं चल पाता।

सज्जन पुरुष अथवा साधु पुरुष उसे कहा जाता है, जो अपने समान ही दूसरों को भी समझता है। वह धर्मशील होता है, पापाचार में उसकी रुचि नहीं रहती। जब पापाचार और मिथ्याचार में उसकी रुचि नहीं है, तब पापाचार और मिथ्याचार का अन्धकार उसके जीवन के क्षितिज पर कैसे रह सकता है? साधु-पुरुष इतना कोमल और इतना मृदु-मानस होता है कि वह अपना कष्ट एवं दुःख तो सहन कर सकता है, किन्तु दूसरे का कष्ट और दुःख वह सहन नहीं कर पाता, यही सज्जन पुरुष की सज्जनता है। सज्जन पुरुष की विद्या, ज्ञान और विवेक के लिए होती है, विवाद के लिए नहीं। सज्जन पुरुष का धन दान के लिए होता है, भोग विलास के लिए नहीं। सज्जन व्यक्ति की शक्ति अथवा बल दूसरों के संरक्षण के लिए होता है, दूसरों के वध के लिए नहीं। सज्जन पुरुष की विद्या स्वयं उसके जीवन के अन्धकार को तो दूर करती ही है, किन्तु साथ ही उसके आस-पास में रहने वाले व्यक्तियों के जीवन के अन्धकार को भी दूर कर देती है। विद्या एवं ज्ञान का एक ही उद्देश्य है—स्व और पर के जीवन में अन्धकार को दूर करना। यदि विद्या जीवन के अन्धकार को दूर न कर सके, तो उसे यथार्थतः विद्या कहा भी नहीं जा सकता। यह कैसे सम्भव हो सकता है कि आकाश में सूर्य भी बना रहे और धरती पर अन्धकार भी छाया रहे। सज्जन व्यक्ति अपने धन का उपयोग भोग-विलास की पूर्ति में नहीं करता, बल्कि दान में एवं दूसरों की सहायता में करता है। दान देना उसके जीवन का सहज स्वभाव होता है। सज्जन पुरुषों के दान-गुण का वर्णन करते हुए महाकवि कालिदास ने कहा है—

"आदानं हि विसर्गाय, सतां वारिमुचामिव।"

मेघ समुद्र से जल ग्रहण करके उसे वर्षा के रूप में फिर वापस ही लौटा देते हैं। किन्तु इस लौटाने में भी विशेषता है, मेघ महासागर से खारा जल ग्रहण करते हैं और उसे मधुर बना कर लौटा देते हैं। सज्जन पुरुषों का स्वभाव भी मेघ के समान ही होता है। सज्जन

पुरुष समाज मे जो कुछ ग्रहण करते हैं, वे फिर समाज को ही लौटा देते हैं। परन्तु इस लौटाने मे एक विलक्षणता होती है। दान करते समय सज्जन पुरुष के हृदय मे यह भावना नही रहती कि मैं दान कर रहा हूं। वे दान तो करते हैं, किन्तु दान के अहकार को अपने मन मे प्रवेश नही करने देते।

दान मूल से आदान ही है, पाना ही है। दान करना खाना नही है, वल्कि प्राप्त करना है। एक पाश्चात्य विद्वान् ने कहा है—"What we gave, we have, what we spent, we had, what we left we lost जो कुछ हमने दिया है, वह हमने पा लिया जो कुछ हम खर्च कर चुके हैं उसे भी हमने कुछ पा लिया था, किन्तु जो कुछ हम यहां छोडकर जाते हैं, उसे हम खो देते है। कहने का अभिप्राय यह है कि जो कुछ हमने दिया, वह हमने पा लिया, और जो कुछ हम दे रहे हैं, उसे हम अवश्य ही प्राप्त करेंगे, किन्तु जिस सम्पत्ति का न हमने अपने लिए उचित उपयोग किया और न हम उसको दान ही कर पाए, वल्कि मरने के वाद यही छोड गए तो वह हमारी अपनी नही है, वह हमारे हाथो से नष्ट हो चुकी है।

सज्जन व्यक्ति की विद्या और सज्जन व्यक्ति का धन जिस प्रकार परोपकार के लिए होते हैं, उसी प्रकार उसकी शक्ति दूसरों के लिए होती हैं। दूसरो को पीडा देने के लिए उसकी तलवार कभी म्यान से वाहर नही निकलती। जिसका मानस दया और करुणा से आप्लावित है, भला उसकी तलवार की नोक दूसरे के कलेजे को कैसे चीर सकती है! किन्तु समय पडने पर वह दीन, असहाय और अनाथ जनो के अधिकारो की रक्षा के लिए अपने प्राणो की वाजी खेल सकता है। सज्जन पुरुष अपनी शक्ति का प्रयोग अनाथ जनो के अधिकार के सरक्षण के लिए ही करता है। वह कभी भी अपनी शक्ति का प्रयोग अपनी वासनाओ के पोषण के लिए अथवा अपने स्वार्थ के पोषण के लिए नही करता। सज्जन पुरुष इस सृष्टि का एक दिव्य पुरुष होता है।

मानव-जीवन वडा दुर्लभ है। उसे प्राप्त करना आसान काम नही है, किन्तु याद रखिए, मानव जीवन प्राप्त करना ही सव कुछ नही है, उसकी सफलता तभी है, जबकि मानवोचित सद्गुण भी जीवन मे विद्यमान हो। सज्जन पुरुष का वलवान होना अच्छा है और दुर्जन का निर्वल रहना अच्छा है। सज्जन व्यक्ति यदि वलवान् होगा, शक्ति-सम्पन्न होगा, तो वह अपने जीवन का भी उत्थान कर सकेगा और दूसरे मनुष्यों के जीवन का भी उत्थान कर सकेगा, किन्तु दुर्जन व्यक्ति की शक्ति दूसरो के त्रास के लिए होती है, दूसरो के परित्राण के लिए नही। धार्मिक व्यक्ति जितना अधिक वलवान होगा, वह धर्म की साधना उतनी ही अधिक पवित्रता के साथ करेगा। क्रूर एवं दुर्जन व्यक्ति जितना अधिक निर्वल रहेगा, वह उतना ही अधिक कम अन्याय और अत्याचार कर सकेगा। इसका अर्थ यह नही है कि शास्त्रकार किसी को वलवान और किसी को निर्वल होने की भावना करते है। यहां पर कहने का अभिप्राय इतना ही भर है कि मनुष्य जीवन की वास्तविकता क्या है और मनुष्य ने अपने जीवन को किस रूप मे समझा है तथा उसे अपने जीवन को किस रूप में समझना चाहिए? राजकुमारी जयन्ती के एक प्रश्न के उत्तर मे भगवान् ने एकवार जो कुछ कहा था, उसका अभिप्राय इतना

ही है कि "यदि तुम शक्तिशाली हो, तो उस शक्ति का उपयोग एवं प्रयोग अपने आत्म-कल्याण और अपने आत्मोत्थान के लिए करो। अपने विकास के लिए करो। शक्तिप्राप्ति का यह अर्थ नहीं है कि तुम दूसरों के लिए भयंकर रुद्र बनकर दूसरों के जीवन के विनाश का ताण्डव नृत्य करने लगो। दूसरों के जीवन को क्षति पहुँचाने का तुम्हें किसी प्रकार का नैतिक अधिकार नहीं है। तुम अपने घर में दीपक जला सकते हो, तुम्हारा अधिकार है, किन्तु दूसरे के घर के दीपक को, जो कि उसने अपने घर के अँधेरे को दूर करने के लिए जलाया है, बुझाने का तुम्हें कोई अधिकार नहीं है। तुम दान देते हो, अवश्य दो, यह तुम्हारा कर्त्तव्य है, किन्तु दान देकर उसका अहंकार मत करो।" आपको मालूम है, जैन दर्शन के अनुसार दान शब्द का क्या अर्थ होता है? दान का अर्थ है—संविभाग। दान का अर्थ देना ही नहीं है, बल्कि उसका अर्थ है—बराबर का हिस्सा बाँटना। एक पिता के चार पुत्र यदि अलग होते हैं, तो वे अपने पिता की सम्पत्ति का समविभाग करते हैं, न कि एक-दूसरे को दान करते हैं। प्रत्येक पुत्र का अपने पिता की सम्पत्ति पर समान अधिकार है। पिता की सम्पत्ति पुत्र को दी नहीं जाती है, वह स्वतः उसे प्राप्त होती है। इसी प्रकार तुम दान करने वाले कौन हो? किसी को दान करने का कोई अधिकार नहीं है। इसीलिए भगवान् महावीर ने कहा है कि—समाज-रूपी पिता से तुम्हें जो कुछ भी सम्पत्ति प्राप्त हुई है, उसका संविभाग करो, उसे बराबर बाँटो, समाज के सब व्यक्ति तुम्हारे अपने भाई हैं, और तुम उनके भाई हो। एक भाई दूसरे भाई को दान नहीं करता है, बल्कि वह उसका संविभाग करता है। दान में दीनता रहती है और संविभाग में अधिकार की भावना प्रधान रहती है। दान करते समय यह विचार रखो कि हम समविभाग कर रहे हैं, अतः दान के बदले न हमें स्वर्ग की अभिलाषा है और न अन्य किसी प्रकार के वैभव की अभिलाषा है। ज्ञान का प्रसार करने से, धन का समविभाग करने से और शक्ति का सद् प्रयोग करने से, आत्मा बलवान बनती है, आत्मा शक्ति-सम्पन्न बनती है और आत्मा प्रभु बनती है।

संसार का प्रत्येक मनुष्य सुख चाहता है, शान्ति चाहता है और आनन्द चाहता है। किन्तु प्रश्न यह है कि ये प्राप्त कैसे हों? ये प्राप्त तो तभी हो सकते हैं, जबकि हम दूसरों को सुखी बना सकें, दूसरों को शान्त कर सकें। प्रत्येक व्यक्ति के हृदय की भावना ही उसके शुभ-अशुभ जीवन का निर्माण करती है। एक पाश्चात्य विद्वान ने कहा है—

"Heaven and hell are in our conscience."

स्वर्ग और नरक, सुख और दुःख कहीं बाहर नहीं हैं, ये हमारे अन्दर में ही हैं। मनुष्य की जैसी भावना और जैसी बुद्धि होती है, उसी के अनुसार उसका जीवन सुखी और दुःखी बनता है और उसी के अनुसार उसे स्वर्ग एवं नरक की भी उपलब्धि होती है। सब कुछ भावना पर ही आधारित है।

★ ★ ★ ★

४१

अन्तर्जीवन

आन्तरिक जीवन की शुद्धता, जीवन की समुचित तैयारी के लिए, परम आवश्यक है। मेरा विश्वास है कि आन्तरिक जीवन की पवित्रता के बिना कोई भी वाह्य आचार, कोई भी क्रियाकाण्ड और गभीर विद्वता व्यर्थ है। जैसे, सख्या के अभाव मे हजारो शून्यो का कोई मूल्य नही होता, उसी प्रकार अन्त शुद्धि के बिना वाह्याचार का कोई मूल्य नहीं। जो क्रियाकाण्ड केवल शरीर से किया जाता है, अन्तरतम के भाव से नही किया जाता, उससे आत्मा पवित्र कदापि नही बनती। आत्मा को निर्मल और पवित्र बनाने के लिए आत्मस्पर्शी आचार की अनिवार्यता स्वयंसिद्ध है।

अतःशुद्धि के निमित्त वाह्याचार

जो वाह्य आचार अन्त शुद्धि के फलस्वरूप स्वत समुद्भूत होता है, वस्तुतः मूल्य उसी का है। कोरे दिखावे के लिए किए जाने वाले वाह्य आडम्बरो से उद्देश्य की सिद्धि कदापि नही हो सकती। हम सैकडो को देखते हैं, जो वाह्य क्रियाकाण्ड नियमित रूप से करते हैं और करते-करते बूढ़े हो जाते हैं, किन्तु उनके जीवन मे कोई शुभ परिवर्तन नही हो पाता, वह ज्यो का त्यो कलुषित ही बना रह जाता है। इसका कारण यही है कि उनका क्रियाकाण्ड केवल कायिक है, यान्त्रिक है उसमे आन्तरिकता का कतई समावेश नही है।

अंत शुद्धिपूर्वक वाह्य आचार · कल्याण पद का आधार :

यह तो नही कहा जा सकता कि वाह्य क्रियाकाण्ड करने वाले सभी लोग पाखण्डी, दभी और ठग हैं। यद्यपि अनेक विचारको की ऐसी धारणा बन गयी है कि जो दभी और पाखण्डी है, वह अपने दभ और पाखण्ड को छिपाने के लिए क्रियाकाण्ड का आडम्बर रचता है और दुनिया को दिखाना चाहता है कि वह बहुत बडा धर्मात्मा है। किन्तु उनकी यह धारणा एकदम निराधार भी नही कही जा सकती, क्योकि दुर्भाग्य से अनेक

लोग धर्म के पावन अनुष्ठान को इसी उद्देश्य से कलुषित भी करते हैं और उन्हें देख-देख कर बहुत से लोग उस अनुष्ठान से भी घृणा करने लग जाते हैं। फिर भी हमारे विचार में कुछ लोग ऐसे भी हैं, जो सरल हृदय से धर्म का बाह्य अनुष्ठान करते हैं, भले ही उनके क्रिया-काण्ड में आन्तरिकता न हो, पर सरलता अवश्य होती है। वह सरलभाव ही उनका कल्याण कर देता है। और, कोई-कोई विरल व्यक्ति ऐसे भी मिल सकते हैं, जो अन्तःशुद्धिपूर्वक ही बाह्य क्रियाएँ करते हैं। ऐसे व्यक्ति ही वस्तुतः अभिनन्दनीय हैं। वे निस्सन्देह परम कल्याण पद के भागी होते हैं।

अतःशुद्धि की प्रक्रिया :

अन्तःशुद्धि किस प्रकार हो सकती है, इस सम्बन्ध में तरह-तरह के विचार सामान्यजनों के सामने प्रस्तुत किए जाते हैं। उनकी भाषा में भेद हो सकता है, भाव में नहीं। मैं समझता हूँ कि अन्तःशुद्धि के लिए साधक को सबसे पहले अपने अन्तरंग को टटो-लना चाहिए।

आप आन्तरिक जगत् की ओर दृष्टिपात करेंगे तो देखेंगे कि वहाँ राक्षस भी अपना अड्डा जमाये हुए हैं और देवता भी। राक्षसी भाव दुनिया की ओर घसीटते हैं, बुराईयों की ओर ले जाते हैं, और मनुष्य की जिंदगी को नरक में डाल देते हैं। और, आत्मा में जो दैवी संस्कार हैं, वही भीतर के देवता हैं। वे हमारी जिंदगी को अच्छाइयों की ओर ले जाते हैं और स्वर्ग तथा मोक्ष का द्वार उन्मुक्त करते हैं।

देवासुर का अनंत संघर्ष

अन्दर के राक्षस और देवता परस्पर संघर्ष किया करते हैं, उनमें निरन्तर महाभारत छिड़ा रहता है। महाभारत तो एकबार हुआ था और कुछ काल तक जारी रह कर खतम हो गया, किन्तु हमारे अन्दर का महाभारत अनादिकाल से चल रहा है। उसकी कहीं आदि नहीं है और अन्त कब और कैसे होगा, नहीं कहा जा सकता। इस महाभारत में भी कौरव और पाण्डव लड़ रहे हैं। हमारे अन्दर की बुराइयाँ कौरव हैं और अच्छाइयाँ पाण्डव हैं। इन दोनों के युद्ध का स्थल—कुरुक्षेत्र हमारा स्वयं का हृदय है।

कौरव-पांडव और विजय केन्द्र :

अबतक मानव-जीवन का इतिहास ऐसा रहा है कि हजार बार कौरव जीते, परन्तु अन्त में पाण्डवों की ही विजय हुई। पाण्डव जुआ खेलने में भी हारे और युद्ध में भी हारे, किन्तु आखिरी युद्ध में वही जीते। और इधर अनन्तकाल से जो लड़ाई लड़ी जा रही है, उसमें क्रोध ने शान्ति पर विजय प्राप्त की, लोभ ने सन्तोष का गला घोंट दिया। अहंकार ने नम्रता को निष्प्राण कर दिया।

कौरव-पाण्डवों की अन्तिम लड़ाई कृष्ण के निर्देशन में लड़ी गई। कृष्ण पथ-प्रदर्शक बने और अर्जुन योद्धा बने। इस लड़ाई के सम्बन्ध में व्यास को यहाँ तक कहना पड़ा कि—

'जहाँ योगेश्वर कृष्ण युद्ध का नेतृत्व करेंगे, अर्जुन अपना धनुष उठाकर लड़ेंगे, वहाँ विजय के अतिरिक्त और क्या हो सकता है? वहाँ विजय है, अभ्युदय है और नीति

की ऊँचाई है। यह मेरा निश्चित मत है।"[1]

हमारा हृदयस्थल : अर्जुन और कृष्ण का समन्वय :

वास्तव मे यह मत गलत नही है कि महाभारत मे कृष्ण और अर्जुन थे और हमारे हृदय मे भी कृष्ण और अर्जुन विराजमान है। कृष्ण ज्ञानयोग के प्रतीक हैं और अर्जुन कर्मयोग के प्रतीक। कर्मयोग अकेला सिद्धि प्राप्त नही कर सकता। वह तो अंधे की तरह टकराएगा। उसका नेतृत्व मिलना चाहिए, एक समर्थ पथप्रदर्शक चाहिए। वह पथप्रदर्शक ज्ञान के अतिरिक्त और कौन हो सकता है? ज्ञान जब कर्म का पथ-प्रदर्शन करता है, तो दोनो का समन्वय हो जाता है। यही कृष्ण और अर्जुन का समन्वय है। इस समन्वय के साथ जब जीवन का महाभारत लड़ा जाता है, तो उसमे विजय होना ध्रुव है और वासना-रूपी कौरवो का पतन भी निश्चित है।

क्रोध और मान

हमारे भीतर बहुत बडी-बडी बुराइयाँ घुसी हुई हैं, उनमे क्रोध और मान की गिनती पहले होती है। भगवान् महावीर ने भी कषायो मे क्रोध और मान का नाम पहले लिया है। चार कषाय, जो जन्म-मरण का नाटक रचते रहते हैं और जन्म-जन्मान्तर से दुःख देते रहते हैं, इनमे क्रोध पहला और मान दूसरा है।

लोकप्रियता का आधार : प्रेम :

यह तो आप जानते है कि मनुष्य की मूल प्रकृति शान्त रहना और प्रेमपूर्वक चलना है। मनुष्य ससार मे जहाँ कही भी रहना चाहता है, अकेला नही रह सकता। उसको साथी चाहिए और साथी बनाने के लिए प्रेम जैसी चीज भी चाहिए। प्रेम से ही एक व्यक्ति दूसरे से जुडता है। परिवार मे दस-बीस आदमी रह रहे हैं, तो प्रेम के कारण ही मिलकर रह सकते हैं। घृणा का काम तो जोडना नही, अलग करना है। इसी तरह बिरादरी मे हजारो आदमी जुडे रहते है। उन्हे जोडने वाला एकमात्र प्रेम ही है। तो परिवार मे पारिवारिक प्रेम, समाज मे सामाजिक प्रेम और राष्ट्र मे राष्ट्रीय प्रेम ही आपस मे मनुष्य जाति को जोडे हुए है। जिसके हृदय मे प्रेम का वास है, वह अपने हजारो और लाखो प्रेमी बनाता चलता है।

प्रेम और क्रोध परस्पर विरोधी :

मनुष्य क्रोध कर ले और प्रेम भी कर ले, यह नही हो सकता। ये दोनो परस्पर विरोधी हैं। जहाँ क्रोध होगा, प्रेम नही हो सकता और जहाँ प्रेम है, वहाँ क्रोध का अस्तित्व नही। ईश्वर की भी शक्ति नही कि वह दिन और रात को एक सिंहासन पर ले आए। दिन और रात एक नही रह सकते। राम और रावण दोनो एक सिंहासन पर नहीं बैठ सकते। एक बैठेगा तो दूसरे को हटना पडेगा। राम की पूजा करनी है, तो रावण को सिंहासन से उतारना पडेगा और यदि रावण को पूजना है, तो राम को उतारना पडेगा।

---

१ यत्र योगेश्वर कृष्णो, यत्र पार्थो धनुर्धरः।
तत्र श्रीविजयो भूतिर्ध्रुवा नीतिर्मतिर्मम ॥—श्रीमद्भगवद्गीता, १८।७८

मन का भयानक कालुष्य : क्रोध

जब इन्सान के मन में मलिनता आती है, तो चमकती हुई ज्ञान की लौ धुँधली पड़ जाती है। और जब मन में काम और क्रोध की लहर उठती है, तो मन का दर्पण मैला पड़ जाता है। आपका अनुभव ही होगा कि दर्पण में फूँक मार देने पर वह धुँधला हो जाता है। उसमें चेहरा देखने पर साफ नजर नहीं आता। दर्पण अपने स्वरूप में तो स्वच्छ है, किन्तु जब मुँह के भाप ने असर किया, तो वह मैला बन गया। इसी प्रकार मन का दर्पण भी साफ है, ठीक हालत में है और वह प्रतिबिम्ब को ग्रहण कर सकता है, किन्तु दुर्भाग्य से क्रोध की फूँक लगती है, तो वह इतना मैला हो जाता है कि उस पर ठीक-ठीक प्रतिबिम्ब झलक नहीं पाता। जिनके मन का दर्पण साफ नहीं है, वे मित्र को मित्र के रूप में ग्रहण नहीं कर पाते, पति को पति के रूप में, पत्नी को पत्नी के रूप में और पिता-पुत्र को, पिता-पुत्र के रूप में नहीं देख पाते। उनके मन पर पड़ने वाले प्रतिबिम्ब जब इतने धुँधले होते हैं, तो वे अपने कर्त्तव्य को भी साफ-साफ नहीं देख पाते और न अपनी भूलों को ही देख पाते हैं।

क्रोध : एक भयानक विघातक :

क्रोध में पागलपन ही नहीं, पागलपन का आवेश भी होता है। जिसे दुनियाँ पागल समझती है, वह पागलपन उतना भयानक नहीं होता, जितना क्रोध के वशीभूत हुआ मनुष्य भयानक होता है। अन्दर में क्रोध की आग सुलगते ही विवेक-बुद्धि भस्म हो जाती है और उस दशा में मनुष्य जो न कर बैठे, वह गनीमत है। वह आत्मघात कर लेता है, पर का घात कर देता है और ऐसे-ऐसे काम कर जाता है कि जिनके लिए उसे जिन्दगी भर पछताना पड़ता है। क्रोध के आवेश में मनुष्य अपने सारे होश-हवास खो बैठता है।

क्रोध पर ही क्रोध :

जब हमें यह निर्णय कर लेना है कि क्रोध हमारे जीवन के लिए सब प्रकार से घातक है, इसको अपने मन में जरा-सी स्थान नहीं देना है। जब क्रोध आने को हो, तो उसको बाहर के दरवाजे से ही धक्का देकर निकाल देना चाहिए। हाँ, यदि क्रोध करना ही है, तो, हमें क्रोध पर ही क्रोध करना है। हमारे यहाँ यह सिद्धान्त आया है कि—"यदि क्रोध करना है तो उसको निकालने के लिए क्रोध पर ही क्रोध करो। क्रोध के अतिरिक्त और किसी पर क्रोध मत करो।"

इस प्रकार जब क्रोध मन से निकल जाएगा, तो जीवन में स्नेह की धाराएँ स्वतः प्रवाहित होने लगेंगी। हृदय शान्त और स्वच्छ हो जायगा और बुद्धि निर्मल हो जाएगी।

शांत मस्तिष्क ही निर्णय लेने में समर्थ :

जब हम शान्त भाव में रहते हैं और हमारा मस्तिष्क शान्त सरोवर के सदृश होता है, तभी हममें सही निर्णय करने का सामर्थ्य आता है। इसी समय हम ठीक विचार कर पाते हैं और दूसरों को भी ठीक बात समझा सकते हैं।

आपको क्रोध आ गया, गुस्सा चढ़ गया, तो आपने अपनी बुद्धि की हत्या कर दी और जब बुद्धि का ही ढेर हो गया, तो निर्णय कौन करेगा? क्रोधी का निर्णय सही नहीं

होगा और कदाचित् वह जीवन मे बडा ही भयकर साबित होगा। वह निर्णय कभी भी शान्ति-दायक नही हो सकता। यदि हम अपने जीवन को शान्तिपूर्वक बनाना चाहते हैं, तो वह क्रोध से शान्तिपूर्ण कभी नही बन सकता।

क्रोध के शमन का मार्ग

प्रश्न हो सकता है कि क्रोध से किस प्रकार बचा जा सकता है? इसका उत्तर यह है कि जब घर मे आग लगती है, तो उसे बुझाने के लिए जिस प्रकार पानी का प्रबन्ध किया जाता है, उसी प्रकार जब क्रोध आए तो उसे क्षमा एव सहनशीलता के जल से बुझा दें। और अभिमान से लडने के लिए नम्रता को अडा दें। जबतक विरोधी चीजें नही आएँगी, तबतक कुछ नहीं होगा। क्रोध को क्रोध से और अभिमान को अभिमान से कभी भी नही जीता जा सकता। गरम लोहे को गरम लोहे से काटना कभी सभव नहीं। उसे काटने के लिए ठडे लोहे का ही प्रयोग करना पडेगा। जब ठडा लोहा गरम हो जाता है, तो उसकी अपने आपको बचाने की कडक कम हो जाती है। वह ठडा होने पर अधिक देर तक टिक सकता है, किन्तु गरम होकर तो उसने अपनी शक्ति ही गँवा दी। वह ठडे लोहे से कटना शुरु हो जाता है। तो इस रूप में मालूम हुआ कि गरम लोहे को गरम लोहे से नही काट सकते, उसको ठडे लोहे से ही काटना सभव होगा।

भगवान् महावीर ने कहा कि—"क्रोध प्रेम की हत्या कर डालता है।"[1] इसका मतलब यह हुआ कि जो चीजें प्रेम के सहारे टिकने वाली हैं, क्रोध उन सबका नाश कर डालता है। इस रूप मे विचार कीजिए तो मालूम होगा कि परिवार, समाज और गुरु-शिष्य आदि का सम्बन्ध स्नेह के आधार पर ही टिका हुआ है। वहाँ अगर क्रोध उत्पन्न हो जाए, तो वह कोई भी प्रेम-सम्बन्ध टिकने वाला नही, यह अनुभवगम्य सत्य है। जहाँ क्रोध की ज्वालाएँ उठती हैं, वहाँ भाई-भाई का, पति-पत्नी का, पिता-पुत्र का और सास-बहू का प्रेम-सम्बन्ध भी टूट जाता है। और तब परिवार मे रहता हुआ भी इन्सान अकेला रहता है। देश मे करोडो लोगो के साथ रहता हुआ भी वह अभागा अकेला ही भटकता है।

लक्ष्मी का निवासस्थान

अतः यह विचार स्पष्ट है कि जीवन का आदर्श है प्रेम। भारतीय साहित्य मे जिक्र आता है कि एकबार इन्द्र कही जा रहे थे। उन्हे लक्ष्मी रास्ते मे बैठी दिखलाई दी। तब इन्द्र ने लक्ष्मी से पूछा—आजकल आप कहाँ विराजती हैं? लक्ष्मी ने कहा—आजकल का प्रश्न क्यो? मैं तो जहाँ रहती हूँ, वही सदा रहती हूँ। मैं ऐसी भगोडी नही कि कभी कहीं और कभी कहीं रहूँ। और हमेशा रहने की अपनी तो एक ही जगह है—

---

१ 'कोहो पीइं पणासेइ।'—दशवैकालिक

"इन्द्र ! मैं वहाँ रहती हूँ जहाँ प्रेम का अखण्ड राज्य है, जिस परिवार एवं समाज में आपस में कलह नहीं है। मैं उन लोगों के पास रहती हूँ, जो लोग प्रेमपूर्वक मिल-जुल कर काम करते हैं। एक दूसरे के सहकारी बन कर जहाँ लोग अपनी जीवन-यात्रा की तैयारी करते हैं। जहाँ आपस में संगठन है और जो एक-दूसरे के लिए अपने स्वार्थ को निछावर कर देने को तैयार रहते हैं और अपनी इच्छाओं को भी कुचलने के लिए तैयार रहते हैं, जहाँ प्रेम की जीवनदायिनी धाराएँ निरन्तर बहती रहती हैं, जहाँ कलह, घृणा और द्वेष नहीं होता, मैं उसी जगह निवास करती हूँ।"[1]

लक्ष्मी के इस कथन ने अनन्त-अनन्त काल के प्रश्न हल कर दिए हैं। बड़ी सुन्दर बात कही है। यह तो संसार के लिए एक महान् आदर्श वाक्य है। वास्तव में लक्ष्मी ने अपनी ठीक जगह बतला दी है। बड़े-बड़े परिवारों को देखा है, जहाँ लक्ष्मी के ठाट लगे रहते थे। किन्तु जब उन परिवारों में मनमुटाव आया, क्रोध की आग जलने लगी, वैरभाव पैदा हो गया, तो वह वैभव और आनन्द बना नहीं रह पाया। धीरे-धीरे वह क्षीण होने लगा और लक्ष्मी रूठ कर चल दी।

१. गुरवो यत्र पूज्यन्ते, वाणी यत्र सुसंस्कृता।
अदन्तकलहो यत्र, तत्र शक्र ! वसाम्यहम् ॥

४२

जीने की कला

जीवन एक यात्रा है। यात्रा वह होती है, जिसमे लक्ष्य सिद्ध होने तक चरण कभी अवरुद्ध नही होते, गति कभी वन्द नही होती। मनुष्य के जीवन मे यह यात्रा निरन्तर चलती रही है, कर्म की यह गति कभी भी अवरुद्ध नही हुई है, इसीलिए तो यह यात्रा है।

दुर्भाग्य ही कहिए कि भारतवर्ष मे कुछ ऐसे दार्शनिक धर्माचार्य पैदा हुए हैं, जिन्होंने इस यात्रा को, अवरुद्ध करने का, अंधकारमय वनाने का सिद्धान्त स्थापित किया है। उन्होंने कहा—निष्कर्म रहो, कर्म करने की कोई आवश्यकता नही, जो भगवान् ने रच रखा है, वह अपने आप प्राप्त होता जाएगा।

"अजगर करे न चाकरी पंछी करे न काम।
दास मलूका कह गए, सवके दाता राम॥"

ऐसे कथनो को जीवन सूत्र के रूप मे प्रस्तुत किया गया। 'कुछ करो मत, पडे रहो, राम देने वाला है।'

प्रश्न हो सकता है कि ऐसे विचारो से क्या यथार्थ समाधान मिला भी है कभी? जीवन मे क्या शान्ति और आनन्द प्राप्त हुआ? सर्व साधारण जन और इन सिद्धान्तो के उपदेष्टा स्वय भी, क्या सर्वथा निष्कर्म रहकर जीवन की यात्रा पार कर सके? सबका उत्तर होगा—'नहीं'। तव तो इसका सीधा अर्थ है कि निष्कर्म रहने की वृत्ति सही नहीं है, मनुष्य निष्कर्म रह कर जी नही सकता।

निष्कर्म या निष्काम :

मनुष्य परिवार एव समाज के बीच रहता है, अत वहा की जिम्मेदारियो से वह मुंह नही मोड सकता। आप यदि सोचें—परिवार के लिए कितना पाप करना पडता है, यह वन्धन है, भागो इससे, इसे छोडो!—तो क्या काम चल सकता है? और छोडकर भाग भी चलो, तो कहा? वनो और जंगलो मे भागने वाला क्या निष्कर्म रह सकता है? गगा मे समाधि लेकर क्या पाप व वन्धन से मुक्त हुआ जा सकता है? सोचिए, ऐसा कौन-सा स्थान है, कौन-सा साधन है, जहा आप निष्कर्म रहकर

जी सकते हैं। वस्तुत: निष्कर्म अर्थात् क्रियाशून्यता जीवन का समाधान नहीं है, अपितु जीवन से पलायन है।

भगवान् महावीर ने इस प्रश्न पर समाधान दिया है—निष्कर्म रहना जीवन का धर्म नहीं है। जीवन है तो कुछ न कुछ कर्म भी है। केवल कर्म भी जीवन का ध्येय नहीं, किन्तु कर्म करके अकर्म रहना, कर्म करके कर्म की भावना से अलिप्त रहना—यह जीवन का मार्ग है, बाहर में कर्म, भीतर में अकर्म—यह जीवन की कला है।

मैंने कहा—कोई भी मनुष्य निष्कर्म नहीं रह सकता। कर्म तो जीवन में क्षण-क्षण होता रहता है, श्रीमद्भगवद्गीता में कर्मयोगी श्रीकृष्ण की वाणी है—

"न हि कश्चित क्षणमपि, जातु तिष्ठत्यकर्मकृत् !"

मूल प्रश्न कर्म का नहीं, कर्म के बन्धन का है। क्या हर कर्म बन्धन का हेतु होता है? उत्तर है—नहीं होता।

बात यह है कि आप जब कर्म में लिप्त होने लगते हैं, आसक्त होते हैं, तो मोह पैदा होता है, तब कर्म के साथ बन्धन भी आ जाता है। जीवन में अच्छे-बुरे जो भी कर्म हैं, उनके साथ मोह-राग और द्वेष का सम्पर्क होने से वे सब बन्धन के कारण बन जाते हैं।

मैं जब प्रवचन करता हूँ, तो यह निर्जरा का कार्य है, पर इसमें कर्म भी बँध जाता है। आलोचना और प्रशंसा सुनकर यदि राग-द्वेष के विकल्प में उलझ जाता हूँ, तो जो प्रवचनरूप कर्म करके भी अकर्म करने का मर्म था, वह कर्म बन्ध का कारण बन गया। कर्म के साथ जहाँ भी मोह का स्पर्श होता है, वहीं बन्ध होता है।

तथागत बुद्ध ने एक बार कहा था: न तो चक्षु रूपों का बन्धन है और न रूप ही चक्षु के बन्धन हैं। किन्तु जो वहाँ दोनों के प्रत्यय से (निमित्त से) छन्द राग अर्थात् स्नेह भाव अथवा द्वेषबुद्धि जागृत होती है, वही बन्धन है।[1]

भारतीय चिन्तन की यह वही प्रतिध्वनि है जो उस समय के युगचिन्तन में मुखरित हो रही थी। धर्म-अधर्म का विवेचन-विश्लेषण जब किया जा रहा था, तब भगवान् महावीर ने स्पष्ट उद्घोष यों स्पष्ट शब्दों में किया था।[2]

यह सम्भव नहीं है और उचित भी नहीं कि जीवन पर आया हुआ अच्छा या बुरा

---

१ न चक्खु रूपानं संयोजनं,
न रूपा चक्खुस्स संयोजनं
यं च तत्थ तदुभयं पटिच्च उप्पज्जति
छन्दरागो तं तत्थ संयोजनं—संयुत्तनिकाय ४।३५।२३२

२ न सक्का रूवमद्ठुं चक्खुविसयमागयं :
रागदोसा उ जे तत्थ ते भिक्खू परिवज्जए ॥—आचारांग, २।३।१५।१३१

रस चखने मे न आये। वैसे ही अन्य इन्द्रियों के सम्पर्क मे आये हुए शब्दादि अन्य विषय भी उन पर स्पष्ट न हो, अनुभव-गम्य न हो, अतः रसादि का त्याग यथाप्रसग हो भी सकता है नही भी हो सकता है। किन्तु उनके प्रति जगने वाले रागद्वेष का त्याग अवश्य करने जैसा है। कर्मबन्ध वस्तु मे नही, वृत्ति मे होता है, अत रागात्मक वृत्ति का त्याग ही कर्मबन्ध से मुक्त रहने का उपाय है,यही कर्म मे अकर्म रहने की कला है। गीता की भाषा में इसे ही 'निष्काम कर्म' कहा गया है। समग्र भारतीय चिन्तन ने अगर जीवन का कोई दर्शन, जीवन की कोई कला, जीवन की कोई दृष्टि दी है, तो वह यह कि—निष्कर्म मत रहो, कर्म करो, किन्तु निष्काम रहो, कर्मफल की आसक्ति से मुक्त रहो।

अकर्म में कर्म

हमारा जीवन-दर्शन जीवन और जगत् के सभी पहलुओं को स्पर्श करता हुआ आगे बढता है। प्रत्येक पहलू का वहाँ सूक्ष्म से सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है।

जिस प्रकार 'कर्म मे अकर्म' रहने की स्थिति पर हमने विचार किया है, कुछ उसी प्रकार 'अकर्म मे कर्म' की स्थिति भी जीवन मे बनती है, इस पहलू पर भी हमारे आचार्यों ने अपना बडा सूक्ष्म चिन्तन प्रस्तुत किया है, वे बहुत गहराई तक गए हैं।

अकर्म मे कर्म की स्थिति जीवन मे तब आती है, जब आप बाहर मे बिलकुल चुपचाप निष्क्रिय पडे रहते हैं, न कोई हलचल, न कोई प्रयत्न। किन्तु मन के भीतर अन्तर्जगत् मे रागद्वेष की तीव्र वृत्तियाँ मचलती-उछलती रहती हैं। बाहर मे कोई कर्म दिखाई नही देता, पर आपका मन कर्मों का तीव्र बन्धन करता चला जाता है। यह 'अकर्म मे भी कर्म' की स्थिति है।

'अकर्म मे कर्म' को स्पष्ट करने वाले दो महत्त्वपूर्ण उदाहरण हमारे साहित्य में, दर्शन मे अत्यधिक प्रसिद्ध हैं। एक उदाहरण है—प्रसन्नचन्द्र राजर्षि का और दूसरा है—तन्दुल मत्स्य का।

प्रसन्नचन्द्र राजर्षि बाहर मे ध्यान मुद्रा लिए, निष्कर्म खडे रहते हैं, किन्तु मन के भीतर भयकर कोलाहल मचा हुआ है, रणक्षेत्र बना हुआ है। मन घमासान युद्ध में सलग्न है और तब भगवान् महावीर के शब्दो मे वह सातवीं नरक तक के कर्म दलिक बाँध लेता है।

तन्दुल मत्स्य का उदाहरण इससे भी ज्यादा बारीकी मे ले जाता है। एक छोटा-सा मत्स्य! नन्हे चावल के दाने जितना शरीर! और आयुष्य कितना? सिर्फ अन्तर्मुहूर्त भर! इस लघुतम देह और अल्पतम जीवन काल मे वह अकर्म मे कर्म इतना भयकर कर लेता है कि मरकर सातवीं नरक मे जाता है।

कहा जाता है कि तन्दुल मत्स्य जब विशालकाय मगरमच्छ के मुँह मे आती-जाती मछलियो को देखता है, तो सोचता है—कैसा है यह आलसी! इतनी मछलियाँ मुँह मे आ रही है, लेकिन जबडा बन्द नहीं करता, निगल नही जाता। यदि मेरे मुँह में इतनी मछलियाँ आ जातीं तो बस एक बार ही सबको निगल जाता। भीतर की भीतर ही उनका कलेवा कर डालता।

भी है कि "यह मैंने किया, इसका करने वाला मैं हूं।" कार्य के साथ कर्त्तापन की भावना स्फुरित होती है। और प्रत्येक कार्य के बीच मे वह अपने 'मैं' 'अह' को खडा कर देता है। वह सोचता है—मैं नही होता तो यह काम नही होता, मैंने ही यह किया है, मेरे बिना परिवार की—समाज की गाडी नही चल सकती। इस प्रकार 'मैं' के, कर्त्तावुद्धि के हजार-हजार विकल्प एक तूफान की तरह उसके चिन्तन मे उठते हैं और परिवार तथा समाज मे अशान्ति व कोलाहल की सृष्टि कर डालते हैं। व्यक्तिगत जीवन, पारिवारिक जीवन और राष्ट्रीय जीवन—सभी आज इसी तूफान के कारण अशान्त है, समस्याओं से घिरे हैं। परिवार मे जितने व्यक्ति है, सभी के भीतर 'मैं' का नाग फुंकार मार रहा है, राष्ट्र मे जितने नागरिक है, प्रायः प्रत्येक अपने कर्तृत्व के 'अह' से वौराया हुआ-सा है। और इस प्रकार एक-दूसरे का 'अहं' टकराता है, अग्नि स्फुलिंग उछलते हैं, अशान्ति फैलती है और जीवन सकटग्रस्त वन जाता है।

अत. स्पष्ट है कि यह कर्त्तापन की वुद्धि ही मनुष्य को शान्त नही रहने देती। शान्ति की खोज आप करते हैं, आपको शान्ति चाहिए, तो फिर आवश्यक है कि इस कर्तृत्ववुद्धि से छुटकारा लिया जाए, तभी अशान्ति से पिण्ड छूट सकेगा, अन्यथा नही।

कलकत्ता चातुर्मास के लिए जाते समय मैं विहार की 'गया' नगरी मे भी गया था। वहां एक फल्गु नदी है। प्राचीन वैदिक एव बौद्ध साहित्य मे उसका काफी वर्णन है। बुद्ध ने तो कहा है—'सुद्धस्स वे सदा फग्गु'[1] शुद्ध मनुष्य के लिए सदा ही फल्गु है। अव तो वह प्राय सूख गई है। फिर भी काफी लोग उसे पवित्र मान कर श्राद्ध करने के लिए वहां आए दिन लोग आते रहते हैं। मैंने श्राद्ध के निमित्त आए एक सज्जन से पूछा—घर पर भी आप लोग श्राद्ध कर सकते हैं, फिर 'गया' आकर फल्गु नदी के जल से ही श्राद्ध करने का क्या मतलव है?

उस सज्जन ने वताया—"गगाजी मे श्राद्ध कर लेने से एक ही साथ सव पितरो का श्राद्ध हो जाता है, सवसे सदा के लिए पिण्ड छूट जाता है।"

मैंने सोचा—जिस आचार्य ने यह वात कही है, उसने काफी गहराई मे सोचा होगा। आदमी कहां तक वडे-वूढो को सिर पर ढोए चलेगा, कहां तक मृत पूर्वजो को मन-मस्तिष्क मे उठाए फिरेगा, आखिर उनसे पिन्ड ही छुडाना होगा, सवको 'वोसिरे-वोसिरे' (परित्याग) करना ही होगा।

जीवन मे कर्तृत्व के जो अहकार हैं—मैंने यह किया, वह किया—के जो सकल्प हैं, आप इनको कवतक सिर पर ढोए चलेंगे? इन अहं के पितरो से पिण्ड छुडाए विना शान्ति नहीं मिलेगी। जीवन मे कवतक, कितने दिन तक ये विकल्प होते रहेंगे, कवतक इन मुर्दो को सिर पर उठाए रखेंगे। जो वीत गया, जो कर डाला गया, वह अतीत हो गया, गुजर गया। गुजरा हुआ, याद रखने के लिए नही, भुलाने के लिए होता है। पर जीवन की स्थिति यह है कि यह गुजरा हुआ कर्तृत्व मृत वनकर सिर पर चढ जाता है और रात-दिन अपनी 'मैं' 'मैं' की आवाज लगाता रहता है। न स्वय व्यक्ति को चैन लेने देता है, न परिवार और समाज को ही।

---

१. मज्झिम निकाय, १।७।६।

मुनि ने भक्त को नगर के सेठ के पास भेज दिया। सेठ के पास आकर उसने कहा—मुनि ने मुझे भेजा है, शान्ति का रास्ता बतलाइए।

सेठ ने समागत अतिथि को ऊपर से नीचे तक एक दृष्टि से देखा और कहा—'यहाँ कुछ दिन मेरे पास रहो, और देखते रहो।'

भक्त कुछ दिन वहाँ रहा, देखता रहा। सेठ ने उससे कुछ भी पूछा नही, कहा नही, रात दिन अपने काम-धन्धे मे जुटा रहता। सैकडो आदमी आते-जाते, मुनीम गुमास्ते वहीखातो का ढेर लगाये सेठ के सामने बैठे रहते। भक्त सोचने लगा—"यह सेठ, जो रात दिन माया के चक्कर मे फँसा है, इसे तो खुद ही शान्ति नही है, मुझे क्या शान्ति का मार्ग बताएगा। मुनि ने कहाँ भेज दिया?"

एक दिन सेठ बैठा था, पास ही भक्त भी बैठा था। मुनीम घबराया हुआ आया और बोला—"सेठ जी! गजब हो गया। अमुक जहाज, जिसमे दस लाख का माल लदा आ रहा था, बन्दरगाह पर नही पहुँचा। पता लगा है—समुद्री तूफानो मे घिर कर कही डूब गया है।"

सेठ ने गंभीरतापूर्वक कहा—"मुनीम जी, शान्त रहो! परेशान क्यो होते हो? डूब गया तो क्या हुआ? कुछ अनहोनी तो हुई नही? प्रयत्न करने पर भी नही बचा, तो नही बचा, जैसा होना था हुआ, अब घबराना क्या है?"

इस बात को कुछ ही दिन बीते थे कि मुनीमजी दौडे-दौडे आये, खुशी मे नाच रहे थे—'सेठ जी, सेठ जी! खुशखबरी! वह जहाज किनारे पर सुरक्षित पहुँच गया है, माल उतरने से पहले ही दुगुना भाव हो गया और बीस लाख मे बिक गया है!"

सेठ फिर भी शान्त था, गंभीर था। सेठ ने उसी पहले जैसे शान्त मन से कहा—"ऐसी क्या बात हो गई? अनहोनी तो कुछ नही हुई! फिर व्यर्थ ही फूलना, इतराना किस बात का? यह हानि और लाभ तो अपनी नियति से होते रहते हैं, हम क्यो इनके पीछे रोएँ और हँसें?"

भक्त ने यह सब देखा, तो उसका अन्त करण प्रबुद्ध हो उठा। क्या गजब का आदमी है। दस लाख का घाटा हुआ तब भी शान्त! और बीस लाख का मुनाफा हुआ तब भी शान्त! दैन्य और अहकार तो इसे छू भी नहीं गये, कही रोमाच भी नही हुआ इसको! यह गृहस्थ है या परम योगी। उसने सेठ के चरण छू लिए और कहा—जिस शान्ति की खोज मे मुझे यहाँ भेजा गया था, वह साक्षात् मिल गई। जीवन मे शान्ति कैसे प्राप्त हो सकती है, इसका गुरुमन्त्र मिल गया मुझे!

सेठ ने कहा—"जिस गुरु ने तुम्हे यहाँ भेजा, उसी गुरु का उपदेश मेरे पास है। मैंने कभी भी अपने भाग्य पर अहकार नही किया, इसलिए मुझे कभी अफसोस भी नही हुआ। हानि-लाभ के चक्र मे अपने को मैं निमित्त मात्र मानकर चलता हूँ विश्व गतिचक्र की इस मशीन का एक पुर्जा मात्र। इसलिए मुझे न शोक होना है, और न हर्ष। न दैन्य और न अहंकार।"

भाग्य सम्मिलित और प्रच्छन्न।

इस दृष्टान्त से यह ज्ञान होता है कि मनुष्य के अहकार को किस प्रकार शान्त

४३

समाज सुधार

समाज के सुधार के लिए, उसके उत्थान के लिए हममे सामूहिक चेतना का होना निहायत जरूरी है। व्यक्ति या अपने परिवार के रूप में सोचने की धारणा हमे बदल देनी चाहिए और सामाजिक रूप मे सोचने की प्रवृत्ति अपने अन्तर मे जागृत करनी चाहिए। धर्म का मार्ग और मोक्ष का मार्ग इसी प्रवृत्ति मे सन्निहित है। मैं समझता हूँ कि धर्म और मोक्ष का मार्ग इससे भिन्न नही है। भगवान् महावीर ने अपनी भावना इस रूप मे हमारे सामने व्यक्त की है—

"सव्वभूयप्पभूयस्स, सम्मं भूयाइं पासओ।
पिहिआसवस्स दन्तस्स, पावकम्मं न बंधइ॥"

—दशवैकालिक, ४ अध्ययन

पाप और उससे मुक्ति :

एकबार भगवान् महावीर से यह प्रश्न पूछा गया कि— "जीवन मे पग-पग पर तो पाप ही पाप दीखता है। जीवन का समस्त क्षेत्र पापो से घिरा हुआ है। और, जो धर्मात्मा बनना चाहता है, उसे पापो से बचना होगा, किन्तु पापो से बचाव हो कैसे सकता है?" तब भगवान् महावीर ने कहा—"पहले यह देख लो कि तू संसार के प्राणियो के साथ एकरस हो चुका है या नही? तेरी वृत्तियां उनके साथ एकरूप हो चुकी हैं या नही? तेरी आँखो मे उन सबके प्रति प्रेम बस रहा है या नही? यदि तू उनके प्रति एकरूपता लेकर चल रहा है, संसार के प्राणिमात्र को समभाव दृष्टि से, विवेक और विचार की दृष्टि से देख रहा है, उनके सुख-दुःख को अपना सुख-दुःख समझ रहा है, तो तुझे पाप-कर्म कभी भी नही बांध पाएंगे।

अहिंसा-भावना का विकास :

अहिंसामय जीवन के विकास का भी एक क्रम होता है। कुछ यदि अपवादों को अलग कर दिया जाए, तो साधारणतया उस क्रम मे ही अहिंसात्मक भावना का विकास होता है।

देशमय और अन्त मे सम्पूर्ण प्राणिमय बना डालें। आज दे रहे हैं, तो कल ले लेंगे, इस प्रकार की अन्दर मे जो सौदेबाजी की वृत्ति है, स्वार्थ की वासना है—उसे निकाल फेंकें और फिर विशुद्ध कर्त्तव्य-भावना से, नि स्वार्थभावना से जो कुछ आप करेंगे, वह सब धर्म बन जाएगा। मैं समझता हूँ, समाजसुधार के लिए इससे भिन्न कोई दूसरा दृष्टिकोण नही हो सकता।

समाज सुधार का सही मार्ग :

आप समाज-सुधार की बात करते हैं, किन्तु मैं कह चुका हूँ कि समाज नाम की कोई अलग चीज ही नही है। व्यक्ति और परिवार मिल कर ही समाज कहलाते है, अतएव समाज-सुधार का अर्थ है—व्यक्तियो का और परिवारो का सुधार करना। पहले व्यक्ति को सुधारना और फिर परिवार को सुधारना। और जब अलग-अलग व्यक्ति तथा परिवार सुधर जाते हैं, तो फिर समाज स्वयमेव सुधर जायेगा।

आप समाज को सुधारना चाहते हैं न ? बडी अच्छी बात है। आपका उद्देश्य प्रशस्त है और आपकी भावना स्तुत्य है, किन्तु यह बतला दीजिए कि आप समाज को नीचे से सुधारना चाहते हैं या ऊपर से ? पेड को हरा-भरा और सजीव बनाने के लिए पत्तो पर पानी छिड़क रहे हैं या जड मे पानी दे रहे हैं ? अगर आप पत्तो पर पानी छिडक कर पेड को हरा-भरा बनाना चाहते हैं, तो आपका उद्देश्य कदापि पूरा होने का नही है।

आज तक समाज-सुधार के लिए जो तैयारियाँ हुई है, वे ऊपर से सुधार करने की हुई हैं, अन्दर से सुधारने की नही। अन्दर से सुधार करने का अर्थ यह है कि एक व्यक्ति जो चाहता है कि समाज की बुराइयाँ दूर हो, उसे सर्वप्रथम अपने व्यक्तिगत जीवन मे से उन बुराइयो को दूर कर देना चाहिए। उसे गलत विचारो, मान्यताओ और त्रुटिपूर्ण व्यवहारो से अपने आपको बचाना चाहिए। यदि वह व्यक्ति अपने व्यक्तिगत जीवन मे उन बुराइयो से मुक्त हो जाता है। और उन त्रुटियो को ठुकरा देता है, तो एकदिन वे परिवार मे से भी दूर हो जाएँगी और फिर समाज अपने आप सुधर जाएगा।

समाज सुधार की बाधाएँ :

इसके विपरीत यदि कोई सामाजिक बुराइयो को दूर करने की बात करता है, समाज की रूढियो को समाज के लिए राहु के समान समझता है, और उनसे मुक्ति मे ही समाज का कल्याण मानता है, किन्तु स्वय उन बुराईयों और रूढियों को न तो ठुकरा पाता है और न ठुकराने की हिम्मत ही करता है, तो इस प्रकार की दुर्बलता से समाज का कल्याण कदापि सभव नही। यह दुर्बल-भावना समाज-सुधार के मार्ग का सबसे बडा रोडा है।

समाज सुधार और रीति-रिवाज

आपके यहाँ विवाह आदि सम्बन्धी जो रीतियाँ आज प्रचलित है, वे किसी जमाने मे सोच-विचार कर ही चलाई गई थी। और जब ये चलाई गई होगी, उससे पहले सभवत ये प्रचलित न भी रही हो। सभव है, आज जिन रीति-रिवाजो से आप चिपटे हुए है, ये जब प्रचलित किए गए होंगे, तो उस समय के लोगो ने नयी चीज समझ कर इनका विरोध

लिया हो, और इन्हें अमान्य भी कर दिया हो। किन्तु तत्कालीन दूरदृष्टि समाज के नायकों ने मनन करके उन्हें अपना लिया हो और फिर वे ही रीति-रिवाज धीरे-धीरे सर्वमान्य हो गये हों। उस समय इनकी बड़ी उपयोगिता रही होगी। परन्तु इधर-उधर के सम्पर्क में आने पर धीरे-धीरे उन रीति-रिवाजों में बहुत विकार आ गए, समय बदलने पर परिस्थितियों में भारी उलटफेर हो गया। मुख्यतया इन दो कारणों से उस समय के उपयोगी रीति-रिवाज आज के समाज के लिए अनुपयोगी हो गये हैं। यही कारण है कि उन रीति-रिवाजों का जो हार किसी समय समाज के लिए अलंकार था, वह आज बेड़ी बन गया है। इन बेड़ियों से जकड़ा हुआ समाज उनसे मुक्त होने को आज तड़फड़ा रहा है। और जब उनमें परिवर्तन करने की बात आती है, तो लोग कहते हैं कि पहले समाज इसे मान्य करले फिर हम भी मान लेंगे, समाज निर्णय करके मान ले तो हम भी अपना लेंगे। पर यथार्थ उपयुक्त तथ्य नहीं है।

पूर्वजों के प्रति आस्था

आज जब समाज-सुधार की बात चलती है, तो कितने ही लोग यह कहते पाए जाते हैं कि हमारे पूर्वज क्या मूर्ख थे, जिन्होंने ये रिवाज चलाये? निःसन्देह अपने पूर्वजों के प्रति इस प्रकार आस्था का जो भाव उनके अन्दर है, वह स्वाभाविक है। किन्तु ऐसा कहने वालों को अपने पूर्वजों के कार्यों को भी भली-भाँति समझना चाहिए। उन्हें समझना चाहिए कि उनके पूर्वज उनकी तरह परिस्थितिविमुख नहीं थे। उन्होंने परम्परागत रीति-रिवाजों में, अपने समय और अपनी परिस्थितियों के अनुसार सुधार किए थे। उन्होंने सुधार किया होता और वही ज्यों का त्यों अक्षुण्ण बनाए रखा होता, तो हमारे सामने ये रिवाज होते ही नहीं, जो आज प्रचलित हैं। जिस भगवान् ऋषभदेव के जमाने में जैसी विवाह-प्रथा प्रचलित थी, वैसी ही वैसी आज भी प्रचलित होती। किन्तु बात यह नहीं है। काल के अप्रतिहत प्रवाह में बहते हुए समाज ने, समय-समय पर ऐसा परिवर्तन किए। वह सब परिवर्तन करने वाले पूर्वज लोग ही तो थे। आपके पूर्वज परिस्थिति-उपेक्षक नहीं थे। वे देश और काल को समझ कर अपने रीति-रिवाजों में परिवर्तन भी करते जाते थे और समय-समय पर परिष्कार करते भी रहते थे। इसी कारण तो यह समाज आज तक टिका हुआ है; सामयिक परिवर्तन के बिना समाज टिक नहीं सकता।

पूर्वजों के प्रति आस्था का सही रूप

यह बात और विचारणीय है कि जो पोशाक पूर्वज पहनते थे, क्या वही पोशाक आज हम पहनते हैं? पूर्वज जो खान-पान करते थे, क्या वही हम आज करते हैं? पूर्वज जिस ढंग से रहते थे, क्या वही आज हम रहते हैं? हमारा रहन-सहन, खान-पान हमारे पूर्वजों के रहन-सहन से भिन्न ही है। यदि इन सब बातों में परिवर्तन कर लेने पर भी अपने पूर्वजों की अवमानना नहीं कर रहे हैं और उनके प्रति हमारी आस्था ज्यों की त्यों टिकी है तो क्या कारण है कि सामाजिक रीति-रिवाजों में परिवर्तन कर लेने पर भी वह आस्था टिकी नहीं रह सकेगी?

[illegible] है कि यदि [illegible] पूर्वजों के प्रति [illegible] है तो [illegible] और [illegible]

चाहिए। जैसे उन्होंने अपने समय में परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके समाज को जीवित रक्खा और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय दिया, उसी प्रकार आज हमें भी परिस्थितियों के अनुकूल सुधार करके, उसमें आए हुए विकारों को दूर करके, समाज को नव-जीवन देना चाहिए और अपनी बुद्धिमत्ता का परिचय देना चाहिए।

अंधप्रशंसा नहीं : सही अनुकरण

वह पुत्र किस काम का है जो अपने पूर्वजों की प्रशंसा के पुल तो बाँधता है, किन्तु जीवन में उनके अच्छे कार्यों का अनुकरण नहीं करता। सपूत तो वह है जो पूर्वजों की भाँति, आगे आकर, समाज की कुरीतियों में सुधार करता है और इस बात की परवाह नहीं करता कि दूसरे सुधार करते हैं या नहीं। यदि पूर्वजों ने इस प्रकार की कायरता नहीं दिखलाई थी, तो मैं ही आज कायरता क्यों कर दिखाऊँ।

धारणाओं की पंगुता

आज सब जगह यही प्रश्न व्याप्त है। प्रायः सभी यही सोचते रहते हैं और सारे भारत को इसी मनोवृत्ति ने घेर रक्खा है कि—दूसरे वस्तु तैयार कर दें और हम उनका उपभोग कर लें। दूसरे भोजन तैयार कर दें और हम खा लिया करें। दूसरे कपड़े तैयार कर दें और हम पहन लें। दूसरे सड़क बना दें और हम चल लिया करें। स्वयं कोई पुरुषार्थ नहीं कर सकते, प्रयत्न नहीं कर सकते और जीवन के संघर्षों से टक्कर नहीं ले सकते। अपना सहयोग दूसरों के साथ न जोड़ कर सब यही सोचते हैं कि दूसरे पहले कर लें तो फिर मैं उसका उपयोग कर लूँ और उससे लाभ उठा लूँ।

आज समाज-सुधार की बातें चल रही हैं। जिन बातों का सुधार करना है, वे किसी जमाने में ठीक रही होंगी, किन्तु अब परिस्थिति बदल गई है और वे बातें भी सड़-गल गई हैं तथा उनके कारण समाज बर्बाद हो रहा है, दर्द अनुभव कर रहा है। किन्तु जब उनमें सुधार करने का प्रश्न आता है, तो कहा यह जाता है कि पहले समाज ठीक कर ले तो फिर मैं ठीक कर लूँ, समाज रास्ता बना दे, तो मैं चलने को तैयार हूँ। इस प्रकार कोई भी आगे बढ़कर पुरुषार्थ नहीं दिखाना चाहता।

समाज सेवक का कर्त्तव्य :

काल-प्रवाह में बहते-बहते जो रिवाज सड़-गल गये, उनके प्रति भी समाज को मोह हो जाता है। समाज सड़े-गले शरीर को भी छाती से चिपका कर चलना चाहता है, यदि कोई चिकित्सक उन सड़े-गले हिस्सों को अलग करना चाहता है, समाज के रोग को दूर करना चाहता है और ऐसा करके समाज के जीवन की रक्षा करना चाहता है, तो समाज तिलमिला उठता है, चिकित्सक को गालियाँ देता है और उसका अपमान करता है। किन्तु उस समय समाज-सेवी का क्या कर्त्तव्य है? उसे यह नहीं सोचना चाहिए कि मैं जिस समाज की भलाई के लिए काम करता हूँ, वह समाज मेरा अपमान करता है, तो मुझे क्यों इस झंझट में पड़ना चाहिए? मैं क्यों आगे आऊँ?

नेतृत्व का सही मार्ग :

जबतक मनुष्य सम्मान पाने और अपमान से बचने का भाव नहीं त्याग देता,

इसी प्रकार समाज की किसी भी बुराई के मवाद को निकालने के लिए दवा की जाएगी तो समाज चिल्लाएगा और छटपटाएगा, किन्तु समाज-सुधारक को समाज को बुरा-भला नही कहना है। उसे तो मुस्कराते हुए, सहज भाव से, चुपचाप, आगे बढना है और उस हलाहल विष को भी अमृत के रूप मे ग्रहण करके आगे बढना है। यदि समाज-सुधारक ऐसी भूमिका पर आ जाता है तो वह अवश्य आगे बढ सकेगा। विश्व की कोई शक्ति नही जो उसे रोक सके।

भगवान् महावीर की क्रांति :

भगवान् महावीर बडे क्रान्तिकारी थे। जब उनका आविर्भाव हुआ, तब धार्मिक क्षेत्र मे, सामाजिक क्षेत्र मे और दूसरे अनेक क्षेत्रो मे भी अनेकानेक बुराइयाँ घुसी हुई थी। उन्होंने अपनी साधना परिपूर्ण करने के पश्चात् धर्म और समाज मे जबर्दस्त क्रान्ति की।

जाति प्रथा का विरोध

भगवान् ने जाति-पाँति के बन्धनो के विरुद्ध सिंहनाद किया और कहा कि मनुष्य मात्र की एक ही जाति है। मनुष्य-मनुष्य के बीच कोई अन्तर नही है। लोगों ने कहा—यह नई बात कैसे कह रहे हो? हमारे पूर्वज तो कोई मूर्ख नही थे, जो एक मर्यादा कायम करके जातियो का विभाजन किया। हम इसे मानने को तैयार नही हैं। किन्तु भगवान् ने इस चिल्लाहट की परवाह नही की और वे कहते रहे।

'मनुष्यजातिरेकैव जातिकर्मोदयोद्भवा।"

जाति नामक कर्म के उदय से मनुष्यजाति एक ही है। उसके टुकडे नही किए जा सकते। उसमे जन्मत. ऊँच-नीच की कल्पना को कोई स्थान नही दिया जा सकता।

नारी-उत्थान का उद्घोष

फिर भगवान् ने कहा—तुम महिला-समाज को गुलामो की तरह देख रहे हो, किन्तु वे भी समाज का महत्त्वपूर्ण अग हैं। उन्हे समाज मे जबतक उचित स्थान नही दोगे, समाज मे समरसता नही आ सकेगी।

तब भी हजारो लोग चिल्लाए। कहने लगे—यह कहाँ से ले आए अपनी डफली अपना राग? स्त्रियाँ तो समाज-सेवा के लिए बनी है, उन्हें कोई भी ऊँचा स्थान कैसे दिया जा सकता है?

किन्तु भगवान् ने शान्त-भाव से जनता को अपनी बात समझाई और अपने सघ मे साध्वियों को वही स्थान दिया, जो साधुओं को प्राप्त था और श्राविकाओं को भी उसी ऊँचाई पर पहुँचाया, जिन पर श्रावक आसीन थे। भगवान् ने किसी भी अधिकार से महिला-जाति को वचित नहीं किया—सब क्षेत्रो मे पुरुषों के समान ही उसे सब अधिकार दिए।

बलिप्रथा का विरोध :

यज्ञ के नाम पर हजारो पशुओं का बलिदान किया जा रहा था। पशुओं पर घोर अत्याचार हो रहे थे, घोर पाप का राज्य छाया हुआ था और समाज के प्रमुख का उल्ले-

आम हो रहा था। यज्ञ में हिंसा तो होती ही थी, उसके कारण आर्थिक स्थिति भी डाँवा-डोल हो रही थी। भगवान ने इन हिंसात्मक यज्ञों का स्पष्ट शब्दों में विरोध किया।

उस समय समाज की बागडोर ब्राह्मणों के हाथ में थी। राजा क्षत्रिय थे। और वही प्रजा पर शासन करते थे, किन्तु राजा पर भी शासन ब्राह्मण लोगों का था। इस रूप में उन्हें राजशक्ति भी प्राप्त थी और प्रजा के मानस पर भी उनका आधिपत्य था। वास्तव में ब्राह्मणों का उस समय बड़ा वर्चस्व था, यज्ञों की बदौलत ही हजारों-लाखों ब्राह्मणों का भरण-पोषण हो रहा था। ऐसी स्थिति में, कल्पना की जा सकती है कि भगवान महावीर के यज्ञविरोधी स्वर का कितना प्रचण्ड विरोध हुआ होगा! खेद है कि उस समय का कोई क्रमबद्ध इतिहास हमें उपलब्ध नहीं है, जिससे हम समझ सकें कि यज्ञ का विरोध करने के लिए भगवान महावीर को कितना संघर्ष करना पड़ा और क्या-क्या सहन करना पड़ा। फिर भी आज जो सामग्री उपलब्ध है उसके आधार पर कहा जा सकता है कि उनका डटकर विरोध किया गया और खूब बुरा-भला कहा गया। पुराणों के अध्ययन से विदित होता है कि उन्हें नास्तिक और आसुरी प्रकृति वाला तक कहा गया और अनेक तिरस्कार-पूर्ण शब्द-बाणों की भेंट चढ़ाई गई। उन पर समाज के आदर्शों को भंग करने का दोषारोपण तक किया गया।

फूलों का नहीं, शूलों का मार्ग :

अभिप्राय यह है कि अपमान का उपहार तो तीर्थंकरों को भी मिला है। ऐसी स्थिति में हम और आप यदि चाहें कि हमें सब जगह सम्मान ही सम्मान मिले, तो यह कदापि संभव नहीं। समाज-सुधारक का मार्ग फूलों का नहीं, शूलों का मार्ग है। उसे सम्मान पाने की अभिलाषा त्याग कर अपमान का आलिंगन करने को तैयार होना होगा, उसे प्रशंसा की इच्छा छोड़कर निन्दा का जहर पीना होगा, फिर भी शान्त और स्थिर भाव से सुधार के पथ पर अग्रसर होते रहना होगा। समाज-सुधारक एक क्रम से चलेगा। वह आज एक सुधार करेगा तो कल दूसरा सुधार करेगा। पहले छोटे-छोटे रोड़े हटाएगा, फिर एक दिन हिमालय भी तोड़ देगा।

जागृति और साहस :

इस प्रकार, ऐसी जागृति और साहसभरी भावना लेकर ही समाज-सुधार के पथ पर अग्रसर होना पड़ेगा और अपने जीवन को प्रखर बनाना होगा। यदि ऐसा न हुआ तो, समाज-सुधार की बातें भले ही की जाएँ, किन्तु वस्तुतः समाज का सुधार नहीं हो पाएगा।

समाज-सुधार का मूलमन्त्र :

[illegible]

ठीक ही कहा है कि 'मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है।' इस प्रकार अगागी-सावयव सिद्धान्त के आधार पर हम देखते हैं कि व्यक्ति और समाज के बीच अन्योन्याश्रय सम्बन्ध है। एक-दूसरे का पूरक है, एक दूसरे का परिष्कार एवं परिवर्द्धन करने वाला है। अत. दोनो का यह पावन कर्त्तव्य हो जाता है कि दोनो ही परस्पर सहयोग, सहानुभूति एव सम्यक् संतुलन बनाए रखते हुए समग्र समष्टि-जीवन किंवा मानव-जीवन का उत्थान करे।

महात्मा गांधी ने इसी सिद्धान्त के आधार पर अपने सर्वोदयवाद की पाठिका का निर्माण किया था कि—सबो के द्वारा सबो का उदय ही सर्वोदय है। अर्थात् जब सभी एक-दूसरे के साथ मिलकर परस्पर अनुरागवद्ध होकर परस्पर सबो के उत्थान की, हित की चितना करेंगे तथा तदनुरूप कार्य-पद्धति अपनाएँगे, तो समाज का स्वतः सुधार हो जाएगा। सामाजिक पुनर्गठन अथवा पुनरुद्धार की जो बात महात्माजी ने चलाई, उसके मूल मे यही भावना निहित थी।

तात्पर्य यह कि समाज का सुधार तभी सम्भव है जबकि व्यक्ति-व्यक्ति के बीच परस्पर बन्धुत्व की उत्कट भावना, कल्याण का सरस प्रवाह हिलोरें मार रहा हो। इसी बन्धुत्व भाव के आधार पर दुनियाँ की तमाम असगतियाँ, अव्यवस्थाएँ, अनीतिता, अनयता एव अनाचारिता का मूलोच्छेदन हो जाएगा और समाज उत्थान की उच्चतम चोटी पर चढ-कर कल्याण की वशी टेरने लगेगा। यही सारे सुधारो की केन्द्रविन्दु है। भूतल को स्वर्ग बनाने का अमोघ मन्त्र है।

आज की गालियाँ कल का अभिनन्दन

स्मरण रखिए, आज का समाज गालियाँ देगा, किन्तु भविष्य का समाज 'समाजनिर्माता' के रूप मे आपको स्मरण करेगा। आज का समाज आपके सामने काँटे बिखेरेगा, परन्तु भविष्य का समाज श्रद्धा की सुमन-अंजलियाँ भेंट करेगा। अतएव आप भविष्य की ओर ध्यान रखकर और समाज के वास्तविक कल्याण का विचार करके, अपने मूल केन्द्र को सुरक्षित रखते हुए, समाज-सुधार के पुनीत कार्य मे जुट जाएँ, भविष्य आपका है।

जातियाँ होने पर भी उनके लिए कोई स्कूल नही खोले गए हैं। आम तौर पर पशुओ मे तत्त्व के प्रति कोई जिज्ञासा नही होती और न ही जीवन को समझने की कोई लगन देखी जाती है। तो एक तरफ सारा संसार है और दूसरी तरफ अकेला मनुष्य है। जब हम इस विराट् संसार की ओर दृष्टिपात करते हैं, तो सब जगह मनुष्य की छाप लगी हुई दिखाई देती है और जान पडता है कि मनुष्य ने ही ससार को यह विराटता प्रदान की है।

ससार की विराटता और जिज्ञासा .

मनुष्य ने ससार को जो विराट् रूप प्रदान किया, उसके मूल मे उसकी जिज्ञासा ही प्रधान रही है। ऐसी प्रबल जिज्ञासा मनुष्य मे ही पाई जाती है, अतएव विद्यार्थी का पद भी मनुष्य को ही मिला है। देवता भले कितनी ही ऊँचाई पर क्यो न रहते हो, उनको भी विद्यार्थी का महिमावान पद प्राप्त नही है। यह तो मनुष्य ही है जो विचार और प्रकाश लेने को आगे बढा है और जो अपने मस्तिष्क के दरवाजे खोलकर दूसरो से प्रकाश लेने और देने के लिए आगे आया है।

मनुष्य एक विराट् शक्तिकेन्द्र है। वह केवल हड्डियो का ढांचामात्र नही है, जो सिर को ऊपर उठाए दो पैरो के बलपर खडा हो गया हो। वह केवल शरीर को ऊँचा बनाने के लिए नही है, बल्कि उसमे देने को भी बहुत कुछ भरा है।

मानव की विकासकालीन बाह्य परिस्थितियाँ .

आप देखें और सोचे कि कर्मभूमि के प्रारम्भ मे, जब मनुष्य-जाति का विकास प्रारम्भ हुआ था, तब मनुष्य को क्या मिला था? भगवान् ऋषभदेव के समय मे उसको केवल बडे-बडे मैदान, लम्बी-चौडी पृथ्वी और नदी-नाले ही तो मिले थे। मकान के नाम पर एक झोपडी भी नही थी और न वस्त्र के नाम पर एक धागा ही था। रोटी पकाने के लिए न अन्न का एक दाना था, न बर्तन थे, न चूल्हा था, न चक्की थी। कुछ भी तो नही था। मतलब यह कि एक तरफ मनुष्य खडा था और दूसरी तरफ थी सृष्टि, जो मौन और चुप थी! पृथ्वी और आकाश दोनो ही मौन थे।

उसके बाद इतना विराट् ससार खडा हुआ और नगर बस गए। मनुष्य ने नियन्त्रण कायम किया और उत्पादन की ओर गति की। मनुष्य ने स्वय खाया और सारे जग को खिलाया। स्वयं के तन ढँकने के साथ दूसरो के भी तन ढांके। और, उसने इसी दुनियाँ मे ही तैयारी नही की, प्रत्युत उसके आगे का भी मार्ग तय किया। अनन्त-अनन्त भूत और भविष्य की बातें खरी हो गईं और विराट चिन्तन हमारे सामने प्रस्तुत हो गया।

वह समय युगलियो का था। वह ऐसा काल था, जब मनुष्य पृथ्वी पर पशुओं की भाँति घूम रहा था। उसके मन मे इस दुनियाँ को अथवा अगली दुनियाँ को बनाने का कोई प्रश्न न था। फिर यह सब कहाँ से आ गया? स्पष्ट है, इसके मूल में मनुष्य की प्रगतिशील भावना ही काम कर रही थी। उसने युगों से प्रकृति के साथ संघर्ष किया और एक दिन उसने प्रकृति और पृथ्वी पर अपना नियन्त्रण स्थापित कर ही लिया, एक नई सृष्टि बनाकर खडी कर दी।

मनुष्य को वाहर की प्रकृति से ही नही, अन्दर की प्रकृति से भी लडना पडा अर्थात् अपनी क्रोध, मान, माया, लोभ, मोह आदि की वासनाओ से भी खूब लडना पडा। उसने अपने हृदय को खोल कर देख लिया और समझ लिया कि यह हमारे कल्याण का और यह अकल्याण का मार्ग है एव हमारे जीवन मे तथा राष्ट्र के जीवन मे कितना उपयोगी है ?

मनुष्य ने एक तरफ प्रकृति का विश्लेपण किया और दूसरी तरफ अपने अन्दर के जीवन का विश्लेपण किया कि हमारे भीतर कहाँ नरक वन रहे हैं और स्वर्ग वन रहे हैं ? वन्वन खुल रहे हैं या वँध रहे हैं ? हम किस रूप मे ससार मे आये हैं, और अव हमे लौटना किस रूप मे है ?

मानव मस्तिष्क ज्ञान-विज्ञान का केन्द्र

इस प्रकार वहिर्जगत् और अन्तर्जगत् का जो चिन्तन मनुष्य के पास आया, वह सव मनुष्य के मस्तिष्क से ही आया है, मनुष्य के मस्तिष्क से ही ज्ञान की सारी धाराएँ फूटी है। यह अलकार, काव्य, दर्शनशास्त्र और व्याकरण-शास्त्र प्रभृति नाना विषय मानव-मस्तिष्क से ही निकले हैं। आज हम ज्ञान और विज्ञान का जो भी विकास देखते हैं, सभी कुछ मनुष्य के ही मस्तिष्क की देन है। मनुष्य अपने मस्तिष्क पर भी विचार करता है तथा वह यह सोचता और मार्ग खोजता है कि अपने इस प्राप्त मानव-जीवन का उपयोग क्या है ? इसको विश्व से कितना कुछ पाना है और विश्व को कितना कुछ देना है ?

अभिप्राय यह है कि मनुष्य ने अपनी अविराम जिज्ञासा की प्रेरणा से ही विश्व को यह रूप प्रदान किया है। वह निरन्तर वढता जा रहा है और विश्व को निरन्तर अभिनव स्वरूप प्रदान करता जा रहा है। परन्तु यह सव सभव तभी हुआ जवकि वह प्रकृति की पाठशाला मे एक विनम्र विद्यार्थी होकर प्रविष्ट हुआ। इस रूप में मनुष्य अनादि काल से विद्यार्थी रहा है और जवतक विद्यार्थी रहेगा उसका विकास वरावर होता रहेगा।

अक्षरज्ञान ही शिक्षा नहीं :

अक्षरो की शिक्षा ही सव कुछ नही है। कोरी अक्षरशिक्षा मे जीवन का विकास नहीं हो सकता। जवतक अपने और दूसरे के जीवन का पूर्ण अध्ययन नहीं है, पैनी वुद्धि नही है, समाज और राष्ट्र की गुत्थियो को सुलझाने की ओर अमीरी तथा गरीवी के प्रश्न को हल करने की क्षमता नहीं आई है, तवतक शिक्षा की कोई उपयोगिता नहीं है। केवल पुस्तकें पढ लेने का अर्थ शिक्षित हो जाना नही है। एक आचार्य ने ठीक ही कहा है—

'शास्त्राण्यधीत्यापि भवन्ति मूर्खा ।"

अर्थात् वडे-वडे पोथे पढने वाले भी मूर्ख होते है। जिसने शास्त्र घोट-घोट कर कण्ठस्थ कर लिए हैं, किन्तु अपने परिवार, समाज और राष्ट्र के जीवन को ऊँचा उठाने की वुद्धि नही पाई है उसके शास्त्र-चिन्तन और मंथन का कोई मूल्य या अर्थ नहीं है। यही ठीक कहा गया है कि—"गधे की पीठ पर चन्दन की वोरियाँ भर-भर कर लाद दी गई, काफ वजन लद गया, फिर भी उस गधे के भाग्य में क्या है ? जो वोरियाँ लद रही है, वे उसके लिए क्या हैं ? उसकी तकदीर मे तो वोझ ढोना ही वदा है। उसके ऊपर चाहे मिट्टी

और लकडियाँ लाद दी जाएँ या हीरे और जवाहरात लाद दिए जाएँ, वह तो सिर्फ वजन ही महसूस करेगा। चन्दन की सुगन्ध का महत्त्व और मूल्य आँक पाना उसके भाग्य मे नही है।"[1]

विद्या का वास्तविक अर्थ

कुछ लोग शास्त्रो को और विद्याओ को चाहे वह इस लोक-सम्बन्धी हो या परलोक सम्बन्धी, भौतिक विद्याएँ हो या आध्यात्मिक विद्याएँ, सबको अपने मस्तक पर लादे चले जा रहे हैं, किन्तु वस्तुतः ये केवल उस गधे की तरह ही मात्र भार ढोने वाले हैं। वे दुनिया भर की दार्शनिकता बघार देंगे, व्याकरण की कारिकाएँ रट कर शास्त्रार्थ कर लेंगे, परन्तु उससे होना क्या है? क्रियाहीन कोरे ज्ञान की क्या कीमत है? वह ज्ञान ही क्या, वह विद्या ही कैसी, जो आचरण का रूप न लेती हो? जो जीवन की बेडियाँ न तोड सकती हो, ऐसी विद्या वन्ध्या है, ज्ञान-निष्फल है। ऐसी शिक्षा तोतारटंत के अतिरिक्त और कुछ भी नही है। महर्षि मनु ने विद्या की सार्थकता बतलाते हुए ठीक ही कहा है—

"सा विद्या या विमुक्तये।"

अर्थात् विद्या वही है जो हमे विकारो से मुक्ति दिलाने वाली हो, हमे स्वतन्त्र करने वाली हो, हमारे बन्धनो को तोडने वाली हो।

मुक्ति का अर्थ है—स्वतन्त्रता। समाज की रीतियो, कुसस्कारो, अन्धविश्वासो, गलतफहमियो और वहमो से, जिनसे वह जकडा हो, उनसे छुटकारा पाना ही सच्ची स्वतन्त्रता है।

आज के छात्र और फैशन

आज के अधिकाश विद्यार्थी गरीबी, हाहाकार और रुदन के बन्धनो मे पडे हैं, फिर भी फैशन की फाँसी उनके गले से नही छूटती। मैं विद्यार्थियो से पूछता हूँ कि क्या तुम्हारी विद्या इन बन्धनो को तोडने को उद्यत है? क्या तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनो की दीवार को तोडने को तैयार है? यदि तुम अपने बन्धनो को ही तोडने मे समर्थ नही हो, तो अपने देश, जाति और समाज के बन्धनो की दीवार को तोडने मे कैसे समर्थ हो सकोगे? पहले अपने जीवन के बन्धनो को तोडने का सामर्थ्य प्राप्त करो तभी राष्ट्र और समाज के बन्धनो को काटने के लिए शक्तिमान हो सकोगे। और, यदि तुम्हारी शिक्षा इन बन्धनो को तोडने मे समर्थ नही है, तो समझ लो कि वह अभी अधूरी है और उसका फल तुम्हें नहीं मिलने का।

शिक्षा और कुशिक्षा :

यदि तुमने अध्ययन करके चतुराई, ठगने की कला और धोखा देने की विद्या सीखी है; तो कहना चाहिए कि तुमने शिक्षा नही, कुशिक्षा पाई है और स्मरण रखना चाहिए कि कुशिक्षा, अशिक्षा से भी अधिक भयानक होती है। कभी-कभी पढे लिखे आदमी

---

१ जहा खरो चदण-भारवाही,
भारस्स भागी न हु चदणस्स।—आवश्यक निर्युक्ति।

अनपढ एव अशिक्षितो से कही ज्यादा मक्कारियाँ सीख लेते है। किन्तु उनकी शिक्षा शिक्षा नहीं है, वह कला, कला नही है वह तो धोखेबाजी है, आत्मवचना है। और ऐसी आत्मवचना है जो जीवन को वर्बाद कर देने मे सहज समर्थ है।

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य :

शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य क्या है ? शिक्षा का वास्तविक लक्ष्य अज्ञान को दूर करना है। मनुष्य मे जो शारीरिक, मानसिक और आत्मिक शक्तियाँ मौजूद हैं और जो दबी पडी हैं, उन्हे प्रकाश मे लाना ही शिक्षा का यथार्थ उद्देश्य है। परन्तु इस उद्देश्य की पूर्ति तब होती है, जब शिक्षा के फलस्वरूप जीवन मे सुसस्कार उत्पन्न होते हैं। केवल शक्ति के विकास मे शिक्षा की सफलता नही है, अपितु शक्तियाँ विकसित होकर जब जीवन के सुन्दर निर्माण मे प्रयुक्त होती हैं, तभी शिक्षा सफल होती है। बहुत-से लोग यह समझ बैठे हैं कि मस्तिष्क की शक्तियो का विकसित हो जाना ही शिक्षा का परम उद्देश्य है, परन्तु यह समझ सर्वथा अधूरी है। मनुष्य के मस्तिष्क के साथ हृदय और शरीर का भी विकास होना चाहिए अर्थात् मनुष्य का सर्वांगीण विकास होना चाहिए और जब वह विकास अपनी और अपने समाज एव देश की भलाई के काम आ सके, तभी शिक्षा सार्थक हो सकती है, अन्यथा नही।

अध्ययन-काल की निष्ठा :

जो छात्र प्रारम्भ से ही समाज और देश के हित का पूरा ध्यान रखता है, वही अपने भविष्य का सुन्दर निर्माण कर सकता है, वही आगे चलकर देश और समाज का रत्न बन सकता है। ऐसा करने पर बडी से बडी उपाधियाँ उनके चरणो मे आकर स्वय लोटने लगती हैं। प्रतिष्ठा उनके सामने स्वय हाथ जोडकर खडी हो जाती है। सफलताएँ उनके चरण चूमती हैं। विद्याध्ययन काल मे विद्यार्थी की लगन एव निष्ठा ही भविष्य मे उसकी विद्या को सुफलदायिनी बनाती है।

विद्यार्थी जीवन . एक उगता पौधा :

विद्यार्थी-जीवन एक उगता हुआ पौधा है। उसे प्रारम्भ से ही सार-सभाल कर रखा जाए, तो वह पूर्ण विकसित हो सकता है। बडा होने पर उस पौधे को सुन्दर बनाना माली के हाथ की बात नही है। आपने देखा होगा—घडा जबतक कच्चा होता है, तबतक कुम्हार उसे अपनी इच्छा के अनुरूप, जैसा चाहे वैसा, बना सकता है। किन्तु वही घडा जब आपाक मे पक जाता है, तब कुम्हार की कोई ताकत नही कि वह उसे छोटा या बडा बना सके, उसकी आकृति मे किंचित् परिवर्तन तक कर सके।

यही बात छात्रो के सम्बन्ध मे भी है। माता-पिता चाहे तो प्रारम्भ से ही बालको को सुन्दर शिक्षा और सुसस्कृत वातावरण में रखकर उन्हे होनहार नागरिक बना सकते हैं। वे अपने स्नेह और आचरण की पवित्र धारा से देश के नौनिहाल बच्चो का वर्तमान एव भावी जीवन सुधार सकते हैं। बालक माता-पिता के हाथ का खिलौना होता है। वे चाहे तो उसे बिगाड सकते हैं और चाहें तो सुधार सकते हैं। देश के सपूतो को बनाना उन्ही के हाथ मे है।

वर्तमान विषाक्त वातावरण और हमारा दायित्व :

दुर्भाग्य से आज इस देश मे चारो ओर घृणा, विद्वेष, छल और पाखण्ड भरा हुआ है। माता-पिता कहलाने वालों मे भी दुर्गुण भरे पडे हैं। ऐसी स्थिति मे वे अपने बच्चो मे सुन्दर सस्कारो का आरोपण किस प्रकार कर सकते हैं? प्रत्येक माता-पिता को सोचना चाहिए कि हमारी जिम्मेदारी केवल सन्तान को उत्पन्न करने में ही पूर्ण नही हो जाती, बल्कि सन्तान को उत्पन्न करने पर तो जिम्मेदारी का आरम्भ होता है। और जबतक सन्तान सुशिक्षित एव सुसंकारसम्पन्न नही बना दिया जाता, तबतक वह पूरी नही होती।

आज, जबकि हमारे देश का नैतिक स्तर नीचा हो रहा है, छात्रो के जीवन का सही निर्माण करने की बडी आवश्यकता है। छात्रो का जीवन-निर्माण न सिर्फ घर पर होता है, और न केवल पाठशाला मे ही। बालक घर मे सस्कार ग्रहण करता है और पाठशाला मे शिक्षा। दोनो उसके जीवन-निर्माण के स्थल है। अतएव यह करने की आवश्यकता ही नही कि घर और पाठशाला मे आपस मे सहयोग स्थापित होना चाहिए और दोनो जगह के वायुमण्डल को एक-दूसरे का पूरक और पृष्ठपोषक होना चाहिए।

आज घर और पाठशाला मे कोई सम्पर्क नही है। अध्यापक विद्यार्थी के घर से एकदम अपरिचित रहता है। उसे उसके घर के वातावरण की कल्पना तक नही होती। और माता-पिता प्रायः पाठशाला से अनभिज्ञ होते है। पाठशाला मे जाकर बालक क्या सीखता है और क्या करता है, प्रायः माँ-बाप इस पर ध्यान नही देते हैं। बालक स्कूल चला गया और माता-पिता को छुट्टी मिल गई। फिर वह वहाँ जाकर कुछ भी न करे और कुछ भी न सीखे इससे उन्हे कोई मतलब नही है। यह परिस्थिति बालक के जीवन-निर्माण मे बहुत घातक होती है।

सत्य और असत्य की असंगति का कारण :

घर और पाठशाला के वायुमंडल मे भी प्राय' विरूपता देखी जाती है। पाठशाला मे बालक नीति की शिक्षा लेता है और सच्चाई का पाठ पढ कर आता है। वह जब घर आता है या दुकानदार पर जाता है, तो वहाँ असत्य का साम्राज्य पाता है। बात-बात मे माता-पिता असत्य का प्रयोग करते है। शिक्षक सत्य बोलने की शिक्षा देता है और माता-पिता अपने व्यवहार से उसे असत्य बोलने का सबक सिखलाते हैं। इस तरह से परस्पर विरोधी वातावरण मे पड कर बालक लडखडाने लगता है। वह निर्णय नहीं कर पाता कि मुझे शिक्षक के बताए मार्ग पर चलना चाहिए अथवा माता-पिता द्वारा प्रदर्शित पथ पर। कुछ समय तक उसके अन्त·करण मे सघर्ष चलता रहता है और फिर वह एक निष्कर्ष निकाल लेता है। निष्कर्ष यह कि बोलना तो सत्य ही चाहिए किन्तु जीवन व्यवहार मे प्रयोग असत्य का ही करना चाहिए। इस प्रकार का निष्कर्ष निकाल कर वह छल-कपट और धूर्तता सीख जाता है। उसके जीवन मे विरूपता आ जाती है। वह कहता नीति की बात है और चलता अनीति की राह पर है।

बालक के निर्माण में माता-पिता का हाथ :

माता-पिता यदि बालक मे नैतिकता को उभारना चाहते है तो उन्हें अपने घर को भी पाठशाला का रूप देना चाहिए। बालक पाठशाला से जो पाठ सीख कर

आवे, घर उसके प्रयोग की भूमि तैयार करे। इस प्रकार उसका जीवन भीतर-बाहर से एक-रूप बनेगा और उसमे उच्च श्रेणी की नैतिकता पनप सकेगी। तब कहीं वह अपनी जिन्दगी को शानदार बना सकेगा। ऐसा विद्यार्थी जहाँ कही भी रहेगा, वह सर्वत्र अपने देश, अपने समाज और अपने माता-पिता का मुख उज्ज्वल करेगा। वह पढ-लिख कर देश को रसातल की ओर ले जाने का, देश की नैतिकता का ह्रास करने का प्रयास नही करेगा, देश के लिए भार और कलक नही बनेगा, बल्कि देश और समाज के नैतिक स्तर की ऊँचाई को ऊँची से ऊँची चोटी पर ले जाएगा और अपने व्यवहार के द्वारा उनके जीवन को भी पवित्र बना पाएगा।

पिता-पुत्र का सघर्ष

आज के विद्यार्थी और उनके माता-पिता के मस्तिष्क मे बहुत बडा विभेद खडा हो गया है। विद्यार्थी पढ-लिख कर एक नये जीवन मे प्रवेश करता है, एक नया कम्पन लेकर आता है, अपने भविष्य-जीवन को अपने ढग से बिताने के मसूबे बाँध कर गृहस्थ-जीवन मे प्रवेश करता है। परन्तु उसके माता-पिता पुराने विचारो के होते हैं। पिता रहते हैं दुकान पर। उन्हें न तो अपने लडके की जिज्ञासा का पता चलता है और न वे उस ओर ध्यान ही दे पाते हैं। वे एक नये गतिशील ससार की ओर सोचने के लिए अपने मानस-पट को बन्द कर लेते हैं। पर, जो नया खिलाडी है, वह तो हवा को पहचानता है। वह अपनी जिज्ञासा और अपने मनोरथ पूरे न होते देखकर पिता से सघर्ष करने को तत्पर हो जाता है। आज अनेक घर ऐसे मिलेंगे, जहाँ पिता-पुत्र के बीच आपसी सघर्ष चलते रहते हैं। पुत्र अपनी आकाक्षाएँ पूरी न होते देख कर जीवन से हताश हो जाता है और कभी-कभी चुपके-से घर छोडकर पलायन भी कर जाता है। आए दिन अखबारो मे छपने वाली 'गुम-शुदा की तलाश' शीर्षक सूचनाएँ बहुत-कुछ इसी सघर्ष का परिणाम हैं। कभी-कभी आवेश मे आकर आत्मघात करने की नौबत भी आ पहुँचती है, ऐसी अनेक घटनाएँ घट चुकी हैं। दुर्भाग्य की बात समझिए कि भारत मे पिता-पुत्र के सघर्ष ने गहरी जड जमा ली है।

माता-पिता का दायित्व

आज की इस तीव्रगति से आगे बढती हुई युगधारा के बीच प्रत्येक माता-पिता का यह कर्त्तव्य है कि वे इस गतिधारा को पहचानें। वे स्वय जहाँ हैं, वही अपनी सन्तान को रखने की अपनी व्यर्थ की चेष्टा का त्याग कर दें। ऐसा नही करने मे स्वय उनको और उनकी सन्तान का कोई हित भी नही है। अतएव आज प्रत्येक माता-पिता को चाहिए कि वे अपनी सन्तान को अपने विचारो मे बाँध कर रखने का प्रयत्न न करें, उसे युग के साथ चलने दें। हाँ, इस बात की सावधानी अवश्य रखनी चाहिए कि सन्तान कही अनीति की राह पर न चल पडे। परन्तु इसके लिए उनके पैरो मे बेडियाँ डालने की कोशिश न करके उसे सोचने और समझने की स्वतन्त्रता दी जानी चाहिए और अपना पथ आप प्रशस्त करने का प्रयत्न उन्हें करने देना चाहिए।

बालको का दायित्व

मैं बालको से भी कहूँगा कि वे ऐसे अवसर पर आवेश से काम न लें। वे अपने माता-पिता की मानसिक स्थिति को समझें और अपने सुन्दर और शुभ विचारों पर दृढ

रहते हुए, नम्रता-पूर्वक उन्हे सन्तुष्ट करने का प्रयत्न करे, परन्तु साथ ही माता-पिता को भी कष्ट न पहुँचाएँ। शान्ति और धैर्य से काम लेने पर अन्त मे उन सद्विचारो की प्रगतिशीलता की ही विजय होगी।

भ्रामक धारणाएँ :

बहुत से माता-पिता प्रगतिशील और विकासेच्छु छात्रो से लड-झगड कर उनकी प्रगति को रोक देते हैं। लड़कियो के प्रति तो उनका रुख और भी कठोर होता है। प्राय लडकियो का जीवन तो तुच्छ और नगण्य ही समझा जाता है।

इस प्रकार, समाज मे जब होनहार युवको के निर्माण का समय आता है, तो उनके विकास पर ताला लगा दिया जाता है। उनको अपने माता-पिता से जीवन बनाने की कोई प्रेरणा नही मिल पाती। माता-पिता उलटे उनके मार्ग मे काँटे बिछा देते है। उन्हे रोजमर्रा की व्यापार-चक्की मे जोत दिया जाता है। वे उन होनहार युवको को पैसा बनाने की मशीन बना देते है, जीवन की ओर कतई ध्यान नही दिया जाता। देश के हजारो नवयुवक इस तरह अपनी जिन्दगी की अमूल्य घडियो को खोकर केवल पैसे कमाने की कला मे लग जाते हैं। समाज और राष्ट्र के लिए वे तनिक भी उपयोगी नही बन पाते।

तोड़ना नहीं, जोड़ना सीखें :

लेकिन छात्रो को किसी से अपने सम्बन्ध तोडने नही हैं, सबके साथ सम्यक् व्यवहार करने है। हमे जोडना सीखना है, तोडना नही। तोडना आसान है, पर जोडना कठिन है। जो मनुष्य हर एक से जोडने की कला सीख जाता है, वह जीवन-संग्राम मे कभी हार नही खाता। वह विजयी होकर ही लौटता है।

एक बार सेनापति अब्दुर्रहीम खानखाना ने अपनी सेना के सामने कहा था—

"मेरा काम तोडना, नही, जोडना है। मैं तो सोने का घडा हूँ, टूटने पर सौ बार जुड जाऊँगा। मैं जीवन मे चोट लगने पर टूटा हूँ, फिर भी जुड गया हूँ। मैं मिट्टी का वह घड़ा नही हूँ, जो एक बार टूटने पर फिर कभी जुडता ही नही। मैंने अपनी जिन्दगी मे मात्र जुडना ही सीखा है।" उसकी इस बात का उसकी सेना पर काफी प्रभाव पडा। परिणामस्वरूप उसकी सेना मे फूट कभी नही पनप पायी।

तो छात्रो को सोने के घडे की तरह, माता-पिता द्वारा चोट पहुँचाए जाने पर भी टूट कर जुड जाना चाहिए, बर्बाद न हो जाना चाहिए।

असफलता ही सफलता की जननी है :

आज के छात्र की जिन्दगी कच्ची जिन्दगी है। वह एक बार थोडा-सा असफल हो जाने पर निराश हो जाता है। बस एकबार गिरते ही, मिट्टी के ढेले की तरह बिखर जाता है। परन्तु जीवन मे सर्वत्र सर्वदा सफलता ही सफलता मिले, असफलता का मुँह कभी भी देखना न पडे, यह कदापि सम्भव नही। सचाई तो यह है कि असफलता से टकराव के पश्चात् जब सफलता प्राप्त होती है, तो वह कही और अधिक आनन्ददायिनी होती है। अतएव सफलता की तरह यदि असफलता का भी स्वागत नही कर सकते, तो कम

मे कम उसमे हताश तो नही ही होना चाहिए। असफल होने पर मन मे धैर्य की मजबूत गाँठ बाँध लेनी चाहिए, घबराना कभी भी नहीं चाहिए। असफल होने पर घबराना पतन का चिन्ह है और धैर्य रखना, उत्साह रखना उत्थान का चिन्ह है। उत्साह सिद्धि का मन्त्र है। छात्रो को असफल होने पर भी गेंद की तरह उभरना सीखना चाहिए। हतोत्साहित होकर अपना काम छोडकर बैठ नही जाना चाहिए। कहा भी है—'असफलता ही सफलता की जननी और आनन्द का अक्षय भण्डार है।

परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने पर आत्महत्या करने की खबरें, आए दिन समाचार-पत्रो मे पढने को मिलती है। विद्यार्थियो के लिए यह बडे कलक की बात है। चढती हुई जवानी मे जब मनुष्य को उत्साह और पौरुष का पुतला होना चाहिए, उसमे असम्भव को भी सम्भव कर दिखाने का हौसला होना चाहिए, समुद्र को लाँघ जाने और आकाश के तारे तोड लाने का साहस होना चाहिए, बडी से बडी कठिनाई को भी पार कर जाने की हिम्मत होनी चाहिए। तब यदि वे परीक्षा मे अनुत्तीर्ण होने मात्र से इतने हताश हो जाएँ, यह उन्हे शोभा नही देता। छात्रो मे इस प्रकार की दुर्बलता का होना राष्ट्र के भविष्य के लिए भी महान् चिन्ता की बात है।'

छात्रो की मानसिक दुर्बलता का कारण

आज छात्रो के मन मे जो इतनी दुर्बलता आ गई है, उसका कारण उनके अभिभावको की भूल है। वे महल तो गगन-चुम्बी तैयार करना चाहते हैं, परन्तु उसमे सीढी एक भी नही लगाना चाहते। और, बिना सीढी के महल मे रहना पसन्द ही कौन करेगा ? माता-पिता प्रारम्भिक सस्कार-सीढियाँ बनने नही देते और उन्हे पैसा कमाने के गोरखधघे मे डाल देने की ही धुन मे लगे रहते हैं।

ठाकुर रवीन्द्रनाथ टैगोर ने अपनी एक कहानी मे लिखा है कि—

एक सेठ ने एक बडा इजीनियर रख कर एक बहुत बडा महल बनवाया। लोग सेठ के महल को देखने आये। पहली मजिल बडी शानदार बनी थी। उसे देखभाल कर जब वे दूसरी मजिल पर जाने लगे तो सीढियाँ ही नही मिली। इधर देखा, उधर देखा, परन्तु सीढियो का कही कोई पता न चला। आखिरकार वे सेठ को कहने लगे—'सेठजी यह क्या ताबूत खडा कर दिया है। ऊपर की मजिल मे जाने के लिए तो सीढियाँ तक भी नहीं बनवाई हैं। इनमे रहेंगे कैसे ? ऊपर की मजिल किस काम आएगी ? लोगो की आलोचना सुनकर सेठजी अपनी भूलपर मन ही मन पश्चात्ताप करने लग गये।

कहने का अभिप्राय यह है कि उक्त सेठ की तरह इजीनियररूपी शिक्षक लगाकर माता-पिता छात्ररूपी महल तो खडा कर लेते है, वह दिखाई भी बडा शानदार देता है, परन्तु उसमे सुसस्कारो की सीढियाँ नही लग पाती। इस कारण वह महल निरुपयोगी हो जाता है और सूना होकर पडा-पडा खराब हो जाता है। सस्कारो के अभाव मे वह जिन्दगी बर्बाद हो जाती है। ऐसे छात्र छोटी-छोटी बात पर भी माता-पिता को ही धमकी देकर घर तक से निकल भागते हैं।

लडको की आत्महत्या और उनके फरार होने का उत्तरदायित्व माताओ पर भी कम नही है। वे पहले तो लडके को लाड-प्यार करके सिर चढा लेती है, उसे बिगाड देती

हैं, उसे उच्छृंखल बना देती हैं, और जब वह बडा होता है, तो उसकी इच्छाओ पर कठिन प्रतिबन्ध लगाना शुरू कर देती है। जब लडका अपने चिर-परिचित वातावरण और व्यवहार के विरुद्ध आचरण देखता है, तो उसे सहन नही कर पाता और फिर न करने योग्य काम भी कर बैठता है।

छात्रो की दुर्बलता · उनका महान् कलक .

कारण चाहे कुछ भी हो और कोई भी हो, फिर भी हमारे नव-युवको की यह दुर्बलता उनके लिए कलक की बात है। नवयुवक को तो प्रत्येक परिस्थिति का दृढता और साहस के साथ सामना करना चाहिए। उसे प्रतिकूलताओ से जूझना चाहिए, असफलताओ से लडना चाहिए, विरोध के साथ संघर्ष करना चाहिए, कठिनाइयो को कुचल डालने के लिए तैयार रहना चाहिए और बाधाओ को उखाड फेंकने की हिम्मत अपने अंतर्मन मे रखनी चाहिए। उसे कायरता नही सोहती। दुर्बलता उसके पास फटकनी नही चाहिए। आत्मघात का विचार साहसी पुरुषो का नही अपितु, वह अतिशय नामर्दो, कायरो और बुजदिलो का मार्ग है।

जीवन से उदासीनता आत्मा का अपमान :

किसी भी प्रकार की असफलता के कारण जीवन से उदासीन हो जाना अपने शौर्य का, अपने पौरुष का, अपने पराक्रम का और अपनी आत्मा का अपमान करना है।

एक आचार्य कहते हैं :—'नात्मानमवमन्येत ।' अर्थात्—अपनी आत्मा का अपमान मत करो। तुम्हे मनुष्य की जिन्दगी मिली है, तो उसका सदुपयोग करो। यदि तुम्हे देश के नैतिक स्तर को उठाना है, तो जीवन मे प्रारम्भ से ही ऊँचे सस्कार डालो। अच्छे सस्कार पोथियाँ पढने से नही, सत्सगति से ही प्राप्त होते है। अतएव पढने-लिखने से जो समय बचे, उसे भले पुरुषो और सन्तो के सम्पर्क मे लगाना चाहिए।

छात्र और चलचित्र :

आजकल अधिकाश विद्यार्थियो का सध्या का समय प्राय चलचित्र देखने मे व्यतीत होता है। चारो ओर आज चलचित्रो की धूम मची है। स्वीकार करना चाहिए कि सिनेमा से लाभ भी उठाया जा सकता है, परन्तु हमारे यहाँ जो फिल्मे आजकल बन रही है, वे जनता को लाभ पहुँचाने की बात तो दूर रहे उलटे उसकी जगह हानि ही ज्यादा पहुँचाती है। उनसे समाज मे बहुत बुराइयाँ फैली है और आज भी फैल रही हैं। प्राय बाजारू प्रेम के किस्से और कुरुचिपूर्ण गायन तथा नृत्य आदि के प्रदर्शन बालको के मस्तिष्क मे जहर भरने का काम कर रहे हैं छोटे-छोटे अबोध बालक और नवयुवक जितना इन चित्रो को देखकर बिगडते हैं, उतना शायद किसी दूसरे तरीके से नही बिगडते।

यूरोप आदि देशो मे बालको की विविध विषयो की शिक्षा के लिए चलचित्रो का उपयोग किया जाता है। वहाँ के समाज ने इस कला का सदुपयोग किया है। परन्तु हमारे यहाँ इस ओर कोई ध्यान नही दिया जा रहा है। खेद है कि स्वतन्त्र भारत की सरकार भी, जिससे इस विषय मे सुधार की आशा की जाती थी, इस ओर कोई सक्षम एव उपयुक्त कार्य नहीं कर रही है।

एक तरफ सरकार इधर ध्यान नही दे रही है और दूसरी तरफ फिल्म निर्माता अपना उल्लू सीधा करने में लगे हुए हैं। सब अपने-अपने स्वार्थ-साधन मे सलग्न हैं। ऐसी स्थिति मे, हम नवयुवकों से ही कहेंगे कि वे पैसे देकर बुराइयाँ न खरीदें। अपने जीवन-निर्माण के इस स्वर्णकाल को सिनेमा देख-देखकर और उनसे कुसंस्कार ग्रहण कर अपना सत्यानाश स्वय न रचाएँ।

छात्रो का महान् कर्त्तव्य :

विद्यार्थी सब प्रकार के दुर्व्यसनो से बचकर अध्ययन एव चिन्तन-मनन मे ही अपने समय का सदुपयोग करें। अपने जीवन को नियमित बनाने का प्रयास करें। समय को व्यर्थ नष्ट न करे। इसी मे कल्याण है।

असफलताओ से घबराना जिन्दगी का दुरुपयोग करना है। तुम्हारा मुखमंडल विपत्तियाँ आने पर भी हँसता हुआ होना चहिए। तुम मनुष्य हो। तुम्हें हँसता हुआ चेहरा मिला है। फिर क्या बात है कि तुम नामर्द-से, डरपोक, एव उदास-से दिखाई देते हो? क्या पशुओ को कभी हँसते देखा है? शायद कभी नही। सिर्फ मनुष्य को ही प्रकृति की ओर से हँसने का वरदान मिला है। अतएव कोई भी काम करो, वह सरल हो या कठिन, मुस्कराते हुए करो। घबराओ मत, ऊबो मत। तुम्हें चलना है, रुकना नही। चलना ही गति है, जीवन है और रुक जाना अगति है, मरण है।

विनम्रता लक्ष्यपूर्ति का मूलमन्त्र

तुम्हारा गन्तव्य अभी दूर है। वहाँ तक पहुँचने के लिए हिम्मत, साहस एव धैर्य रखो और आगे बढते जाओ। नम्रता रखकर, विनयभाव और सयम रख कर चलते चलो। अपने हृदय मे कलुषित भावनाओं को मत आने दो। क्षण भर के लिए भी हीनता का भाव अपने ऊपर मत लाओ। अपने महत्त्व को समझो।

जीवन मे सफलता का एकमात्र मूल मत्र है व्यक्ति की विनम्रता। नीति भी है—

> "विद्या ददाति विनयम् विनयात् याति पात्रताम्।
> पात्रत्वाम् धनमाप्नोति, धनम् धर्मम् तत सुखम्॥"

एक अंग्रेज कवि ने भी यही कहा है—

> "He that is down needs fear no fall"

तुलसीदास ने इसे एक रूपक के माध्यम से स्पष्ट किया है—

> "बरसहिं जलद भूमि नियराए। जथा नवहिं बुध विद्या पाए॥"

अत स्पष्ट है, जिसके अन्तर्गत मे विनम्रता का वास है, वही सफल है। विद्या प्राप्ति का यही परम लक्ष्य भी है।

छात्र : भविष्य के एकमात्र कर्णधार :

छात्र देश के दीपक हैं, जाति के आधार हैं और समाज के भावी निर्माता हैं। विश्व का भविष्य उनके हाथो मे है। इस पृथ्वी पर स्वर्ग उतारने का महान् कार्य उन्ही को करना है। उन्हें स्वयं महान् बनना है और मानव जाति के मगल के लिए अथक श्रम करना है। विद्यार्थी जीवन इसकी तैयारी का स्वर्णकाल है। अत. छात्रों को अपने विराट्

जीवन के निर्माण के लिए सतत उद्यत रहना है। कोटि-कोटि नेत्र एक अपूर्व आशा से भरकर उनकी ओर देख रहे है। अत उन्हे अपने जीवन मे मानव जीवन के लिए मगल का अभिनव द्वार खोलने का संकल्प लेना है। इस महान् दायित्व को अपने मन मे धारण करके उन्हे अपने जीवन का निर्माण शुरू कर देना है। इसी से विश्व का कल्याण हो सकता है और उनकी आशाएं सफल हो सकती हैं।

शिक्षा समस्या और समाधान

आज के युग मे शिक्षा का प्रचार-प्रसार वडी तीव्रगति से हो रहा है। धडल्ले के साथ नए-नए विद्यालय, पाठशाला एवं कालेज खुलते जा रहे हैं और जिधर देखो, उधर ही विद्यार्थियों की भीड जमा हो रही है। जिस गति से विद्यालय खुलते जा रहे हैं, उससे भी तीव्रगति से विद्यार्थी वढ रहे हैं। कही दो-दो और कही तीन-तीन सिफ्ट चल रही है। दिन के भी और रात के भी कालेज चल रहे हैं। अभिप्राय यह है कि आज का युग शिक्षा की ओर तीव्रगति से वढ रहा है। गुजराती मे एक कहावत है, जिसका भाव है—आज के युग मे तीन चीजें वढ़ रही हैं "चणतर, जणतर और भणतर।" नए-नये निर्माण हो रहे है। वांध और विशाल भवन वन र' हैं। जिधर देखो, भवन खड़े हो रहे हैं, वडी तेजी से पाँच-पाँच सात-सात दस-दस मजिल की अट्टालिकाएं सिर उठाकर आकाश से वातें करने को उद्यत है। भवन-निर्माण, जिसे गुजरती मे 'चणतर' कहते हैं, पहले की अपेक्षा सैकडो गुना वढ गया है। फिर भी लाखो मनुष्य वे-घरवार हैं, दिन-भर सडको पर इधर-उधर भटकते हैं और रात को फुटपाथ पर जीवन विताते हुए, एक दिन दम तोड देते हैं। जिन्दगी उनकी खुले आसमान के नीचे वीतती है। सिर छिपाने को उन्हे एक दीवाल का कोना भी नही मिलता। यह स्थिति क्यो हो रही है? कारण यह है कि जिस तेजी से ये मकान वन रहे हैं, उससे भी तीव्र गति से उनमे रहने वाले वढ रहे हैं। यदि एक वम्बई जैसे शहर मे दिन-भर मे औसत एक मकान वनता होगा, तो नए मेहमान सौ से भी ऊपर पैदा हो जाते हैं। जणतर अवाधगति से वढ रहा है, इसीलिए देश के सामने खाद्य-सकट की समस्या विकराल राक्षसी सुरसा के समान मुँह फैलाए निगल जाने को लपक रही है। मकान-सकट, वस्त्र-सकट और जितने भी अभाव आज मनुष्य को परेशान कर रहे है, यदि गहराई मे देखा जाए, तो उनके मूल मे यही जनसख्या वृद्धि की वीमारी है। ससार के वडे-वड़े वैज्ञानिक आज चिन्तित हो उठे हैं कि यदि जनसख्या इसी गति से वढती रही तो शताब्दी के अन्त तक अर्थात् आने वाले ३२-३३ वर्षों मे ही ससार की जनसंख्या दुगुनी हो जाएगी। इसका मतलव हुआ कि जिस भारतवर्ष में आज लगभग चौवालिस करोड मनुष्य हैं, वहाँ आने वाले तीस वर्षों मे एक अरव से भी अधिक हो जाएंगे, इसका सीधा-सा अर्थ है कि प्रतिवर्ष एक करोड से अधिक जनसंख्या की वृद्धि। आप सुनकर चौंक उठेंगे, पर यह जनगणना करने वालो के आंकडे हैं, जो काफी तथ्य पर आधारित हैं, कोई कल्पित नहीं हैं। अब आप अनुमान कर सकते हैं कि इन अभावो, सकटो की जड कहाँ है? आप स्वयं ही तो इनकी जड मे हैं।

'जणतर' की वृद्धि के साथ तीसरी वात है—भणतर की, यानें पढाई की। जैसा कि मैंने ऊपर वताया है, आज शिक्षा की गति वडी तीव्रता के साथ वढाई जा रही है। यह ठीक है कि देश में कोई अशिक्षित-निरक्षर न रहे। पर शिक्षा का प्रचार जिस गति

और वेग के साथ हो रहा है, देश का जितना श्रम, समय और अर्थ इस पर खर्च हो रहा है, उतनी सफलता नही मिल रही है, यह स्पष्ट है।

समाचार पत्र हमारे सामने हैं, कहीं छात्र आन्दोलन चला रहे है, तोड-फोड़ कर रहे हैं, अध्यापको एवं प्रोफेसरो की पिटाई कर रहे हैं, स्कूल, ऑफिस और सरकारी दफ्तरो मे आग लगा रहे हैं, बसें, मोटरें और रेलें जला रहे है, देश मे चारो ओर हिंसा, उपद्रव और विनाश की लीला रचा रहे हैं। भले हीं राजनीतिक दल इसके पीछे अपना रोष, आक्रोश और हिंसक भावनाओ को बल दे रहे हो, पर इन हडतालो और उपद्रवो का हथियार विद्यार्थी वर्ग को जो बनाया जा रहा है, क्या यह शर्म और दु ख की बात नही है?

मैं कभी-कभी सोचता हूँ—शिक्षण के साथ बच्चो मे जो ये उपद्रवी सस्कार आ रहे हैं, वे उन्हे किस अन्धगर्त मे ले जाकर धकेलेंगे, इसकी कल्पना भी नही की जा सकती। उनकी यह शक्ति, उनका यह अध्ययन और ज्ञान उन्हें रावण की परम्परा मे ले जाकर खडा करेगा या राम की भूमिका पर? रावण वस्तुत अज्ञानी नही था, वह एक बहुत बडा वैज्ञानिक था अपने युग का, साथ ही कुशल राजनीतिज्ञ, शक्तिशाली योद्धा और शिक्षाविद भी था वह। जल, थल और नभ पर उसका शासन था। आकाश मे उसके पुष्पक-विमान उडते थे, समुद्र मे उसके जलयान तैरते थे। अग्नि और वायु तत्त्व के उसने अनेको प्रयोग किए थे, कहते है देवताओ को उसने अपनी कैद मे बैठा रखा था। इसका सीधा-सा अर्थ यह है कि उसने प्रकृति की दिव्य शक्तियो को अपने नियत्रण मे ले रखा था। उसके इ जीनियरो ने सोने की विशाल लका नगरी का निर्माण किया था। कितना बडा ऐश्वर्य और वैभव था उसका। पर आखिर हुआ क्या? बुद्धिमान और वैज्ञानिक रावण राक्षस क्यो कहा गया? मनुष्य था वह हमारे जैसा ही। पर भारतीय सस्कृति ने उसको राक्षस के रूप मे चित्रित किया है। क्यो? इसीलिए कि उसकी शक्ति, उसका ज्ञान ससार के निर्माण के लिए नही, विनाश के लिए प्रयुक्त हुआ था। उसकी देह की आकृति मनुष्य की थी, पर उसका हृदय एव उसके सस्कार आसुरी थे, राक्षसी थे।

दु शासन और दुर्योधन का चरित्र जब हम पढते हैं, तो लगता है, वे कितने बुद्धिमान थे! उनमे कितनी शक्ति थी और कितना बल था! कैसा विज्ञान था उनके पास कि बडे-बडे नगरो का निर्माण किया, कितने विचित्र भवन बनाए और कितने भयकर आयुध और शस्त्र निकाले। किन्तु फिर भी उस दुर्योधन को, जिसका नाम माता-पिता ने बडे प्यार से सुयोधन रखा था, उसे ससार दुर्+योधन अर्थात् 'दुष्ट योद्धा', 'दुष्ट वीर' क्यो कहता है? उसे कुलकलक और कुलागार क्यो कहा गया? यही तो एक उत्तर है कि उसके विचार और सस्कार सुयोधन के नही, दुर्योधन के ही थे। वह कुल का फूल नही, बल्कि कटक ही बना।

रावण और दुर्योधन को, इतनी शताब्दियां बीत जाने पर भी आज ससार घृणा की दृष्टि से देखता है। आज कोई भी माता-पिता अपने पुत्र का नाम रावण या दुर्योधन के नाम पर नहीं रखना चाहता। राम का नाम आज घर-घर मे मिल जाएगा। रामचन्द्र, रामलाल, रामसिंह और रामकुमार चाहे जिधर आवाज दे दीजिए, कोई न कोई हुकार उठेगी ही, पर कोई रावणलाल, रावणसिंह या रावणकुमार भी मिलेगा?

देवी और आसुर वृत्तियो की भावना ही इनके मूल मे है। रावण और कंस मे जहाँ आसुरी वृत्ति मुखर थी, वहाँ राम और कृष्ण मे दैवी वृत्तियो का प्रस्फुटन था। यही कारण है कि किसी पंडित ने रामकुमार या कृष्णकुमार की जगह रावण कुमार या कंसकुमार नाम नही निकाला।

यह सव प्राचीन भारतीय तत्त्व-चिन्तन की एक विशेष मनोवृत्ति की झलक है। भारतीय तत्त्व-दर्शन कहता है कि सस्कृति का निर्माण सस्कारो से होता है, कोरे शिक्षण या अध्ययन से नही। आज भारत मे राम की संस्कृति चलती है, कृष्ण की संस्कृति जीवित है और धर्मपुत्र-युधिष्ठिर की सस्कृति भी घर-घर मे प्रचलित है, परन्तु क्या कही रावण की संस्कृति भी सस्कृति मानी गयी है? रावण और दुर्योधन के संस्कार, वस्तुत संस्कार नही थे, उन्हे तो विकार ही कहना उचित है, जो आज हमारे समाज मे पुनः सिर उठा रहे हैं। हिंसा, उपद्रव और तोडफोड के रूप मे वे सस्कार हमारे समाज के वच्चो मे फिर करवट ले रहे हैं, अत राम की सस्कृति के पुजारियो को सावधान हो जाना चाहिए कि रावण के सस्कारो को कुचले विना, उन्हे वदले विना राम की सस्कृति ज्यादा दिन जीवित नही रह सकेगी। राम-रावण सघर्ष आज 'व्यक्ति-वाचक' नही, वल्कि 'सस्कारवाचक' हो गया है औरवह संघर्ष आज फिर खडा होने की चेष्टा कर रहा है।

विद्या का लक्ष्य :

आप यदि विद्यार्थी वर्ग मे पनपने वाले इन रावणीय सस्कारो कों वदलना चाहते हैं, और विश्व मे राम की संस्कृति एव परम्परा को आगे वढाना चाहते है, तो आपको अपना उत्तरदायित्व समझना होगा। यदि अगली पीढी को दिव्य उत्थान के लिए तैयार करना है, तो अभी से उसके निर्माण की चिन्ता करनी होगी। वच्चों का वाह्य निर्माण तो प्रकृति ने या माता पिता ने कर दिया है, पर उनके आन्तरिक सस्कारो के निर्माण का कार्य अभी शेप है। खेद है, वालक और वालिकाओ के इस संस्कार से सम्वन्धित जीवन-निर्माण की दिशा मे आज चिन्तन नही हो रहा है। आप यदि चाहते हैं कि आपके वालको मे, आपकी सन्तान मे पवित्र और उच्च सस्कार जागृत हो, वे अपने जीवन का निर्माण करने मे समर्थ वनें और समाज एव राष्ट्र के सुयोग्य नागरिक के रूप मे प्रस्तुत हो सकें, तो आपको अभी से इसका विचार करना चाहिए। आप इस विपय मे चिन्ता जरूर कर रहे होंगे, पर आज चिन्ता का युग नही, चिन्तन का युग है। चिन्ता को दूर फेंकिए और मस्तिष्क को उन्मुक्त करके चिन्तन कीजिए कि वच्चो मे शिक्षण के साथ उच्च एवं पवित्र सस्कार किस प्रकार जागृत हो।

किसी भी विद्यार्थी से आप पूछ लीजिए कि आप पढकर क्या करेंगे? कोई कहेगा—डाक्टर वनूँगा, कोई कहेगा इन्जीनियर वनूँगा, कोई वकील वनना चाहेगा तो कोई अधिकारी। कोई इधर-उधर की नौकरी की वात करेगा, तो कोई दुकानदारी की। किन्तु यह कोई नही कहेगा कि मैं समाज एव देश की सेवा करूँगा, धर्म और सस्कृति की सेवा करूँगा। उनके जीवन मे इस प्रकार का कोई उच्च सकल्प जगाने की प्रेरणा ही नही दी जाती। भारतीय सस्कृति के स्वर उनके जीवन को स्पर्श भी नही करते। हमारी सस्कृति मे कहा गया है कि तुम अध्ययन कर रहे हो, शिक्षण प्राप्त कर रहे हो, किन्तु उसके लिए महत् सकल्प जगाओ। वहाँ स्पष्ट निदेश किया गया है—"सा विद्या या विमुक्तये" 'तुम्हारे अध्ययन

और ज्ञान की सार्थकता तुम्हारी विमुक्ति मे है ।' जो विद्या तुम्हे अन्धविश्वासो से मुक्त करा सके, दु ख और कष्टो से मुक्ति दिला सके, वही सच्ची विद्या है । विद्या भोग-विलास की या बौद्धिक कसरत की वस्तु नही है । वह अपने मे एक परम पवित्र सस्कारी भाव है । बुद्धि को स्वार्थ और अज्ञान के घेरे से निकालकर परमार्थ, जन-सेवा और ज्ञान के उन्मुक्त वातावरण मे लाकर उपस्थित कर देने मे ही विद्या की उपादेयता है । जब तुम्हारे स्वार्थ परिवार के हितो से टकराते हो, तो तुम अपने स्वार्थो की बलि देकर परिवार का हित करने का निर्णय कर सको और पारिवारिक हित के सामने समाज के हितो को मुख्यता देकर चल सको, तब तो तुम्हारे ज्ञान की, बुद्धि की कुछ सार्थकता है. अन्यथा अपने स्वार्थ के लिए तो कीडे-मकोडे भी, पशु-पक्षी और वनमानुष भी प्रयत्नशील होते हैं। राष्ट्र और समाज के हितो के प्रश्न पर, आप अपना, अपने भाई-भतीजे और बिरादरी का स्वार्थ लेकर यदि सोचते हैं, क्षुद्र प्रलोभनो के सामने आपका राष्ट्रप्रेम यदि पराजित हो जाता है, तो आप वास्तव मे शिक्षित नहीं कहे जा सकते । इसके विपरीत, आप यदि आगे बढकर एक दिन अपने समस्त स्वार्थों का बलिदान कर सकें, अपने व्यक्तिगत भोग, सुख और विषयो को ठोकर मारकर जीवन मे सयम और इन्द्रिय-निग्रह का आदर्श उपस्थित कर सकें, यही आपके ज्ञान से अपेक्षा है भारतीय सस्कृति को ।".

मैं आपसे ऊपर कह चुका हूं कि रावण इतना बडा ज्ञानी होते हुए भी ज्ञानी क्यो नही माना गया ? चूंकि उसका ज्ञान इन्द्रियो की दासता के लिए था । वह ज्ञानी होकर भी अपने आप पर सयम नही रख सका था । सीता को लाते समय वह जानता था कि यह मेरे विनाश का निमन्त्रण आ रहा है । सोने की लका के सुन्दर उपवनो को जलाने के लिए यह दहकती हुई आग है । किन्तु यह जानकर भी वह आत्मसयम खो बैठा और अपने हाथ अपनी चिता तथा अपने साम्राज्य की चिता तैयार करली । इसीलिए भारतीय संस्कृति का यह सन्देश है कि ज्ञान का सार है—सयम ! अपने आप पर सयम । विद्या का उद्देश्य है—विमुक्ति । अपने स्वार्थ और अहकार से मुक्ति ।

हमारे शिक्षण केन्द्र :

एक बात यहां मैं स्पष्ट कर देना चाहता हूं कि हम जिस प्रकार की शिक्षा, ज्ञान और विद्या का आदर्श उपस्थित करते हैं, क्या उस प्रकार की शिक्षा हमारी शिक्षण सस्थाएं आज दे रही हैं ? जहां तक मैं समझता हूं, इसका उत्तर नकारात्मक ही होगा । आज की जो शिक्षा-पद्धति है, वह मूलतः गलत समझ पर चल रही है । भारत के शिक्षाशास्त्री इस बात को अनुभव करने लगे हैं कि विद्यार्थियों को, विद्यालयो मे, शिक्षण केन्द्रों मे, जो शिक्षा और सस्कार मिलने चाहिए, वे नही मिल रहे हैं । अध्यापक और विद्यार्थी के बीच जो मधुर और शिष्ट सम्बन्ध रहने चाहिए, वे आज कहां हैं ? भारतीय सस्कृति ने गुरु-शिष्य के सबध का एक उच्च आदर्श है । गुरु उसका अध्यापक भी होता है और अभिभावक भी । वह शिष्य के चरित्र का निर्माता होता है । उच्च सस्कारो और सकल्पो का सर्जक होता है । अपने उज्ज्वल चरित्र और सत्कर्मों की प्रतिच्छाया शिष्य के हृदय-पटल पर गुरु जितनी कुशलता से अकित कर जाता है, उसमें जीवन भर समता है, वह दूसरो के लिए सहज सभव नहीं है। पर आज गुरु-शिष्य का सम्बन्ध क्या है ? आज का अध्यापक अपने को एक वेतनभोगी नौकर

मानता है। वह अपने आपको 'गुरु' अनुभव ही नही करता, उसके मन मे कर्त्तव्य और उत्तरदायित्व की कोई धारणा ही नही होती, कोई उदात्त परिकल्पना ही नही जगती।

प्राचीन समय मे गुरुकुल पद्धति से शिक्षा दी जाती थी। उस काल की स्थितियो को देखने से पता चलता है कि छात्र गुरुकुल मे अपने सहपाठियो एव शिक्षको के साथ बडे ही आनन्द एव उल्लास के साथ सह-जीवन प्रारम्भ करता था गुरुकुलो का वातावरण एक विशेष आत्मीयता के रस से ओत-प्रोत होता था। वहाँ की नीरव शान्ति, स्वच्छ और शान्त वातावरण उच्च सकल्पो की प्रेरणा देता हुआ-सा लक्षित होता था। वहाँ की हवा मे मधुरता और सस्कारिता के परमाणु उछलते थे। छात्र परिवार से और समाज से दूर रहकर एक नई सृष्टि मे जीना प्रारम्भ करता था। जहाँ किसी प्रकार का छल, छद्म, हिंसा, असत्य, चोरी और विविध विकारो का दूषित एवं घिनौना वायुमण्डल नही था। भिन्न-भिन्न जातियो, समाजो और सस्कारो के विद्यार्थी एक साथ रहते थे, उससे उनमे जातीय सौहार्द, प्रेम और सौम्य सस्कारो की एकात्मकता के अकुर प्रस्फुटित होते थे। गुरु और शिष्य का निकट सम्पर्क दोनो मे आत्मीय एकरसता के सूत्र को जोडने वाला होता था। गुरु का अर्थ वहाँ केवल अध्ययन कराने वाले से नही शिक्षको से था, अपितु गुरु उस काल का पूर्ण व्यक्तित्व होता था—जो शिष्य के जीवन की समस्त जिम्मेदारियाँ अपने ऊपर लेकर चलता था। उसके रहन-सहन, खान-पान और प्रत्येक व्यवहार मे से छनते हुए उसके चरित्र का निरीक्षण करता था। उसके जीवन मे वे उच्चसस्कार जगाते थे और ज्ञान का आलोक प्रदान करते थे। इस प्रकार छात्र गुरुकुल मे सिर्फ ज्ञान ही नही पाता था, वल्कि सम्पूर्ण जीवन पाता था। सस्कार, व्यवहार, सामाजिकता के नियम, कर्त्तव्य का वोध और विषय वस्तु का ज्ञान—इस प्रकार जीवन का सर्वांगीण अध्ययन एवं शिक्षण गुरुकुल पद्धति का आदर्श था।

उपनिषद् मे एक सदर्भ है। गुरु शिष्य को दीक्षान्त सन्देश देते हुए कहते है **"सत्य वद ! धर्म चर ! स्वाध्यायान्माप्रमद 'यानि अस्माक सुचरितानि तानि त्वयोपास्यानि, नो इतराणि"** शिष्य अपना विद्याध्ययन पूर्ण करके जव गुरु से विदा मांगता है, तव गुरु दीक्षान्त सन्देश देते है कि—'तुम सत्य बोलना, धर्म का आचरण करना, जो अध्ययन किया है, उसके स्वाध्याय-चिन्तन मे कभी लापरवाह मत होना और जीवन मे कर्त्तव्य करते हुए जव कभी कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य का प्रश्न तुम्हारे सामने आये, सदाचार और अनाचार की शका उपस्थित हो, तो जो हमने सद्आचरण किये है, जो हमारा सुचरित्र है, उसी के अनुसार तुम आचरण करते जाना, पर अपने कर्त्तव्य से कभी मत भटकना।" आप देखेंगे कि इस दीक्षान्त सन्देश मे गुरु शिष्य के प्रति हृदय का कितना स्नेह उँडेल रहा है, उसकी वाणी मे आत्मा का कितना अमिट वात्सल्य उछल रहा है, उच्च प्रेरणा और महान शुभ-संकल्पो का कितना वडा सकेत है इस सन्देश मे। गुरु शिष्य मे अपने जीवन का प्रतिबिम्ब देखना चाहता है, इसलिए वह उसे सम्बोधित करता है कि—तुम हमारे सदाचरण के अनुसार अपने आचार का निश्चय करना। शिष्य का जीवन पवित्र बनाने के लिए गुरु स्वयं अपना जीवन पवित्र रखते है और उसे एक आदर्श की तरह शिष्य के समक्ष उपस्थित करते है। जीवन की इस निश्छलता और पवित्रता के अमिट संस्कार जिन शिष्यो के जीवन मे उद्-भासित होते है, वे शिष्य गुरुकुल से निकलकर गृहस्थ जीवन मे आते है, तो एक सच्चे गृहस्थ,

सुयोग्य नागरिक और राष्ट्रीयपुरुष के रूप मे उपस्थित होते हैं। उनका जीवन समाज और राष्ट्र का एक आदर्श जीवन होता है। प्राचीन गुरुकुल के सम्बन्ध मे यदि एक ही बात हम कहे, तो वह यह है कि गुरुकुल हमारे विद्या और ज्ञान के ही केन्द्र नही थे, वल्कि सच्चे मानव और सुयोग्य नागरिको का निर्माण करने वाले केन्द्र थे।

शिक्षा का माध्यम :

समय और स्थितियो ने आज गुरुकुल की पावन परम्परा को छिन्न-भिन्न कर दिया। अध्ययन-अध्यापन की पद्धति वदलती गई, विषय वदलते गए और आज तो यह स्थिति है कि अध्ययन केन्द्र एक मेले की, समारोह की सज्ञा ले रहे हैं। और गुरु अपने आपको नौकर समझने लग गए हैं। शिक्षणकेन्द्र विद्यार्थियो के ऐसे जमघट वन गए हैं, जहाँ वे कुछ समय के लिए आते हैं, साथी-दोस्तो से दो-चार गपशप कर लेते हैं, रजिस्टर मे उपस्थिति लिखवा देते हैं, मन हुआ तो किसी अध्यापक का थोडा-सा भाषण सुन लेते हैं, नही तो किताबें वन्द करके इधर-उधर मटरगस्ती करने चले जाते हैं।

अध्यापक भी आज अपना उत्तरदायित्व सीमित कर रहे हैं, स्कूल-कालेज मे दो चार घण्टा के अतिरिक्त विद्यार्थी के जीवन से उनका कोई सम्पर्क नही रहता। वात यह है कि इस सम्पर्क का उनकी दृष्टि मे कोई महत्त्व भी नही है। अध्यापक को वे एक नौकरी समझते हैं और उसके अतिरिक्त समय में विद्यार्थी से सम्पर्क रखना, एक झझट मानते हैं।

आज की शिक्षा-पद्धति मे जो दोष और वुराईयाँ आ गई हैं, उनमे पहला कारण यह है कि शिक्षा का उद्देश्य गलत दिशा मे जा रहा है। शिक्षा के साथ सेवा और श्रम की भावना नही जग रही है। इसका कुछ उत्तरदायित्व तो है माता-पिताओ पर और कुछ है शिक्षण सस्थाओ पर। दूसरा कारण शिक्षण केन्द्रो की गलत व्यवस्था है। वहाँ विद्यार्थी और अध्यापक के वीच कोई सीधा सम्पर्क नही है। आत्मीयता का भाव तो दूर रहा, एक-दूसरे का परिचय तक नही हो पाता। अलगाव की एक खाई दोनो के वीच पडी है। दोनो मे अपने अपने उत्तरदायित्वो के प्रति उदासीनता और उपेक्षा की भावना वल पकड रही है, श्रद्धा और स्नेह का कोई सचार वहाँ नही हो पा रहा है।

शिक्षा पद्धति का तीसरा कारण कुछ गम्भीर है, और वह है विदेशी भाषा मे शिक्षण। हर एक देश की अपनी सस्कृति होती है, अपनी भाषा होती है। जो विचार और सस्कार अपनी भाषा के माध्यम से हमारे मन मे उतर सकते हैं, वे एक विदेशी भाषा के सहारे कभी भी नहीं उतर सकते। जो भाव और श्रद्धा 'भगवान्' शब्द के उच्चारण के साथ हमारे हृदय मे जागृत होती है, वह 'गौड' शब्द के सौ वार उच्चारण से भी नहीं हो सकती—यह एक अनुभूत सत्य है। दूसरी वात मातृभाषा के माध्यम मे विद्यार्थी जितना विस्तृत ज्ञान सहजतया प्राप्त कर सकता है उतना विदेशी भाषा के माध्यम से कभी भी नही कर सकता। अन्य भाषा सीख कर उसके द्वारा ज्ञान प्राप्त करने मे वडी कठिनाई और श्रम उठाना पडता है और इस कारण विद्यार्थी का ज्ञान-क्षेत्र सीमित तथा सकुचित रह जाता है। ससार के प्राय. समस्त उन्नतिशील एव स्वतन्त्र राष्ट्रो मे शिक्षा का माध्यम वहाँ की

मातृभाषा या फिर राष्ट्रीय भाषा ही है, परन्तु भारत आज स्वतन्त्र होकर भी विदेशी भाषा मे अपनी सन्तानो को शिक्षित कर रहा है, यह जहाँ उपहासास्पद बात है, वहाँ विचारणीय भी है। अपनी सभ्यता, संस्कृति और जीवन के सम्यक् निर्माण के लिए अपनी भाषा मे शिक्षण होना बहुत ही आवश्यक है।

मैं समझता हूँ, आज हमारी शिक्षा, हमारे शिक्षार्थी और शिक्षक तीनो ही राष्ट्र के सामने एक समस्या बनकर खडे हो रहे हैं। इन दिनो दिन उलझती हुई समस्या का हल हमे खोजना है। देश को यदि अपनी सस्कृति और सभ्यता से अनुप्राणित रखना है, तो हमे इन तीनो बातो के सन्दर्भ मे आज की समस्या को देखना चाहिए और उसका यथोचित हल खोजना चाहिए। शिक्षा जो जीवन का पवित्र और महान् आदर्श है, उसे अपने पवित्रता के धरातल पर स्थिर रखने के लिए हमे इस विषय को गहराई से सोचना चाहिए। जीवन के द्वारा, जीवन के लिए, जीवन की शिक्षा ही वस्तुत शिक्षा का आदर्श स्वरूप है। इसीसे निकली हुई शिक्षा से, हम जीवन के सर्वांगीण शारीरिक, मानसिक एव आध्यात्मिक— विकास की आशा कर सकते हैं। अतः शिक्षा को जीवन की समस्या नही, अपितु समाधान बननी चाहिए। और वह समाधान तभी बनेगी, जब उसमे सांस्कृतिक-चेतना जागृत होगी।

४५
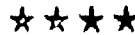
नारी जीवन का अस्तित्व

महिलाएँ समाजरूपी गाडी के एक समर्थ पहिये के रूप में सर्वथा महत्त्वपूर्ण स्थान पर प्रतिष्ठित हैं। महिलाओं पर समाज का बहुत बडा उत्तरदायित्व है। उन पर जितना अपने जीवन का दायित्व है, उतना ही अपने परिवार, समाज और धर्म का भी उत्तरदायित्व है। आज तक के लाखों वर्षो अतीत के इतिहास पर यदि हम दृष्टिपात करते है, तो मालूम होता है कि उनके पैर सामाजिक या धार्मिक क्षेत्र मे कभी पीछे नही रहे है, बल्कि आगे ही रहे हैं। जब हम तीर्थकरो के जीवन को पढते हैं, तो पता चलता है कि उन महापुरुषो के सघ मे सम्मिलित होने के लिए, उनकी वाणी का अनुसरण करने के लिए और उनके पावन सिद्धान्तों को अपने जीवन मे उतारने के लिए, अधिक से अधिक सख्या मे, शक्ति के रूप मे, बहनें ही आगे आती हैं।

महावीरकालीन महिला-जीवन :

दूसरे तीर्थंकरो की बातें शायद आपके ध्यान मे न हो, किन्तु अंतिम तीर्थंकर भगवान् महावीर का इतिहास तो आपको विदित होना ही चाहिए। महावीर प्रभु ने साधु, साध्वी, श्रावक और श्राविका के रूप मे धर्म के चार तीर्थ स्थापित किए और उन्हे एक सघ का रूप दे दिया गया। शास्त्रो मे चारो तीर्थों की सख्या का उल्लेख मिलता है और उस इतिहास को हम बराबर हजारो वर्षो से दुहराते आ रहे है। वह इतिहास हमे बतलाता है कि भगवान् महावीर के शासन मे यदि चौदह हजार साधु थे, तो छत्तीस हजार साध्वियाँ भी थी। साधुओ की अपेक्षा साध्वियो की संख्या मे कितना अन्तर है! ढाई गुनी से भी ज्यादा यह संख्या है।

यह ठीक है कि पुरुषवर्ग मे से भी काफी साधु आये, और यह भी सही है कि वे अपने पूर्व जीवन मे बडे ऐश्वर्यशाली और धनपति थे तथा भोग-विलासो मे उनका जीवन गुजर रहा था। किन्तु भगवान महावीर की वाणी जैसे ही उनके कानो मे पडी, वे महलों को

छोड नीचे उतर आये। और, बड़े-बडे विद्वान् भी, जो उस समाज का नेतृत्व कर रहे थे, भिक्षु के रूप मे दीक्षित हुए तथा उन्होने महान् होते हुए भी जनता के एक छोटे-से सेवक के रूप मे अपने अन्तरतम से भरपूर जन-सेवा की।

यह सब होते हुए भी जरा सख्या पर तो ध्यान दीजिए; कहाँ चौदह हजार और कहाँ छत्तीस हजार!

महिला-जीवन का आदर्शोपम अतीत

कहना चाहिए कि भगवान् की वाणी का अमृत रस, सबसे ज्यादा उन बहनो ने ग्रहण किया, जो सामाजिक दृष्टि से पिछडी हुई थी और जिन्हे हम अज्ञान और अन्धकार मे रहने का आदी कहते चले जा रहे थे। वास्तव मे वे शक्तियाँ रूढियो के शिलाखण्डो से दबी हुई थी, परन्तु ज्योही उन्हे उभरने का अवसर मिला, भगवान् की पावन वाणी का प्रकाश मिला, त्यो ही वे एक बहुत बडी सख्या मे साधना की काँटो भरी राह पर बढ आई। जिनका जीवन महलो मे गुजरा था, जिनके एक इशारे पर हजारो दास और दासियाँ नाचने को तैयार खडी रहती थी, जिन्होने अपने जीवन मे कभी सर्दी या गर्मी बर्दाश्त नही की थी, जिनका जीवन फूलो की सेज पर बीता था, उन देवियो के मन मे जब वैराग्य की लहर उठी, तो वे घर और ससार की विपत्तियो से टक्करें लेती हुई; भयानक से भयानक सर्दी-गर्मी और वर्षा की यातनाएँ झेलती हुई भी भिक्षुणी बनकर विचरने लगी। उनका शरीर फूल के समान सुकुमार था, जो हवा के एक हलके उष्ण झोके से भी मुरझा सकता था, किन्तु हम देखते है कि वे ही देवियाँ भीषण गर्मी और कडकडाती हुई सर्दी के दिनो मे भी भगवान् महावीर का मगलमय सन्देश घर-घर मे पहुँचाती थी। जिनके हाथो ने देना ही देना जाना था, आज वही राजरानियाँ अपनी प्रजा के सामने, यहाँ तक कि झोपडियो मे भी भिक्षा के लिए घूमती थी और भगवान् महावीर की वाणी का अमृत बाँटती फिरती थी।

साधक-जीवन की समानता ·

मैं समझता हूँ कि जब दिव्यशक्तियाँ जाग उठती है, तो यह नही होता कि कौन पीछे है और कौन आगे जा चुका है। कभी आगे रहने वाले पीछे रह जाते हैं और कभी पीछे रहने वाले बहुत आगे बढ़ जाते हैं।

जब हम श्रावको की संख्या पर ध्यान करते है, तो यही बात याद आ जाती है। श्रावको का जीवन कठोर जीवन अवश्य रहा है, किन्तु उनकी सख्या १५९ हजार ही रही और उनकी समता मे श्राविकाओ की संख्या तीन लाख से भी ऊपर पहुँच गई।

तेजोमय इतिहास :

कहने का अर्थ यह है कि हमारी श्राविका बहनो का इतिहास बडा ही तेजोमय रहा है। आज वह इतिहास धुँधला पड गया है और हम उसे भूल गये है। बहनें आज भी अँधेरी कोठरी मे रह रही है, उन्हे ज्ञान का पर्याप्त प्रकाश नही मिल रहा है। किन्तु आज से ढाई हजार वर्ष पहले के युग को देखने पर विदित होता है कि चौदह हजार की तुलना मे छत्तीस हजार और १५९ हजार की तुलना मे ३१८००० बहनें श्राविकाओ के रूप मे सामने आकर अपनी समुन्नत, सुरम्य एव सर्वथा स्पृहणीय झाँकी उपस्थित कर देती है।

महिलाओ का दुष्कर साहसी जीवन :

वहुत-सी वहनें ऐसी भी थी, जिनके पति दूसरे धर्मों को मानने वाले थे। उन पुरुषो (पतियो) ने अपने जीवन-क्रम को नही वदला, किन्तु इन वहिनो ने इस वात की कतई परवाह न कर अपना स्वय का जीवन-क्रम वदल डाला और सत्य की राह पर आगई। ऐसा करने मे उन्हे वडे-वडे कष्ट उठाने पडे, भयानक यातनाएँ भुगतनी पडी और धर्म के मार्ग पर आने का वहुत महँगा मूल्य चुकाना पडा। जव उन वहनो के घर वालो की मान्यताएँ भिन्न प्रकार की रही, उनके पति का धर्म दूसरा रहा, तव उन्होंने अनेक प्रकार का विरोध सह कर भी अपने सम्मान, अपनी प्रतिष्ठा को खतरे मे डालकर भी तथा नाना प्रकार के कष्टो को सहन करते हुए भी प्रभु के पथ का अनुसरण करती रहीं।

तात्पर्य यह है कि जव हम नारी जाति के इतिहास पर दृष्टिपात करते हैं, तो देखते हैं कि उनका जीवन वहुत ऊँचा जीवन रहा है। जव हम उनको याद करते हैं, तो हमारा मस्तक श्रद्धा से स्वतः झुक जाता है।

सम्राट् श्रेणिक और चेलना :

राजा श्रेणिक का इतिहास जन-जीवन के कण-कण में आज भी चमक रहा है। और भगवान् महावीर के साथ-साथ श्रेणिक का नाम भी वरवस याद आ जाता है। उसे अलग नही किया जा सकता। तो वह महान् सम्राट् श्रेणिक भगवान् के चरणो मे पहुँचा, इसका श्रेय किसे प्राप्त है? किसने भगवान् के चरणो तक पहुँचाया था उसे? सम्राट् श्रेणिक सहज ही नहीं पहुँच गया था क्योकि वह दूसरे धर्म का अनुयायी था। उसे भगवान् के चरणों मे पहुँचाने वाली हमारी एक वहिन थी, जिसका नाम था चेलना। उसे इस पवित्र कार्य के करने मे वडे-वडे सघर्षो का सामना करना पडा, वडी-वडी कठिनाइयाँ भुगतनी पडी। अपने पति को भगवान् के मंगल-मार्ग पर लाने के लिए उसने न जाने कितने खतरे अपने सर पर लिए, कितनी वडी जोखिमें उठाई। हम रानी चेलना के महान् जीवन को कभी भुला नही सकते, जिसने अपनी सम्पूर्ण चेतना एव शक्ति के साथ अपने सम्राट् पति को धर्म के मार्ग पर लाने का निरन्तर प्रयास किया और अन्त मे उसने अपने प्रयास मे सफलता प्राप्त कर के ही चैन की साँस ली।

त्याग की उज्ज्वल मूर्ति : नारी :

उस समय के इतिहास को देखने से यह ज्ञात हो जाता है कि वहनो के त्यागमय महान् कार्यों से ही उनका जीवन-पथ चमत्कृत था। उनको संसार का वडे से वडा वैभव मिला था, किन्तु वे उस वैभव की दलदल मे ही फँसी नहीं रही और उन्होंने अकेले ही धर्म के मार्ग को अगीकार नही किया, प्रत्युत घर मे जो पति, पुत्र, माता, भ्राता आदि कुटुम्बी-जन थे, उन सवको साथ लेकर अपने धर्म का मार्ग तय किया है। इस रूप में हमारी वहिनो का इतिहास वडा ही उज्ज्वल और गौरवमय रहा है।

चिन्तन के क्षेत्र में नारी :

प्राचीन ग्रन्थो को देखने के क्रम मे मुझे एक वडा ही सुन्दर ग्रन्थ देखने को मिला। यह पन्द्रहवी शती का एक साध्वी का लिखा हुआ ग्रन्थ है। उस ग्रन्थ के अक्षर वडे

ही सुन्दर, मोती-सरीखे हैं, साथ ही अत्यन्त शुद्ध भी। यह नारी की उच्च चिन्तना एव मौलिक सर्जना का एक उज्ज्वल उदाहरण है।

पांच सौ वर्षों के बाद, आज, सम्भव है, उसके परिवार मे कोई भी आदमी न बचा हो, किन्तु उसने जो सुन्दर वस्तु की सर्जना की है, वह आज भी एकबार मन को गुदगुदा देती है। उसे देख कर मैंने विचार किया—अगर वह साध्वी उस शास्त्र को ठीक तरह न समझती होती, तो इतना शुद्ध और सुन्दर कैसे लिख सकती थी? उसकी लिखावट की शुद्धता से पता चलता है कि उसमे ज्ञान की गम्भीरता और चिन्तन की चारुता सहज समाहित थी।

इसके अतिरिक्त मैंने और भी अनेक शास्त्र-भण्डार देखे हैं, जिनमे प्रायः देखा है कि उन शास्त्रो की सर्जना या तो किसी की माता ने की है या बहन या बेटी ने और इस प्रकार बहुत-से शास्त्र हमारी बहनो के सुरम्य चिन्तना मे उद्भूत हुए हैं, उनकी पावन प्रेरणा से प्रसूत हुए हैं।

मेरा विचार है कि धर्म-भावना के अतिरिक्त साहित्यिक दृष्टिकोण से भी बहनो का जीवन बडा शानदार रहा है।

आज के युग में नारियों का दायित्व :

आज समाज मे जो गडबडियाँ फैली हुई हैं, उनका उत्तरदायित्व पुन बहनो पर आया है क्योकि मानव-जीवन का महत्त्वपूर्ण भाग बहनो की ही गोद मे तैयार होता है। उन्हे सन्तान के रूप मे एक तरह से कच्ची मिट्टी का लोदा मिला है। उसे क्या बनाना है और क्या नही बनाना है, यह निर्णय करना उनके ही अधिकार-क्षेत्र मे है। जब माताएँ योग्य होती हैं, तो वे अपनी सन्तान मे करुणा का रस पैदा कर देती हैं, और धर्म एव समाज की सेवा के लिए महत्त्वपूर्ण प्रेरणा जगा देती हैं। ऐसी सन्नारियो के बीच मदालसा का नाम चमकता हुआ हमारी आँखो के सामने बरबस आ जाता है। जब भी उसको पुत्र होता, वह एक लोरी गाती और उसमे कहती—

"शुद्धोऽसि बुद्धोऽसि निरजनोऽसि,
ससार-माया-परिवर्जितोऽसि।"

यह एक लम्बी और विराट् लोरी है, जो दार्शनिक क्षेत्र मे बडी ही चित्ताकर्षक है। इसमे कहा गया है—'हे लाल! तू शुद्ध है, तू विशुद्ध है, अतएव तू विकारो मे मत फँस जाना। तू बुद्ध है, ज्ञानी है, अत अज्ञान मे न भटक जाना। तू यदि अज्ञान और अविवेक मे रहा और तेरे मन का दरवाजा खुला न रहा, तो तू समाज मे अन्धकार फैला देगा। तू जगत् को प्रकाश देने आया है और तेरा ज्ञान तुझे ही नही, जगत् को भी प्रकाश की ओर ले जाएगा।

इसी हेतु से यहाँ कहा गया है कि तू निरजन है, परमचेतनामय है तू क्षुद्र ससारी जीव नही है। तू इस संसार के मायाजाल मे फँसने के लिए नही आया है। तुझे अपने और ससार के मन के मैल को साफ करना है। तू संसार की गलियो मे कीडो की तरह रेंगने के लिए नही है। तू तो परम पुरुष है, परमब्रह्म है।

तो, भारत के इतिहास-पृष्ठ पर यह लोरी आज भी अकित है और मदालसा की प्रेरणा हमारे सामने प्रकाशमान है।

अब यदि कोई कहे कि बहिनें मूर्ख रही होंगी और उन्होंने संसार को अन्धकार मे ले जाने का प्रयत्न किया होगा, तो इसका उत्तर है कि उन्होंने ऐसा-ऐसा पुत्र-रत्न दिया जो हर क्षेत्र मे महान् बना। यदि कोई साधु बना तो भी महान् बना और यदि राजगद्दी पर बैठा तो भी महान् बना। कोई सेनापति के रूप मे चला, तो भी जनता का मन जीतने के लिए चला और पृथ्वी पर जहाँ अपने पैर जमाये नही कि वही एक साम्राज्य खडा कर दिया।

महानता की जननी नारी :

प्रश्न है, ये सब चीजें कहाँ से आई? माता की गोदी मे से नही आई तो क्या आकाश मे बरस पडी? पुत्रो और पुत्रियो का निर्माण तो माता की गोद मे ही होता है। यदि माता योग्य है, तो कोई कारण नही कि पुत्र योग्य न बने और माता अयोग्य है तो कोई शक्ति नही जो पुत्र को योग्य बना सके। वे संसार को जैसा चाहें वैसा बना सकती हैं।

'अमर माधुरी' की एक रचना मे एक बालक स्वय कहता है— बच्चा कह रहा है कि—"मैं महान् हूँ। मैंने बडे-बडे काम किये है। राम, कृष्ण, महावीर, बुद्ध वगैरह सब मुझी मे से बने हैं।" सब कहने के बाद अन्त मे कहता है—"आखिर मैं माता-पिता का खिलौना हूँ। वे जो बनाना चाहते हैं, वही मैं बन जाता हूँ। मैं देवता भी बन सकता हूँ और राक्षस भी बन सकता हूँ। मेरे अन्दर दोनो तरह की शक्तियाँ विद्यमान हैं। यदि माता-पिता देवता हैं, उनमें ठीक तरह सोचने की शक्ति है और देवता बनाना चाहते हैं, तो वे मुझे अवश्य ही देवता बना देंगे। साथ ही मुझमे राक्षस बनने की भी शक्ति भी मौजूद है। वह भी इतनी बडी है कि यदि यदि माता-पिता की गलतियो से, राक्षस बनने की शिक्षा मिलती रही और शिक्षा या वातावरण ने बुरे सस्कारो को जागृत कर दिया, तो मैं बडे से बडा राक्षस भी बन सकता हूँ।"[1]

समाज-निर्माण में नारी का स्थान :

समाज का जो सम्पूर्ण अग है, उसके एक ओर नारी वर्ग है और दूसरी ओर पुरुष वर्ग। कही ऐसा तो नही है कि शरीर के एक हिस्से को लकवा मार जाए, वह बेकार हो जाए और शेष आधा शरीर ज्यो का त्यो सबल और कार्यकारी बना रहे। एक हाथ और एक पैर के सुन्न हो जाने पर दूसरा हाथ और दूसरा पैर हरकत में होंगे किन्तु काम करने को नही होंगे। इसके विपरीत यदि शरीर के दोनो हिस्से ठीक अवस्था में रह कर गति करते हैं, तो वह अवश्य काम करेगा और ऐसा ही जीवन समाज को कुछ दे सकेगा और कुछ ले सकेगा।

आज ऐसा लगता है, समाज के आधे अग को लकवा मार गया है और वह बेकार हो गया है। उसके पास वह ज्ञान, विचार और चिन्तन नही रहा और न अपनी सन्तान को महान् बनाने की वह कला ही रह गई है। और, इस रूप मे हजारो गालियाँ, जो लडको-लडकियो की जुबान पर आती हैं, बहनो की ओर से ही आती हैं। हजारो कुसंस्कार आते हैं, मेरे-तेरे की दुर्भावना आती है और [illegible] की [illegible] घुट्टियाँ पिलाई जाती हैं!

---

१. सच मै माता-पिता के खेल का सामान हूँ मै।
जो निखारें यह बना मैं, देव हूँ, शैतान हूँ मै॥—'अमर माधुरी'—उपाध्याय अमरमुनि

इस प्रकार, बच्चों के मन मे जहाँ अमृत भरा जाना चाहिए, वहाँ जहर भरा जाता है और आगे चलकर माता-पिता को जब उसका परिणाम भोगना पडता है, तो वह रोते-चिल्लाते हैं। आज बच्चों का जो ऐसा भ्रष्ट जीवन बन रहा है, इसका एकमात्र कारण यही है कि हमारी बहनो की सभ्यता ऊँची नही रही।

पक्षी को आकाश मे उडने के लिए दोनो पखो से मजबूत होना आवश्यक है। जब दोनो पंख सशक्त होंगे, तभी वह उड सकेगा, एक पख से नही। यही बात समाज के लिए भी है। समाज का उत्थान पुरुष-स्त्री दोनों के समान शक्तिसम्पन्न होने पर निर्भर है। आज हमारा समाज जो इतना गिरा हुआ है, उसका मूल कारण यही है कि उसकी एक पख इतनी दुर्बल और नष्ट-भ्रष्ट हो गई है कि उसमें कर्तृत्वशक्ति नही रही, जीवन नही रहा। एक पख के निर्जीव हो जाने पर दूसरी पख भी काम नही कर सकती और इस प्रकार समाज का सारा जीवन गिरने के लिए हो सकता है। ऐसी स्थिति मे उत्थान की सम्भावना ही क्या है?

आज सर्वत्र विषम हवाएँ चल रही हैं। जब-तब यह सुनने को मिलता है कि आज घर-घर मे कलह की आग बेतरह सुलग रही है। मन मे प्रश्न उठता है कि यह कलह जागता कहाँ से है? मालूम करेंगे तो पता चलेगा कि ९० प्रतिशत झगडे इन्ही बहनो के कारण होते हैं। उसके मूल मे किसी न किसी बहन की नासमझी ही होती है। झगडे और मन-मुटावो का पता करने चलेंगे तो पाएँगे कि उनमे से अधिकाश का उत्तरदायित्व बहनो पर ही है। किन्तु इसका भी कारण बहनो का अज्ञान है। उनकी अज्ञानता ने ही उन्हे ऐसी स्थिति मे ला दिया है। यदि वे ज्ञान का प्रकाश पा जाएँ और अपने हृदय को विशाल एव विराट् रक्खें, अपने जीवन को महान् बनाएँ और कुछ लेने की बुद्धि न रखकर सब कुछ दे देने की बुद्धि रक्खें, यदि उनके हाथ इतने महान् बन जाएँ कि अपने परिवार और दूसरो को भी समान भाव से दे सकें और सुख-दुःख मे समान भाव से सेवा कर सकें; तो परिवारो के झगडे, जो विराट् रूप ले लेते हैं, न ले सकें और न किसी प्रकार के सघर्ष का अवसर ही आ सके।

नारी की आदर्श दानशीलता :

यहाँ इतिहास की एक घटना याद आ जाती है, एक महान् नारी की महान् उदारता की। उसका नाम आज किसी को याद नही है, किन्तु उसकी जीवन-ज्योति हमारे सामने बरबस खडी हो जाती है।

भारत मे बडे-बडे दार्शनिक कवियों ने जन्म लिया है। सस्कृत भाषा के ज्ञाता यह जानते हैं कि सस्कृत साहित्य मे माघ कवि का स्थान कितना महत्त्वपूर्ण है। माघ कवि भारत के गिने-चुने कवियो मे से एक माने जाते हैं और उनकी कविता की भाँति उनकी जीवन-गाथा भी समान रूप से मूल्यवान है।

कविता की बदौलत लाखो का धन आता, किन्तु माघ का यह हाल कि इधर आया और उधर दे दिया। अपनी उदारवृत्ति के कारण वह जीवन भर गरीब ही बने रहे। कभी-कभी तो ऐसी स्थिति भी आ जाती कि आज तो खाने को है, किन्तु कल का क्या होगा? पता नहीं। कभी-कभी तो उसे भूखा ही रहना पडता। किन्तु, उस माँ के लाल ने जो कुछ भी प्राप्त किया—यदि सोने का सिंहासन भी पाया—तो उसे भी देने से इन्कार नहीं किया। उसने कहा कि 'माघ का महत्त्व पाने मे नहीं, देने मे है।'

एक बार वह अपनी बैठक मे बैठे थे। जेठ की कटकडाती हुई गर्मी मे, दोपहर के समय, एक गरीब ब्राह्मण उनके पास आया। उस समय यह महान् कवि अपनी कविता के छन्द-भाव को ठीक करने मे लीन थे। ज्योंही वह ब्राह्मण आया और नमस्कार करके सामने खड़ा हुआ कि इनकी दृष्टि उसकी दीनता को भेद गई। उसके चेहरे पर गरीबी की छाया पड रही थी और थकावट तथा परेशानी स्पष्ट झलक रही थी।

कवि ने ब्राह्मण से पूछा—क्यो भैया! इस धूप मे आने का कैसे कष्ट किया?

ब्राह्मण—जी, और तो कोई बात नही है, एक आशा लेकर आपके पास आया हूँ। मेरे यहाँ एक कन्या है। वह जवान हो गई है। उसके विवाह की व्यवस्था करनी है; किन्तु साधन कुछ भी नही है। अर्थाभाव के कारण मैं बहुत उद्विग्न हूँ। आपका नाम सुनकर बडी दूर से चला आ रहा हूँ। आपकी कृपा से उस कन्या का भाग्य बन जाए, यही याचना है।

माघ कवि ब्राह्मण की दीनता को देखकर विचार मे डूब गये। उनका विचार मे पड जाना स्वाभाविक ही था, क्योकि उस समय उनके पास एक ग्रास खाने को भी कुछ नही बचा था। परन्तु एक गरीब ब्राह्मण आशा लेकर आया है। अत कवि की उदार भावना दबी न रह सकी। उसने ब्राह्मण को बिठलाया और आश्वासन देते हुए कहा—अच्छा भैया, बैठो, मैं अभी आता हूँ।

माघ घर मे गये। इधर-उधर देखा तो कुछ न मिला। अब उनके पश्चात्ताप का कोई पार न रहा। सोचने लगे—'माघ! आज क्या तू घर आये याचक को खाली हाथ लौटा देगा? नही, आज तक तूने ऐसा नही किया है। तेरी प्रकृति यह सहन नही कर सकती। किन्तु किया क्या जा सकता है? कुछ हो देने को तब तो!'

माघ विचार मे डूबे इधर-उधर देख रहे थे। कुछ उपाय नही सूझता था। आखिर एक किनारे सोई हुई पत्नी की ओर उनकी दृष्टि गई। पत्नी के हाथो मे सोने के कगन चमक रहे थे। सम्पत्ति के नाम पर वही कगन उसकी सम्पत्ति थे।

माघ ने सोचा—कौन जाने मांगने पर यह दे या न दे। उसके पास और कोई धन-सम्पत्ति तो है नही, कोई अन्य आभूषण भी नहीं। यही कगन है, तो शायद देने मे इन्कार कर दे। सयोग की बात है कि यह सोई हुई है। अच्छा अवसर है। क्यो न चुपचाप एक निकाल लिया जाए।

माघ दो कगनो मे से एक को निकालने लगे। कगन सरलता से खुला नही और जोर लगाया तो थोडा झटका लग गया। पत्नी की निद्रा भग हो गई। वह चौक कर जगी और अपने पति को देखकर बोली—आप क्या कर रहे थे?

माघ—कुछ नही, एक सामान टटोल रहा था।

पत्नी—नही, सच कहिए। मेरे हाथ मे झटका किसने लगाया?

माघ—झटका तो भूल से लग गया था।

पत्नी—तो आखिर बात क्या है? तो क्या आप कगन खोलना चाहते थे?

माघ—हाँ, तुम्हारा सोचना सही है।

पत्नी—लेकिन किसलिए?

माघ—एक गरीब ब्राह्मण दरवाजे पर बैठा है। वह बड़ी आशा लेकर यहाँ आया है। वह बड़ा गरीब है। उसके एक जवान लड़की है, जिसकी शादी उसे करनी है, किन्तु करे तो कैसे ? पास कुछ हो तब तो ! सो वह अपने घर कुछ पाने की आशा से आया है। मैंने देखा, घर मे कुछ भी ऐसा नही है, जो उसे दिया जा सके। तब तुम्हारा कंगन नजर आया और यही खोलकर उसे दे देने को सोचा। मैंने तुम्हे जगाया नही, क्योंकि मुझे भय था कि कही तुम कगन देने से इन्कार न कर दो।

पत्नी—तब तो आप चोरी कर रहे थे !

माघ—हाँ, बात तो सही ही है, पर करता क्या ? दूसरा कोई चारा भी तो नही था।

पत्नी—मुझे आपके साथ रहते इतने वर्ष हो गये, किन्तु देखती हूँ, आप आज तक मुझे नही पहचान सके। आप तो एक ही कगन ले जाने की सोच रहे थे, कदाचित् मेरा सर्वस्व भी आप ले जाएँ, तो भी मैं प्रसन्न होऊँगी। पत्नी का इससे बड़ा सौभाग्य और क्या होगा कि वह पति के साथ मानव-कल्याण-कार्य मे काम आती रहे। बुलाइए न वह ब्राह्मण कहाँ है ? शुभ काम मे देरी क्यो ?

और, माघ ने झट से बाहर आकर उस ब्राह्मण को बुलाया तथा अन्दर ले जाकर कहा—देखो भाई, मुझे घर मे कुछ नही मिल रहा है जो तुम्हे दे सकूँ। यह एक कगन है, जो तुम्हारी इस पुत्री के पहनने के लिए है। उसी की ओर से तुम्हे यह भेंट किया जा रहा है। मेरे पास तो देने को कुछ भी नही है।

पत्नी ने दोनो कगन उतार कर सहर्ष ब्राह्मण को दे दिए। ब्राह्मण गद्गद हो उठा। विस्मय और हर्ष के आवेग में उसकी आँखो मे झर्-झर् आँसू की धाराएँ फूट चली। वह भगवान् को धन्यवाद देता हुआ तथा ऐसे महान् दम्पती का गौरवगान करता चला गया।

कहने का अभिप्राय यह है कि भारतवर्ष मे ऐसी बहने भी हुई हैं, जिन्होंने अपनी दारुण दारिद्र्य एवं दुस्सह दीनता की हालत मे भी आशा लेकर घर आये हुए अतिथि को खाली हाथ नहीं लौटाया। उन बहनों ने मानो यही सिद्धान्त बना लिया था—

'दानेन पाणिर्नतु कंकणेन'।

हाथ दान देने से सुशोभित होता है, कगन से नही।

गौरव की अधिकारिणी कौन ?

ऐसी विराट् हृदय वाली बहनों ने ही महिला समाज के गौरव को बढ़ाया है। ऐसी-ऐसी बहनें भी हो चुकी है, जिन्होने अपरिचित भाइयों की भी उनकी गरीबी की हालत मे सेवा की है और उन्हें अपने बराबर धनाढ्य भी बना दिया है। जैन इतिहास मे उल्लेख आता है कि पाटन की रहने वाली एक बहन लच्छी (लक्ष्मी) ने एक अपरिचित जैन युवक को उदास देख कर ठीक समय उसकी सहायता की और उसे अपने बराबर धनाढ्य बना दिया। यही एक दिन का भूला-भटका हुआ रोटी की तलाश में धक्के खाने वाला मरुधर देश का युवक ऊदा, एक दिन सिद्धराज जयसिंह का महामन्त्री उदयन बना और गुजरात के युगनिर्माता के रूप मे जिसका नाम भारतीय इतिहास के स्वर्ण पृष्ठों पर आज भी चमक रहा है।

ऐसी बहनें ही आज जगत् में गौरव की अधिकारिणी हैं। वे महिला जाति में मुकुटमणि हैं।

परन्तु कई बहिनें ऐसी भी हैं, जिनका घर भरा-पूरा है, जिन्हे किसी चीज की कमी नहीं है, फिर भी अपने हाथ से, किसी को एक रोटी का भी दान नहीं दे सकती। किन्तु याद रखो, गृहिणी की शोभा दान देने में ही है, उदारता से ही है। जो दानशीला और उदारमना है, वही लक्ष्मी की सच्ची मालकिन कही जा सकती है। जैन साहित्य के महान् पण्डित, आचार्यकल्प आशाधर ने अपने ग्रन्थ 'सागार धर्मामृत' में कहा है :

"न गृह गृहमित्याहुर्गृहिणी गृहमुच्यते।"

ईंटों और पत्थरों का बना हुआ घर, घर नहीं कहलाता, सद्-गृहिणी के होने पर ही, घर वस्तुत घर कहलाता है।

खेद है कि आजकल ऐसी आदर्श गृहिणियों के बहुत कम दर्शन होते हैं। धनाढ्य लोगों के घरों में भी प्राय ऐसी गृहणियाँ होती हैं, जो घर आए किसी गरीब—दुखी को देख कर उसे सान्त्वना देने के बदले गालियाँ देकर या धक्का दिलवाकर निकाल देती हैं। किन्तु जो सद्गृहिणियाँ होती हैं, वे बडी सजीदगी से पेश आती हैं। वे कभी किसी के प्रति न तो कटु व्यवहार करती हैं और न कभी अपने चेहरे पर क्रोध की एक रेखा ही आने देती हैं।

४६

भोजन और आचार-विचार

जब हम अपने जीवन के सम्पूर्ण पक्षो—अतीत, वर्तमान और भविष्य पर विचार करने लगते हैं, तो हमारे सामने एक अजीब-सा दृश्य खिंच जाता है। हमारा अतीत जितना उज्ज्वल लगता है, वर्तमान उतना ही असन्तोषजनक और भविष्य? भविष्य के आगे तो एक प्रकार से पूरा-पूरा अंधकार ही अंधकार का साम्राज्य दिखाई पड़ने लगता है।

एक विचारक ने ठीक ही कहा है—

"Past is always Glorious
Present is always Insatisfactory
And future is always in dark."

"उज्ज्वल, सुखकर, पूत पुरातन
वर्तमान् कसमस पीडाच्छन्न
और भविष्यत् तमसावर्तन।"

हमारा स्वर्णिम अतीत :

हम जैसे-जैसे ही अपने अतीत के पृष्ठो पर अवलोकन करते हैं, एक सुखद गौरव-गरिमा से हमारा अंतस्तल खिल पड़ता है। हमारा वह अपरिमित ऐश्वर्य, वह विपुल वैभव, दूध की लहराती नदियाँ, दूर-दूर तक आकाश के छोर को छूते सागरतल, मीलो लम्बी पर्वतश्रृंखलाएँ, जहाँ प्रतिदिन छहो ऋतुएँ गुजार करती हैं, हमारा वह सादा-सुखमय जीवन किंतु उच्च विचार, जिसके बीच से ओइम्, अर्हम् का प्रणव नाद गूँजा करता था। हमारा वह देवोपम जीवन, जिससे देवता भी होड़ लेते थे, और—

"गायन्ति देवा किल गीतकानि,
धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।

स्वर्गापवर्गास्पदहेतु— भूते,
भवन्ति भूय पुरुषा सुरत्वात ॥"

ऐसा गौरवमय दिव्यनाद हमारे श्रुतिपथ में विद्युत-कंप-सा झंकृत हो कर क्षण भर को न जाने किस अज्ञात सुखद लोक मे उडा ले जाता है। हम हंस के-से स्वप्निल पंखो पर उडकर स्वर्गिक् सुख का उपभोग करने लगते हैं। सचमुच हमारा अतीत कितना सुहाना था, कितना श्रेयष्कर! कि हम आज भी उसको यादकर गौरव से फूले नही समाते! सबसे पहले हमारे यहाँ ही जीवन का अरुणिम प्रकाश प्राची मे फूटा तथा जिसका :

"ऊषा ने हँस अभिनन्दन किया,
और पहनाया हीरक हार!"

और, उस हीरक-हार की रजत-रश्मियो का, उस अरुण की अरुणिम किरणो का प्रकाश दूर क्षितिज के पार तक पहुँचाने को—

"अरुण केतन लेकर निज हाथ,
वरुण-पथ में हम बढ़े अभीत।"

चाहे जैन धर्म हो, चाहे बौद्ध धर्म, चाहे वैदिक धर्म हो, चाहे अन्य ऐतिहासिक परम्परा—सबो ने हमारे अतीत की बडी ही रम्य झांकी प्रस्तुत की है। वह स्वर हमारा ही स्वर था, जिसने ध्वनि-प्रतिध्वनि बन विश्व के कोने-कोने मे जागरण का उन्माद भरा।

हमारा क्षुधित वर्तमान

किन्तु, उस अतीत की गाथाओ को दुहराने मात्र से भला क्या लाभ? आज तो हमारे सामने, हमारा वर्तमान एक विराट् प्रश्न बनकर खडा है। वह समाधान मांग रहा है कि कल्पना की नुपमा को भी मात कर देने वाला हमारा वह भारत आज कहाँ है? क्या आज भी किसी स्वर्ग मे देवता इसकी महिमा का गीत गाते हैं? भारतवासियो के सम्बन्ध मे क्या आज भी वे वही पुरानी गाथाएँ दुहराते होंगे? आज के भारत को देखकर तो ऐसा लगता है कि वे किसी कोने मे बैठकर आठ-आठ आँसू बहाते होंगे और सोचते होंगे—आज का भारतवर्ष कैसा है? क्या यह वही भारत है, जहाँ अध्यात्म का वायवीय प्राण कभी तो राम, कभी कृष्ण और कभी बुद्ध तो कभी महावीर बनकर जिसकी मिट्टी को महिमान्वित करता था? जहाँ प्रेय श्रेय के चरणों की धूल का तिलक करता था। क्या यह वही भारत है?

अंग्रेजी कवि हेनरी डिरोजियो ने अपने काव्य 'जंगीरा का फकीर' की भूमिका में ठीक ऐसी ही मन स्थिति मे लिखा था—

"My Country in the days of Glory Past
A beauteous halo circled round thy brow
And worshipped as a deity thou wast
Where is that glory, where is that reverence now
The eagle pinion is chained down at last

And grovelling in the lowly dust art thou
Thy minstrel hath no wreath to weave for thee
Save the sad story of they misery"

आज यही सत्य हमारे सामने आ पडा है। आज का भारत अत्यन्त गरीब है। सुदूर अतीत नही, १७ वी शताब्दी के भारत को ही ले लीजिए। उस समय के भारत को देखकर फ्रासीसी यात्री वरनियर ने क्या कहा था ? उसने कहा था—

"यह हिन्दुस्तान एक अथाह गड्ढा है, जिसमे ससार का अधिकाश सोना और चाँदी चारो तरफ से अनेक रास्तो मे आ-आकर जमा होता है और जिससे वाहर निकलने का उसे एक भी रास्ता नही मिलता।"[1]

किन्तु, लगभग दो सौ वर्षों की दु सह गुलामी के वाद भारत के उस गड्ढे मे ऐसे-ऐसे भयकर छिद्र वने कि भारत का रूप विलकुल ही विद्रूप हो गया। उस दृश्य को देखते आँखें झेंपती हैं, आत्मा कराह उठती है। विलियम डिगवी, सी० आई० ई० एस० पी० के शब्दो मे—

"वीसवी सदी के शुरू मे करीव दस करोड मनुष्य व्रिटिश भारत मे ऐसे हैं, जिन्हे किसी समय भी पेट भर अन्न नही मिल पाता . . . . इस अध पतन की दूसरी मिसाल इस समय किसी सभ्य और उन्नतिशील देश मे कही पर भी दिखाई नही दे सकती।"[2]
वह सोने का देश भारत आज इस हालत मे पहुँच चुका है कि जिस ओर दृष्टि डालिए उस ओर ही हाय-हाय, तडप-चीख और भूख की हृदय-विदारक चित्कार सुनाई देती है। विपमता की दुर्लध्य खाई के वीच कीडे के समान आज का मानव कुलवुला रहा है। एक तरफ काम करने वाले श्रमिक कोल्हू के वैल-से पिसते-पिसते कृश एव क्षीण होते जा रहे हैं, दूसरी तरफ ऊँची हवेलियो मे रहने वाले ऐशो-आराम की जिन्दगी गुजार रहे है, एक तरुणी के लज्जा-वसन वेच कर व्याज चुकाता है, दूसरा तेल-फुलेलो पर पानी-सा घन वहाकर दभी जीवन विताता है। परन्तु, फिर भी यह वर्ग भी सुखी नही। शोपण की नीव पर खडी ईमारत मे दु ख के, पीडा के, तृष्णा के कीडे कुलवुलाते रहते है। कुछ और, कुछ और की चाह उन्हे न दिन मे हँसने देती है, न रात मे सोने देती है। आज का भारत तो अस्थिपजर का वह ककाल वना हुआ है कि जिसे देखकर करुणा को भी करुणा आती है। वह स्वर्ग का योग-क्षेम-कर्त्ता आज असहाय भिक्षुक वन पथ पर ठोकरें खाता फिरता है—

"वह आता,
दो टूक कलेजे के करता,
पछताता पथ पर आता।
पेट-पीठ मिलकर हैं एक,
चल रहा लकुटिया टेक,
मुट्ठी भर दाने को,

---

१ भारत मे अँग्रेजी राज (द्वितीय खण्ड) सुन्दर लाल,
२. वही वही

भूख मिटाने को,
मुँह फटी पुरानी झोली का फैलाता।
• ....

चाट रहे जूठी पत्तल वे कभी सडक पर खडे हुए,
और झपट लेने को उनसे, कुत्ते भी हैं अडे हुए।"

यह है आज के हमारे भारत की सच्ची तसवीर। वही यह देश है जो कभी संसार को अन्न का अक्षय दान देता था। संसार को रोटी और कपडे का दान देता था। जिसकी धर्म की पावन टेर आज भी सागर की लहरियों मे सिसक रही है—सर तोडती, उठती गिरती! जिसके स्मृति चिन्ह आज भी जावा, सुमात्रा, लंका, चीन आदि देशो मे देखने को मिल जाते हैं। जिसकी दी हुई संस्कृति की पावन भेंट संसार को मनुष्यता की सीख देती रही है, क्या इसमे आज भी वह क्षमता है? किन्तु कहाँ? आज तो, कल का दाता, आज का भिक्षुक बना हुआ है। कल का सहायता देने वाला आज सहायता पाने को हाथ पसारे अन्य देशो की ओर अपलक निहार रहा है। 'एगे आया' का व्याख्याता, जिसने 'वसुधैव कुटुम्बकम्' का पावन संदेश इस भूतल पर दिया था, स्वयं नोन, तेल, लकडी के चक्कर मे तबाह हो चला है।

आज हमारे सामने इतिहास का एक जलता प्रश्न खडा है कि हम कैसे रहें? कैसा जीवन अपनाएँ।

हमारा युगधर्म :

मैं उस परम्परा को महत्त्व देता हूँ, जिसमे मैंने यह साधुवृत्ति ली है। मैंने इस धर्म की विचारधारा का गहन अध्ययन किया है। उसमे मुझे बडा रस आया है, बडा आनन्द मिला है। किन्तु सवाल यह है कि क्या हम उस विचारधारा को सिर्फ पढकर, समझकर आनन्द लेते रहे, मात्र आदर्श का कल्पनामय सुख ही प्राप्त करते रहे, या यथार्थ को भी पहचाने, युगधर्म की आवाज भी सुनें? भारतवर्ष का, कुछ काल से यह दुर्भाग्य रहा है कि वह अपने जीवन के आदर्शों को, अपने जीवन की ऊँचाइयों को, जिन्हें कि कभी पूर्व पुरुषों ने प्राप्त किया था, उसे लेकर वह लम्बी-लम्बी उडानें भरता रहा है। और, उस लम्बी उडान मे इतना उडता रहा है कि यथार्थ उससे कोसों दूर छूट गया है। वह जीवन की समस्याओं को भुलाकर, उसके विचार करना तक छोडकर मरणोत्तर स्वर्ग और मोक्ष की बातें कर करके अहं की तुष्टि करता रहा है। स्वर्ग और मोक्ष की इस मोहक कल्पना मे वह कडी-से-कडी साधनाएँ तो करता रहा है परन्तु यथार्थ के ऊपर कभी धीरे से भी विचारणा नहीं किया है। धर्म को यदि हम देखें, तो इसके स्थूलरूप मे दो भेद होते हैं—(१) शरीर-धर्म और (२) आत्म-धर्म—आत्मा का धर्म। इन दोनों का समन्वित रूप ही युगधर्म है। सिर्फ आत्मा का धर्म अपनाना भी उतना ही एकांगी है जितना सिर्फ शरीर का धर्म धारण करना। दोनों मे नट और रस्सी का सम्बन्ध है, या यद और नींव का सम्बन्ध है। जिस प्रकार बिना तारों के धारा के पार तट की कल्पना कल्पना भर है, उसी प्रकार आत्मा का धर्म, शरीर धर्म के बिना नींव के बिना भवन-निर्माण से कुछ ज्यादा नहीं जान पडता। एक विचारक ने ठीक ही कहा है—

"Sound mind in a sound body"

"नीरुज तन में शुचिमन संधान।
क्षीणता हीनतामय अज्ञान॥"

जीवन का आधार :

मैं समझता हूँ, कोई भी देश स्वप्नो की दुनिया मे जीवित नही रह सकता। माना, स्वप्न जीवन से अधिक दूर नही होता, जीवन मे से ही जीवन का स्वप्न फूटता है, परन्तु कोई-कोई स्वप्न दिवास्वप्न भी होता है—ख्याली पोलाव, बेबुनियाद, हवाई किला-सा। पक्षी आकाश मे उडता है, उसे भी आनन्द आता है, दर्शक को भी; किन्तु क्या उसका आकाश मे सदा उडते रहना सम्भव है ? मैं समझता हूँ कभी नही। आखिर दाना चुगने के लिए तो उसे पृथ्वी पर उतरना ही पडेगा। कोई भी सस्कृति और धर्म जीवन की वास्तविकता से दूर, कल्पना की दुनियां मे आवद्ध नही रह सकता। यदि रहे तो उसी मे घुटकर मर जाये, जीवित न रहे। उसे कल्पना की सकीर्ण परिधि के पार निकलना ही होगा, जहाँ जीवन यथार्थ-आधार की ठोस भूमि पर नानाविध समस्याएँ लिए खडा है। उसे इसे सुलझाना ही होगा। ऐसा किए विना हम न तो अपना भला कर सकते हैं, न देश का ही। विश्व कल्याण का स्वप्न तो स्वप्न ही वना रहेगा। मैं कोरे आदर्शवादियो से मिला हूँ और उनसे गम्भीरता से बातें भी की हैं। कहना चाहिए, हमारे विचारो को, हमारी वाणी को कही आदर भी मिला है, तो कही तिरस्कार भी मिला है। जीवन मे कितनी वार कडवे घूँट पीने पडे है किन्तु इससे क्या ? हमे तो उन सिद्धातो व विचारो के पीछे, जो जीवन की समस्याओ का निदान यथार्थवादी दृष्टिकोण मे करने का मार्ग दिखाते हैं, कडवे घूँट पीने के लिए तैयार रहना चाहिए। और, यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि सत्य के लिए लडने वालो को सर्वप्रथम सर्वत्र जहर के प्याले ही पीने को मिलते हैं, अमृत की रसधार नही। विश्व का कल्याण करने वाला जबतक हलाहल का पान न करेगा, वह कल्याण करेगा कैसे ? इसको पीये विना कोई भी शिव शंकर नही वन सकता।

हाँ, तो इस रूप मे भारतवर्ष की वडी पेचीदा स्थिति है। जीवन जब पेचीदा हो जाता है तो वाणी भी पेचीदी हो जाती है और जीवन उलझा हुआ होता है तो वाणी भी उलझ जाती है। जीवन का सिद्धान्त साफ नही होगा तो वाणी भी साफ नही होगी। अतएव हमे उन समस्याओ को सुलझाना है और वाणी को साफ वनाना है और जबतक धर्मगुरु तथा राष्ट्र और समाज के नेता अपनी वाणी को उस उलझन मे से निकाल नही लेंगे और अपने मन को साफ नही बना लेंगे, तबतक ससार को देने के लिए उनके पास कुछ भी नहीं है।

लोग मरने के बाद स्वर्ग की बातें करते हैं, किन्तु स्वर्ग की बात तो इस जीवन मे भी सोचनी चाहिए। जो वर्तमान जीवन मे होना है, वही भविष्य मे प्राप्त होना है। जो जीते जी यहाँ जीवन मे कुछ नहीं बना है, वह मरने के बाद भी देश को मृत्यु की ओर ही ले जाएगा। वह देश को जीवन की ओर नही ले जा पाएगा।

हम देहात से गुजरते है तो देखते हैं कि बेचारे गरीब ऐसी रोटियाँ और ऐसा अन्न खाते हैं कि शायद आप उसे देखना भी पसद न करें और यहाँ तक कि हाथ मे भी न लें। यही आज भारत की प्रधान समस्या है और इसी को आज सुलझाना है। आप जबतक अपने आपमे बद रहेंगे, कैसे मालूम पडेगा कि ससार कहाँ रह रहा है ? किस स्थिति मे जीवन गुजार रहा है ? ससार को रोटियाँ मिल रही है कि नही ? तन ढँकने को कपडा मिल रहा है या नही ?

आज का भारतवर्ष इतना गरीब है कि बीमार व्यक्ति अपने लिए दवा भी नही जुटा सकता और यदि आराम लेना चाहता है तो वह भी नही ले सकता। जिसके पास एक दिन के लिए दवा खरीदने को भी पैसा नही है, वह आराम किस बूते पर कर सकेगा ? इन सब बातो पर आपको गभीरता से विचार करना है।

पृथ्वी के तीन रत्न

आज अन्न की समस्या ऐसी विकट समस्या है कि सारे धर्म-कर्म की विचारधाराएँ और फिलासफियाँ ठिकाने लग जाती हैं। अन्न के बिना एक दो दिन बिताए जा सकते हैं, जोर लगाकर कुछ और ज्यादा दिन भी निकाल देंगे, किन्तु आखिरकार भिक्षा के लिए पात्र उठाना ही पडेगा। एक आचार्य ने कहा है

"पृथिव्या त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
मूढै पाषाणखण्डेषु, रत्नसज्ञा विधीयते॥"
"भूमण्डल में तीन रत्न हैं पानी, अन्न, सुभाषित वाणी।
पत्थर के टुकडो में करते, रत्न कल्पना पामर प्राणी॥"

इस पृथ्वी पर तीन ही मुख्य रत्न है—अन्न, जल और मीठी बोली। जो मनुष्य पत्थर के टुकडों में रत्न की कल्पना कर रहा है, आचार्य कहते है कि उससे बढ कर पामर प्राणी और कोई नही है। जो अन्न, जल तथा मधुर बोली को रत्न के रूप में स्वीकार नही करता है, समझ लीजिए, वह जीवन को ही स्वीकार नहीं करता है। सचमुच वह दया का पात्र है।

अन्न : पहली समस्या

अन्न मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता है। मनुष्य इस शरीर को, इस पिण्ड को, लेकर खडा है और सर्वप्रथम अन्न की और फिर कपडे की भी इसको आवश्यकता है। इस शरीर को टिकाए रखने के लिए भोजन अनिवार्य है। भोजन की आवश्यकता पूरी हो जाती है तो धर्म की बडी से बडी प्रवृत्तियाँ भी शुरू हो जाती हैं। हम पुराने इतिहास को देखेंगे और विश्वामित्र आदि की कहानी पढेंगे, तो मालूम होगा कि बारह वर्ष के दुष्काल मे वह कहाँ से कहाँ पहुँचे और क्या-क्या करने को तैयार हो गये। वे अपने महान् सिद्धान्त से गिर कर कहाँ-कहाँ न भटके ! मैंने इस कहानी को पढा है और उसे आपके सामने दुहराने लगूँ तो सुनकर आपकी आत्मा भी तिलमिलाने लगेगी। उस द्वादशवर्षीय अकाल मे बडे-बडे महात्मा केवल दो रोटियों के लिए इधर से उधर भटकने लगते है और धर्म कर्म को भूलने लगते हैं। इस ओर मारा फिरते पड जाते है और पेट की समस्या के कारण, लोगो पर जैसी गुजरती है, उससे देश की संस्कृति नष्ट हो जाती है और केवल रोटी की फिलासफी ही सामने रह जाती है।

"Sound mind in a sound body"

"नीरुज तन में शुचिमन संधान।
क्षीणता हीनतामय अज्ञान॥"

जीवन का आधार :

मैं समझता हूँ, कोई भी देश स्वप्नो की दुनिया मे जीवित नही रह सकता। माना, स्वप्न जीवन से अधिक दूर नही होता, जीवन मे से ही जीवन का स्वप्न फूटता है, परन्तु कोई-कोई स्वप्न दिवास्वप्न भी होता है—ख्याली पोलाव, बेबुनियाद, हवाई किला-सा। पक्षी आकाश मे उडता है, उसे भी आनन्द आता है, दर्शक को भी; किन्तु क्या उसका आकाश मे सदा उडते रहना सम्भव है ? मैं समझता हूँ कभी नही। आखिर दाना चुगने के लिए तो उसे पृथ्वी पर उतरना ही पडेगा। कोई भी सस्कृति और धर्म जीवन की वास्तविकता से दूर, कल्पना की दुनियाँ मे आबद्ध नही रह सकता। यदि रहे तो उसी मे घुटकर मर जाये, जीवित न रहे। उसे कल्पना की सकीर्ण परिधि के पार निकलना ही होगा, जहाँ जीवन यथार्थ-आधार की ठोस भूमि पर नानाविध समस्याएँ लिए खडा है। उसे इसे सुलझाना ही होगा। ऐसा किए बिना हम न तो अपना भला कर सकते हैं, न देश का ही। विश्व कल्याण का स्वप्न तो स्वप्न ही बना रहेगा। मैं कोरे आदर्शवादियो से मिला हूँ और उनमे गम्भीरता से बातें भी की हैं। कहना चाहिए, हमारे विचारो को, हमारी वाणी को कही आदर भी मिला है, तो कही तिरस्कार भी मिला है। जीवन मे कितनी बार कडवे घूँट पीने पडे है किन्तु इससे क्या ? हमे तो उन सिद्धातो व विचारो के पीछे, जो जीवन की समस्याओ का निदान यथार्थवादी दृष्टिकोण से करने का मार्ग दिखाते हैं, कडवे घूँट पीने के लिए तैयार रहना चाहिए। और, यह हमेशा ध्यान रखना चाहिए कि सत्य के लिए लडने वालो को सर्वप्रथम सर्वत्र जहर के प्याले ही पीने को मिलते हैं, अमृत की रसधार नही। विश्व का कल्याण करने वाला जबतक हलाहल का पान न करेगा, वह कल्याण करेगा कैसे ? इसको पीये बिना कोई भी शिव शंकर नही बन सकता।

हाँ, तो इस रूप मे भारतवर्ष की बडी पेचीदा स्थिति है। जीवन जब पेचीदा हो जाता है तो वाणी भी पेचीदी हो जाती है और जीवन उलझा हुआ होता है तो वाणी भी उलझ जाती है। जीवन का सिद्धान्त साफ नही होगा तो वाणी भी साफ नही होगी। अतएव हमे उन समस्याओं को सुलझाना है और वाणी को साफ बनाना है और जबतक धर्मगुरु तथा राष्ट्र और समाज के नेता अपनी वाणी को उस उलझन मे से निकाल नही लेंगे और अपने मन को साफ नही बना लेंगे, तबतक ससार को देने के लिए उनके पास कुछ भी नही है।

लोग मरने के बाद स्वर्ग की बातें करते हैं, किन्तु स्वर्ग की बात तो इस जीवन मे भी सोचनी चाहिए। जो वर्तमान जीवन मे होना है, वही भविष्य मे प्राप्त होता है। जो जीते जी यहाँ जीवन मे कुछ नही बना है, वह मरने के बाद भी देश को मृत्यु की ओर ही ले जाएगा। वह देश को जीवन की ओर नही ले जा पाएगा।

हम देहात से गुजरते है तो देखते हैं कि बेचारे गरीब ऐसी रोटियाँ और ऐसा अन्न खाते हैं कि शायद आप उसे देखना भी पसंद न करें और यहाँ तक कि हाथ मे भी न ले। यही आज भारत की प्रधान समस्या है और इसी को आज सुलझाना है। आप जबतक अपने आपमे बद रहेंगे, कैसे मालूम पड़ेगा कि ससार कहाँ रह रहा है? किस स्थिति मे जीवन गुजार रहा है? ससार को रोटियाँ मिल रही है कि नही? तन ढँकने को कपड़ा मिल रहा है या नही?

आज का भारतवर्ष इतना गरीब है कि बीमार व्यक्ति अपने लिए दवा भी नही जुटा सकता और यदि आराम लेना चाहता है तो वह भी नही ले सकता। जिसके पास एक दिन के लिए दवा खरीदने को भी पैसा नही है, वह आराम किस बूते पर कर सकेगा? इन सब बातो पर आपको गभीरता से विचार करना है।

पृथ्वी के तीन रत्न

आज अन्न की समस्या ऐसी विकट समस्या है कि सारे धर्म-कर्म की विचारधाराएँ और फिलॉसफियाँ ठिकाने लग जाती है। अन्न के बिना एक दो दिन बिताए जा सकते हैं, जोर लगाकर कुछ और ज्यादा दिन भी निकाल देंगे, किन्तु आखिरकार भिक्षा के लिए पात्र उठाना ही पड़ेगा। एक आचार्य ने कहा है :

> "पृथिव्यां त्रीणि रत्नानि, जलमन्न सुभाषितम्।
> मूढैः पाषाणखण्डेषु, रत्नसज्ञा विधीयते॥"
> "भूमण्डल में तीन रत्न हैं पानी, अन्न, सुभाषित वाणी।
> पत्थर के टुकड़ो में करते, रत्न कल्पना पामर प्राणी॥"

इस पृथ्वी पर तीन ही मुख्य रत्न हैं—अन्न, जल और मीठी बोली। जो मनुष्य पत्थर के टुकडो मे रत्न की कल्पना कर रहा है, आचार्य कहते है कि उससे बढ कर पामर प्राणी और कोई नही है। जो अन्न, जल तथा मधुर बोली को रत्न के रूप मे स्वीकार नही करता है, समझ लीजिए, वह जीवन को ही स्वीकार नही करता है। सचमुच वह दया का पात्र है।

अन्न : पहली समस्या

अन्न मनुष्य की सबसे पहली आवश्यकता है। मनुष्य इस शरीर को, इस पिण्ड को, लेकर खड़ा है और सर्वप्रथम अन्न की और फिर कपड़े की भी उसको आवश्यकता है। इस शरीर को टिकाए रखने के लिए भोजन अनिवार्य है। भोजन की आवश्यकता पूरी हो जाती है तो धर्म की बड़ी से बड़ी पहेलियाँ भी हल हो जाती हैं। हम पुराने इतिहास को देखेंगे और विश्वामित्र आदि की कहानी पढ़ेंगे, तो मालूम होगा कि बारह वर्ष के दुष्काल मे वह कहाँ से कहाँ पहुँचे और क्या-क्या करने को तैयार हो गये। वे अपने महान् सिद्धान्त से गिर कर कहाँ-कहाँ न भटके! मैंने इस कहानी को पढ़ा है और इसे आपके सामने दुहराने लगूँ तो सुनकर आपकी आत्मा भी तिलमिलाने लगेगी। उस द्वादशवर्षीय अकाल मे बड़े-बड़े महात्मा केवल दो रोटियों के लिए इधर से उधर भटकने लगते हैं और धर्म-कर्म को भूलने लगते हैं। स्वर्ग और मोक्ष किनारे पड़ जाते हैं और पेट की समस्या के कारण, जीवन पर जो गुजरती है, उसमें देश भी [illegible] हो जाती है और केवल रोटी की सिसकियाँ ही सामने रह जाती हैं।

भूख . हमारी ज्वलंत समस्या

आज इस देश की दशा कितनी दयनीय हो चुकी है। अखबारो मे आए दिन देखते है कि अमुक युवक ने आत्महत्या कर ली है और अमुक रेलगाडी के नीचे कट कर मर गया। किसी ने तालाब मे डूब कर अपने प्राण त्याग दिये है और पत्र लिख कर छोड गया है कि मैं रोटी नही पा सका, भूखो मरता रहा, अपने कुटुम्ब को भूखो मरते नही देख सका, इस कारण आत्महत्या कर रहा हूं। जिस देश के नौजवान और जिस देश की इठलाती हुई जवानियां रोटी के अभाव मे ठडी हो जाती हैं, जहां के लोग मर कर ही अपने जीवन की समस्या को हल करने की कोशिश करते है, उस देश को क्या कहें? स्वर्गभूमि कहे या नरक भूमि? मैं समझता हूं, किसी भी देश के लिए इससे बढकर कलक की बात दूसरी नही हो सकती। जिस देश का एक भी आदमी भूख के कारण मरता हो और गरीबी से तग आकर मरने की बात सोचता हो, उस देश के रहने वाले लाखो-करोडो लोगो के ऊपर यह बहुत बडा पाप है।

एक मनुष्य भूखा क्यो मरा? इस प्रश्न पर यदि गम्भीरता के साथ विचार नही किया जाएगा और एक व्यक्ति की भूख के कारण की हुई आत्महत्या को राष्ट्र की आत्महत्या न समझा जाएगा, तो समस्या हल नही होगी। जो लोग यहां बैठे है और मजे में जीवन गुजार रहे हैं और जिनकी निगाह अपनी हवेलियो की चहारदिवारी से बाहर नही जा रही है और जिन्हे देश की हालत पर सोच-विचार करने की फुर्सत नही है, वे इस जटिल समस्या को नही सुलझा सकते।

आज भुखमरी की समस्या देश के लिए सिर-दर्द हो रही है। इस समस्या की भीषणता जिन्हें देखनी है, उन्हे वहां पहुँचना होगा। उस गरीबी मे रह कर दो-चार मास व्यतीत करने होंगे। देखना होगा कि किस प्रकार वहां की माताएं और बहिनें रोटियो के लिए अपनी इज्जत बेच रही है और अपने दुधमुंहे लालो को, जिन्हे वह रत्नो की ढेर पाने पर भी देने को तैयार नही हो सकती थी, दो-चार रुपयो मे बेच रही हैं।

इस पेचीदा स्थिति मे आपका क्या कर्त्तव्य है? इस समस्या को सुलझाने मे आप क्या योग दे सकते है? याद रखिए कि राष्ट्र नामक कोई अलग पिण्ड नही है। एक-एक व्यक्ति मिल कर ही समूह और राष्ट्र बनता है। अतएव जब राष्ट्र के कर्त्तव्य का प्रश्न आता है, तो उसका अर्थ, वास्तव मे सम्मिलित व्यक्तियो का कर्त्तव्य ही होता है। राष्ट्र को यदि अपनी कोई समस्या हल करनी है, तो राष्ट्र के प्रत्येक व्यक्ति को वह समस्या हल करनी है। हां तो, विचार कीजिए, आप अन्न की समस्या को हल करने मे अपनी ओर से क्या योगदान कर सकते हैं?

समस्या का ठोस निदान :

अभी-अभी जो बातें आपको बतलाई गई है, वे अन्न-समस्या को स्थायी रूप से हल करने के लिए है। परन्तु इस समय देश की हालत इतनी खतरनाक है कि स्थायी उपायो के साथ-साथ हमे कुछ तात्कालिक उपाय भी काम मे लाने पडेंगे। मकान में आग लगने पर कुआं खुदने की प्रतीक्षा नही की जाती। उस समय तात्कालिक उपाय बरतने

पड़ते हैं। तो अन्न-समस्या को सुलझाने या उसकी भयंकरता को कुछ हल्का बनाने के लिए आपको तत्काल क्या करना है ?

जो लोग शहर में रह रहे हैं, वे सबसे पहले तो दावतें देना छोड़ दें। विवाह-शादी आदि के अवसरों पर जो दावतें दी जाती हैं, उनमें अन्न बर्बाद होता है। दावत, अपने साथियों के प्रति प्रेम प्रदर्शित करने का एक तरीका है। जहाँ तक प्रेम-प्रदर्शन की भावना का प्रश्न है, मैं उस भावना का सम्मान करता है, किन्तु इस भावना को व्यक्त करने के तरीके देश और काल की स्थिति के अनुरूप ही होने चाहिए। भारत में दावतें किस परिस्थिति में आई ? एक समय था जबकि यहाँ अन्न के भण्डार भरे थे। खुद खाएँ और संसार को खिलाएँ, तो भी अन्न समाप्त होने वाला नहीं था। पाँच-पचास की दावत कर देना तो कोई बात ही नहीं थी। किन्तु आज वह हालत नहीं रही है। देश दाने-दाने के लिए मुँहताज है। ऐसी स्थिति में दावत देना देश के प्रति द्रोह है, एक राष्ट्रीय पाप है। एक ओर लोग भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे हों और दूसरी ओर पूड़ियाँ, कचौरियाँ और मिठाइयाँ जबर्दस्ती गले में ठूँसी जा रही हों—इसे आप क्या कहते हैं ? इसमें करुणा है ? दया है ? सहानुभूति है ? अजी मनुष्यता भी है या नहीं ? यह तो विचार करो।

मैंने सुना है, मारवाड़ में मनुहार बहुत होती है। थाली में पर्याप्त भोजन रख दिया हो और बाद में यदि पूछा नहीं गया तो जीमने वाले की त्योरियाँ चढ़ जाती हैं। मनुहार का मतलब ही यह है कि दबादब-दबादब थाली में डाले जाना और इतना डाले जाना कि खाया भी न जा सके और खाद्य-पदार्थ का अधिकांश बर्बाद हो जाए।

मेरठ और सहारनपुर जिले से सूचना मिली है कि वहाँ के वैश्यों ने, जिनका ध्यान इस समस्या की ओर गया, बहुत बड़ी पंचायत जोड़ी है और यह निश्चय किया है कि विवाह में इक्कीस आदमियों से ज्यादा की व्यवस्था नहीं की जाएगी। उन्होंने स्वयं प्रण किया है और गाँव-गाँव और कस्बों-कस्बों में यही आवाज पहुँचा रहे हैं तथा इसके पालन कराने का प्रयत्न कर रहे हैं। क्या ऐसा करने से उनकी इज्जत बर्बाद हो जाएगी ? नहीं, उनकी इज्जत में चार चाँद और लग जाएँगे। आपकी तरह वे भी पैसा रखते हैं और चोर-बाजार से खरीद कर हजारों आदमियों को खिलाने की क्षमता रखते हैं। किन्तु उन्होंने सोचा, इस तरह हम मानव जीवन के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं, भूखों के पेट के साथ खिलवाड़ कर रहे हैं। यह खिलवाड़ अमानुषिक है। हमें इसे जल्द से जल्द बन्द कर देना चाहिए।

तो सबसे पहली बात यह है कि बड़ी-बड़ी दावतों का यह जो सिलसिला है, इसे बन्द हो जाना चाहिए। विवाह-शादी के नाम पर या धर्म-कर्म के नाम पर जो दावतें चल रही हैं, कोई भी भला आदमी उन्हें आदर की दृष्टि से नहीं देख सकता। अगर आप सच्चा आदर पाना चाहते हैं, तो आपको यह घोषणा कर देना है कि आज से हम अपने देश के हित में दावतें बन्द करते हैं। जब देश में अन्न की बहुतायत होगी तो खाएँगे और खिलाएँगे, किन्तु मौजूदा हालत में अन्न के एक कण को भी बर्बाद नहीं करेंगे।

दूसरी बात है जूठा छोड़ने की। आजकल भी खाने बैठते हैं तो खाने की मर्यादा का बिलकुल ही विचार नहीं रखते। पहले थाली में अधिक ले लेते हैं और फिर जूठन छोड़ देते हैं,

किन्तु भारत का कभी आदर्श था कि जूठन छोडना पाप है । जो कुछ लेना है, मर्यादा से लो, आवश्यकता से अधिक मत लो । और जो कुछ लिया है उसे जूठा न छोडो । जो लोग जूठन छोडते है, वे अन्न का अपमान करते हैं । उपनिषद का आदेश है—'अन्न न निन्द्यात् ।'

जो अन्न को ठुकराता है और अन्न का अपमान करता है, उसका भी अपमान अवश्यम्भावी है ।

एक वैदिक ऋषि तो यहाँ तक कहते हैं—'अन्नं वै प्राणा ।'

अन्न तो मेरे प्राण हैं । अन्न का तिरस्कार करना, प्राणो का तिरस्कार करना है ।

इस प्रकार जूठन छोडना भारतवर्ष मे हमेशा से अपराध समझा जाता रहा है । हमारे प्राचीन महर्षियो ने उसे पाप माना है ।

जूठन छोडना एक मामूली बात समझी जाती है । लोग सोचते हैं कि आधी छटाँक जूठन छोड दी तो क्या हो गया ? इतने अन्न से क्या बनने-बिगडने वाला है ? परन्तु यदि इस आधी छटाँक का हिसाब लगाने बैठें, तो आँखें खुल जाएँगी । इस रूप मे एक परिवार का हिसाब लगाएँ तो साल भर मे इक्यानवे पौड अनाज देश की नालियो मे बह जाता है । अगर ऐसे पाँच हजार परिवारो मे जूठन के रूप मे छोडे जाने वाले अन्न को बेंच दिया जाए तो बारह सौ आदमियो को राशन मिल सकता है ।

यह विषय इतना सीधा-सा है कि उसे समझने के लिए वेद और पुरान के पन्ने पलटने की आवश्यकता नही हैं । आज के युग का तकाजा हैं कि थाली मे जूठन के रूप मे कुछ भी न छोडा जाए । न जरूरत से ज्यादा लिया ही जाए और न जबरदस्ती परोसा ही जाए । यही नही, जो जरूरत से ज्यादा देने-लेने वाले हैं, उनका खुलकर विरोध किया जाए और उन्हे सभ्य समाज मे निंदित किया जाए ।

ऐसा करने मे न तो किसी को कुछ त्याग ही करना पडता है और न किसी को कोई कठिनाई ही नही उठानी पडती है । यही नही, बल्कि सब दृष्टियो से —स्वास्थ्य की दृष्टि से, आर्थिक दृष्टि से और सास्कृतिक दृष्टि से—लाभ ही लाभ है । ऐसी स्थिति मे आप क्यो न यह सकल्प कर लें कि हमे जूठन नही छोडनी है और जितना खाना है, उससे ज्यादा नही लेना हैं । अगर आपने ऐसा किया, तो अनायास ही करोडो मन अन्न बच सकता है । उस हालत मे आपका ध्यान अन्न के महत्त्व की ओर सहज रूप मे आकर्षित होगा और अन्न की समस्या को सुलझाने की सूझ भी आपको स्वतः प्राप्त हो जाएगी ।

आज राशन पर तो नियन्त्रण हो रहा है किन्तु खाने पर कोई नियन्त्रण नही । जब आप खाने बैठते हैं तो सरकार आपका हाथ नही पकडती । वह यह नही कहती कि इतना खाओ और इससे ज्यादा न खाओ । मैं नही चाहता कि ऐसा नियन्त्रण आपके ऊपर लादा जाए । परन्तु मालूम होना चाहिए कि आप थाली मे डालकर ही अन्न को बर्बाद नही करते बल्कि पेट मे डालकर भी बर्बाद करते हैं । इसके लिए आचार्य विनोबा ने ठीक ही कहा है कि—'जो लोग भूख से—पेट से ज्यादा खाते हैं, वे चोरी करते हैं ।' चोरी, अपने से है, अपने समाज से है, अपने देश से है । अपने शरीर को ठीक रूप मे बनाए रखने के लिए जितने परिमाण मे भोजन की आवश्यकता है, लोग उससे बहुत अधिक खा जाते हैं ।

उस सबका ठीक तरह रस नहीं बन पाता और इस प्रकार वह भोजन व्यर्थ जाता है। ठीक तरह चबाया जाए और इतना चबाया जाए कि भोजन लार में मिलकर एक रस हो जाए, तो ऐसा करने से मौजूदा भोजन से आधा भोजन भी पर्याप्त हो सकता है, ऐसा कई प्रयोग करने वालों का कहना है। अगर इस विधि से भोजन करना आरम्भ कर दें तो आपका स्वास्थ्य भी अच्छा बन सकता है और अन्न की भी बहुत बड़ी बचत हो सकती है।

उपवास का महत्त्व

अन्न की समस्या के सिलसिले में उपवास का महत्त्वपूर्ण प्रश्न भी हमारे सामने है। भारत में सदैव उपवास का महत्त्व स्वीकार किया गया है। खास तौर से जैन-परम्परा में तो उसकी बड़ी महिमा है और आज भी बहुत-से भाई-बहन उपवास किया करते हैं। प्राचीनकाल के जैन महर्षि लम्बे-लम्बे उपवास किया करते थे। आज भी महीने में कुछ दिन ऐसे आते हैं, जो उपवास में ही व्यतीत किए जाते हैं।

वैदिक-परम्परा में भी उपवास का महत्त्व कम नहीं है। इस परम्परा में, जैसा कि मैंने पढ़ा है, वर्ष के तीन सौ साठ दिनों से ज्यादा दिन उपवास के ही पड़ते हैं।

इस प्रकार जब देश में अन्न की प्रचुरता थी और उपभोक्ताओं के पास आवश्यकता से अधिक परिमाण में अन्न मौजूद था, तब भी भारतवर्ष में उपवास किए जाते थे, तो आज की स्थिति में यदि उपवास आवश्यक हो, तो इसमें आश्चर्य की बात ही क्या है? किन्तु आप हैं जो रोज-रोज पेट को अन्न से लादे जा रहे हैं! जड़ मशीन को भी एक दिन आराम दिया जाता है, परन्तु आप अपनी हाजिरी को एक दिन भी आराम नहीं देते और निरन्तर काम के बोझ से दबे रहने के कारण वह निबल एवं रुग्ण हो जाती है। आपकी पाचनशक्ति कम पड़ जाती है, तब आप डाक्टरों की शरण लेते हैं और पाचनशक्ति बढ़ाने की दवाइयाँ तलाश करते फिरते हैं। मतलब यह है कि आवश्यकता से अधिक खा रहे हैं और उससे भी अधिक खाने की इच्छा रख रहे हैं। एक तरफ तो करोड़ों को जीवन निर्वाह के लिए भी खाना नहीं मिल रहा है देश के हजारों-लाखों आदमी भूख से तड़प-तड़प कर मर रहे हैं और दूसरी तरफ लोग अनाप-शनाप खाये जा रहे हैं और भूख को और अधिक उत्तेजना देने के लिए दवाइयाँ तलाश कर रहे हैं।

तो, इस अवस्था में उपवास करना धर्मलाभ है और लोकलाभ भी है। देश की भी सेवा है और स्वर्ग का भी रास्ता है। जीवन और देश की राह में जो गड्ढे पड़ गए हैं, उन्हें पाटने के लिए उपवास एक महत्त्वपूर्ण साधन है। उपवास करने में हानि तो कुछ भी नहीं, लाभ ही लाभ है। शरीर को लाभ, आत्मा को लाभ और देश को लाभ, इस प्रकार इस लाभ के साथ-साथ परलोक का भी लाभ है।

हाँ, एक बात ध्यान में अवश्य रखनी चाहिए। जो लोग उपवास करते हैं वे अपने राशन का परित्याग कर दें। यही नहीं कि इधर उपवास किया और उधर राशन भी जारी रक्खा। एक सज्जन ने अठाई की और आठ दिन तक कुछ भी नहीं खाया। जब मुझसे मिले तो मैंने कहा—'तुमने यह बहुत बड़ा त्याग किया है किन्तु यह बताओ कि आठ दिन का

राशन कहां है ? उसका भी कुछ हिसाब-किताब है ?' उसका हिसाब-किताब यही था कि वह ज्यो का त्यो आ रहा था और घर मे जमा हो रहा था। यह पद्धति ठीक नही है। उपवास करने वालो को अपने आपमे प्रामाणिक और ईमानदार बनना चाहिए। अत जब वे उपवास करें तो उन्हे कहना चाहिए कि आज हमको अन्न नही लाना है। मैंने उपवास किया है तो मैं आज अन्न कैसे ला सकता हूं ?

वास्तविक दृष्टि से देखा जाए तो जो व्यक्ति अन्न नही खा रहा है, उसका अन्न लेना चोरी है। इस कथन मे कटुता हो सकती है, परन्तु सच्चाई है। अतएव उपवास करने वालो को इस चोरी से बचना चाहिए।

अभिप्राय यह है कि प्रामाणिकता के साथ अगर उपवास किया जाए, तो देश का काफी अन्न बच सकता है और भारत की खाद्य समस्या के हल करने मे बडा भारी सहयोग मिल सकता है। सप्ताह मे या पक्ष मे एक दिन भोजन न करने से कोई मर नही सकता, उलटा मरने वाले का जीवन बच सकता है। इससे आत्मा को भी बल मिलता है, मन को भी बल मिलता है और आध्यात्मिक चेतना भी जागृत होती है। इस प्रकार आपके एक दिन का भोजन छोड देने से लाखो लोगो को खाना मिल सकता है।

गो-पालन :

किसी समय भारत मे इतना दूध था कि लोगो ने स्वय पिया, दूसरो को पिलाया, अपने पडोसियो को बांटा। कोई आदमी दूध के लिए आया और उसे दूध न मिला, तो यह एक अपराध माना जाता था। भारत के वे दिन ऐसे थे कि किसी ने पानी मांगा तो उसे दूध पिलाया गया। विदेशियो की कलमो से भारत की यह प्रशस्ति लिखी गई है कि भारत मे किसी दरवाजे पर आकर यदि पानी मागा तो उन्हे दूध मिला है। एक युग था, जब यहां दूध की नदियां बहती थी।

परन्तु आज ? आज तो यह स्थिति है कि किसी बीमार व्यक्ति को भी दूध मिलना मुश्किल हो जाता है। आज दूध के लिए पैसे देने पर भी दूध के बदले पानी ही पीने को मिलता है। और, वह पानी भी दूषित होता है, जो दूध के नाम से देश के स्वास्थ्य को नष्ट करता है, वह दूध कहां है ?

गायो के सम्बन्ध मे बात चलती है, तो हिन्दू कहता है—'वाह ! गाय हमारी माता है ! गाय मे तेंतीस कोटि देवताओं का वास है। गाय के सिवाय हिन्दूधर्म मे और है ही क्या ?'

और जैन अभिमान के साथ कहता है—'देखो हमारे पूर्वज को, एक-एक ने हजारो-हजारो और लाखो-लाखो गायें पाली थी।

इस प्रकार, क्या वैदिक और क्या जैन-सभी अपने वेदो, पुराणो और शास्त्रों की दुहाइयां देने लगते हैं। किन्तु जब उनसे पूछते हैं—तुम स्वय कितनी गायें पालते हो, तो दांत निपोर कर रह जाते हैं ! कोई उनसे कहे कि तुम्हारे पूर्वज गायें पालते थे, तो उससे आज तुम्हें क्या लाभ है ?

तो जिस देश में गाय का असीम और असाधारण महत्त्व माना गया, जिस देश ने गाय की सेवा को धार्मिक रूप तक प्रदान कर दिया, जिस देश के एक-एक गृहस्थ ने हजारों-लाखों गायों का संरक्षण और पालन-पोषण किया और जिस देश के अन्यतम महापुरुष कृष्ण ने अपने जीवन-व्यवहार के द्वारा गोपालन की महत्त्वपूर्ण परम्परा स्थापित की, जिस देश की संस्कृति ने गायों के सम्बन्ध में उच्च से उच्च और पावन से पावन भावनाएँ जोड़ीं, वह देश आज अपनी संस्कृति को, अपने धर्म को और अपनी भावना को भूलकर इतनी दयनीय दशा को प्राप्त हो गया है कि वह बीमार बच्चों को भी दूध नहीं पिला सकता।

दूसरी ओर अमेरिका है, जिसे लोग म्लेच्छ देश तक कहा करते हैं और घृणा बरसाया करते हैं। आज उसी अमेरिका में प्राप्त होने वाले दूध का हिसाब लगाया गया है, तो पाया गया है कि वहाँ एक दिन में इतना दूध होता है कि तीन हजार मील लम्बी, चालीस फुट चौड़ी और तीन फुट गहरी नदी दूध से पाटी जा सकती है।

हमारे सामने यह बड़ा ही करुण प्रश्न उपस्थित है कि हमारा देश कहाँ से कहाँ चला गया है। यह देवों का देश आज किस दशा में पहुँच गया है। देश की इस दयनीय दशा को दूर करके यदि समस्या को हल करना है, तो उसे संस्कृति और धर्म का रूप देना होगा। इन्सान जब भूखा मरता है, तो मत समझिए कि वह भूखा रह कर यों ही मर जाता है। उसके मन में घृणा और हा-हाकार होता है, और जब ऐसी हालत में मरता है, तो देश के निवासियों के प्रति घृणा और हा-हाकार लेकर ही जाता है। वह समाज और राष्ट्र के प्रति एक कुत्सित भावना लेकर परलोक के लिए प्रयाण करता है। और खेद है कि हमारा देश आज हजारों मनुष्यों को इसी रूप में विदाई देता है! किन्तु प्राचीन समय में ऐसी बात नहीं थी। भारत ने मरने वालों को प्रेम और स्नेह दिया है और उनसे प्रेम और स्नेह ही लिया है। उनसे घृणा नहीं ली थी, द्वेष और अभिशाप नहीं लिया था!

आप चाहते हैं कि भारत में और सारे विश्व में चोरी और झूठ कम हो जाए। किन्तु भूख की समस्या को सन्तोषजनक रूप में हल किए बिना यह पाप किस प्रकार दूर किया जा सकता है? आज व्यसन में प्रेरित होकर और केवल चोरी करने के अभिप्राय से चोरी करने वाले उतने नहीं मिलेंगे, जितने अपनी और अपनी स्त्री तथा बच्चों की भूख से प्रेरित होकर, सब ओर से निरुपाय होकर, चोरी करने वाले मिलेंगे। उन्हें और उनके परिवार को भूखा रख कर आप उन्हें चोरी करने से कैसे रोक सकते हैं? धर्मशास्त्र का उपदेश यहाँ कारगर नहीं हो सकता। नीति की लम्बी-चौड़ी बातें उन्हें पाप से रोकने में समर्थ नहीं हैं। नीतिकार ने तो साफ-साफ कह दिया है—

"बुभुक्षित किं न करोति पापम्?
क्षीणा नरा निष्करुणा भवन्ति ॥"

भूखा क्या नहीं कर गुजरता? वह झूठ बोलता है, चोरी करता है, हत्या कर बैठता है, दुनिया भर के जाल, फरेब और मक्कारियाँ भी वह रच सकता है।

इसीलिए मैं कहता हूँ कि भूख की समस्या का धर्म के साथ बहुत गहरा सम्बन्ध है और इस समस्या के समाधान पर ही धर्म का उत्थान निर्भर है।

इस अहिंसा के देश में :

आप जानते हैं कि भारत मे आज क्या हो रहा है ? जैन तो अहिंसा के उपासक रहे ही है, वैष्णव भी अहिंसा के बहुत बडे पुजारी रहे हैं, किन्तु उन्ही के देश मे, हजारो-लाखो रुपयो की लागत से बडे-बडे तालावो मे मछलियो के उत्पादन का और उन्हे पकडने का काम शुरू हो रहा है। यही नही, धार्मिक स्थानो के तालावो मे भी मछलियाँ उत्पन्न करने की कोशिश की जा रही है। यह सब देखकर मैं सोचता हूँ कि आज भारत कहाँ जा रहा है! आज यहाँ हिंसा की जड जम रही है और हिंसा का मार्ग खोला जा रहा है।

अगर देश की अन्न की समस्या हल नही की गई और अन्न के विशाल सग्रह काले बाजार मे बेचे जाते रहे, तो उसका एकमात्र परिणाम यही होगा कि मासाहार बढ जाएगा। हिंसा का ताण्डव होने लगेगा और भगवान् महावीर और बुद्ध की यह भूमि रक्त से रजित हो जाएगी। इस महापाप के प्रत्यक्ष नही तो परोक्ष भागीदार वे सभी लोग बनेंगे, जिन्होने अन्न का अनुचित सग्रह किया है, अपव्यय किया है और चोर बाजार किया है। दुर्भाग्य से देश में यदि एकबार मांसाहार की जड जम गई, तो उसका उखाडना बडा कठिन हो जाएगा। गरचे भरपूर अन्न आ जाएगा, सुकाल आ जाएगा, फिर भी मांसाहार कम नही होगा! मांस का चस्का बुरा होता है और लग जाने पर उसका छूटना सहज नही। अतएव दीर्घदर्शिता का तकाजा यही है कि पानी आने से पहले पाल बांध ली जाए, बुराई पैदा होने से पहले ही उसे रोक दिया जाए।

तुम्हारे सामने कोई आता है तो तुम उसकी आत्मा को देखो, उसे जागृत करने का प्रयत्न करो। उसके नाम, रूप आदि मे मत उलझो। तुम आत्मवादी हो तो आत्मा को देखो। शरीर को देखना, नाम, रूप एवं जाति को देखना, शरीरवादी या भौतिकवादी दृष्टि है। आत्मवादी इन प्रपचो मे नही उलझता है, उसकी दृष्टि मे तेज होता है, अत. वह सूक्ष्म से सूक्ष्म स्वरूप को ग्रहण करता है, स्थूल पर उसकी दृष्टि नही अटकती। वह सूक्ष्म तत्त्व को पहचानता है और उसी का सम्मान करता है।

भगवान् महावीर के, जो प्राचीनतम भाषा मे उपदेश प्राप्त होते हैं, वे बहुत-कुछ आज भी आचाराग मे उपलब्ध हैं। भाषा और शैली की दृष्टि से वह सब आगमो मे प्राचीन है और महावीर युग के अधिक निकट प्रतीत होता है। उसमे एक स्थान पर कहा गया है कि—

"जहा पुण्णस्स कत्थति, तहा तुच्छस्स कत्थति,
जहा तुच्छस्स कत्थति, तहा पुण्णस्स कत्थति।"

तुम्हारे सामने यदि कोई सम्राट् आता है, जिसके पीछे लाखो-करोडो सेवको का दल खडा है, धन-वैभव का अम्बार लगा है, स्वर्ण-सिंहासन और शासन-शक्ति उसके पीछे है, किन्तु यदि उसे उपदेश देने का प्रसग आता है, तो उसके धन और शक्ति पर दृष्टि मत डालो, उसके सोने के महलो की तरफ नजर तक न उठाओ, बल्कि उसे एक भव्य आत्मा समझकर उपदेश करो। और, तुम यह देखो कि उसकी सुप्त आत्मा जागृत हो, उसमे विवेक की ज्योति प्रज्वलित हो, बस यही ध्येय रखकर उपदेश करो और निर्भीक होकर करो।"

"और, यदि तुम्हारे समक्ष कोई दरिद्र भिखारी गली-कूचो मे ठोकरें खाने वाला, श्वपाक या अन्त्यज चाण्डाल, जो ससार की नजरो मे नीच कहा जाता है, वह भी आ जाए, तो, जिस प्रकार से तथा जिस भाव मे तुमने सम्राट् को उपदेश दिया है, उसी प्रकार से और उसी भाव से उस तुच्छ और साधारण श्रेणी के व्यक्ति को भी देखो, उसके बाहरी रूप और जाति पर मत उलझो। यह देखो कि वह भी एक भव्य आत्मा है और उसकी आत्मा को जागृति का सन्देश देना हमारा धर्म है।"

आप देखेंगे कि जैन धर्म का स्वर कितनी ऊँचाई तक पहुँच गया है। साधारण जनता जिस प्रकार एक सम्राट् और एक श्रेष्ठी के प्रति सम्मान और सभ्य भाषा का प्रयोग करती है, एक कंगाल-भिखारी और एक अन्त्यज के प्रति भी जैन धर्म उसी भाषा और उसी सभ्यता का पालन करने की बात कहता है। जितनी दृढता और निर्भयता मन मे होगी, सत्य का स्वर भी उतना ही स्पष्ट एव मुखर होगा। अत भिखारी और दरिद्र के सामने तुम जितने निर्भय और स्पष्टवादी होकर सत्य को प्रकट करते हो, उतने ही निर्भय और दृढ बनकर एक सम्राट् को भी सत्य का सन्देश सुनाओ। तुम्हारा सत्य और सुदृढ सत्य स्वर्ण की चमक के सामने अपनी तेजस्विता कम न होने दे, सोने के ढक्कन से उसका मुँह बन्द न हो जाए जैसा कि ईशोपनिषद मे कहा गया है—"हिरण्मयेन पात्रेण सत्यस्य विहितं मुखं" सोने के पात्र से सत्य का मुँह ढका हुआ है।" सम्राट् और तुम्हारे बीच मे सम्राट् के धन और वैभव, शक्ति और साम्राज्य का विचार खडा मत होने दो। और न दरिद्र और तुम्हारे बीच मे दरिद्र की नगण्यता एव तुच्छता का क्षुद्र विचार ही खडा हो।

दोनों की आत्मा समान समझो, अतः दोनों को समान भाव से धर्म का सन्देश दो, निर्भय और निरपेक्ष होकर, निष्काम और तटस्थ होकर।

जाति नहीं, चरित्र ऊँचा है

जैनधर्म शरीरवादियों का धर्म नहीं है। यदि अष्टावक्र ऋषि के शब्दों में कहा जाए, तो वह 'चर्मवादी' धर्म नहीं है। वह शरीर, जाति या पक्ष के भौतिक आधार पर चलने वाला 'पोला धर्म' नहीं है। अध्यात्म की ठोस भूमिका पर खड़ा है। वह यह नहीं देखता है कि कौन भंगी है, कौन चमार है और कौन आज किस कर्म तथा किस व्यवसाय में जुटा हुआ है? वह तो व्यक्ति के चरित्र को देखता है, पुरुषार्थ को देखता है और देखता है उसकी आत्मिक पवित्रता को।

भारतवर्ष का इतिहास, जब हम देखते हैं, तो मन पीड़ा से बुरी तरह आक्रान्त हो जाता है। और, हमारे धर्म एवं अध्यात्म के प्रचारकों के चिन्तन के समक्ष एक प्रश्न चिन्ह लग जाता है कि वे क्या सोचते थे? और कैसा सोचते थे? प्राणिमात्र में ब्रह्म का प्रतिबिम्ब देखने वाले भी श्रेष्ठी और दरिद्र की आत्मा को, ब्राह्मण और चाण्डाल की आत्मा को एक दृष्टि से नहीं देख सके। उन्होंने हर वर्ग के बीच भेद और घृणा की दीवारें खड़ी कर दी थीं। शूद्र की छाया पड़ने से वे अपने को अपवित्र समझ बैठते थे। क्या इतनी नाजुक थी उनकी पवित्रता कि किसी छाया मात्र से वह दूषित हो उठती? कोई भी शूद्र धर्मशास्त्र का अध्ययन नहीं कर सकता था, क्या धर्मशास्त्र इतने पोचे थे कि शूद्र के छूने से वे भ्रष्ट हो जाते? जरा सोचें तो लगेगा कि कैसी भ्रान्त धारणाएँ थीं कि—जो शास्त्र ज्ञान का आधार माना जाता है, जिसमें प्रवाहित होने वाली ज्ञान की धारा अन्तरंग के कलुष को, अनन्त-अनन्त जन्मों के पाप को धोकर स्वच्छ कर देती है, प्रकाश जगमगा देती है, संसार की दासता और बन्धनों से मुक्त करके आत्म-स्वातन्त्र्य और मोक्ष के केन्द्र में प्रतिष्ठित करने में समर्थ है, वह शास्त्र और उसकी ज्ञानधारा उन्होंने एक वर्गविशेष के हाथों में सौंप दी और कह दिया कि दूसरों को इसे पढ़ने का अधिकार नहीं। पढ़ने का अधिकार छीना सो तो छीना, इसे सुनने तक का भी अधिकार नहीं दिया। जो शूद्र पवित्र शास्त्र का उच्चारण कर दे, उसकी जीभ काट दी जाए, और जो उसे सुनले, उसके कानों में खौलता हुआ सीसा डाल कर शास्त्र सुनने का दण्ड दिया जाए। कैसा था यह मानस? मनुष्य-मनुष्य के बीच इतनी घृणा? इतना द्वेष? जो शास्त्र महान् पवित्र वस्तु मानी जाती थी, उसमें भाषा को लेकर भी विग्रह पैदा हुए। एक ने कहा—संस्कृत देवताओं की भाषा है, अतः उसमें जो शास्त्र लिखा गया है, वह शुद्ध है, पवित्र है और प्राकृत तथा अन्य भाषाओं में जो भी तत्त्वज्ञान है, शास्त्र है, वह सब अपवित्र है, अधर्म है। एक ने संस्कृत को महत्त्व दिया, तो तथा दूसरे ने प्राकृत को ही महत्त्व दिया। उसे ही देवताओं की भाषा माना, पवित्र माना। इस प्रकार की भ्रान्त धारणाएँ इतिहास के पृष्ठों पर आज भी अंकित हैं, जिनसे ज्ञात होता है कि मनुष्य के अन्दर जाति, पक्ष, धर्म और भाषा का एक भयंकर अहंकार जन्म ले रहा था, इसी अहंकार ने समाज में अपनी श्रेष्ठता स्थापित करने के लिए दूसरों की श्रेष्ठता, प्रतिष्ठा और सम्मान को खण्ड-खण्ड करने पर तुल गया था। दूसरों की प्रतिष्ठा का महत्त्व गिरा कर प्रतिष्ठा एवं श्रेष्ठता के नाम, इन खण्डहरों पर खड़ा रहना चाहता था। उन्होंने मनुष्य के सम्मान को, उसकी

आत्मिक पवित्रता का और आत्मा मे छिपी दिव्य ज्योति का अपमान किया, उसकी अवगणना की और उसे नीचे गिराने एव लुप्त करने की अनेक चेष्टाएँ की। उन्होंने चरित्र एवं सदाचार का मूल्य जाति और वश के सामने गिरा दिया। इस प्रकार अध्यात्मवाद का ढिंढोरा पीटकर भी वे भौतिकवादी बन रहे थे। भगवान् महावीर ने यह स्थिति देखी, तो उनके अन्दर मे क्रान्ति की लहर लहरा उठी। उनके अन्तःस्फूर्त-स्वर गूँज उठे—

"कम्मुणा बंभणो होई, कम्मुणा होई खत्तियो।
वइसो कम्मुणा होइ, सुद्दो हवइ कम्मुणा॥"

श्रेष्ठता और पवित्रता का आधार जाति नही है, बल्कि मनुष्य का अपना कर्म है, अपना आचरण है। कर्म से ही व्यक्ति ब्राह्मण होता है और कर्म से ही क्षत्रिय। वैश्य और शूद्र भी कर्म के आधार पर ही होता है। ससार मे कर्म की प्रधानता है। समाज के वर्ण और आश्रम कर्म के आधार पर ही विभक्त हैं। इसमे जाति कोई कारण नही है। मनुष्य की तेजस्विता और पवित्रता उसके तप और सदाचार पर टिकी हुई है न कि जाति पर ? "न दीसई जाइविसेस कोई" जाति का कोई कारण नही दीख रहा है। मनुष्य कर्म के द्वारा ऊँचा होता है, जीवन की ऊँचाइयो को नापता है और कर्म के द्वारा ही नीचे गिरता है, पतित होता है। इस प्रकार हम देखते हैं कि इस युग मे मानव के मन मे—जातिवाद और वर्गवाद का जो एक कॉटो का घेरा खडा हो गया था, उसे जैन धर्म ने तोडने की कोशिश की, मनुष्य-मनुष्य और आत्मा-आत्मा के बीच समता एव समरसता का भाव प्रतिष्ठित करने का प्रबल प्रयत्न किया।

प्रत्येक आत्मा समान है :

जैन धर्म ने विश्व को यह सन्देश दिया है कि 'तुम यह भावना हवा मे विलीन कर दो कि—कोई व्यक्ति जाति से नीचा है या ऊँचा है, बल्कि यह सोचो कि उसकी आत्मा कैसी है ? प्रश्न जाति का नही, आत्मा का करो। आत्मा की दृष्टि से वह शुद्ध और पवित्र है या नही, इसी प्रश्न पर विचार करो।

पूर्वाचार्यों ने विश्व की आत्माओ को समत्व दृष्टि देते हुए कहा है कि—ससार की समस्त आत्माओ को हम दो दृष्टियो से देखते है—एक द्रव्य दृष्टि से और दूसरी पर्याय दृष्टि से। जब हम बाहर की दृष्टि से देखते हैं, पर्याय की दृष्टि से विचार करते है, तो ससार की समस्त आत्माएँ अशुद्ध मालूम पडती हैं। चाहे वह ब्राह्मण की आत्मा हो अथवा शूद्र की आत्मा, यहाँ तक कि तीर्थंकर की ही आत्मा क्यो न हो, वह जबतक ससार की भूमिका पर स्थित है, अशुद्ध ही प्रतीत होती है। जो बन्धन है, वह तो सबके लिए ही बन्धन है। लोहे की बेडी का बन्धन भी बन्धन है और सोने की बेडी का बन्धन भी बन्धन ही है। जबतक तीर्थंकर प्रारब्ध-कर्म के बन्धन से परे नहीं होते हैं, तबतक वह भी ससार की भूमिका मे होते हैं, और ससार की भूमिका अशुद्ध भूमिका है। आत्मा जब विशुद्ध होती है पर्याय की दृष्टि से भी विशुद्ध होती है। तब वह मुक्त हो जाती है, संसार की भूमिका से ऊपर उठ कर मोक्ष की भूमिका पर चली जाती है। इस प्रकार तीर्थंकर और साधारण आत्माएँ ससार की भूमिका पर पर्याय की दृष्टि से एक समान हैं। आप सोचेंगे, तो पायेंगे कि जैन धर्म ने कितनी बडी बात कही है। जब वह सत्य की परतें खोलने चलता है, तो

किसी का भेद वहाँ नही समझता, सिर्फ सत्य को स्पष्ट करना ही उसका एकमात्र लक्ष्य रहता है।

यदि हम द्रव्य दृष्टि से आत्मा को देखते है—तो द्रव्य अर्थात् मूलस्वरूप की दृष्टि से प्रत्येक आत्मा ज्ञानमय है, शुद्ध एवं पवित्र है। जल मे चाहे जितनी मिट्टी मिल गई हो, कोयले का चूरा पीस कर डाल दिया गया हो, अनेक रंग मिला दिये गये हों, जल कितना ही अशुद्ध, अपवित्र और गन्दा क्यो न प्रतीत होता हो, पर यदि आपकी दृष्टि मे सत्य को समझने की शक्ति है, तो आप समझेंगे कि जल अपने आप मे क्या चीज है ? जल स्वभावत पवित्र है या मलिन ? वह मलिनता और गन्दगी जल की है या मिट्टी आदि की ? यदि आप इस विश्लेषण पर गौर करेंगे तो यह समझ लेंगे कि जल जल है, गन्दगी गन्दगी है दोनो भिन्न-भिन्न पदार्थ हैं, एक-दूसरे को प्रभावित करते हुए भी, अभिन्न सम्पर्क मे रहते हुए भी दोनो अलग अलग हैं। इसी प्रकार अनन्त-अनन्त काल से आत्मा के साथ कर्म का सम्पर्क चला आ रहा है, आत्मा और कर्म का सम्बन्ध जुडा आ रहा है, पर वास्तव मे आत्मा आत्मा है, वह कर्म नही है। और, कर्म जो पहले था, वह अपनी उसी धुरी पर आज भी है, उसी स्थिति मे है, वह कभी आत्मा नही बन सका है। इसका अभिप्राय यह हुआ कि मूल स्वरूप की दृष्टि से विश्व की प्रत्येक आत्मा पवित्र है, शुद्ध है। वह जल के समान है, उसमे जो अपवित्रता दिखाई पड रही है, वह उसकी स्वयं की नही, अपितु कर्म के कारण है—असत् कर्म, असत् आचरण और असत् संकल्पों के कारण है।

आत्मा परम पवित्र है :

यह बात जब हम समझ रहे है कि आत्मा की अपवित्रता मूल आत्मा की दृष्टि से कर्म के कारण है, तब हमे यह भी सोचना होगा कि वह अपवित्र क्यों होती है और फिर पवित्र कैसे बनती है ?

हमारे मन मे जो असत् संकल्प की लहर उठ रही है, दुर्विचार जन्म ले रहे हैं, घृणा, वैर और विद्वेष की भावनाएँ जग रही है, वे असत् कर्म की ओर प्रवृत्त करती है। अपने अहंकार की पूर्ति के लिए मनुष्य संघर्ष करता है, इधर-उधर घृणा फैलाता है। इस प्रकार लोभ और स्वार्थ जब टकराते हैं, तब विग्रह और युद्ध जन्म लेते है। वासना और व्यक्तिगत भोगेच्छा जब प्रबल होती है, तो वह हिंसा और अन्य बुराइयों को पैदा करती है। आज के जीवन मे हिंसा और पापाचार की जो इतनी वृद्धि हो रही है, वह मनुष्य की लिप्सा और कामनाओं के कारण ही है। ऐसा लगता है कि संसार भर के पाप आज मनुष्य के अन्दर आ रहे हैं और रावण की तरह अपने नये-नये रूपों से संसार को आक्रान्त करना चाहते है। मनुष्य इतना क्रूर बन रहा है कि अपने स्वार्थ के लिए, भोग के लिए बड़ी निर्दयता से भयंकर हत्याएँ कर रहा है। और, इस कारण कभी-कभी इस पर सन्देह होने लगता है कि उसके हृदय है भी या नहीं ? एक जमाना था, जब देवी-देवताओं के नाम पर पशु-हत्या की जाती थी, मूक और निरीह प्राणियों की बलि दी जाती थी। युग ने करवट बदली, अहिंसा और करुणा की पुकार उठी और वे हत्याकाण्ड काफी सीमा तक बन्द हो गए। पर, आज जिस उदर देवता के लिए लाखों पशु प्रतिदिन बलि हो रहे है, क्या उसे कोई रोक नहीं सकता ? पहले देवताओं को खुश करने के लिए पशु-हत्याएँ होती थी, आज इस देवता (—या राक्षस ?) के भोजन और स्वाद के नाम पर पशु-हत्या का यह चक्र

रहा है। आज का सभ्य मनुष्य भोजन के नाम पर अपने ही पेट मे जीवित पशुओ की कब्र बना रहा है। कहना चाहिए कि वह आज पशुओ की जीवित कब्र पर ही सो रहा है। यह भयकर पशु-संहार तवतक नही रुक सकता, जबतक मनुष्य के अन्दर शुद्ध देवत्व जाग्रत न हो, शुद्ध दृष्टिकोण न जगे, ससार के प्रत्येक जीवधारी मे अपने समान ही आत्मा के दर्शन न करे।

मनुष्य की भोगेच्छा आज इतनी प्रवल हो रही है कि उसकी बुद्धि कर्त्तव्य से धुंधिया गई है। अहकार जाग्रत हो रहा है, फलत वह सृष्टि का सर्वोत्तम एवं सबसे महान् प्राणी अपने को ही समझ रहा है। उसकी यह दृष्टि बदलनी होगी, आत्मा की समानता का भाव जगाना होगा। उसे यह अनुभव करना होगा कि जिस प्रकार की पीडा तुझे अनुभव होती है, वैसी ही पीडा की अनुभूति प्रत्येक प्राणी मे है। किन्तु यह एक विचित्र बात है कि हम सिर्फ उपदेश देकर अपने कर्त्तव्य की इतिश्री समझ लेते है, अध्यात्मवाद और अध्यात्म-दृष्टि का गभीर विश्लेषण करके उसे छोड देते हैं। विचारो से उतर कर अध्यात्मवाद आचार मे नही आ रहा है, मुंह से बाहर निकल रहा है, पर मन की गहराई मे नही उतर रहा है। जबतक अध्यात्म की चर्चा करने वालो के जीवन मे इसका महत्त्व नही आंका जाएगा, तबतक अध्यात्म को भूत-प्रेत की तरह भयानक समझ कर डरने वालो को हम इस ओर आकर्षित कैसे कर सकेंगे? इसके लिए आवश्यक है कि हमारी धर्म-दृष्टि, हमारा अध्यात्म, पहले जीवन मे मुखर हो। इसका प्रचार हमे अपने जीवन मे शुरू करना चाहिए, तभी हमारी अध्यात्म दृष्टि की कुछ सार्थकता है, अन्यथा नही।

करुणा :

विचार कीजिए—एक व्यक्ति को प्यास लगी है, गला सूख रहा है, वह ठण्डा पानी पी लेता है, या मजे से शर्वत बनाकर पी लेता है, प्यास शान्त हो जाती है। तो क्या इसमे कुछ पुण्य हुआ? कल्याण का कुछ कार्य हुआ? या साता वेदनीय का बध हुआ? कुछ भी तो नही। अब यदि आप वही पर किसी दूसरे व्यक्ति को प्यास से तडपता देखते हैं, तो आपका हृदय करुणा से भर आता है और आप उसे पानी पिला देते हैं, उसकी आत्मा शान्त होती है, प्रसन्न होती है और इधर आपके हृदय मे भी एक शान्ति और सन्तोष की अनुभूति जगती है। यह पुण्य है, सत्कर्म है। अब इसको गहराई मे जाकर जरा सोचिए कि यह करुणा का उदय क्या है? निवृत्ति है या प्रवृत्ति? और पुण्य क्या है? अपने वैयक्तिक भोग, या अन्य के प्रति अर्पण? जैन परम्परा ने व्यक्तिगत भोगो को पुण्य नही माना है। अपने भोग-सुखो की पूर्ति के लिए जो आप प्रवृत्ति करते है, वह न करुणा है, न पुण्य है। किन्तु जब वह करुणा, समाज के हित के लिए जागृत होती है, उसकी भलाई के लिए प्रवृत्त होती है, तब वह पुण्य और धर्म का रूप ले लेती है। जैन धर्म की प्रवृत्ति का यही रहस्य है। समाज के लिए अर्पण, बलिदान और उत्सर्ग की भावना उसके प्रत्येक तत्त्व-चिन्तन पर छाई हुई है। उसके हर चरण पर समष्टि के हित का दर्शन होता है।

मैत्री

जैन-परम्परा के महान् उद्गाता एव अन्तिम तीर्थंकर भगवान् महावीर ने एक बार अपनी शिष्य-मण्डली को सम्बोधित करते हुए कहा था—"मेत्ति भएसु कप्पए" तुम

प्राणि मात्र के प्रति मैत्री की भावना लेकर चलो।" जब साधक के मन मे मैत्री और करुणा का उदय होगा, तभी स्वार्थान्धता के गहन अन्धकार मे परमार्थ का प्रकाश झलक सकेगा। मैत्री की यह भावना क्या है? निवृत्ति है या प्रवृत्ति? आचार्य हरिभद्र ने मैत्री की व्याख्या करते हुए कहा है—"परहित चिन्ता मैत्री।" दूसरे के हित, सुख और आनन्द की चिन्ता करना, जिस प्रकार हमारा मन प्रसन्नता चाहता है, उसी प्रकार दूसरो की प्रसन्नता की भावना करना—इसी का नाम मैत्री है। मैत्री का यह स्वरूप निषेध रूप नहीं, बल्कि विधायक है, निवृत्ति मार्गी नहीं, बल्कि प्रवृत्ति-मार्गी है। जब हम दूसरो के जीवन का मूल्य और महत्त्व मानते हैं, अपनी ही तरह उससे भी स्नेह करते हैं, तो जब वह कष्ट मे होता है, तो उसको सहयोग करना, उसके दुःख मे भागीदार बनना और उसकी पीडाएँ बाँटकर उसे शान्त और सन्तुष्ट करना—यह जो प्रवृत्ति जगती है, मन मे सद्भावो का जो स्फुरण होता है,—बस यही है मैत्री का उज्ज्वल रूप।

दान :

जैन दर्शन के आचार्यों ने बताया है कि साता-वेदनीय कर्म का बन्ध किन-किन परिस्थितियो में होता है, और किस प्रकार के निमित्तों से होता है। उन्होंने बताया है कि संसार मे जो भी प्राणी हैं चाहे तुम्हारी जाति के हो, बिरादरी के हो, या देश के हो, अथवा किसी भिन्न जाति, बिरादरी या देश के हों, उन सबके प्रति करुणा का भाव जागृत करना, उनके दुःख के प्रति संवेदना और सुख के लिए कामना करना, यह तुम्हारे साता-वेदनीय के बन्ध का प्रथम कारण है।

दूसरा कारण यह बताया गया है कि—व्रती, संयमी और सदाचारी पुरुषो के प्रति अनुकम्पा का भाव रखना। गुणश्रेष्ठ व्यक्ति का आदर सम्मान करना, उनकी सेवाभक्ति करना, उनकी यथोचित आवश्यकताओ की पूर्ति का, समय पर ध्यान रखना, साता-वेदनीय का द्वितीय बन्ध-हेतु है।

और तीसरा साधन है—दान। यहाँ आकर सामाजिक चेतना पूर्ण रूप मे जागृत हो उठती है। आप अपने पास अधिक संग्रह न रखें, तिजोरियाँ और पेटियाँ न भरें, यह एक निषेधात्मक रूप है। किन्तु जो पास में है, उसका क्या करें, उसकी ममता किस प्रकार कम करें? इसके लिए कहा है कि 'दान करो।' मनुष्य ने जो अपनी सुख-सुविधा के लिए साधन जुटाए हैं, उन्हें अकेला ही उपयोग में न ले, बल्कि समाज के अभावग्रस्त और जरूरतमन्द व्यक्तियो मे बाँटकर उपयोग करें।

दान का अर्थ यही नहीं है कि किसी को यों ही एक आधा टुकड़ा दे डाला कि दान हो गया। दान अपने मे एक बहुत उच्च और पवित्र कर्त्तव्य है। दान करने से पहले पात्र की आवश्यकता का मन मे अनुभव करना, पात्र के कष्ट के प्रति विचारों मे अनुकम्पन होना और सेवा की प्रबुद्ध लहर उठना, दान का पूर्ण रूप है। "जैसा मैं चेतन हूं, वैसा ही चेतन यह भी है, चेतना के नाते दोनो मे कोई अन्तर नहीं है, इसलिए प्रकाश एव स्वरूप चेतन-स्वभाव के रूप मे हम दोनो सगे बन्धु है, और इस प्रकार एक दो ही क्या, सृष्टि का प्रत्येक चेतन मेरा बन्धु है, मेरी बिरादरी का है"—यह उदात्त कल्पना जगत वासियों के मानस मानसरोवर को तरंगित करें, आप स्नेहार्द्र अनुभाव से दान करें—दान नहीं,

सविभाग करें, बँटवारा करें—यह है दान की उच्चतम विधि। दान की व्याख्या करते हुए आचार्यों ने कहा है—''सविभागो दान''—समवितरण अर्थात् समान बँटवारा दान है। भाई-भाई के बीच जो बँटवारा होता है, एक-दूसरे को प्रेम पूर्वक जो दिया-लिया जाता है, उससे न किसी के मन मे अह जगता है और न दीनता। चूंकि भाई को बराबर का एक साझीदार या अपने समान ही अधिकारी मान लिया जाता है, फलत देने वाले को अहंकार का और लेने वाले को दीनता का शिकार होना पडे, ऐसा कोई प्रश्न ही नही रहता। ठीक इसी प्रकार आप जब किसी को कुछ अर्पण करने चलते हैं, तो उसे 'समविभागी' यानि बराबर का समझकर, जो उसके उपयुक्त हो और जिस वस्तु की उसे आवश्यकता हो, उसके वितरण के लिए उसमे तुच्छ मानने की भावना नही उठती और न ही दीनता का सकल्प ही जगता है।

अत आज मानव-कल्याण की दिशा एवं दशा मे सही परिवर्तन लाने के लिए समानता की भावना का जन-जन मे स्वत.स्फूर्त होना परम आवश्यक है। समता की सभी क्षेत्रो मे आज ज्वलत माग है, जिसे टाला नही जा सकता। यही एक कडी है, जिससे मानव-मानव के बीच भावनात्मक एकता की स्थापना सभव है।

४८

राष्ट्रीय जागरण

भारत की वर्तमान परिस्थितियों एवं समस्याओं पर जब हम विचार करते हैं, तो अतीत और भविष्य के चित्र बरबस मेरी कल्पना की आँखों के समक्ष उभर कर आ जाते हैं। इन चित्रों को वर्तमान के साथ सम्बद्ध किए बिना वर्तमान-दर्शन नितान्त अधूरा रहेगा, भूत और भावी के फ्रेम में मढ़कर ही वर्तमान के चित्र को सम्पूर्ण रूप से देखा जा सकता है।

स्वर्णिम चित्र :

अध्ययन और अनुभव की आँख से जब हम प्राचीन भारत की ओर देखते हैं, तो एक गरिमा-मण्डित स्वर्णिम चित्र हमारे समक्ष उपस्थित हो जाता है। उस चित्र की स्वर्ण-रेखाएँ पुराणों और स्मृतियों के पटल पर अंकित हैं, रामायण और महाभारतकार की तूलिका से संजोई हुई हैं। जैन आगमों और अन्य साहित्य में छविमान हैं। बौद्ध त्रिपिटकों में भी उसकी स्वर्ण आभा यत्र-तत्र बिखरी हुई है। भारत के अतीत का यह गौरव सिर्फ भारत के लिए ही नहीं, अपितु समग्र विश्व के लिए एक जीवन्त आदर्श था। अपने उज्ज्वल चरित्र और तेजस्वी चिन्तन से उसने एक दिन सम्पूर्ण संसार को प्रभावित किया था। उसी व्यापक प्रभाव का चित्र मनु की वाणी से ध्वनित हुआ था—

"एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्र-जन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्वमानवाः॥"

"इस देश में जन्म लेने वाले चरित्र-सम्पन्न विद्वानों से भूमण्डल के समस्त मानव अपने-अपने चरित्र-कर्तव्य की शिक्षा ले सकते हैं।"—मनु की यह उक्ति कोई गर्वोक्ति नहीं, अपितु उस युग की भारतीय स्थिति का एक यथार्थ चित्रण है, सही मूल्यांकन है। भारतीय जनता के निर्मल एवं उज्ज्वल चरित्र के प्रति श्रद्धावनत होकर यही बात पुराणकार महर्षि व्यासदेव ने इन शब्दों में दुहराई थी—

"गायन्ति देवाः किल गीतकानि, धन्यास्तु ते भारतभूमिभागे।
स्वर्गापवर्गास्पदमार्गभूते, भवन्ति भूयः पुरुषाः सुरत्वात्॥"

स्वर्ग के देवता भी भारत भूमि के गौरव-गीत गाते रहते हैं कि वे देव धन्य हैं, जो यहाँ से मरकर पुन स्वर्ग और अपवर्ग—मोक्ष—के मार्ग स्वरूप पवित्र भारतभूमि मे जन्म लेते हैं।

भगवान् महावीर के ये वचन कि—'देवता भी भारत जैसे आर्य देश मे जन्म लेने के लिए तरसते हैं'—जब स्मृति मे आते हैं, तो सोचता हूँ, ये जो बातें कही गई हैं, मात्र आलकारिक नही हैं, कवि की कल्पनाजन्य उडानें नहीं हैं, बल्कि दार्शनिको और चिन्तको की साक्षात् अनुभूति का स्पष्ट उद्‌घोष है।

इतिहास के उन पृष्ठो को उलटते ही एक विराट् जीवन-दर्शन हमारे सामने आ जाता है। त्याग, स्नेह और सद्‌भाव की वह सुन्दर तसवीर खिच जाती है, जिसके प्रत्येक रंग मे एक आदर्श प्रेरणा और विराटता की मोहक छटा भरी हुई है। त्याग और सेवा की अखण्ड ज्योति जलती हुई प्रतीत होती है।

रामायण में राम का जो चरित्र प्रस्तुत किया गया है, वह भारत की आध्यात्मिक और नैतिक चेतना का सच्चा प्रतिबिम्ब है। राम को जब अभिषेक की सूचना मिलती है, तो उनके चेहरे पर कोई उल्लास नही चमकता है और न वनवास की खबर मिलने पर ही कोई शिकन पडती है।

"प्रसन्नतां या न गताऽभिषेकत,
तथा न मम्ले वनवासदुखत।"

राम की यह कितनी ऊँची स्थितप्रज्ञता है, कितनी महानता है कि जिसके सामने राज्यसिंहासन का न्यायप्राप्त अधिकार भी कोई महत्त्व नहीं रखता। जिसके लिए जीवन की भौतिक सुख-सुविधा से भी अधिक मूल्यवान है पिता की आज्ञा, विमाता की आत्मतुष्टि! यह आदर्श एक व्यक्तिविशेष का ही गुण नही, बल्कि समूचे भारतीय जीवन-पट पर छाया हुआ है। राम तो राम हैं ही, किन्तु लक्ष्मण भी कुछ कम नही है। लक्ष्मण जब राम के वनवास की सूचना पाते हैं, तो वे उसी क्षण महल से निकल पडते हैं। नवोढा पत्नी का स्नेह भी उन्हे रोक नही सका, राजमहलो का वैभव और सुख राम के साथ वन मे जाने के निश्चय को बदल नही सका। वे माता सुमित्रा के पास आकर राम के साथ वन में जाने की अनुमति माँगते हैं। और माता का भी कितना विराट् हृदय है जो अपने प्रिय पुत्र को वन-वन में भटकने से रोकती नहीं, अपितु कहती है—राम के साथ वनवास की तैयारी करने मे तुमने इतना विलम्ब क्यो किया?

"राम दशरथं विद्धि, मां विद्धि जनकात्मजाम्,
अयोध्यां विपिनं विद्धि, गच्छ पुत्र! यथासुखम्।"

हे वत्स! राम को पिता दशरथ की तरह मानना, सीता को मेरे समान समझना और वन को अयोध्या मानना। राम के साथ वन में जा, देख राम की छाया से भी कभी दूर मत होना।

यह भारतीय जीवन का आदर्श है, जो प्रत्येक भारतीय आत्मा में छलकता हुआ

दिखाई देता है। जहाँ अधिकारों को ठुकराया जाता है, स्नेह और ममता के बन्धन भी कर्तव्य की धार से काट दिए जाते हैं और एक-दूसरे के लिए समर्पित हो जाते हैं।

महावीर और बुद्ध का युग देखिए, जब तरुण महावीर और बुद्ध विशाल राज-वैभव, सुन्दरियों का मधुर स्नेह और जीवन की समस्त भौतिक सुविधाओं को ठुकराकर सत्य की खोज में शून्य-वनों एवं दुर्गम-पर्वतों में तपस्या करते घूमते हैं और सत्य की उपलब्धि कर समग्र जनजीवन में प्रसारित करने में लग जाते हैं। उनके पीछे सैकड़ों-हजारों राजकुमार, सामन्त और सामान्य नागरिक श्रमण भिक्षु बनकर प्रेम और करुणा की अलख जगाते हुए सम्पूर्ण विश्व को प्रेम का सन्देश देते हैं। वे प्रकाश बनकर स्वयं तो जलते हैं, परन्तु घर-घर में, दर-दर में अखंड उजाला फैलाते हैं।

अध्ययन की आँखों से जब हम इस उज्ज्वल अतीत को देखते हैं, तो मन श्रद्धा से भर आता है। भारत के उन आदर्श पुरुषों के प्रति कृतज्ञता से मस्तक झुक जाता है जिन्होंने स्वयं अमृत प्राप्त किया और जो भी मिला उसे अमृत बाँटने चले गए।

अतीत के इस स्वर्णिम चित्र के समक्ष जब हम वर्तमान भारतीय जीवन का चित्र देखते हैं, तो मन सहसा विश्वास नहीं कर पाता कि क्या यह उसी भारत का चित्र है? कहीं हम धोखा तो नहीं खा रहे हैं? लगता है, इतिहास का यह साक्षात् घटित सत्य आज इतिहास की गाथा बनकर ही रह गया है।

आज का मनुष्य पतंगे की तरह दिशा-हीन बना उड़ता जा रहा है। जिसे न सोचने की फुर्सत है, और न सामने कोई मञ्जिल ही है। अपने क्षुद्र स्वार्थ, दैहिक भोग और हीन मनोग्रन्थियों ने वह इस प्रकार ग्रस्त हो गया है कि उसकी विराटता, उसके अतीत आदर्श, उसकी अखण्ड राष्ट्रीय भावना सब कुछ छुई-मुई हो गई है।

भारतीय चिन्तन ने मनुष्य के जिस विराट् रूप की परिकल्पना की थी—'सहस्रशीर्षा पुरुषः सहस्राक्षः सहस्रपात्' वह आज कहाँ है? हजारों-हजार मस्तक, हजारों-हजार आँखें और हजारों-हजार चरण मिलकर जिस अखण्ड मानवता का निर्माण करते थे, जिस अखण्ड राष्ट्रीय चेतना का विकास होता था, आज उसके दर्शन कहाँ हो रहे हैं? आज की संकीर्ण मनोवृत्तियाँ देखकर मन कुलबुला उठता है। क्या वास्तव में ही मानव इतना क्षुद्र और इतना दीन-हीन होता जा रहा है कि अपने क्षुद्र स्वार्थों और अपने कर्तव्यों के आगे पूर्णविराम लगाकर बैठ गया है। आपके आगे आपके पड़ोसी का भी कुछ स्थान है, कुछ हित है; समाज, देश और राष्ट्र के लिए भी आपका कोई कर्तव्य होता है, इसके लिए भी सोचिए। चिन्तन के द्वार खुला रखिए। आपका चिन्तन, आपका कर्तव्य, आपका हित, आपके लिए केवल बीच में अल्पविराम से अधिक नहीं है, अगर आप उसे ही पूर्णविराम समझ बैठे हैं, इति लगा बैठे हैं, तो यह भयानक भूल है। भारत का दर्शन 'नेति नेति' कहता आया है। इसका अर्थ है कि जितना आप सोचते हैं और जितना आप करते हैं, उतना ही सब कुछ नहीं है, उससे आगे भी अनन्त सत्य है, कर्तव्य के अनन्त क्षेत्र पड़े हैं। किन्तु आज हम यह 'नेति' भूलते जा रहे हैं और हर चिन्तन और कर्तव्य के आगे 'इति-इति' लगाते जा रहे हैं। यह क्षुद्रता, यह सीमाबन्धन आज राष्ट्र के लिए सबसे बड़ा संकट है।

भ्रष्टाचार किस संस्कृति की उपज है ?

मैं देखता हूँ—आजकल कुछ शब्द चल पडे हैं—'भ्रष्टाचार, बेईमानी, मक्कारी, काला बाजार—यह सब क्या है ? किस सस्कृति की उपज है यह ? जिस अमृत कुण्ड की जल-धारा से सिंचन पाकर हमारी चेतना और हमारा कर्त्तव्य क्षेत्र उर्वर बना हुआ था, क्या आज वह धारा सूख गई है ? त्याग, सेवा, सौहार्द और समर्पण की फसल जहाँ लहलहाती थी, क्या आज वहाँ स्वार्थ, तोडफोड, हिंसा और बात-बात पर विद्रोह की कँटीली झाडियाँ ही खडी रह गई है ? देश में आज बिखराव और अराजकता की भावना फैल रही है, इसका कारण क्या है ?

मैं जहाँ तक समझ पाया हूँ, इन सब अव्यवस्थाओ और समस्याओ का मूल है—हमारी आदर्श-हीनता । मुद्रा के अवमूल्यन से आर्थिक क्षेत्र मे जो उथल-पुथल हुई है, जीवन के क्षेत्र मे उससे भी बडी और भयानक उथल-पुथल हुई है आदर्शों के अवमूल्यन से । हम अपने आदर्शों से गिर गए हैं, जीवन का मूल्य विघटित हो गया है, राम, कृष्ण, बुद्ध और महावीर के आदर्शों का भी हमने अवमूल्यन कर डाला है । बस, इस अवमूल्यन से ही यह गडबड हुई है, यह अव्यवस्था पैदा हुई है ।

महात्मा गांधी मजबूरी का नाम ?

एक बार एक सज्जन से चर्चा चल रही थी । हर बात मे वे अपना तकियाकलाम दुहराते जाते थे, 'महाराज ! क्या करें, मजबूरी का नाम महात्मा गाधी है ।' इसके बाद अन्यत्र भी यह दुर्वाक्य कितनी ही बार सुनने मे आया है । मैं समझ नही पाया, क्या मतलब हुआ इसका ? क्या महात्मा गान्धी एक मजबूरी की उपज थे ? गान्धी का दर्शन, जो प्राचीन भारतीय दर्शन का आधुनिक नवस्फूर्त सस्करण माना जाता है, क्या वह कोई मजबूरी का दर्शन है ? भारत की स्वतन्त्रता के लिए किए जाने वाले सत्याग्रह, असहयोग, स्वदेशी आन्दोलन तथा अहिंसा और सत्य के प्रयोग क्या केवल दुर्बलता थी, मजबूरी थी, लाचारी थी ? क्या कोई महान् एव उदात्त आदर्श जैसा कुछ और नही था ? क्या गांधीजी की तरह ही महावीर और बुद्ध का त्याग भी एक मजबूरी थी ? राम का वनवास तो आखिर किस मजबूरी का समाधान था ? वस्तुतः यह मजबूरी हमारे प्राचीन आदर्शों की नही, अपितु हमारे वर्तमान स्वार्थ-प्रधान चिन्तन की है, जो आदर्शों के अवमूल्यन से पैदा हुई है ।

मनुष्य झूठ बोलता है, बेईमानी करता है और जब उससे कहा जाता है कि ऐसा क्यों करते हो ? तो उत्तर मिलता है, क्या करें, मजबूरी है । पेट के लिए यह सब कुछ करना पडता है । अभाव ने सब चौपट कर रखा है । मैं सोचता हूँ यह मजबूरी, यह पेट और अभाव, क्या इतना विराट् हो गया है कि मनुष्य की सहज अन्तश्चेतना को भी निगल जाए ? महापुरुषों के प्राचीन आदर्शों को यों डकार जाए ? मेरे विचार से मजबूरी और अभाव उतना नही है, जितना महसूस किया जा रहा है । अभाव में पीडा का रूप उतना नही है, जितना स्वार्थ के लिए की जाने वाली अभाव की बहानेबाजी हो रही है ।

असहिष्णुता क्यों ?

मैं इस सत्य से इन्कार नही कर सकता कि देश मे आज कुछ हद तक अभावों की स्थिति है । किन्तु उन अभावों के प्रति हममे सहिष्णुता का एव उनके प्रतिकार के लिए उचित

संघर्ष का अभाव भी तो एक बहुत बड़ा अभाव है। पीड़ा और कष्ट कहने के लिए नहीं, सहने के लिए आते हैं। किसी बात को लेकर थोड़ा-सा भी असन्तोष हुआ कि बस, तोड़-फोड़ पर उतारू हो गए। सड़कों पर भीड़ इकट्ठी हो गई, राष्ट्र की सम्पत्ति की होली करने लगे, पुतले जलाने लगे—यह सब क्या है? क्या इन तरीकों से अभावों की पूर्ति की जा सकती है? क्या सड़कों पर अभावपूर्ति के फैसले किए जा सकते हैं? ये हमारी पाशविक वृत्तियाँ हैं, जो असहिष्णुता से जन्म लेती हैं, अविवेक से भड़कती हैं, और फिर उद्दाम होकर विनाश-लीला का नृत्य कर उठती हैं। मैं यह समझ नहीं पाया कि जो सम्पत्ति जलाई जाती है, वह आखिर किसकी है? राष्ट्र की ही है न वह! फिर यह विद्रोह किसके साथ किया जा रहा है? अपने ही शरीर को नोंचकर क्या आप अपनी खुजली मिटाना चाहते हैं? यह तो निरी मूर्खता है। इससे समस्या सुलझ नहीं सकती, असन्तोष मिट नहीं सकता और न अभाव एवं अभाव-जन्य आक्रोश दूर ही किया जा सकता है। अभाव और मजबूरी का इलाज सहिष्णुता है। राष्ट्र के अभ्युदय के लिए किए जाने वाले श्रम में योगदान है। असन्तोष का समाधान धैर्य है, और है उचित पुरुषार्थ! आप तो अधीर हो रहे हैं, इतने निष्क्रिय एवं असहिष्णु हो रहे हैं कि कुछ भी बर्दाश्त नहीं कर सकते। यह असहिष्णुता, यह अधैर्य, इतना व्यापक क्यों हो गया है?

राष्ट्रीय-स्वाभिमान की कमी :

आज मनुष्य में राष्ट्रीय स्वाभिमान की कमी हो रही है। राष्ट्रीय चेतना लुप्त हो रही है। अपने छोटे-से घोंसले के बाहर देखने की व्यापक दृष्टि समाप्त हो रही है। जब तक राष्ट्रीय-स्वाभिमान जागृत नहीं होता, तबतक कुछ भी सुधार नहीं होगा। घर में, दुकान में या दफ्तर में, कहीं भी आप बैठें, किन्तु सदा राष्ट्रीय स्वाभिमान के साथ बैठिए। अपने हर कार्य को अपने क्षुद्र हित की दृष्टि से नहीं, राष्ट्र के गौरव की दृष्टि से देखने का प्रयत्न कीजिए। आपके अन्दर और आपके पड़ोसी के अन्दर जब एक ही प्रकार की राष्ट्रीय चेतना जागृत होगी, तब एक समान अनुभूति होगी और आपके भीतर राष्ट्रीय स्वाभिमान जाग उठेगा।

राष्ट्रीय स्वतन्त्रता संग्राम के दिनों में समूचे राष्ट्र में प्रचण्ड राष्ट्रीय चेतना का एक प्रवाह उमड़ा था। एक लहर उठी थी, जो पूर्व से पश्चिम तक को, उत्तर से दक्षिण तक को एक साथ आन्दोलित कर रही थी। स्वतन्त्रता संग्राम का इतिहास पढ़ने वाले जानते हैं कि उन दिनों किस प्रकार हिन्दू और मुसलमान भाई-भाई की तरह मातृभूमि के लिए अपने जीवन का बलिदान कर रहे थे। उत्तर और दक्षिण मिलकर एक अखण्ड भारत हो रहे थे। सब लोग एक साथ यातनाएँ झेलते थे और अपने सुख-दुःख के साथ किस प्रकार एकाकार हो करके चल रहे थे। राष्ट्र के लिए अपमान, कष्ट, यन्त्रणा और फाँसी के फन्दे तक को भी हँसते-हँसते चूम लेते थे। मैं पूछता हूँ कि क्या आज वैसी भावना और चेतना के दर्शन आपके सामने हो रहे हैं? बिल्कुल नहीं! आज तो स्वतन्त्र हैं और बहुत ही शान्त हैं। फिर क्या बात हुई कि जो व्यक्ति जेलों के सींखचों में भी हँसते रहते थे, वे आज अपने घरों में भी असन्तुष्ट, दीन-हीन, निराश और आक्रोश से भरे हुए हैं। असहिष्णुता की आग में जल रहे हैं! क्या कारण है कि जो राष्ट्र सब कुछ होकर एक शक्ति सम्पन्न विदेशी शासन से लोहा लेकर लड़ाई लड़ सकता है, वह जीवन के साधारण प्रश्नों पर इस प्रकार टूटे हुए से जी रहा है? असहिष्णुता बढ़ रही है?

मेरी समझ मे एकमात्र मुख्य कारण यही है कि आज भारतीय जनता मे राष्ट्रीय स्वाभिमान एवं राष्ट्रीय चेतना का अभाव हो गया है। देश के नवनिर्माण के लिए समूचे राष्ट्र मे वह पहले-जैसा सकल्प यदि पुन जागृत हो उठे, वह राष्ट्रीय चेतना यदि राष्ट्र के मूर्च्छित हृदयो को पुन प्रवुद्ध कर सके, तो फिर मजबूरी का नाम महात्मा गाँधी नही, वल्कि आदर्शो का न महात्मा गाँधी होगा। फिर झोपडी मे भी मुस्कराते चेहरे मिलेंगे, अभावो की पीडा मे भी श्रम की स्फूर्ति चमकती मिलेगी। आज जो व्यक्ति अपने सामाजिक एव राष्ट्रीय उत्तरदायित्वो को स्वय स्वीकार नाम करके फुटवाल की तरह दूसरो की ओर फेंक रहा है, वह फूलमाला की तरह हर्षोल्लास के साथ उनको अपने गले मे डालेगा और अपने कर्त्तव्यो के प्रति प्रतिपद एव प्रतिपल सचेष्ट होगा।

आशापूर्ण भविष्य

मैं जीवन मे निराशावादी नही हूं। भारत के सुनहले अतीत की भाँति सुनहले भविष्य की तस्वीर भी मैं अपनी कल्पना की आँखो से देख रहा हूँ। देश मे आज जो अनु-शासन-हीनता और विघटन की स्थिति पैदा हो गई है, आदर्शों के अवमूल्यन से मानव गडवडा गया है, वह स्थिति एकरोज अवश्य वदलेगी। व्यक्ति, समाज तथा राष्ट्र के लिए सक्रातिकाल मे प्राय अन्धकार के कुछ क्षण आते हैं, अभाव के प्रसग आते हैं, परन्तु ये क्षण एव प्रसग स्थायी नही होते। भारत मे वह समय आएगा ही, जब राष्ट्रीय चेतना का शखनाद गूंजेगा, व्यक्ति-व्यक्ति के भीतर राष्ट्र का गौरव जगेगा, राष्ट्रीय स्वाभिमान प्रदीप्त होगा। और यह राष्ट्र जिस प्रकार अपने अतीत मे गौरव-गरिमा से मंडित रहा है, उसी प्रकार अपने भविष्य को भी गौरवोज्ज्वल वनाएगा। किन्तु यह तभी सम्भव है, जब ही आपके अन्तर में अखण्ड राष्ट्रीय चेतना जागृत होगी, कर्त्तव्य की हुंकार उठेगी, परस्पर सहयोग एव सद्‌भाव की ज्योति प्रकाशमान होगी।

वसुधैव कुटुम्बकम्

भारतीय संस्कृति में आज हजारों वर्षों के बाद भी कंस और कूणिक के प्रति जनसाधारण में घृणा और तिरस्कार का भाव विद्यमान है। मैं समझता हूँ, यह घृणा और तिरस्कार उनकी इच्छा-दासता और स्वार्थवृत्ति के प्रति है। भारतीय संस्कृति का स्वर पुकारता रहा है—मनुष्य, तेरा आनन्द स्वयं के सुख भोग में नहीं है, स्वयं की इच्छापूर्ति में ही तुम्हारी परितृप्ति नहीं है, बल्कि दूसरों के सुख में ही तुम्हारा आनन्द छिपा हुआ है, दूसरों की परितृप्ति में ही तेरी परितृप्ति है। तेरे पास जो धन है, सम्पत्ति है, शक्ति है, बुद्धि है, वह किसलिए है? तेरे पास जो ज्ञान-विज्ञान की उपलब्धि है, उसका हेतु क्या है? क्या यह स्वयं की सुख-सुविधा के लिए ही यह सब कुछ है? अपने सुख-भोग के लिए तो एक पशु भी अपनी शक्ति का प्रयोग करता है, अपनी बुद्धि और बल से स्वयं की सुरक्षा करता है, इच्छापूर्ति करता है। फिर पशुता और मनुष्यता में अन्तर क्या है? मनुष्य का वास्तविक आनन्द स्वयं के सुखोपभोग में नहीं, बल्कि दूसरों को अर्पण करने में है। मनुष्य के अपने पास जो उपलब्धि है, वह अपने बन्धु के लिए है, अपने पड़ोसी के लिए है। अपने ही समान दूसरे वैभव के लिए समर्पण करने में जो सुख और आनन्द की अनुभूति होती है, वही सच्ची मनुष्यता है।

बंगाल के सुप्रसिद्ध विद्वान् श्री सतीशचन्द्र विद्याभूषण का नाम किसने न सुना होगा? एक व्यक्ति उनकी उदार एवं दयालु माता से दान पाने के लिए घर पर पहुँचा। जब विद्याभूषण की माता उस श्रद्धालु सज्जन के सामने आई, तो वह आँखें फाड़-फाड़ कर उनके हाथ की ओर देखने लगा। माताजी ने उसकी इस प्रकार जिज्ञासा का कारण पूछा, तो वह बोला—"सतीशचन्द्र विद्याभूषण जैसे धुरंधर विद्वान् की माँ के हाथों में हीरे और सोने के स्वर्ण-आभूषण की जगह पीतल के [illegible] देखकर मैं चकित हूँ कि यह क्या है, क्या है? आपके हाथों में आभूषण क्यों नहीं हैं?'

माता ने गम्भीरता से कहा—"बेटा ! इन हाथो की शोभा तो दुष्काल के समय बग पुत्रो को मुक्त भाव से अन्न-धन अर्पण करने मे थी । सेवा ही इन हाथो की सच्ची शोभा है । सोना और चाँदी हाथ की शोभा और सुन्दरता कारण का नही होता बेटा ।"

मनुष्यता का यह कितना विराट् रूप है ! जो देवी अपने हाथ के आभूषण उतार कर भूखे-प्यासे बन्धुओ के पेट की ज्वाला को शान्त करती है, उनके सुख मे ही अपना सुख देखती है, वह वस्तुतः मानव देहधारिणी सच्ची देवी है ।

भारतीय संस्कृति मे यह समर्पण की भावना, करुणा और दान के रूप मे विकसित हुई है । करुणा मानव-आत्मा का मूल स्वर है । किन्तु खेद है, उस करुणा का जो सर्वव्यापक और सर्वग्राही रूप पहले था, वह आज कुछ सीमित एव संकीर्ण विधि-निषेधो मे सिमट कर रह गया है । करुणा का अर्थ सकुचित हो गया है, काफी सीमित हो गया है । करुणा और दया का अर्थ इतना ही नही है कि कुछ कीडो-मकोडो की रक्षा करली जाए, कुछ बकरो और गायो को कसाई के हाथो से छुडा लिया जाए और अमुक तीर्थक्षेत्रो मे मछली मारने के ठेके बन्द कर दिए जाएँ । अहिसक-समाज-रचना की भावना जो आज हमारे समक्ष चल रही है, उसका मूल अभिप्राय समझना चाहिए । यह ठीक है कि पशु-दया भी करुणा का एक रूप है, पर करुणा और अहिसा की यही पर इतिश्री नही हो जानी चाहिए, यह तो प्रारम्भ है । उसका क्षेत्र बहुत व्यापक और बहुत विशाल है । हमे व्यापक दृष्टिकोण लेकर आगे बढना है। अपने मन की करुणा को आस-पास समाज एव परिवार मे बाँटते चलो। जो सुख-साधन और उपलब्धियां आपके पास है, उन्हे समाज के कल्याण-मार्ग मे लगाते चलो । समाज की सेवा मे समर्पण का जो दृष्टिकोण है, वह एक व्यापक दृष्टिकोण है । व्यक्ति सामाजिक जीवन के दूर किनारो तक अपने वैयक्तिक जीवन की लहरो को फैलाता चलता है, उन्हे समाज के साथ एकाकार करता चलता है । वह जितना ही आगे बढ़ेगा, जितना ही अपने सुख को समाज के सुख के साथ जोडता चलेगा, उतना ही व्यापक बनता चला जाएगा । व्यक्तिभाव का क्षुद्र घेरा तोडकर समाजभाव एव विश्वभाव के व्यापक क्षेत्र मे उतरता जाएगा ।

वैदिक दर्शन मे ईश्वर को सर्वव्यापक माना गया है । वह व्यापकता शरीर-दृष्टि से है, अथवा आत्म-दृष्टि से या भाव दृष्टि से है ? चूँकि यह भी माना गया है कि हर आत्मा परमात्मा बन सकती है । प्रत्येक आत्मा मे जब परमात्मा बनने की योग्यता है, तो वस्तुत आत्मा ही ईश्वर है । आत्मा आवरण मे घिरी हुई है, इसलिए जो अखण्ड आनन्द का स्रोत है, वह अभी दबा हुआ है, और जो प्रकाश है, वह अभी सकीर्ण हो गया है, सीमित हो गया है और धुँधला हो गया है । इस प्रकार दो बाते हमारे सामने आती हैं । एक यह कि प्रत्येक आत्मा परमात्मा बन सकती है, और दूसरी यह कि परमात्मा सर्वव्यापक है । जैन दृष्टिकोण के साथ इसको समन्वय करें, तो मात्र कुछ शब्दो के जोड-तोड के सिवा और कोई विशेष अन्तर नहीं दिखाई देगा । हमारे पास समन्वय बुद्धि है, अनेकान्त दृष्टि है और यह दृष्टि तोड़ना नहीं, जोड़ना सिखाती है—सत्य को खण्डित करना नहीं, बल्कि पूर्ण करना बताती है । सर्वव्यापक शब्द को हम समन्वय बुद्धि से देखें, तो इसका अर्थ होगा, आत्मा अपने स्वार्थो से निकल कर आसपास की जनता के, समाज तथा देश के और अन्तत विश्व के

प्राणियों के प्रति जितनी दूर तक दया, करुणा और सद्भावना की धारा बहाती चली जाती है, प्रेम और समर्पण की वृत्ति जितनी दूर तक जगाती चली जाती है, उतनी ही वह व्यापक बनती जाती है। हम आन्तरिक जगत में, जितने व्यापक बनते जाएँगे, हमारी सद्वृत्तियाँ जितनी दूर तक विस्तार पाती जाएँगी और उनमें जन-हित की सीमा जितनी व्यापक होती जाएगी, उतना ही ईश्वरीय अंश हमारे अन्दर प्रकट होता जाएगा। जितना-जितना ईश्वरत्व जागृत होगा, उतना-उतना ही आत्मा परमात्मा के रूप में परिणत होती चली जाएगी।

सुख बाँटते चलो :

आपका परमात्मा आपके अन्दर कितना जागृत हुआ है, इसको नापने का 'बैरोमीटर' भी आपके पास है। उस 'बैरोमीटर' से आप स्वयं भी जान पाएँगे कि अभी आप कितने व्यापक बने हैं। कल्पना कीजिए आप के सामने आप का परिवार है, उस परिवार में बूढ़े माँ-बाप हैं, भाई-बहन हैं और दूसरे सगे सम्बन्धी भी हैं। कोई रोगी भी है, कोई पीड़ित भी है। कोई ऐसा भी है, जो न तो कुछ कमा सकता है और न ही कुछ श्रम कर सकता है। ऐसे परिवार का उत्तरदायित्व आपके ऊपर है। इस स्थिति में आपके मन में कल्पना उठती है कि "सब लोग मेरी कमाई खाते हैं, सब के सब बेकार पड़े हैं, अन्न के दुश्मन बन रहे हैं, काम कुछ नहीं करते। बूढ़े माँ-बाप अबतक परमात्मा की शरण में नहीं जा रहे हैं, जब बीमार पड़ते हैं, तो उन्हें दवा चाहिए।" और इस विचार के बाद आप उन्हें उपदेश दें कि अब क्या रखा है संसार में ? छोड़ो संसार को। बहुत दिन खाया-पीया। कबतक ऐसे रहोगे ? आखिर तो मरना ही है एक दिन।' यह उपदेश तो आपका काफी ऊँचा है, बहुत पहुँची हुई बात है आपकी, पर आपका दृष्टिकोण कहाँ तक पहुँचा है, यह भी तो देखिए। वास्तव में आप यह उपदेश किसी सहज वैराग्य से प्रेरित हो कर दे रहे हैं, या अपने सुख और सुख के साधनों का जो बँटवारा हो रहा है, उसे रोकने के लिए दे रहे हैं ? जो समय और श्रम आपको उनकी सेवा में लगाना पड़ रहा है, उससे ऊब कर ही तो आप यह वैराग्य की बात कर रहे हैं ? यदि अपने स्वार्थ और सुख के घेरे में बन्द होकर ही आप यह वैराग्य की बात करते हैं, तो फिर सोचिए कि अब आप अपने परिवार में ही व्यापक नहीं बन पा रहे हैं, माता-पिता तक के हृदय को अभी तक स्पर्श नहीं कर सके हैं। उनके लिए भी कुछ त्याग और बलिदान नहीं कर सके हैं, भाई-बहनों के अन्तस्तल को नहीं छू सके हैं, तब समाज के हृदय तक पहुँचने की तो बात ही क्या करें ? यदि परिवार की छोटी-सी चारदीवारी के भीतर भी आप व्यापक नहीं बन पाए हैं, तो यह विश्वव्यापी परमात्मतत्त्व आप में कैसे जागृत होगा ? अपने सुख को माता और भाई-बहनों में भी आप नहीं बाँट सके, तो समाज को बाँटने की बात कैसे सोची जा सकती है ?

विचार कीजिए—घर में आपका पुत्र पौत्रादि का परिवार है, आपका सहोदर भाई भी है, उसका भी परिवार है, पत्नी है, बाल बच्चे हैं—सबके [illegible] है। अब आपके मन में अपने लिए अलग बात है, अपने भाई के लिए अलग बात है। अपनी पत्नी के लिए आपकी मनोवृत्ति अलग ढंग की है और भाई की पत्नी के लिए अलग ढंग की। लड़के-लड़कियों के लिए भी एक भिन्न ही प्रकार की मनोवृत्ति काम कर रही है। इस प्रकार घर में सब परिवार होते हुए भी मन की वृत्ति में अलग-अलग टुकड़े हैं, सब के लिए अलग-अलग

खाने हैं और अलग-अलग दृष्टियाँ हैं। एक ही रक्त के परिवार मे इन्सान जब इस प्रकार खण्ड-खण्ड होकर चलता है, क्षुद्र घेरे मे बँट कर चलता है, तब उससे समाज और राष्ट्रीय क्षेत्र मे व्यापकता की क्या आशा की जा सकती है ?

मैं विचार करता हूँ कि मनुष्य के मन मे जो ईश्वर की खोज चल रही है, परमात्मा का अनुसन्धान हो रहा है, क्या वह सिर्फ एक धोखा है ? वचनामात्र है ? क्या हजारो-लाखो मालाएँ जपने मात्र से ईश्वर के दर्शन हो जाएँगे ? व्रत और उपवास आदि का नाटक रचने से क्या परमात्म-तत्त्व जागृत हो जाएगा ? जबतक यह अलग-अलग सोचने का दृष्टिकोण नही मिटता, मन के ये खण्ड-खण्ड सम्पूर्ण मन के रूप मे परिवर्तित नही होते, अपने समान ही दूसरो को समझने की वृत्ति जागृत नही होती, अपने चैतन्य देवता के समान ही दूसरे चैतन्य देवता का महत्त्व नही समझा जाता, अपने समान ही उसका सम्मान नहीं किया जाता और अपने प्राप्त सुख को इधर-उधर बाँटने का भाव नही जगता, तबतक आत्मा परमात्मा नही बन सकती। जब आप सोचेंगे कि जो अभाव मुझे सता रहे हैं, वे ही अभाव दूसरो को भी पीडा देते है। जो सुख-सुविधा मुझे अपेक्षित है, वे ही दूसरो को भी अपेक्षित हैं। जो सवेदन, अनुभूति स्वय के लिए की जाती है, उसी तीव्रता से जब वे दूसरो के लिए की जाएँगी, तब कहीं आप के अन्तर मे विश्वात्मभाव प्रकट हो सकेगा।

विश्वात्मानुभूति

इधर-उधर के दो-चार प्राणियो को बचा लेना या दो-चार घण्टा या कुछ-दिन अहिंसा का व्रत पालन कर लेना, अहिंसा और करुणा की मुख्य भूमिका नही है। विश्व-समाज के प्रति अहिंसा की भावना जबतक नहीं जगे, व्यक्ति-व्यक्ति मे समानता और सह-जीवन के सस्कार जबतक नही जन्मे, तबतक अहिंसक समाज-रचना की बात केवल विचारो मे ही रहेगी। समाज मे अहिंसा और प्रेम के भाव जगाने के लिए व्यापक दृष्टिकोण अपनाना होगा। अपने-पराए के ये क्षुद्र घेरे, स्वार्थ और इच्छाओ के ये कलुष-कठघरे तोड डालने होगे। विश्व की प्रत्येक आत्मा के सुख-दुःख के साथ ऐक्यानुभूति का आदर्श, जीवन मे लाना होगा। भारतीय सस्कृति का यह स्वर सदा-सदा से गूँजता रहा है—

> "अय निज परोवेत्ति गणना लघु-चेतसाम्।
> उदारचरिताना तु वसुधैवकुटुम्बकम् ॥"

हृदय की गहराई से निकले हुए ये स्वर परमात्म चेतना के व्यापक स्वर हैं। जहाँ परमात्मतत्त्व छिपा बैठा है, आत्मा के उसी निर्मल उत्स से वाणी का यह निर्झर फूटा है। यह मेरा है, यह तेरा है, इस प्रकार अपने और पराए के रूप में जो ससार के प्राणियो का बँटवारा करता चला जाता है, उसके मन की धारा बहुत सीमित है, क्षुद्र है। ऐसी क्षुद्र मनोवृत्ति का मानव समाज के किसी भी क्षेत्र मे अपना उचित दायित्व निभा सकेगा, अपने परिवार का दायित्व भी ठीक से वहन करेगा, जो जिम्मेदारी उसके कधो पर आ गई है उसे ठीक तरह पूरी करेगा—इसमें शका है। कभी कोई अतिथि दरवाजे पर आए और वह उसका खुशी से स्वागत करने के लिए खडा हो जाए तथा आदर और प्रसन्नतापूर्वक अतिथि का उचित स्वागत करे—यह आशा उन मनुष्यो से नहीं की जा सकती, जो 'अपने-पराए के

कही नही होता। आत्मा तो आत्मा है। वह ब्राह्मण के यहां हो तो क्या, शूद्र के यहां हो तो क्या ? हम तो आत्मा की सेवा करते हैं, शरीर की नही।

आत्मा की सेवा करनी है, तो फिर शरीर के सम्बन्ध मे यह क्यो देखा जाता है कि यह भगी का शरीर है, या चमार का ? भगी और चमार की दृष्टि यदि है, तो इसका स्पष्ट अर्थ है कि आपने अब तक आत्मा को ठीक तरह परखा ही नही। आत्मा के नही; शरीर के ही दर्शन आप कर रहे हैं। बाहर मे जो जाति-पाँति के झगडे हैं, दायरे हैं, आप अभी तक उन्ही मे बन्द हैं। आत्मा न भंगी है, न चमार है, और न काला है, न गोरा है। आत्मा-आत्मा मे कोई भेद नही है। आत्मा मे परमात्मा का वास है। वस्तुत जो आत्मा है, वही परमात्मा है। ये उदात्त विचार, यह विशाल दृष्टिकोण जबतक आपके हृदय मे जागृत नही होता, तबतक आप परमात्मतत्त्व की ओर नही बढ सकते। मेरे कहने का अभिप्राय यह है कि जब मनुष्य परस्पर मे भेद की दीवारें खडी कर देता है, अपने मन मे इतने क्षुद्र घेरे बना लेता है, उसकी दृष्टि जातीयता के छोटे-छोटे टुकडो मे बँट जाती है तो वह अपने ही समान मानव जाति की सेवा और सहायता नही कर पाता।

भारतीय सस्कृति की विराट् भावनाएँ, उच्च कल्पनाएँ यहां तक पहुँची है कि यहां सांप को भी दूध पिलाया जाता है। ससार भर मे भारत ही एक ऐसा देश मिलेगा, जहाँ पशु-पक्षियो के भी त्योहार मनाये जाते हैं। नाग पचमी आई तो सांप को दूध पिलाया गया, गोपाष्टमी आई तो गाय और बछडे की पूजा की गई। 'सीतला' (राजस्थान का त्योहार) आई तो विचारे गर्दभराज को पूजा प्रतिष्ठा मिल गई। यहां की दया और करुणा का स्वर कितना मुखर है कि जो सांप दूध पीकर भी जहर उगलता है, मनुष्य को काटने के लिए तैयार रहता है, जो मनुष्य के प्राणो का शत्रु है, उसे भी दूध पिलाया जाता है, शत्रु को भी मित्र की तरह पूजा जाता है।

जहां पर दया और करुणा का, पवित्र मानवता का इतना उच्च विकास हुआ है, वहां मानव आज अपने ही स्वार्थो और इच्छाओ का दास बना हुआ है। अपने स्वार्थ के लिए दूसरो के प्राणो से खेल रहा है। जबतक ये वासना और विकार के बधन नही टूटते, स्वार्थ की बेडियाँ नही टूटती, तबतक मनुष्य अपने आप मे कैद रहेगा। और अपने ही क्षुद्र घेरे मे, पिंजडे मे बन्द पशु की तरह घूमता रहेगा। ससार का क्या, अपना ही भला नही कर सकेगा।

जब मानव-मानव के मन मे यह भावना घर कर जाएगी कि—"हम सभी एक ही प्रभु के बेटे हैं, सबके अन्दर एक ही प्रभु विराजित है, अत हम सभी भाई-भाई हैं"—तबतक किसी बन्धुभाव-स्थापना की कल्पना करना मात्र कल्पना होकर ही रहेगी। चिंतन एवं विचार की यही एक स्वस्थ, सही एव सुगम पीठिका है, जहां पर खडा होकर मानव-मन के अन्दर वसुधैव कुटुम्बम् की विराट् भावना का उदय हो सकता है। विश्व-कल्याण एव विश्वशाति की, मानव की अन्तरग चाहना, तभी पूरी हो सकती है, अन्यथा नही।

★★★★

५०

विश्वकल्याण का चिरंतन पथ : सेवा का पथ

संसार के सभी विचारकों ने मनुष्य को एक महान् शक्ति के रूप में देखा है। मानव की आत्मा महान् आत्मा है, अनन्त-अनन्त शक्तियों का स्रोत छिपा है उसमें। अणु से विराट् बनने का पराक्रम है उसके पास। भगवान् महावीर ने बताया है कि—मनुष्य का जीवन साधारण चीज नहीं है, यह एक अत्यन्त महत्त्वपूर्ण उपलब्धि है विश्व की। संसार की समस्त योनियों में आत्मा भटकती-भटकती जब कुछ विशुद्ध होती है, कर्मों का भार कुछ कम होता है, तब वह मनुष्य की योनि में आती है —

"जीवा सोहिमणुप्पत्ता आययंति मणुस्सयं ।"

कर्म के आवरण जब धीरे-धीरे टूटते हैं, तो दिव्य प्रकाश फैलता है, जीवन की यात्रा कुछ आगे बढ़ती है। आत्मा पर लगा हुआ मैल ज्यों-ज्यों साफ होता है, त्यों-त्यों वह धीरे-धीरे विशुद्ध होती जाती है। अर्थात् जब कुछ प्रकाश फैलता है, कुछ शुद्धि प्राप्त होती है, तब आत्मा मनुष्य की योनि में जन्म धारण करती है। मानव जीवन की महत्ता का यह आध्यात्मिक पक्ष है।

सिर्फ जैन दर्शन ही नहीं, बल्कि भारतवर्ष का प्रत्येक दर्शन, प्रत्येक सम्प्रदाय और प्रत्येक परम्परा इस विचार पर एकमत है कि मानव जीवन पवित्रता के आधार पर चलता है। मानव का ज्ञान-प्रकाश और पवित्रता की जितनी ऊँची भूमि पर पहुँचा हुआ होता है, उसका विकास उतना ही उत्कृष्ट होता है। इस पवित्रता को यदि हम कायम रख सकें, तो हम मानव रह सकते हैं। यदि उसको ऊर्ध्वगामी बनाने का प्रयत्न करते हुए आगे बढ़ते हैं, तो मानव से महामानव और आत्मा से परमात्मा के पद तक पहुँच सकते हैं।

मानव, जीवन के एक ऐसे चौराहे पर खड़ा है, जहाँ पर चारों ओर से आने वाले मार्ग मिलते हैं और चारों ओर जाते भी हैं। वह यदि चाहे, तो उस मार्ग से उस ओर भी जा सकता है, जिधर अनन्त प्रकाश और अनन्त सुख का सागर है, वह अपने

जीवन को स्वच्छ एवं निर्मल बनाकर परम पवित्र बन सकता है, नर से नारायण बन सकता है, जन से जिन की भूमिका पर जा सकता है, अविद्या से मुक्त होकर बुद्ध का पद प्राप्त कर सकता है और आत्मा से परमात्मा की संज्ञा पा सकता है।

यदि वह इस पवित्रता के मार्ग से हटकर संसार के भौतिक मार्ग पर बढ चले, तो वहाँ पर भी अपार वैभव एवं ऐश्वर्य के द्वार खोल सकता है। प्रकृति के कण-कण को अपने सुख-भोग के लिए इस्तेमाल कर सकता है, उन पर नियन्त्रण कर सकता है, और जीवन की सुख-सुविधाओं को प्राप्त कर सकता है।

किन्तु, इसके विपरीत भी स्थिति हो सकती है। यदि, मानव विकास की ओर नहीं बढ कर विनाश की ओर मुड जाता है, तो उसका भयंकर से भयंकर पतन भी हो सकता है। पशुयोनि एवं नरक जीवन की घोर यंत्रणाएँ भी उसे भोगनी पड सकती हैं। हर प्रकार से वह दीन, हीन, दुःखी और दलित हो सकता है।

मुझे इस प्रसंग पर एक बात याद आ रही है। एकबार जोधपुर के राजा मानसिंहजी एकदिन किले की ऊँची बुर्ज पर बैठे थे पास मे राज पुरोहित भी थे। दोनों दूर-दूर तक के दृश्य निहार रहे थे। राजा ने नीचे देखा तो बहुत ही भयानक अन्धगर्त की तरह तलहटी दीखने लगी। राजा ने मजाक मे पूछा—पुरोहित जी! अगर मैं यहाँ से गिर जाऊँ तो मेरा धमाका कितनी दूर तक सुनाई देगा, और यदि आप गिर जाएँ तो आपका धमाका कितनी दूर जाएगा!

पुरोहित ने हाथ जोडकर कहा—महाराज! भगवान् न करें, ऐसा कभी हो। किन्तु, बात यह है कि यदि मैं गिरूँ तो मेरा धमाका क्या होगा! ज्यादा से ज्यादा मेरी हवेली तक सुनाई देगा। बाल-बच्चे अनाथ हो जाएँगे बस, वहाँ तक ही रोना-चीखना और शोरगुल हो पाएगा, आगे कुछ नहीं। परन्तु यदि आप गिर गए, तो उसका धमाका तो पूरे देश मे सुनाई देगा। रियासत अनाथ हो जाएगी, देश भर मे शोक और दुःख छा जाएगा।

इस दृष्टान्त से यह स्पष्ट होता है कि—मनुष्य जितनी ऊँचाई पर चढता है, उसकी गिरावट उतनी ही भयंकर होती है। यदि ऊपर ही ऊपर चढता जाता है, तो परम पवित्र स्थिति मे, जिसे हम मोक्ष कहते हैं, उसके द्वार तक पहुँच जाता है। और यदि गिरना शुरू होता है, तो गिरता-गिरता पतित से पतित दशा मे पहुँच जाता है, घोरातिघोर सातवीं नरक तक भी चला जाता है।

मनुष्य का जीवन एक क्षुद्र कुआँ या तलैया नहीं है, वह एक महासागर की तरह विशाल और व्यापक है। मनुष्य समाज मे अकेला नहीं है, परिवार उसके साथ है, समाज मे उसका सम्बन्ध है, देश का वह एक नागरिक है, और इस पूरी मानव सृष्टि का वह एक सदस्य है। उसकी हलचल का, क्रिया-प्रतिक्रिया का असर सिर्फ उसके जीवन मे ही नहीं, पूरी मानव जाति और समूचे प्राणिजगत् पर होता है। इसलिए उसका जीवन व्यष्टिगत नहीं, बल्कि समष्टिगत है।

जितने भी शास्त्र हैं—चाहे वे महावीर स्वामी के कहे हुए आगम हैं, या बुद्ध के कहे हुए पिटक हैं, या वेद-उपनिषद, कुरान या बाईबिल हैं आखिर वे किसके लिए हैं?

क्या पशु-पक्षियों को उपदेश सुनाने के लिए है ? क्या कीड़े-मकोड़ों को सद्बोध देने के लिए हैं ? नरक के जीवों के लिए भी तो ये नहीं हैं, वे बिचारे रातदिन यातनाओं से तड़प रहे हैं, हाहाकार कर रहे हैं। और स्वर्ग के देवों के लिए भी तो उनका क्या उपयोग है ? कहाँ है उन देवताओं को फुर्सत, और फुर्सत भी है तो उपदेश सुनकर ग्रहण करने की योग्यता कहाँ है उनमें। रात-दिन भोग विलास और ऐश्वर्य में डूबे रहने के कारण देवता भी अपने आप को इन्द्रियों की दासता से मुक्त नहीं कर सकते। तो आखिर ये सब किनके लिए बने हैं ! मनुष्य के लिए ही तो ! मानव की आत्मा को प्रबुद्ध करने के लिए ही तो सब शास्त्रों ने यह ज्योति जलाई है, यह उद्घोष किया है, जिसे देख और सुनकर उस का सुप्त ईश्वरत्व जाग सके।

सुख-दुःख का कारण :

संसार में जितने भी कष्ट हैं, संकट और आपत्तियाँ हैं, उलझनें और संघर्ष हैं, उनकी गहराई में जाकर यदि हम ठीक-ठीक विश्लेषण करें, तो यही पता चलेगा कि जीवन में जो भी दुःख हैं वे पूर्णतः मानवीय हैं, मनुष्य के द्वारा मनुष्य पर लादे गये हैं। हमारे जो पारस्परिक संघर्ष हैं, उनके मूल में हमारा वैयक्तिक स्वार्थ निहित होता है, जब स्वार्थ टकराता है, तो संघर्ष की चिनगारियाँ उछलने लगती हैं। जब प्रलोभन या अहंकार पर चोट पड़ती है, तो वह फुंकार उठता है, परस्पर वैमनस्य और विद्वेष भड़क जाता है। इस प्रकार एक व्यक्ति से दूसरा व्यक्ति, एक समाज से दूसरा समाज, एक सम्प्रदाय से दूसरा सम्प्रदाय और एक राष्ट्र से दूसरा राष्ट्र अपने स्वार्थ और अहंकार के लिए परस्पर लड़ पड़ते हैं, एक-दूसरे के मार्ग में काँटे बिखेरते हैं, एक-दूसरे की प्रगति का रास्ता रोकने का प्रयत्न करते हैं और परिणामस्वरूप संघर्ष, आपत्तियाँ और विग्रह खड़े हो जाते हैं। व्यक्ति, समाज और राष्ट्र तबाह हो जाते हैं। आप देखते हैं कि संसार में जो महायुद्ध हुए हैं, नर संहार हुए हैं, और अभी जो चल रहे हैं, वे प्राकृतिक हैं, या मानवीय ? स्पष्ट है, प्रकृति ने इन युद्धों की आग नहीं सुलगाई है, अपितु मनुष्य ने ही यह आग लगाई है। मनुष्य की लगाई हुई आग में आज मनुष्य जाति नष्ट हो रही है, परेशान और संकटग्रस्त बन रही है।

रागात्मक करुणा का जीवन में स्थान

जैन दर्शन कहता है, और हमारे पड़ोसी अन्य दर्शन भी कहते हैं कि जीवन में संघर्षों का मूल ढूँढो। और उसका निराकरण करो। तो, जैसा कि हमने ऊपर विचार किया है, संघर्ष का मूल, हमें मिलता है— स्वार्थ और अहंकार में। किन्तु मनुष्य का जीवन स्वार्थ और अहंकार की दहकती आग पर नहीं पल सकता, बल्कि उसका विकास करुणा और अहिंसा की शीतल धरती पर ही हो सकता है।

अहिंसा की एक धारा रागात्मक भी है, जिसे हम समझने की भाषा में रागात्मक करुणा, और सदा प्रेम भी कह सकते हैं। इसी के आधार पर मनुष्य का पारिवारिक तथा सामाजिक जीवन टिका हुआ है। जो घर में व्यक्ति-व्यक्ति एक भूमिका पर खड़े हुए हैं, एक-दूसरे के जीवन में समाये हुए हैं, सुख-दुःख की चिन्ता और फिक्र कर रहे हैं। इस प्रकार सेवा, समर्पण के आधार पर जो जीवन-व्यवहार चल रहा है, उसके मूल में क्या है ? यही रागात्मक करुणा। राग है, मोह है पर [illegible] परिणाम [illegible]

आखिर अहिंसा की सामाजिक धारा ही तो उनके अन्तर्जीवन मे वह रही है। वही धारा तो उन्हे एक-दूसरे के दायित्वरूप भार को वहन करने मे सक्षम बना रही है। माता-पुत्र के जो सम्बन्ध है, बहन-भाई के जो बन्धन है, वे आखिर क्या हैं ? कोई आकस्मिक तो नही है, सयोग तो नहीं है, वस्तुत जीवन मे सयोग जैसी कोई बात ही नही होती है; जो होता है, उसका बीज संस्काररूप मे बहुत पुराना, जन्म जन्मान्तर मे चला आता है। ये जो सम्बन्ध हैं, परस्पर राग के सम्बन्ध हैं, स्नेह के सम्बन्ध हैं, किन्तु उनमे जो त्याग और बलिदान की भावना चल रही है, सहिष्णुता और समर्पण के जो बीज हैं, कोमलता और करुणा का जो भाव है, वह तो एक तात्त्विक वृत्ति है, अहिंसा की ही एक भावना है, फिर भले ही वह राग का आधार लेकर फूटी हो, स्नेह का सहारा पाकर विकसित हुई हो, कोई अतर नही। इसलिए जीवन के जो भी सम्बन्ध हैं, वे सब रागात्मक करुणा के आधार पर ही चल सकते हैं। एक-दूसरे से सापेक्ष, एक-दूसरे के हितो से चिन्तित, यही तो मनुष्य का सामाजिक स्वरूप है।

वैराग्य का सही मार्ग

यह जो कहा जाता है कि सब बन्धन तोड डालो, सब सम्बन्ध झूठे हैं, स्वार्थ के हैं, इसमे कुछ सत्य अवश्य है, किन्तु वह सत्य जीवन का निर्माणकारी अंग नही है। वैराग्य की यह भावना जीवन को जोडती नही है, उसको टुकडे-टुकडे करके रख देती है। इस भावना ने ससार का लाभ उतना नहीं किया, जितना कि ह्रास किया है। वैराग्य तो चाहिए, पर ऐसा वैराग्य हो कि कौन किसका है, कोई मरे तो मरे हमे क्या ? ससार तो जन्म-मरण का ही नाम है, हम किस-किस की फिक्र करें ? यह वैराग्य मुर्दा वैराग्य है। मानव को मुर्दा वैराग्य नही, जीवित वैराग्य चाहिए, जीवन मे विश्वास और आस्था पैदा करने वाला वैराग्य चाहिए। धन, सपत्ति नश्वर है, तो फिर उसका उपयोग किसी दीन-दुखी का दर्द मिटाने के लिए किया जाय। जीवन जब क्षणिक है, तो उसे किसी सेवा के लिए अर्पण कर दिया जाए, हमारे वैराग्य मे यह मोड आए, तब तो वह जीवनदायी है, अन्यथा नही। मैं तो यह कहता हूँ कि जीवन मे जबतक वैराग्य के अकुर नही फूटेंगे, तबतक मनुष्य अपने बहुमूल्य जीवन को किसी के लिए अर्पित भी तो कैसे करेगा ? अपना प्रेम भी कैसे लुटाएगा ? बिना वैराग्य के त्याग और बलिदान की भावना नहीं जगेगी, और तबतक मनुष्य मे उदारता का भाव कैसे पैदा होगा ! जबतक हमे अपने जीवन का मोह है, वैयक्तिक सुख-भोग की लालसा है, तबतक हम अपने जीवन को, अपनी सुख-सुविधाओ को किसी दूसरे जीवन के लिए, धर्म और समाज के लिए, देश और राष्ट्र के लिए बलिदान करने को तैयार नही हो सकते।

शास्त्र मे कहा है—जो व्यक्ति और कुछ भी तत्त्वज्ञान नही जानता, विशेष सत्कर्म भी नही करता, किन्तु सिर्फ माँ-बाप की सेवा करता है, निष्ठा और भक्तिपूर्वक उनके सुखो के लिए अपना सर्वस्व बलिदान कर देता है, तो उस सेवा के प्रभाव से ही उसके लिए स्वर्ग के द्वार खुल जाते है। इसी प्रकार पति-पत्नी यदि जीवन मे कृतज्ञता की भावना से चलते हैं, तो वे भी जीवन-विकास के उच्च आरोहण मे अग्रसर होते हैं, अपने ध्येय की ओर गतिशील होते हैं।

जीवन मे यह जो सामाजिक सेवा और समर्पण का सिलसिला है, यदि साधना के क्षेत्र मे उसका कोई मूल्य नही होता, तो फिर उससे स्वर्ग के द्वार खुलने की बात क्यों कही

जाती ? यदि वह पाप ही है, तो उससे नरक के द्वार खुलते, स्वर्ग के नही। जब प्राचीन ऋषि-मुनियो ने उस सेवा को कुछ महत्त्व दिया है, तो उसका आधार वैराग्य और करुणा ही हो सकता है। स्वार्थ या अहकार नही। माना कि वह एक रागात्मक भूमिका है, पर इतने मात्र से क्या वह पाप हो गया ? उस राग के साथ यदि त्याग और उदारता का भाव नही जगा होता, तो मनुष्य किसी अभावग्रस्त दूसरे व्यक्ति के लिए अपने आपको, अपने सुखो को निछावर करने के लिए कभी भी तैयार नहीं होता।

सेवा : तप से भी महान् :

चिन्तन की गहराई में उतरने पर आप जान सकते हैं कि जीवन के जितने भी पारिवारिक एव सामाजिक सम्बन्ध हैं, वे सब मानवीय हृदय के आधार पर टिके हुए हैं, करुणा और स्नेह के बल पर वे चलते हैं। उनमे उदारता और सहिष्णुता का भाव भरा रहता है। उक्त सम्बन्धो पर यदि दार्शनिक दृष्टि से विचार करें तो राग का प्रश्न भी हल हो सकता है। सामाजिक एव पारिवारिक सम्बन्धो मे जो रागात्मक अंश है, यदि उसे निकाल दें, स्वार्थ का जितना भाव है, उसे त्याग दें और जो भी सत्प्रयत्न एव सत्कर्म किया जाए, वह मात्र निष्काम भाव से किया जाए, किसी भी प्रकार के स्वार्थ या प्रतिफल की आकाक्षा के बिना केवल कर्त्तव्य के नाते किया जाए, तो वह सत्कर्म हमारे जीवन के बन्धनो को तोड कर मुक्ति के द्वार भी खोल सकता है। यह वह स्थिति है, जहाँ जीवन की आध्यात्मिक पवित्रता के सम्पूर्ण दर्शन हो सकते हैं।

जीवन मे यदि वैयक्तिक स्वार्थों के द्वन्द्व से मुक्त होकर एक भी सद्गुण को निष्ठापूर्वक विकसित किया जाए, तो वह भी मनुष्य को महान् बना देता है। और, जहाँ अनेक सद्गुण जीवन मे विकास पाते है, जीवन के मलो को धोकर उसे परम पवित्र बनाते है, वहाँ तो मुक्ति के द्वार, अनन्त सुख के द्वार, मनुष्य के सामने स्वत ही खुल जाते हैं।

यहाँ एक बात और स्पष्ट कर देना चाहता हूँ कि जीवन मे जो रागात्मक अश है, उसे समाप्त करने का अर्थ इतना ही है कि हम अपने स्वार्थ या लाभ की कामना से दूर हट कर निष्काम भाव से कर्म करें। किन्तु फिर भी उसमे मानवीय सहज स्नेह का निर्मल अश तो रहता ही है। यदि यह स्नेह न हो, तो मानव मानव ही नही रहता, पशु से भी निकृष्ट बन जाता। यह स्नेह ही मानव को परस्पर सहयोग, समर्पण और सेवा के उन्नततम आदर्श की ओर प्रेरित करता है। व्यक्तिगत जीवन से समष्टिगत जीवन की व्यापक महानता की ओर अग्रसर करता है।

जैन साधना मे व्यक्तिगत जीवन की साधना से भी अधिक महत्त्व सामाजिक साधना का है। सामाजिक साधना से मेरा मतलब है—निष्काम भाव से जन सेवा। इस सम्बन्ध मे भगवान् महावीर ने तो यहाँ तक कहा है कि—एक व्यक्ति तप करता है, कठोर एव लम्बे तप के द्वारा शरीर को तपा रहा है और तभी कहीं आवश्यकता हुई सेवा करने की, तो वह अब क्या करे ? प्राथमिकता किसे दी जाए, सेवा को या तप को ? यदि वह इतना समर्थ है कि किसी वृद्ध या रोगी आदि की सेवा करता हुआ भी अपना तप चालू रख सकता

हो, तब तो तप भी चालू रखे और सेवा भी करें। और यदि दोनो काम एक साथ चालू रखने मे समर्थ न हो, तो फिर तप छोड कर सेवा करे। उपवास आदि तप को गौण किया जा सकता है, परन्तु सेवा को गौण नही किया जा सकता।

यहाँ प्रश्न उपस्थित होता है कि उपवास जो कि हमारा आध्यात्मिक प्रण है, यदि उसे तोडते है तो पाप लगना चाहिए। इसके उत्तर मे आचार्य जिनदास, आचार्य सिद्धसेन आदि जिनका कि चिन्तन जितना गहरा था, उतना ही उन्मुक्त भी था, जो सत्य उन्होंने समझ लिया, उसे व्यक्त करने मे कभी आगा-पीछा नही किया, वे कहते हैं कि उपवास करने से जितनी शुद्धि और पवित्रता होती है, उससे भी अधिक शुद्धि और पवित्रता सेवा मे होती है, उपवास तुम्हारी व्यक्तिगत साधना है, उसका लाभ सिर्फ तुम्हारे तक ही सीमित है, परन्तु सेवा एक विराट् साधना है। सेवा दूसरो के जीवन को भी प्रभावित करती है। जिस व्यक्ति की जीवन-नौका सेवा के विना डगमगा रही है, विचलित हो रही है, जिसकी भावना चचल हो रही है, धर्म-साधना गडबडा रही है, सेवा उसे सहारा देती है, साधना मे स्थिर बनाती है। इस प्रकार एक बुझता हुआ दीपक फिर से जगमगा उठता है, सेवा का स्नेह पाकर। दीप से दीप जलाने का यह पवित्र कार्य सेवा के माध्यम से ही बन पडता है। एक आत्मा को जागृत करना और उसमे आनन्द की लौ जगा देना, कितनी उच्च साधना है, और यह साधना सेवा के द्वारा ही सम्भव हो सकती है। इसलिए जो आनन्द और पवित्रता सेवा के माध्यम से प्राप्त की जा सकती है, वह तप के द्वारा नही। जब तप करने के लिए तैयार हो तो पहले साधक को यह देखना है कि किसी को मेरी सेवा की तो आवश्यकता नही ? वह तप की प्रतिज्ञा करते समय भी मन मे यह सकल्प रखता है कि यदि मेरी सेवा की कही आवश्यकता हुई तो मैं तप को बीच मे छोडकर सेवा को प्राथमिकता दूंगा। सेवा मेरा पहला धर्म होगा।

सेवा : सच्ची आराधना है

जैन धर्म ने इन्ही सूक्ष्म बातो पर विचार किया है और गम्भीर विचार के बाद यह उपदेश दिया है कि सेवा उपवास आदि तप से भी बढकर महान् धर्म है, प्रमुख कर्त्तव्य है। भगवान् महावीर ने कहा है—उपवास आदि बहिरग तप है, और सेवा अन्तरग तप है। बहिरंग से अन्तरंग श्रेष्ठ है, बन्धन मुक्ति का साक्षात् हेतु अन्तरग है, बहिरग नही।

सेवा के सम्बन्ध मे एक बहुत गम्भीर प्रश्न जैन शास्त्रो मे उठाया गया है। गणधर गौतम एक बार भगवान् महावीर से पूछते है—"प्रभु एक व्यक्ति आपकी सेवा करता है, आपका ही भजन करता है, उसकी साधना के प्रत्येक मोड पर आपका ही रूप खडा है, आपकी सेवा, दर्शन, भजन, ध्यान के सिवाय उसे जन सेवा आदि अन्य किसी भी कार्य के लिए अवकाश ही नही मिलता है।

दूसरा, एक प्रकार का साधक यह है, जो दीन-दुखियो की सेवा मे लगा है, रोगी और वृद्धो की सँभाल करने मे ही जुटा है, वह आपकी सेवा-स्मरण और पूजन के लिए अवकाश तक नहीं पाता, रातदिन जब देखो, बस उसके सामने एक ही काम है—जन सेवा! तो प्रभु! इन दोनो मे आप किसको धन्यवाद देंगे ?"

प्रभु ने कहा—"गौतम ! जो वृद्ध, रोगी और पीडितो की सेवा करता है, मैं उसे ही धन्यवाद का पात्र मानता हूँ ।"[1]

गौतम का मन अचकचाया, इस सत्य को कैसे स्वीकार करें ? पूछा—"प्रभु ! यह कैसे हो सकता है, कहाँ आप जैसे महान् करुणावतार की सेवा, दर्शन और स्मरण ! और कहाँ वह ससार का दुःखी, दीन-हीन प्राणी है, जो अपने कृत-कर्मो का फल भोग रहा है, फिर आपकी सेवा से बढकर उसकी सेवा महान् कैसे हो सकती है ? वह धन्य किस दृष्टि से है ?

भगवान् ने उक्त प्रतिप्रश्न का जो प्रत्युत्तर दिया, वह इतिहास के पृष्ठो पर आज भी महान् ज्योति की तरह जगमगा रहा है । उन्होने कहा—"गौतम ! समझते हो, भगवान् की उपासना क्या चीज है ? भगवान् की देह को पूजा करना, देह के दर्शन करना मात्र उपासना नहीं है । सच्ची उपासना है उनके आदेश एव उपदेश का पालन करना । भगवान् की आज्ञा की आराधना करना ही भगवान् की आराधना है । उनके सद्गुणो को, सेवा, करुणा और सहिष्णुता के आदर्शो को जीवन मे उतारना, यही सबसे बडी सेवा है । आत्माएँ सब समान हैं । जैसा चैतन्य एक दीन-दु खी मे है, वैसा ही चैतन्य मुझमे है । प्रत्येक चैतन्य दु:ख दर्द मे घबराता है, सुख चाहता है, इसलिए उस चैतन्य को सुख पहुँचाना, आनन्द और प्रकाश की लौ जगाकर उसे प्रफुल्लित कर देना, यही मेरा उपदेश है । इस उपदेश का जो भी पालन करता है, वह मेरी उपासना करता है, और मैं उसे बहुत धन्यवाद देता हूँ ।"[2]

किन्तु आज जब मानव के व्यावहारिक जीवन पर दृष्टिपात् करता हूँ, तो कुछ और ही पाता हूँ । वहाँ भगवान् के उक्त उपदेश का सीधे उलटा प्रतिफलन देखा जा रहा है । मैं पूछता हूँ, भगवान् के नाम पर बाहरी ऐश्वर्य का अम्बार तो आपने लगा दिया, भगवान् को चारो ओर सोने मे मढ दिया है । कहना चाहिए, उसे सोने के नीचे दबा दिया है । मन्दिरो के कलशो पर सोना चमक रहा है । पर, कभी यह भी देखा है आपने कि यह मन के कलश का सोना, काला पड रहा है या चमक रहा है, मन दरिद्र बना हुआ है या ऐश्वर्यशाली ? यह आडम्बर किसके लिए है ? भगवान् की पूजा और महिमा के लिए या अपनी पूजा-महिमा के लिए ? जहाँ तक मैं समझ पाया हूँ, यह सब अपने अहकार को जागृत करने के ही साधन बन रहे है । व्यक्ति के अपने अह का पोषण हो रहा है, इन आडम्बरो के द्वारा; और इस प्रकार दूसरो के अह को ललकारने का माध्यम बनता है भगवान् का मन्दिर ।

एक ओर तो हम कहते हैं—"अप्पा सो परमप्पा" आत्मा ही परमात्मा है । "यद् पिण्डे तद् ब्रह्माण्डे" जो पिण्ड मे है, वही ब्रह्माण्ड मे है । ईश्वर का, भगवान् का प्रतिबिम्ब प्रत्येक आत्मा मे पड रहा है । हमारे धर्म एक ओर प्रत्येक प्राणी मे भगवान् का रूप देखने की बात करते हैं । परन्तु दूसरी ओर अन्य प्राणी की बात तो छोड दीजिए, सृष्टि का महान् प्राणी—मनुष्य जो हमारा ही जाति-भाई है, वह भूख से तडप रहा है । चैतन्य भगवान् छटपटा रहा है और हम मूर्ति के भगवान् पर दूध और मक्खन का भोग लगा रहे है, मेवा-मिष्टान्न चढा रहे हैं । यह मैं पूर्वाग्रहवश किसी विशेष पूजा-पद्धति एव परम्परा की आलोचना नहीं कर रहा हूँ । किसी पर आक्षेप करना न मेरी प्रकृति है, और न मेरा सिद्धान्त । मैं तो साधक के अन्तर मे विवेक जागृत करना चाहता हूँ, और चाहता हूँ उसे अविवेक से

1. जे गिलाणं पडियरइ से धन्ने ।
2. आणाराहणं दंसणं खु जिणाणं

बचाना। कभी-कभी अतिरेक सिद्धान्त की मूल भावना को ही नष्ट कर डालता है और इस प्रकार उपासना कभी-कभी एक विडम्बना मात्र वन कर रह जाती है।

भारतीय चिन्तन सदा से यह पुकार रहा है कि भक्त ही भगवान् है। भगवान् की विराट् चेतना का छोटा सस्करण ही भक्त है। विन्दु और सिन्धु का अन्तर है। विन्दु विन्दु है जरूर, पर उसमे सिन्धु समाया हुआ है, यदि विन्दु ही नही है, तो फिर सिन्धु कहाँ से आएगा ? सिन्धु की पूजा करने का मतलब है, पहले बिन्दु की पूजा की जाए। माला फेरने या जप करने मात्र से उसकी पूजा नही हो जाती, वल्कि विन्दु मे जो उसकी विराट् चेतना का प्रतिबिम्ब है, उसकी पूजा-सेवा करने से ही उसकी (प्रभु की) पूजा-सेवा हो सकती है। अत भगवान् को मन्दिरो मे ही नही, अपने अन्दर मे भी देखना है। जीवन मे देखना है, जन-जीवन मे देखना है, जनार्दन की सेवा को जन सेवा मे वदलना है।

देश मे आज कही दुर्भिक्ष की स्थिति चल रही है, दुष्काल की काली घटा छाई हुई दीख रही है, कही वाढ और तूफान उफन रहे हैं, तो कही महँगाई आसमान छू रही है। पर सच वात तो यह है कि अन्न की महँगाई उतनी नही बढी है, जितनी महँगाई सद्भावनाओं की होगई है। आज महँगा है, तो सद्भाव, प्रेम और सेवा भाव महँगा हो रहा है। एक-दूसरे की हितचिंता महँगी हो रही हैं। इन्ही चीजो का दुष्काल अधिक हो रहा है। स्वार्थ, अहकार आज खुल कर खेल रहे है। और जीवन मे, परिवार मे, समाज और देश मे नित नए सकट के शूल विछाए जा रहे हैं। मैंने जो आपसे पहले वताया है कि यह मानव जीवन सुखों की भी महानतम ऊँचाई पर पहुँच सकता है, और दु खों के गहन गर्त मे भी जाकर गिर सकता है। उसके सुख-दु ख स्वय उसी पर निर्भर हैं। जव वह अपने अन्तर मे से स्वार्थ और अहकार को वाहर निकालकर अपने अदर सेवा की भावना भरकर कार्य करना आरम्भ कर देता है, तव निश्चय ही विश्वकल्याण का पावन पथ प्रशस्त हो सकता है। और, यही आज के सघर्षरत एवं समस्या-ग्रस्त विश्व के कल्याण का सहज सुलभ मार्ग है।

अनुक्रमणिका

अ

आ

इ

ई

ब

भ

म

य

र

ल

श

त्र

ज्ञ